

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या ३६६५
काल नं० ००८:२ ५१
खण्ड

**भारतीय संस्कृति में
जैन धर्म का योगदान**

म० प्र० शासन साहित्य परिषद् व्याख्यानमाला १९६०

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान



डा० हीरालाल जैन, एम.ए., डी.लिट., एल.एल.बी.,

अध्यक्ष

संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय;

भूतपूर्व डायरेक्टर

राजकीय प्राकृत जैन ग्रंथिता शोध संस्थान, मुजफ्फरपुर.

प्रकाशक

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल

१९६२

मूल्य १०)

मुद्रक

अमृतलाल परमार

चिबई प्रिंटिंग प्रेस, मद्रासाबाद, जबलपुर

प्रकाशकीय

राज्य की साहित्यिक प्रवृत्तियों को गति देने, भाषाओं के विकास के लिए उच्च कोटि के साहित्य के निर्माण के लिए साहित्यिक प्रतिभाओं को प्रोत्साहित करने और साहित्यकारों को सम्मानित करने के उद्देश्य से शासन द्वारा “मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्” की स्थापना सन् १९५४ में पुराने मध्यप्रदेश में की गई थी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिषद् की ओर से प्रति वर्ष निर्दिष्ट विषयों पर उत्कृष्ट मौलिक रचनाओं, प्राचीन पाण्डुलिपियों के सम्पादन तथा अनूदित ग्रंथों के लिए पुरस्कार दिए जाते रहे हैं, निबन्ध-प्रतियोगिताएं की जाती रही हैं तथा विभिन्न साहित्यिक एवं शस्त्रीय विषयों पर देश के विख्यात साहित्यकारों के व्याख्यानो का भी आयोजन किया जाता रहा है। परिषद् इन व्याख्यानमालाओं, पुरस्कृत पुस्तकों तथा अन्य उपयोगी साहित्य को प्रकाशित भी करती रही है।

राज्यपुनर्गठन के फलस्वरूप यह परिषद् ३१ अक्टूबर १९५६ को विघटित कर दी गई और १ नवम्बर १९५६ से नवीन मध्यप्रदेश में इसकी पुनः स्थापना की गई। अब इसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण नवीन मध्यप्रदेश बन गया है। राज्यपुनर्गठन के बाद से विन्ध्य प्रदेश पुरस्कार योजना भी उक्त परिषद् के अन्तर्गत आ गई है और इसका कार्य पूर्ववत् चल रहा है।

“भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान” परिषद् के उक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत ९वीं पुस्तक है। इसमें संस्कृत, पालि व प्राकृत साहित्य के सुप्रसिद्ध अधिकारी विद्वान् डा० हीरालाल जैन के शोधपूर्ण चार भाषणों का संग्रह है, जिनमें जैन धर्म से संबंधित संस्कृति, इतिहास, साहित्य, दर्शन तथा वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला पर प्रकाश डाला गया है। इन व्याख्यानों का आयोजन दिनांक ७ मार्च १९६० से १० मार्च १९६० तक

नवीन मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में किया गया था। डा० जैन ने भाषणों को पुस्तक का रूप देने के लिए अपने मूल भाषणों में यथास्थान आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिए हैं और उसे क्रमबद्ध बनाकर पुस्तक को उपयोगी और रोचक बना दिया है, जिसमें सामान्य पाठक के अतिरिक्त, इस विषय के शोधकर्ता को भी पर्याप्त नवीन सामग्री उपलब्ध होगी। इस पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में भी डा० जैन ने अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी अत्यधिक सहायता प्रदान की है। उन्होंने सुविस्तृत ग्रंथ-सूची और शब्द-सूची जोड़कर सोने में सुगन्ध का समावेश कर दिया है। इन सब के लिए हम डा० जैन के आभारी हैं।

आशा है कि हिन्दी-जगत् में इस पुस्तक का समुचित समादर होगा और शोध-साहित्य की श्रीवृद्धि करनेवाले विद्वानों को इससे प्रेरणा मिलेगी।

अनन्त भराल शास्त्री,

सचिव,

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्,

भोपाल

आमुख

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के आमंत्रण को स्वीकार कर मैंने भोपाल में दिनक ७, ८, ९ और १० मार्च, १९६० को क्रमशः चार व्याख्यान 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' विषय पर दिये। चारों व्याख्यानों के उपविषय थे जैन इतिहास, जैन साहित्य, जैन दर्शन और जैन कला। इन व्याख्यानों की अध्यक्षता क्रमशः मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री डा० कैलासनाथ काटजू, म०प्र० विधान सभा के अध्यक्ष प० कुंजीलाल दुबे, म० प्र० के वित्त मन्त्री श्री मिश्रीलाल गंगवाल और म० प्र० के शिक्षा मन्त्री डा० शंकर दयाल शर्मा द्वारा की गई थी। ये चार व्याख्यान प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहे हैं।

पाठक देखेंगे कि उक्त चारों विषयों के व्याख्यान अपने उस रूप में नहीं हैं, जिनमें वे त्रिसूतन एक-एक घंटे में मंच पर पढ़े या बोले जा सके हों। विषय की रोचकता और उसके महत्त्व को देखते हुए, उक्त परिषद् के अधिकारियों, और विशेषतः मध्यप्रदेश के शिक्षा मन्त्री डा० शंकरदयाल शर्मा, जिन्होंने अन्तिम व्याख्यान की अध्यक्षता की थी, का अनुरोध हुआ कि विषय को और अधिक पल्लवित करके ऐसे एक ग्रन्थ के प्रकाशन योग्य बना दिया जाय, जो विद्यार्थियों व जनसाधारण एवं विद्वानों को यथोचित मात्रा में पर्याप्त जानकारी दे सके। तदनुसार यह ग्रन्थ उन व्याख्यानों का विस्तृत रूप है। जैन इतिहास और दर्शन पर अनेक ग्रन्थ व लेख निकल चुके हैं। किन्तु जैन साहित्य और कला पर अभी भी बहुत कुछ कहने जाने का अवकाश है। इसलिये इन दो विषयों का अपेक्षाकृत विशेष विस्तार किया गया है। ग्रन्थ-सूची और शब्द-सूची विशेष अध्ययताओं के लिये लाभदायक होगी। आशा है, यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

अंत में मैं मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् का बहुत कृतज्ञ हूँ, जिसकी प्रेरणा से मैं यह साहित्य-सेवा करने के लिये उद्यत हुआ।

हीरालाल जैन

विषय सूची

१. जैन धर्म का उद्गम और विकास

पृष्ठ १-४६

जैन धर्म की राष्ट्रीय भूमिका-१, उदार नीति का सैद्धान्तिक आधार -५, प्राचीन इतिहास-६, आदि तीर्थंकर और वातरक्षना मुनि-११, वैदिक साहित्य के यति और ब्राह्मण-१८, तीर्थंकर नमि-१९, तीर्थंकर नेमिनाथ-२०, तीर्थंकर पार्श्वनाथ-२०, तीर्थंकर वर्धमान महावीर-२२, महावीर की संघ-व्यवस्था और उपदेश-२४, महावीर निर्वाण काल-२५. गौतम-केशी-संवाद-२६ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गणभेद-२८, प्राचीन ऐतिहासिक कालगणना-२९, सात निह्व व दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-३०, दिगम्बर आम्नाय में गणभेद -३१, पूर्व व उत्तर भारत में धार्मिक प्रसार का इतिहास-३३, दक्षिण भारत व लंका में जैन धर्म तथा राजवंशों से सम्बन्ध-३५, कदम्ब राजवंश-३६, गंग राजवंश-३७, राष्ट्रकूट राजवंश-३८, चालुक्य और होयसल राजवंश-३९, अन्य राजवंश-४१, गुजरात-काटियावाड़ में जैन धर्म-४१, जैन संघ में उत्तरकालीन पंथभेद-४४।

२. जैन साहित्य

पृष्ठ ४६-२११

साहित्य का द्रव्यात्मक और भावात्मक स्वरूप-४९, महावीर से पूर्व का साहित्य -५१, अंग-प्रविष्ट व अंग बाह्य साहित्य-५४, अर्धभागधी जैनागम-५५, अर्धभागधी भाषा-७०, सूत्र या सूक्त-७१, आगमों का टीका साहित्य-७२, शौरसेनी जैनागम-७३, षट्खंडागम टीका-७५, शौरसेनी आगम की भाषा-७६, नेमिचन्द्र की रचनाएं-७९, कुन्दकुन्द के ग्रन्थ-८३, द्रव्यानुयोग विषयक संस्कृत रचनाएं-८५, न्याय विषयक प्राकृत जैन साहित्य-८६, न्याय विषयक संस्कृत जैन साहित्य-८७, करणानुयोग साहित्य-९३, चरणानुयोग साहित्य-९८, मुनि-आचार-प्राकृत-९८, मुनिआचार-संस्कृत-१०८, श्रावकाचार-प्राकृत-१०९, श्रावकाचार-संस्कृत-११३, ध्यान व योग-प्राकृत-११४, ध्यान व योग-अपभ्रंश-११८, ध्यान व योग-संस्कृत-११९, स्तोत्र साहित्य-१२२, प्रथमानुयोग प्राकृतपुराण-१२७, प्राकृत में तीर्थंकर चरित्र-१३४, प्राकृत में विशेष कथाग्रन्थ पद्यात्मक-१३६, प्राकृत कथाएं-गद्य-पद्यात्मक-१४३, प्राकृत कथाकोष-१४९, अपभ्रंश भाषा का विकास-१५२, अपभ्रंश पुराण-१५३, अपभ्रंश में तीर्थंकर-चरित्र-१५७, अपभ्रंश चरित्र काव्य-१५८, अपभ्रंश लघुकथाएं-१६४, प्रथमानुयोग-संस्कृत-पुराण-

१६४, तीर्थंकर चरित्र-१६६, अन्य चरित्र-१७१, कथानक-१७४, नाटक-१७६, साहित्य-शास्त्र-१८०, व्याकरण-प्राकृत-१८१, व्याकरण-संस्कृत-१८४, छंद शास्त्र-प्राकृत-१९०, छंद शास्त्र-संस्कृत-१९५, कोश-प्राकृत-१९५, कोश-संस्कृत-१९६, अर्धभागधी प्राकृत अवतरण-२००, शौरसेनी प्राकृत अवतरण-२०३, महाराष्ट्री प्राकृत अवतरण-२०६, अपभ्रंश अवतरण-२०६।

३. जैन दर्शन

पृष्ठ २१५-२७८

तत्त्वज्ञान-२१५, जीव तत्त्व-२१५, जैन दर्शन में जीव-तत्त्व-२१७, अजीव तत्त्व-२२०, धर्म-द्रव्य-२२०, अधर्म-द्रव्य-२२१, आकाश-द्रव्य-१२१ काल-द्रव्य-२२२, द्रव्यो के सामान्य लक्षण-२२३, आस्रव-तत्त्व-२२३, बन्ध तत्त्व-२२५, कर्मप्रकृतियाँ ज्ञानावरण कर्म-२२६, दर्शनावरणकर्म-२२६, मोहनीय कर्म-२२७, अन्तराय कर्म-२२८, वेदनीय कर्म-२२९, आयु कर्म-२२९, गोत्र कर्म-२२९, नाम कर्म-२२९, प्रकृति बन्ध के कारण-२३२, स्थिति बन्ध-२३४, अनुभाग बन्ध-२३५, प्रदेश बन्ध-२३६, कर्म सिद्धान्त की विशेषता-२३७, जीव और कर्मबन्ध सादि है या अनादि-२३८, चार पुरुषार्थ २३९, मोक्ष मच्चा मुख-२४०, मोक्ष का मार्ग-२४१, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि पुरुष-२४२-सम्यग्ज्ञान-२४३, मतिज्ञान-२४४, श्रुतज्ञान-२४५, अवधिज्ञान-२४५, मनः पर्ययज्ञान-२४६, केवलज्ञान-२४६, ज्ञान के साधन-२४७, प्रमाण व नय-२४७, अनेकान्त व स्याद्वाद २४८, नय-२४९, द्रव्यार्थिक पर्यायाधिक नय-२५१, चार निक्षेप-२५२, सम्यक् चरित्र-२५३, अहिंसा-२५४, श्रावक धर्म-२५५, अहिंसाणु-व्रत-२५६, अहिंसाणुव्रत के अतिचार २५८, सत्याणुव्रत व उसके अतिचार-२५८, अस्तेयाणुव्रत व उसके अतिचार-२५९, ब्रह्मचर्याणुव्रत व उसके अतिचार-२५९, अपरिग्रहाणुव्रत व उसके अतिचार-२६०, मैत्री आदि बार भावनाएं-२६१, तीन गुणव्रत-२६१, चार शिज्ञाव्रत-२६२, सल्लेखना-२६२, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं-२६३, मुनिधर्म २६५, २२ परीषद्-२६६, १० धर्म-२६८, १२ अनुप्रेक्षाएं-२६९, ३ गुप्तिया-२७०, ६ प्रकार का बाह्य तप-२७१, ६ प्रकार का आभ्यन्तर तप-२७१, ध्यान (आर्त और रोद्र)-२७२, धर्म ध्यान-२७२, शुक्ल ध्यान-२७३, गुणस्थान व मोक्ष-२७३, उपशम व क्षपक श्रेणियाँ-२७६।

४. जैन-कला

पृष्ठ २७९-३७४

जीवन और कला-२८१, जैन धर्म और कला-२८३, कला के भेदप्रभेद-२८४, वास्तुकला में जैन निर्मितियों के आदर्श-२९२, मेरु की रचना-२९३, नंदीश्वर द्वीप की

रचना-२६४, समवसरण रचना-२६५, मानस्तंभ-२६६, चैत्यवृक्ष व स्तूप-२६७, श्री मंडप-२६७, गंधकुटी-२६७, नगरविन्यास-२६८, चैत्य रचना-३००, जैन चैत्य व स्तूप ३००, मथुरा का स्तूप-३०३,

जैन गुफाएँ—बराबर पहाड़ी-३०६, नागार्जुनी पहाड़ी-३०७, उदयगिरि खण्डगिरि-३०७, पमोसा-३०९, जूनागढ़-३०९, विदिशा-३१०, श्रवणबेलगोला-३११, उस्मानाबाद-तेरापुर-३११, सित्तलवासल-३१३, बादामी-३१३, ऐहोल-३१४, एलोरा-३१४, दक्षिण आवनकोर-३१५, अंकाई-तंकाई-३१६, ग्वालियर-३१७

जैन मंदिर—निर्माण की शैलियाँ-३१८, सिद्धसेत्र-३१९, ऐहोल का मेष्ठी मंदिर-३२०, नागर, द्राविड और केसर शैलियाँ-३२१, पट्टदकल और हुंजच के मंदिर-३२२, तीर्थहल्लि और लकुंडी के मंदिर-३२३, जिननाथपुर और हलेवीड के मंदिर-३२४, दक्षिण में द्राविड शैली के अन्य जैन मंदिर-३२५, पहाड़पुर का महाविहार-३२५, देवगढ़-३२७, खजराहो-३२८, ग्यारसपुर का जैन मंडप-३२९, सोनागिरि और मुक्तागिरि-३३०, कुंडलपुर और ऊन-३३१, बडली का स्तम्भखण्ड-३३२, वर्धमानपुर बदनावर का शाल्तिनाथ मंदिर-३३२, ओसिया-३३३, सादवी का नीलखा मंदिर-३३२, आबू-देलवाड़ा-३३४, राणकपुर का चतुर्मुखी मंदिर-३३७, चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ-३३८, शत्रुंजय-३३८, गिरनार-३३९, जैन मंदिरों के भग्नावशेष-३४०, लंका में निर्भंकों के देवकुल-३४१, जावा का ब्रम्हान मंदिर पुंज-३४१

जैन मूर्तिकला—अति प्राचीन जैन मूर्तियाँ-३४२, कुषाणकालीन जैन मूर्तियाँ-३४३, कुछ मूर्तियों का परिचय-३४४, गुप्तकालीन जैन मूर्तियाँ-३४६, तीर्थंकर मूर्तियों के चिह्न ३४८, धातु की मूर्तियाँ-३५०, बाहुबलि की मूर्तियाँ-३५२, चक्रेश्वरी पद्मावती आदि यक्षियों की मूर्तियाँ ३५४, अम्बिका देवी की मूर्ति-३५५, सरस्वती की मूर्ति-३५७, अच्युता या अच्छुप्ता देवी की मूर्ति-३५९, नैगमेश (नैमेश) की मूर्ति-३५९,

जैन चित्रकला—चित्रकला के प्राचीन उल्लेख-३६१, भित्ति-चित्र-३६३, ताड़-पत्रीय चित्र-३६५, कागज पर चित्र-३६९, काष्ठ-चित्र-३७२, बस्त्र पर चित्रकारी-३७३।

चित्र-सूची

३७७-३६८

शिवयशका स्तूपवाला आयागपट मथुरा-३७७, मथुरा का जिनमूर्ति युक्त आयाग पट-३७८, दुमंजली रानी गुम्फा उदयगिरि-३७९, उदयगिरि की रानी गुम्फा के तोरण द्वार पर त्रिरत्न व अशोक वृक्ष-३७९, रानी गुम्फा का भित्ति चित्र-३८०, तेरापुर की प्रधान गुफा के स्तंभों की चित्रकारी-३८०, तेरापुर की प्रधान गुफा के भित्ति चित्र-३८१, तेरापुर की तीसरी गुफा का विन्यास व स्तंभ-३८१, एलोरा की इन्द्रसभा का ऊपरी मंजिल-३८२, लकुंडी का जैन मन्दिर-३८३, खजराहो के जैन मन्दिरों का सामूहिक दृश्य-३८३, खजराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के भित्ति चित्र-३८४, गोनगिरि के जैन मन्दिरों का सामूहिक दृश्य-३८५, ब्राह्म के जैन मन्दिरों के छत की कारीगरी-३८५, राणकपुर का जैन मन्दिर-३८६, चित्तौड़ का जैन कीर्ति स्तंभ-३८७, शत्रुंजय के जैन मन्दिरों का सामूहिक दृश्य-३८७, लोहानीपुर की मस्तक हीन जिन-मूर्ति-३८८, सिधघाटी की मस्तक हीन नग्न मूर्ति-३८८, सिधघाटी की त्रिशृंग युक्त ध्यानस्थ मूर्ति-३८९, ऋषभ की खड्गासन धातु प्रतिमा, चौसा-३८९, तेरापुर गुफा के पद्मासन पार्श्वनाथ-३९०, तेरापुर गुफा के खड्गासन पार्श्वनाथ-३९०, पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति उदयगिरि विदिशा-३९१, देवगढ़ की तीन पद्मासन जिन प्रतिमाएं-३९१-३९२, देवगढ़ की खड्गासन जिन प्रतिमा-३९३, जीवन्त स्वामी की धातु प्रतिमा आकोट-३९, श्रवणवेलगोला के गोम्मटेश्वर बाहुवलि-३९४, बाहुवलि की धातु प्रतिमा-३९५, देवगढ़ की युगल प्रतिमा-३९६, चन्द्रपुर की युगल प्रतिमा-३९६, मूड़वित्री के सिद्धांत ग्रन्थों के तारुपत्रीय चित्र-३९७, सुपासगाह बरिय का कागद चित्र-३९८ ।

ग्रंथ-सूची

३९९-४२४

शब्द-सूची

४२५-४६४

शुद्धि-पत्र

४६५-४६७

व्याख्यान-१

जैन धर्म का उद्गम और विकास

व्याख्यान-१

जैन धर्म का उद्गम और विकास

जैन धर्म की राष्ट्रीय भूमिका—

इस शासन साहित्य परिषद् की ओर से जब मुझे इन व्याख्यानों के लिये आमंत्रण मिला और तत्संबंधी विषय के चुनाव का भार भी मुझही पर डाला गया तब मैं कुछ असमंजस में पड़ा। आपको विवित ही होगा कि अभी कुछ वर्ष पूर्व बिहार राज्य शासन की ओर से एक विद्यापीठ की स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य है प्राकृत जैन तत्त्वज्ञान तथा अहिंसा विषयक स्नातकोत्तर अध्ययन व अनुसंधान। इस विद्यापीठ के संचालक का पद मुझे प्रदान किया गया है। इस बात पर मुझ से अनेक ओर से प्रश्न किया गया है कि बिहार सरकार ने यह कार्य क्यों और कैसे किया ? उनके इस प्रश्न की पृष्ठभूमि यह है कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय नीति सर्वथा धर्म-निरपेक्ष निश्चित हो चुकी है, और तदनुसार संबिधान में सब प्रकार के धार्मिक, साम्प्रदायिक, जातीय आदि पक्षपातों का निषेध किया गया है। अतएव इस पृष्ठभूमि पर उक्त प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न का सरल उत्तर मेरी ओर से यही दिया जाता है कि बिहार सरकार ने केवल इस जैन विद्यापीठ की ही स्थापना नहीं की है, किंतु उसके द्वारा संस्कृत व वैदिक संस्कृति के अध्ययन व अनुसंधान के लिये मिथिला विद्यापीठ, एवं पालि व बौद्ध तत्त्वज्ञान के लिये नव नालंदा महाविहार की भी स्थापना की गई है। इस प्रकार का एक संस्थान पटना में अरबी-फारसी भाषा साहित्य व संस्कृति के लिये भी स्थापित किया गया है। भारत की प्राचीन संस्कृतियों के उच्च अध्ययन, अध्यापन व अनुसंधान हेतु इन तीन चार विद्यापीठों की स्थापना द्वारा शासन ने अपना धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। धर्मनिरपेक्षता का वह अर्थ कदापि नहीं है कि शासन द्वारा किसी भी धर्म, तत्त्वज्ञान व तत्संबंधी साहित्य

के अध्ययन आदि का निषेध किया जाय, किंतु उस का उद्देश्य मात्र इतना ही है कि किसी धर्म-विशेष के लिये सब सुविधायें देना और दूसरे धर्मों की उपेक्षा करना, ऐसी राष्ट्र-नीति कदापि नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत शासन का कर्तव्य होगा कि वह देश के प्राचीन इतिहास, साहित्य, सिद्धान्त व दर्शन आदि संबंधी सभी विषयों के अध्ययन व अनुसंधान के लिये जितनी हो सके उतनी सुविधायें समान दृष्टि से, निष्पक्षता के साथ, उपस्थित करे। इस उदात्त व श्रेयस्कर दृष्टिकोण से कभी किसी को कोई विरोध नहीं हो सकता। मैं समझता हूं इसी धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रेरित होकर इस शासन परिषद् ने मुझे इन व्याख्यानों के लिये आमंत्रित किया है, और उसी दृष्टि से मुझे जैनधर्म का भारतीय संस्कृति को योगदान विषयक यहां विवेचन करने में कोई संकोच नहीं। ध्यान मुझे केवल यह रखना है कि इस विषय की यहां जो समीक्षा की जाय, उसमें आत्म-प्रशंसा व परनिंदा की भावना न हो, किंतु प्रयत्न यह रहे कि प्रस्तुत संस्कृति की धारा ने भारतीय जीवन व विचार एवं व्यवस्थाओं को कब कैसा पुष्ट और परिष्कृत किया, इसका यथार्थ मूल्यांकन होकर उसकी वास्तविक रूपरेखा उपस्थित हो जाय। मुझे इस विषय में विशेष सतर्क रहने की इसलिये भी आवश्यकता है क्योंकि मैं स्वयं अपने जन्म व संस्कारों से जैन होने के कारण सरलता से उक्त दोष का भागी ठहराया जा सकता हूं। किन्तु इस विषय में मेरा उक्त उत्तर-दायित्व इस कारण विशेषरूप से हलका हो जाता है, कि जैनधर्म अपनी विचार व जीवन संबंधी व्यवस्थाओं के विकास में कभी किसी संकुचित दृष्टि का शिकार नहीं बना। उसकी भूमिका राष्ट्रीय दृष्टि से सदैव उदार और उदात्त रही है। उसका यदि कभी कहीं अन्य धर्मों से विरोध व संघर्ष हुआ है तो केवल इसी उदार नीति की रक्षा के लिये। जैनियों ने अपने देश के किसी एक भाग मात्र को कभी अपनी भक्ति का विषय नहीं बनने दिया। यदि उनके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए थे, तो उनका उपदेश व निर्वाण हुआ मगध (दक्षिण बिहार) में। उनसे पूर्व के तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ उत्तरप्रदेश की बनारस नगरी में; तो वे तपस्या करने गये मगध के सम्मेदशिखर पर्वत पर। उनसे भी पूर्व के तीर्थंकर नेमिनाथ ने अपने तपश्चरण, उपदेश व निर्वाण का क्षेत्र बनाया भारत के पश्चिमी प्रदेश काठियावाड़ को। सब से प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जन्म हुआ अयोध्या में और वे तपस्या करने गये कैलाश पर्वत पर। इस प्रकार जैनियों की पवित्र भूमि का विस्तार उत्तर में हिमालय, पूर्व में मगध, और पश्चिम में काठियावाड़ तक हो गया। इन सीमाओं के भीतर अनेक मुनियों व आचार्यों आदि महापुरुषों के जन्म, तपश्चरण,

निर्वाण आदि के निमित्त से उन्होंने देश की पद पद भूमि को अपनी श्रद्धा व भक्ति का विषय बना डाला है। चाहे धर्मप्रचार के लिये हो और चाहे आत्मरक्षा के लिये, जैनी कभी देश के बाहर नहीं भागे। यदि दुर्भिक्ष आदि विपत्तियों के समय वे कहीं गये तो देश के भीतर ही, जैसे पूर्व से पश्चिम को या उत्तर से दक्षिण को। और इस प्रकार उन्होंने दक्षिण भारत को भी अपनी इस श्रद्धांजलि से वंचित नहीं रखा। वहाँ तामिल के सुदूरवर्ती प्रदेश में भी उनके अनेक बड़े बड़े आचार्य व ग्रंथकार हुए हैं, और अनेक स्थान उनके प्राचीन मंदिरों आदि के ध्वंसों से आज भी अलंकृत हैं। कर्नाटक प्रांत में श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर बाहुबलि की विशाल कलापूर्ण मूर्तियाँ आज भी इस देश की प्राचीन कला को गौरवान्वित कर रही हैं। तात्पर्य यह कि समस्त भारत देश, आजकी राजनैतिक दृष्टिमान से ही नहीं, किन्तु अपनी प्राचीनतम धार्मिक परम्परानुसार भी, जैनियों के लिये एक इकाई और श्रद्धाभक्ति का भाजन बना है। जैनी इस बात का भी कोई दावा नहीं करते कि ऐतिहासिक काल के भीतर उनका कोई साधुओं या गृहस्थों का समुदाय बड़े पैमाने पर कहीं देश के बाहर गया हो और वहाँ उसने कोई ऐसे मंदिर आदि अपनी धार्मिक संस्थाएँ स्थापित की हों, जिनकी भक्ति के कारण उनके देशप्रेम में लेशमात्र भी शिथिलता या विभाजन उत्पन्न हो सके। इसप्रकार प्रांतीयता की संकुचित भावना एवं देशबाह्य अनुचित अनुराग के दोषों से निष्कलंक रहते हुए जैनियों की देशभक्ति सदैव विद्युद्ध, अचल और स्थिर कही जा सकती है।

देशभक्ति केवल भूमिगत ही हो सो बात नहीं है। जैनियों ने लोक-भावनाओं के संबंध में भी अपनी वही उदार नीति रखी है। भाषा के प्रश्न को ले लीजिये। वैदिक परम्परा में संस्कृत भाषा का बड़ा आदर रहा है, और उसे ही 'दैवी वाक्' मानकर सदैव उसी में साहित्य-रचना की है। इस मान्यता का यह परिणाम तो अच्छा हुआ कि उसके द्वारा प्राचीनतम साहित्य वेदों आदि की भले प्रकार रक्षा हो गई तथा भाषा भी उत्तरोत्तर खूब भँजती गई। किन्तु इससे एक बड़ी हानि यह हुई कि उस परम्परा के कोई दो तीन हजार वर्षों में उत्पन्न विशाल साहित्य के भीतर तत्त्वज्ञान-लिक भिन्न प्रदेशीय लोक-भाषाओं का कोई प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय की एक लोक-भाषा मागधी को बनाया और अपने शिष्यों को यह आदेश भी दिया कि धर्म उपदेश के लिये लोकभाषाओं का ही उपयोग किया जाय। किन्तु बौद्ध परम्परा के साहित्यिक उस आदेश का पूर्ण-तया पालन न कर सके। उन्हें एक पालि भाषा से ही मोह हो गया और वह इतना

कि लंका, व्यास, बर्मा आदि दूर देशों में जाकर भी उनके साहित्य का माध्यम वही प्राचीन भाषा बनी रही, और वहाँ की लोक भाषायें जीती मरती हुई उस साहित्य में कोई स्थान प्राप्त न कर सकीं। जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने लोकोपकार की भावना से उस समय की सुबोध वाली अर्द्धभाषा का उपयोग किया, तथा उनके भ्रातृ-भरों ने उसी भाषा में उनके उपदेशों का संकलन किया। उस भाषा और उस साहित्य की ओर जैनियों का सदैव आदर भाव रहा है; तथापि उनकी वह भावना कभी भी लोक भाषाओं के साथ न्याय करने में बाधक नहीं हुई। जैनार्चक जब जब धर्म प्रचारार्थ जहाँ जहाँ गये, तबतब उन्होंने उन्हीं प्रदेशों में प्रचलित लोक-भाषाओं को अपनी साहित्य-रचना का माध्यम बनाया। यही कारण है कि जैन साहित्य में ही भिन्न भिन्न प्रदेशों की भिन्न भिन्न कालीन शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि प्राकृत भाषाओं का पूरा पूरा प्रतिनिधित्व पाया जाता है। हिंदी, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य जैनियों का ही मिलता है। यही नहीं, किंतु दक्षिण की सुदूरवर्ती तामिल व कन्नड भाषाओं को प्राचीनकाल में साहित्य में उतारने का श्रेय संभवतः जैनियों को ही दिया जा सकता है। इसप्रकार जैनियों ने कभी भी किसी एक प्रांतीय भाषा का पक्षपात नहीं किया, किंतु सदैव देश भर की भाषाओं को समान आदरभाव से अपनाया है, और इस बात के लिये उनका विशाल साहित्य साक्षी है।

धार्मिक लोक मान्यताओं की भी जैनधर्म में उपेक्षा नहीं की गई, किंतु उनका सम्मान करते हुए उन्हें विधिवत् अपनी परम्परा में यथास्थान सम्मिलित कर लिया गया है। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्य भाव रहा है व उन्हें अवतार-पुरुष माना गया है। जैनियों ने तीर्थंकरों के साथ साथ इन्हें भी श्रेष्ठ शलाका पुरुषों में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों में विस्तार से उनके जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। जो लोग जैनपुराणों को हलकी और उथली दृष्टि से देखते हैं, वे इस बात पर हंसते हैं कि इन पुराणों में महापुरुषों को जैनमतावलम्बी माना गया है, व कथाओं में व्यर्थ हेर फेर किये गये हैं। उनकी दृष्टि इस बात पर नहीं जाती कि कितनी आत्मीयता से जैनियों ने उन्हें अपने भी पूज्य बना लिया है, और इस प्रकार अपने तथा अन्यधर्मी देश भाइयों की भावना की रक्षा की है। इतना ही नहीं, किंतु रावण व जरासंध जैसे जिन अनार्य राजाओं को वैदिक परम्परा के पुराणों में कुछ धृष्टि भाव से चित्रित किया गया है, उनको भी जैन पुराणों में उच्चता और सम्मान का स्थान देकर अनार्य जातियों की भावनाओं को भी ठेस नहीं पहुँचाने दी। इन नारायण के शत्रुओं को भी उन्होंने अतिनारायण का उच्चपद प्रदान किया

है। रावण को दशमुखी राक्षस न मान कर उसे विद्याधर वंशी माना है, जिसके स्वाभाविक एक मुख के अतिरिक्त गले के हार के नी मणियों में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने से लोग उसे दशानन भी कहते थे। अग्निपरीक्षा हो जाने पर भी जिस सीता के सतीत्व के संबंध में लोग निःशंक नहीं हो सके, उस प्रसंग को जैन रामायण में बड़ी चतुराई से निबाहा गया है। सीता किसीप्रकार भी रावण से प्रेम करने के लिये राजी नहीं है। इस कारण रावण के दुख को दूर करने के लिये उसे यह सलाह दी जाती है कि वह सीता के साथ बलात्कार करे। किंतु रावण इसके लिये कदापि तैयार नहीं होता। वह कहता है कि मैंने व्रत लिया है कि किसी स्त्री को राजी किये बिना मैं कभी उसे अपने भोग का माधन नहीं बनाऊंगा। इसप्रकार जैन पुराणों में रावण को राक्षसी वृत्ति से ऊपर उठाया गया है, और साथ ही सीता के अक्षुण्ण सतीत्व का ऐसा प्रमाण उपस्थित कर दिया गया है, जो शंका से परे और अकाट्य हो। इन पुराणों में हनुमान, सुग्रीव आदि को बंदर नहीं, किंतु विद्याधर वंशी राजा माना गया है, जिनका ध्वज चिन्ह बानर था। इसप्रकार जैनपुराणों में जो कथाओं का वैशिष्ट्य पाया जाता है, वह निरर्थक अथवा धार्मिक पक्षपात की संकुचित भावना से प्रेरित नहीं है। उसका एक महान् प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा लोक में औचित्य की हानि न हो, और साथ ही आर्य अनार्य किसी भी वर्ग की जनता को उससे किसी प्रकार की ठेस न पहुंचकर उनकी भावनाओं की भलेप्रकार रक्षा हो।

देश में कभी यक्षों और नागों की भी पूजा होती थी, और इसके लिये उनकी मूर्तियां व मन्दिर भी बनाये जाते थे। प्राचीन ग्रंथों में इस बात के प्रमाण हैं। इनके उपासकों को इतिहासवेत्ता भूलतः अनार्य मानते हैं। जैनियों ने उनकी हिंसात्मक पूजा-विधियों का तो निषेध किया, किन्तु प्रमुख यक्ष नागादि देवी देवताओं को अपने सौधकार्यों के रक्षक रूप से स्वीकार कर, उन्हें अपने देवालयों में भी स्थान दिया है। राक्षस, भूत, पिशाच आदि चाहे मनुष्य रहे हों, अथवा और किसी प्रकार के प्राणी, किन्तु देश के किन्हीं वर्गों में इनकी कुछ न कुछ मान्यता थी, जिसका धावर करते हुए जैनियों ने इन्हें एक जाति के देव स्वीकार किया है।

उदार नीति का सैद्धान्तिक आधार—

जैनियों की उक्त संश्राहक प्रवृत्तियों पर से सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म अवसरवादी रहा है, जिसके कारण उसमें अनेक विरोधी बातों का समावेश कर लिया गया है। किन्तु गम्भीर विचार करने से यह अनुमान निर्मूल सिद्ध हो

जायगा, क्योंकि उक्त सभी बातें किसी व्यावहारिक सुविधा मात्र के विचार से नहीं लाई गई हैं, किन्तु वे जैनधर्म के आधारभूत दार्शनिक व सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि से स्वभावतः ही उत्पन्न हुई हैं। इस बात को स्पष्टतः समझने के लिये जैनदर्शन पर यहाँ एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

वेदान्त दर्शन में केवल एक चिदात्मक तत्त्व ही स्वीकार किया गया है, जिसे ब्रह्म कहा है और शेष दृश्यमान जगत् के पदार्थों को असत् व माया-जाल रूप से बतलाया गया है। एक अन्य दर्शन में केवल भौतिक तत्त्वों की ही सत्ता स्वीकार की गई है, और उन्हीं के मेल-जोल से चैतन्य गुण की उत्पत्ति मानी गई है। इस मत को चार्वाक दर्शन कहा गया है। जैन दर्शन जीव और अजीवरूप से दोनों तत्त्वों को स्वीकार करता है। उसमें मौलिक तत्त्व एक नहीं, किन्तु छह द्रव्यों को माना है। द्रव्य वह है जिसमें सत्ता गुण हो, और सत्ता स्वयं त्रिगुणात्मक है। इसके ये तीन गुण हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रुव्य। तात्पर्य यह कि न तो वेदान्त में द्रव्यों की पूरी सत्ता का निरूपण पाया जाता है, और न चार्वाक दर्शन में। द्रव्यों में वेदान्त-सम्मत कूटस्थ नित्यता भी सिद्ध नहीं होती, और न बौद्ध सिद्धान्त की क्षण-ध्वंसता मात्र। संसार में चैतन्य-गुण-युक्त आत्म-तत्त्व भी है, और चैतन्यहीन मूर्तिमान, भौतिक पदार्थ तथा, अमूर्तिक काल, आकाश आदि तत्त्व भी। ये सभी द्रव्य गुण-पर्यायात्मक हैं। अपनी गुणात्मक अवस्था के कारण उनमें ध्रुवता है, तथा पर्यायात्मकता के कारण उनमें उत्पत्ति-विनाश रूप अवस्थाएं भी विद्यमान हैं। जैनधर्म के इस दार्शनिक तत्त्व-ज्ञान में ही उसकी व्यापक दृष्टि पाई जाती है, और इसी व्यापक दृष्टि से वस्तु-विचार के लिए उसने अपना स्याद्वाद व अनेकान्त रूप न्याय स्थापित किया है। इस न्याय को समझने के लिए हम अपने सामने रखी हुई इस टेबिल को ही ले लेते हैं। इसे हम चैतन्यहीन पाते हैं, इसीलिए इसे मात्र जड़ तत्त्व ही कह सकते हैं। जड़ तत्त्वों में यह अमूर्त नहीं, किन्तु मूर्तिमान है, इसीलिए इसे पुद्गल कह सकते हैं। पुद्गलों के नाना भेदों में से यह केवल काष्ठ की बनी है, इसीलिये इसे काठ कह सकते हैं, और काठ के बने आलमारी, कुर्सी, बेंच, दरवाजे आदि नाना रूपों में से इसके अपने विशेष रूप के कारण हम इसे टेबिल कहते हैं। इस टेबिल में ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई तथा रंग आदि की दृष्टि से अनेक ही नहीं, अनन्त गुण हैं। आपेक्षिक दृष्टि से देखने पर यही टेबिल हमें कभी छोटी और कभी बड़ी, कभी ऊँची और कभी नीची दिखाई देने लगती है। इस प्रकार जब कोई इसे उक्त द्रव्यात्मक, गुणात्मक या पर्यायात्मक नाम से कहता है, तब उसमें वास्तविकता की दृष्टि से हमें एकांश सत्य की झलक मिलती है, और उससे हमारा

तात्कालिक कार्य भी चल जाता है। किन्तु यदि हम उसी आंशिक सत्य को परिपूर्ण सत्य मान लें, तो यह हमारी भूल होगी। नाना कालों में, नाना देशों में, नाना मनुष्यों में वस्तुओं को नाना प्रकार से देखा, समझा व वर्णन किया जाता है। अतएव हमें उन सब कथनों व वर्णनों का ठीक-ठीक दृष्टिकोण समझकर, उन्हें अपने ज्ञान में यथास्थान समाविष्ट करना आवश्यक है। यदि हम ऐसा नहीं कर पाते, तो पद पद पर हमें विरोध दिखाई देता है। किन्तु यदि हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को समझकर उनको सामंजस्य रूप से स्थापित कर सकें, तो हमें उस विशाल सत्य के दर्शन होने लगते हैं जो इस जगत् की वास्तविकता है। इसी उद्देश्य से जैन आचार्यों ने देश और काल, तथा द्रव्य और भाव के अनुसार भी वस्तु-वैचिन्म्य का विचार करने पर जोर दिया है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने समस्त एकान्तरूप मिथ्या दृष्टियों के समन्वय से सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति मानी है।

जैनधर्म में जो अहिंसा पर जोर दिया गया है, वह भी उक्त तत्त्व-चिन्तन का ही परिणाम है। संसार में एक नहीं, अनेक, अनन्त प्राणी हैं, और उनमें से प्रत्येक में जीवात्मा विद्यमान है। ये आत्माएं अपने अपने कर्मबन्ध के बल से जीवन की नाना दशाओं, नाना योनियों, नाना प्रकार के शरीरों तथा नाना ज्ञानात्मक अवस्थाओं में दिखाई देती हैं। किन्तु उन सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा परमात्मपद प्राप्त करने की योग्यता है। इस प्रकार शक्तिरूप से सभी जीवात्मा समान हैं। अतएव उनमें परस्पर सम्मान, सद्भाव और सहयोग का व्यवहार होना चाहिये। यही जैनधर्म की जनतन्त्रात्मकता है। यदि आज की जनतन्त्रात्मक विचारधारा से उसे पृथग् निर्दिष्ट करना चाहें, तो उसे प्राणि-तन्त्रात्मक कहना उचित होगा; क्योंकि जनतन्त्रात्मक जो दृष्टिकोण मनुष्य समाज तक सीमित है, उसे और अधिक विस्तृत व विशाल बनाकर जैनधर्म प्राणिमात्र को उसकी सदस्यता का पात्र स्वीकार करता है। इस वस्तु-विचार से यह स्वभावतः ही फलित होता है कि समस्त प्राणियों में परस्पर अपनी व पराई दोनों की रक्षा की भावना होनी चाहिये। जब सभी को एक उद्दिष्ट स्थान पर पहुंचना है, और वे एक ही पथ के पथिक हैं, तब उनमें परस्पर साहाय्य की भावना होनी ही चाहिये। इस विवेक का मनुष्य पर सबसे अधिक भार है, क्योंकि मनुष्य में अन्य सब प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धि और ज्ञान का विकास हुआ है। यदि एक के पास मोटरकार है, और दूसरा पैदल चल रहा है, तो होना तो यह चाहिये कि मोटरवाला पैदल चलनेवाले को भी अपनी गाड़ी में बिठा ले। किन्तु यदि किसी कारणवश यह सम्भव न हो, तो यह तो कदापि होना ही न चाहिये कि मोटरवाला अपने उन्माद में

उस पैदल चलनेवाले को अपनी गाड़ी के पहियों के नीचे कुचल दे। अहिंसा सिद्धान्त का यही तत्व और मर्म है।

किन्तु जीवन की जितनी विषम परिस्थितियाँ हैं और प्राणियों में जितनी विरोधात्मक वृत्तियाँ हैं, उनमें अहिंसा सिद्धान्त के पूर्णरूप से पालन किये जाने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। जैनधर्म मनुष्य की इन विषम परिस्थितियों को स्वीकार करके चलता है, और इसीलिये अहिंसापालन में तरतम प्रणाली को स्थापित करता है। गृहस्थ एक सीमा तक ही अहिंसा का पालन कर सकता है, अतएव उसके लिये अणुव्रतों का विधान किया गया है। उसके आगे महाव्रतों का परिपालन मुनियों के लिये विहित है। गृहस्थ-मार्ग भी बड़ा विशाल है, और उसकी भी अपनी नाना परिस्थितियाँ हैं। अतएव उसमें भी गृहस्थों के ग्यारह दर्जे स्थापित किये गये हैं। अहिंसा भी अपने रूप में एकप्रकार नहीं, भावना और क्रियारूप से वह भी दो प्रकार की है। क्रिया रूप में भी प्रयोजना-नुसार वह अनेक प्रकार की है। मनुष्य से चलने-फिरने, घर-द्वार की सफाई करने में भी हिंसा हो सकती है। कृषि, वाणिज्य आदि व्यवसायों में भी जीव-हिंसा बचाई नहीं जा सकती। हो सकता है स्वयं अपनी, अपने बंधु-बान्धवों अथवा अपने घरद्वार व देश की रक्षा के लिये उसे आक्रमणकारी मनुष्यों का सामना करना पड़े। गृहस्थों के लिये इसप्रकार की हिंसा का निषेध नहीं किया गया। उसे बचने का आदेश दिया गया है उस हिंसा से, जो बिना उक्त प्रयोजनों के, अथवा क्रोध, वैर आदि दुष्ट भावनाओं से प्रेरित होकर संकल्पपूर्वक की गई हो। जैसे शिकार खेलने, बैर चुकाने या घनहरण करने आदि के लिये किसी का वध करना, इत्यादि। मुनि उक्त विविध उत्तरदायित्वों से मुक्त होते हैं, अतएव उन पर अधिक सूक्ष्मता से अहिंसा के परिपालन का भार डाला गया है।

जैनधर्म के इस अहिंसा के स्वरूप पर विचार करने से, जो उस पर यह कलंक लगाया जाता है कि उसके कारण देश में शक्तिहीनता उत्पन्न हो गई व उसी कारण विदेशी आक्रामकों द्वारा देश की पराजय हुई, वह निर्मूल सिद्ध हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि प्राचीनतम काल से अनेक जैनधर्मावलम्बी बीर पुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपना धर्म भी निबाहा है, और योद्धा व सेनापति का कर्त्तव्य भी। जैन अनेकान्त दृष्टि ने इन विरोधाभासों का परिहार करके अपने कर्त्तव्यों में सामंजस्य स्थापित करने की उसके अनुयायियों को अद्भुत शक्ति दी है। अब जबकि हमारा देश बैयक्तिक व्यवहार में ही नहीं, किन्तु राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में भी अहिंसा तत्व को मौलिक रूप से स्वीकार कर चुका है, तब जैनधर्म का यह सिद्धांत अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण

सिद्ध होता है, और उसके सूक्ष्म अध्ययन व विचार की बड़ी आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी समन्वयात्मक अनेकांत सिद्धांत के आधार पर आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व हुए समंतभद्राचार्य ने अपने युक्त्यनुशासन नामक ग्रंथ में महावीर के जैन शासन की सब आपदाओं का निवारक शाश्वत सर्वोदय तीर्थ कहा है—

सर्वापदां अन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवेव ॥ (यु. ६१)

प्राचीन इतिहास—

जैन पुराणों में भारतवर्ष का इतिहास उसके भौगोलिक वर्णन के साथ किया गया पाया जाता है। भारत जम्बूद्वीप के दक्षिणी भाग में स्थित है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत है और मध्य में विजयाद्वं पर्वत। पश्चिम में हिमवान् से निकली हुई सिन्ध नदी बहती है और पूर्व में गंगानदी, जिससे उत्तरभारत के तीन विभाग हो जाते हैं। दक्षिण भारत के भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं में तीन विभाग हैं। ये ही भारत के छह खंड हैं, जिन्हें विजय करके कोई सम्राट् चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त करता है।

भारत का इतिहास देश की उस काल की अवस्था के वर्णन से प्रारम्भ होता है, जब आधुनिक नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। उस समय भूमि घास और सघन वृक्षों से भरी हुई थी। सिंह, व्याघ्र, हाथी, गाय, भैंस, आदि सभी पशु वनों में पाये जाते थे। मनुष्य ग्राम व नगरों में नहीं बसते थे, और कौटुम्बिक व्यवस्था भी कुछ नहीं थी। उस समय न लोग खेती करना जानते थे, न पशुपालन, न अन्य कोई उद्योग-धन्धे। वे अपने खान, पान, शरीराच्छादन आदि की आवश्यकताएं वृक्षों से ही पूरी कर लेते थे। इसीलिए उस काल के वृक्षों को कल्पवृक्ष कहा गया है। कल्पवृक्ष अर्थात् ऐसे वृक्ष जो मनुष्यों की सब इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। माई-बहन ही पति-पत्नी रूप से रहने लगते थे, और माता-पिता अपने ऊपर सन्तान का कोई उत्तरदायित्व अनुभव नहीं करते थे। इस काल में धर्म-साधना, पुण्य-याप की भावना आदि कोई विचार विवेक नहीं थे। इस परिस्थिति को पुराणकारों ने जोगभूमि-व्यवस्था कहा है, क्योंकि उसमें आगे आनेवाली कर्मभूमि सम्बन्धी कृषि और उद्योग आदि की व्यवस्थाओं का अभाव था।

क्रमशः उक्त अवस्था में परिवर्तन हुआ, और उस युग का प्रारम्भ हुआ जिसे पुराणकारों ने कर्म-भूमि का युग कहा है व जिसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भ कह सकते हैं। इस युग की विकास में जाने-बाले बौद्ध महापुरुष आने गये हैं, जिन्हें कुल-

कर या मनु कहा है। इन्होंने क्रमशः अपने अपने काल में लोगों को हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा करने के उपाय बताये। भूमि व वृक्षों के वैधाक्तिक स्वामित्व की सीमाएं निर्धारित की। हाथी आदि वन्य पशुओं का पालन कर, उन्हें वाहन के उपयोग में लाना सिखाया। बाल बच्चों के लालन-पालन व उनके नामकरण आदि का उपदेश दिया। शीत तुषार आदि से अपनी रक्षा करना सिखाया। नदियों को नौकाओं द्वारा पार करना, पहाड़ों पर सीढ़ियां बनाकर चढ़ना, वर्षा से छत्रादिक धारण कर अपनी रक्षा करना आदि सिखाया। और अन्त में कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करने की कला सिखाई, जिसके पश्चात् वाणिज्य, शिल्प आदि वे सब कलाएं व उद्योगधन्वे उत्पन्न हुए जिनके कारण यह भूमि कर्मभूमि कहलाने लगी।

चौदह कुलकरो के पश्चात् जिन महापुरुषों ने कर्मभूमि की सम्यता के युग में धर्मोपदेश व अपने चारित्र्य द्वारा अच्छे बुरे का भेद सिखाया, ऐसे त्रेसठ महापुरुष हुए, जो शलाका पुरुष अर्थात् विशेष गणनीय पुरुष माने गये हैं, और उन्हीं का चरित्र जैन पुराणों में विशेष रूप से वर्णित पाया जाता है। इन त्रेसठ शलाका पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रति-नारायण सम्मिलित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं :—

२४ तीर्थंकर :—१-ऋषभ, २-अजित, ३-संभव, ४-अभिनंदन, ५-मुमति, ६-पद्मप्रभ, ७-सुपाश्व, ८-चन्द्रप्रभ, ९-पुष्पदंत, १०-शीतल, ११-श्रेयांस, १२-वासुपूज्य, १३-विमल, १४-अनन्त, १५-धर्म, १६-शान्ति, १७-कुन्धु, १८-अरह, १९-मल्लि, २०-मुनिसुव्रत, २१-नमि, २२-नेमि, २३-पाशवंताथ, २४-वर्धमान अथवा महावीर।

१२ चक्रवर्ती :—२५-भरत, २६-सगर, २७-मघवा, २८-सनत्कुमार, २९-शान्ति, ३०-कुन्धु, ३१-अरह, ३२-सुभौम, ३३-पद्म, ३४-हरिवेण, ३५-जयसेन, ३६-ब्रह्मदत्त।

९ बलभद्र :—३७-अचल, ३८-विजय, ३९-भद्र, ४०-सुप्रभ, ४१-सुदर्शन, ४२-आनन्द, ४३-नन्दन, ४४-पद्म, ४५-राम।

९ वासुदेव :—४६-त्रिपुष्ट, ४७-द्विपुष्ट, ४८-स्वयम्भू, ४९-पुरुषोत्तम, ५०-पुरुषसिंह, ५१-पुरुषपुण्डरीक, ५२-दत्त, ५३-नारायण, ५४-कृष्ण।

९ प्रति-वासुदेव :—५५-अश्वघ्नीव, ५६-तारक, ५७-मेरक, ५८-मधु, ५९-निशुम्भ, ६०-बलि, ६१-प्रह्लाद, ६२-रावण, ६३-जरासंध।

आदि तीर्थंकर और वातरक्षना मुनि—

इन त्रेसठ शलाका पुरुषों में सबसे प्रथम जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ हैं, जिनसे जैनधर्म का प्रारम्भ माना जाता है। उनका जन्म उक्त चौदह कुलकरों में से अन्तिम कुलकर नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी से हुआ था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे राजसिंहासन पर बैठे और उन्होंने कृषि, अग्नि, मसि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह आजीविका के साधनों की विशेष रूप से व्यवस्था की, तथा देश व नगरों एवं वर्गों व जातियों आदि का सुविभाजन किया। इनके दो पुत्र भरत और बाहुबलि, तथा दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी थी, जिन्हें उन्होंने समस्त कलाएं व विद्याएं सिखलाई। एक दिन राज्य सभा में नीलांजना नाम की नर्तकी की नृत्य करते करते ही मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना से ऋषभदेव को संसार से वैराग्य हो गया, और वे राज्य का परित्याग कर तपस्या करने वन को चले गये। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत राजा हुए, और उन्होंने अपने दिग्विजय द्वारा सर्वप्रथम चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। उनके लघु भ्राता बाहुबलि भी विरक्त होकर तपस्या में प्रवृत्त हो गये।

जैन पुराणों में ऋषभदेव के जीवन व तपस्या का तथा केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। जैनी इसी काल से अपने धर्म की उत्पत्ति मानते हैं। ऋषभदेव के काल का अनुमान लगाना कठिन है। उनके काल की दूरी का वर्णन जैन पुराण सागरों के प्रमाण से करते हैं। सौभाग्य से ऋषभदेव का जीवन चरित्र जैन साहित्य में ही नहीं, किन्तु वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। भागवत पुराण के पांचवें स्कंध के प्रथम छह अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन व तपश्चरणा का वृत्तान्त वर्णित है, जो सभी मुख्य मुख्य बातों में जैन पुराणों से मिलता है। उनके माता पिता के नाम नाभि और मरुदेवी पाये जाते हैं, तथा उन्हें स्वयंभू मनु से पांचवीं पीढ़ी में इस क्रम से हुए कहा गया है—स्वयंभू मनु, प्रियव्रत, अग्नीध्र, नाभि और ऋषभ। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य देकर सन्यास ग्रहण किया। वे नग्न रहने लगे और केवल शरीर मात्र ही उनके पास था। लोगों द्वारा तिरस्कार किये जाने, गाली-गलौज किये जाने व मारे जाने पर भी वे मौन ही रहते थे। अपने कठोर तपश्चरणा द्वारा उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति की, तथा दक्षिण कर्नाटक तक नाना प्रदेशों में परिभ्रमण किया। वे कुटकाचल पर्वत के वन में उन्मत्त की नाई नमनरूप में विचरने लगे। बांसों की रगड़ से वन में आग लग गई और उसी में उन्होंने अपने को भस्म कर डाला।

भागवत पुराण में यह भी कहा गया है कि ऋषभदेव के इस चरित्र की सुनकर कोंक, बैक वु कुटक का राजा अर्हन् कलयुग में अपनी इच्छा से उसी धर्म का संप्रवर्तन करेगा, इत्यादि। इस वर्णन से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भागवत पुराण का तात्पर्य जैन पुराणों के ऋषभ तीर्थंकर से ही है, और अर्हन् राजा द्वारा प्रवर्तित धर्म का अभिप्राय जैनधर्म से। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि भागवत पुराण तथा वैदिक परम्परा के अन्य प्राचीन ग्रंथों में ऋषभदेव के संबंध की बातों की कुछ गहराई से जांच पड़ताल की जाय।

भागवतपुराण में कहा गया है कि—

“बहिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभः प्रियचिकीर्षया तवबरोषायने मेरुदेयान् धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां धमयानानाम् ऋषीणां कृष्णमन्थिनां शुक्लया तन्वाद्यततार ।” (भा. पु. ५, ३, २०)

“यत्र में परम ऋषियों द्वारा प्रसन्न किए जाने पर, हे विष्णुदत्त, पारीक्षित, स्वयं श्री भगवान् (विष्णु) महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके निवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना धमयण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया।”

भागवत पुराण के इस कथन में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनका भगवान् ऋषभदेव के भारतीय संस्कृति में स्थान तथा उनकी प्राचीनता और साहित्यिक परंपरा से बड़ा घनिष्ठ और महत्वपूर्ण संबंध है। एक तो यह कि ऋषभ देव की मान्यता और पूज्यता के संबंध में जैन और हिन्दुओं के बीच कोई मतभेद नहीं है। जैसे वे जैनियों के आदि तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओं के लिए साक्षात् भगवान् विष्णु के अवतार हैं। उनके ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल में इतनी बढमूल हो गई थी कि शिवमहापुराण में भी उन्हें शिव के अष्टादश योगावतारों में गिनाया गया है (शिवमहापुराण, ७, २, ६)। दूसरी बात यह कि प्राचीनता में यह अवतार राम और कृष्ण के अवतारों से भी पूर्व का माना गया है। इस अवतार का जो हेतु भागवत पुराण में बतलाया गया है उससे अमर धर्म की परम्परा भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से निःसन्देह रूप से जुड़ जाती है। ऋषभदेव का हेतु वातरशना धमयण ऋषियों के धर्म को प्रकट करना बतलाया गया है। भागवत पुराण में यह भी कहा गया कि—

‘अयमवतारो रजसोपप्सुत-कैवल्योपशिक्षणार्थः’ (भा. पु. ५, ६, १२)

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को कैवल्य की

शिक्षा देने के लिए हुआ । किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रूप से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण (मल धारण) वृत्ति द्वारा कैवल्य प्राप्ति की शिक्षा देने के लिए हुआ था । जैन मुनियों के आचार में अस्नान, अवन्तधावन, मल परीषह आदि द्वारा रजोधारण संयम का आवश्यक अंग माना गया है । बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक अमण विद्यमान थे । बुद्ध भगवान् ने श्रमणों की आचार-प्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था—

“नाहं भिक्षवे संधाटिकस्य संधाटिधारणमत्तेन सामञ्ज्यं वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्य रजोजल्लिकमत्तेन... जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन साम-
ञ्ज्यं वदामि । ” (मज्झिमनिकाय ४०)

अर्थात्—हे भिक्षुओ, मैं संधाटिक के संधाटी धारणमान से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्वमात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिकत्व मात्र से और जटिलक के जटाधारण-मात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता ।

अब प्रश्न यह होता है कि जिन वातरक्षना मुनियों के धर्मों की स्थापना करने तथा रजोजल्लिक वृत्ति द्वारा कैवल्य की प्राप्ति सिखाने के लिये भगवान् ऋषभदेव का अवतार हुआ था, वे कब से भारतीय साहित्य में उल्लिखित पाये जाते हैं । इसके लिये जब हम भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों को देखते हैं, तो हमें वहाँ भी वात-रक्षना मुनियों का उल्लेख अनेक स्थलों में दिखाई देता है ।

ऋग्वेद की वातरक्षना मुनियों के संबंध की ऋचाओं में उन मुनियों की साध-नायें ध्यान देने योग्य हैं । एक सूक्त की कुछ ऋचायें देखिये—

मुनियो वातरक्षनाः पिशंवा वसते मता ।

वातस्यानु ध्राजि वसि महेबासो वनिकत ॥

वन्मविता मोवेयेन वाता आतत्विना वयम् ।

शरीरेवस्माकं धूमं मर्त्तसो अभि पशवथ ॥

(ऋग्वेद १०, १३६, २-३)

विद्वानों के नाना प्रयत्न होने पर भी अभी तक वेदों का निस्सन्देह रूप से अर्थ बैठाना संभव नहीं हो सका है । तथापि सायण भाष्य की सहायता से मैं उक्त ऋचाओं का अर्थ इसप्रकार करता हूँ—अतीन्द्रियार्थवर्षी वातरक्षना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिगल कर्ण दिखाई देते हैं । जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं । सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़कर हृष

मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (उकृष्ट आनन्द सहित) वायु भाव को (अशरीरी ध्यानवृत्ति) को प्राप्त होते हैं, और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आत्म्यतर स्वरूप को नहीं (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रकट करते हैं) ।

ऋग्वेद में उक्त ऋचाओं के साथ 'केशी' की स्तुति की गई है—

केश्यमिं केशी विषं केशी विभर्ति रोवसी ।

केशी विषं स्वर्द्धो केशीवं ज्योतिरुच्यते ॥

(ऋग्वेद १०, १३६, १)

केशी अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान (ज्ञान-) ज्योति (केवल-ज्ञानी) कहलाता है।

केशी की यह स्तुति उक्त वातरशना मुनियों के वर्णन आदि में की गई है, जिससे प्रतीत होता है कि केशी वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रधान थे।

ऋग्वेद के इन केशी व वातरशना मुनियों की साधनाओं का भागवत पुराण में उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि, उनके अधिनायक ऋषभ और उनकी साधनाओं की तुलना करने योग्य है। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के 'वातरशना श्रमण ऋषि' एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं, इसमें तो किसी को किसी प्रकार के सन्देह होने का अवकाश नहीं दिखाई देता। केशी का अर्थ केशधारी होता है, जिसका अर्थ सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों को धारण करनेवाले' किया है, और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है। किन्तु उसकी कोई सार्थकता व संगति वातरशना मुनियों के साथ नहीं बैठती, जिनकी साधनाओं का उस सूक्त में वर्णन है। केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना में मलधारण, मौन वृत्ति और उन्माद भाव का विशेष उल्लेख है। सूक्त में आगे उन्हें ही 'मुनिर्वैष्वस्य वैष्वस्य सौकृत्याय सखा हितः' (ऋ. १०, १३६, ४) अर्थात् देव देवों के मुनि व उपकारी और हितकारी सखा कहा है। वातरशना शब्द में और मल रूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्य वृत्ति का भी संकेत है। इसकी भागवत पुराण में ऋषभ के वर्णन से तुलना कीजिये।

“उर्वरित-शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगन-परिब्रानः प्रकीर्णकेशः आत्म-न्यारोपिताह्वनीयो ब्रह्मावतात् प्रथमाज । जज्ञान्व-भूक-वधिर पिशाचोन्मादकवद् अवधूतवेषो अग्निभाष्यमाणीऽपि जनानां गृहीतमौनवृत्तः तृष्णीं बभूव । परागव-लम्बमानकुटिल-जटिल-कपिश-केशभूरि-भारः अवधूत-मलित-निजशरीरेण ग्रहणहीत इवावृण्वत । (भा. पु. ५, ६, २८-३१)

अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीर मात्र परिग्रह बन् रहा था। वे उन्मत्त के समान दिग्म्बर वेशधारी, बिलखे हुए केशों सहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए। वे जड़, ग्रन्थ, मूक, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौन वृत्ति धारण किए हुए चुप रहते थे।सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भार सहित अवधूत और मलिन शरीर सहित वे ऐसे दिखाई देते थे, जैसे मानों उन्हें भूत लगा हो।

यथार्थतः यदि ऋग्वेद के उक्त केशी संबंधी सूक्त को, तथा भागवतपुराण में वर्णित ऋषभदेव के चरित्र को सन्मुख रखकर पढ़ा जाय, तो पुराण में वेद के सूक्त का विस्तृत आध्य किया गया सा प्रतीत होता है। वही वातरशना या गगनपरिधान वृत्ति, केश-धारण, कपिश वरुण, मलधारण, मौन, और उन्माद-भाव समान रूप से दोनों में वर्णित हैं। ऋषभ भगवान् के कुटिल केशों की परम्परा जैन मूर्ति कला में प्राचीनतम काल से आज तक अक्षुण्ण पाई जाती है। यथार्थतः समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभ की ही मूर्तियों के सिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है, और वही उनका प्रचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है। इस संबंध में मुझे केसरिया नाथ का स्मरण आता है, जो ऋषभनाथ का ही नामान्तर है। केसर, केश और जटा एक ही अर्थ के वाचक हैं 'सटा जटा केसरयोः'। सिंह भी अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है। इस प्रकार केशी और केसरी एक ही केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं। केशरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है, वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। जैन पुराणों में भी ऋषभ की जटाओं का सदैव उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण (३, २८८) में वर्णन है, 'वातोद्धृता जटस्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः' और हरिवंशपुराण (६, २०४) में उन्हें कहा है—'स प्रलम्बजटाभार-भ्राजिष्णुः'। इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि, तथा भागवत पुराण के ऋषभ और वातरशना अमण ऋषि एवं केसरिया नाथ ऋषभ तीर्थंकर और उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं।

केशी और ऋषभ के एक ही पुरुषवाची होने के उक्त प्रकार अनुमान करने के पश्चात् ठठात् मेरी दृष्टि ऋग्वेद की एक ऐसी ऋचा पर पड़ गई जिसमें वृषभ और केशी का साथ साथ उल्लेख आया है। वह ऋचा इसप्रकार है:—

ककर्ववे वृषभो युक्त आसीद्

अवावचीत् सारथिरस्य केशी

बुधयुक्तत्वं व्रततः सहानस

ऋच्छन्ति ना निष्करो बुधगकानीम् ॥

(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य हृता गावः' आदि श्लोक उद्धृत किए गए हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गौओं को चोर चुरा ले गए थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गौएं आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं। प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है। किंतु फिर प्रकारान्तर से उन्होंने कहा है:—

‘अथवा, अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभः अवावचीत् भवत्सम्बन्धत्वं’ इत्यादि।

सायण के इसी अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथा-प्रसंग को भारतीय दार्शनिक परम्परानुसार ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का मुझे यह अर्थ प्रतीत होता है—

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फल स्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौयें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मोदगलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

तात्पर्य यह कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियां पराङ्मुखी थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मीपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं।

इसप्रकार केशी और वृषभ या ऋषभ के एकत्व का स्वयं ऋग्वेद से ही पूर्णतः समर्थन हो जाता है। विद्वान् इस एकीकरण पर विचार करें। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वेदों का अर्थ करने में विद्वान् अभी पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। विशेषतः वेदों की जैसी भारतीय संस्कृति में पदप्रतिष्ठा है, उसकी दृष्टि से तो अभी उनके समझने समझाने में बहुत सुधार की आवश्यकता है। मुझे आशा है कि केशी, वृषभ या ऋषभ तथा वातरथना मुनियों के वेदान्तगत समस्त उल्लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से इस विषय के रहस्य का पूर्णतः उद्घाटन हो सकेगा। क्या ऋग्वेद (४, ५८, ३) के ‘त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महावेधो मर्त्यान्प्रविबेध’ का यह अर्थ नहीं हो सकता कि त्रिधा (ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से) अनुबद्ध वृषभ वे धर्म-बोधरणा की, और वे एक महान् देव के रूप में मर्त्यों में प्रविष्ट हुए? इसी संबंध में ऋग्वेद के शिवनदेवों (नग्न देवों),

वाले उल्लेख भी ध्यान देने योग्य हैं (ऋ. वे ७, २१, ५; १०, ६६, ३) इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरक्षना मुनियों के निर्घृण साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभ-देव के साथ एकीकरण ही जाने से जैनधर्म की प्राचीन परंपरा पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच बहुत मतभेद है। कितने ही विद्वानों ने उन्हें ई० सन् से ५००० वर्ष व उससे भी अधिक पूर्व रचा गया माना है। किन्तु आधुनिक वास्तव्य भारतीय विद्वानों का बहुमत यह है कि वेदों की रचना उसके वर्तमान रूप में ई० पूर्व सन् १५०० के लगभग हुई होगी। चारों वेदों में ऋग्वेद सब से प्राचीन माना जाता है। अतएव ऋग्वेद की ऋचाओं में ही वातरक्षना मुनियों तथा 'केशी ऋषभदेव' का उल्लेख होने से जैन धर्म अपने प्राचीन रूप में ई० पूर्व सन् १५०० मे प्रचलित मानना अनुचित न होगा। केशी नाम जैन परम्परा में प्रचलित रहा, इसका प्रमाण यह है कि महावीर के समय में पार्श्व सम्प्रदाय के नेता का नाम केशीकुमार था (उत्तरा. २३)।

उक्त वातरक्षना मुनियों की जो मान्यता व साधनाएं वैदिक ऋचा में भी उल्लिखित हैं, उन पर से हम इस परम्परा को वैदिक परम्परा से स्पष्टतः पृथक् रूप से समझ सकते हैं। वैदिक ऋषि जैसे त्यागी और तपस्वी नहीं, जैसे वे वातरक्षना मुनि। वे ऋषि स्वयं गृहस्थ हैं, यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधान में भास्वा रहते हैं और अपनी इहलौकिक इच्छाओं, जैसे पुत्र, धन, धान्य, आदि सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए इन्द्रादि देवी-देवताओं का आह्वान करते करते हैं, तथा इसके उपलक्ष में यजमानों से वन-सम्पत्ति का दान स्वीकार करते हैं। किन्तु इसके विपरीत वे वातरक्षना मुनि उक्त क्रियाओं में रत नहीं होते। समस्त गृह द्वार, स्त्री-पुत्र, वन-धान्य आदि परिग्रह, कहीं तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते हैं। शरीर का स्नायुवर्धन संस्कार न कर भल धारण किये रहते हैं। मीन वृत्ति से रहते हैं, तथा अन्य देवी-देवताओं के आराधन से मुक्त आत्मध्यान में ही अपना कल्याण समझते हैं। स्पष्टतः यह उस अमराण परम्परा का प्राचीन रूप है, जो आगे चलकर अनेक अवैदिक सम्प्रदायों के रूप में प्रगट हुई और जिनमें से दो अर्थात् जैन और बौद्ध सम्प्रदाय आज तक भी विद्यमान हैं। प्राचीन समस्त भारतीय साहित्य, वैदिक, बौद्ध व जैन तथा शिवालेखों में भी आह्वान और अमराण सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। जैन एवं बौद्ध साधु आज तक भी अमराण कहलाते हैं। वैदिक परम्परा के धार्मिक गुरु कहलाते वे ऋषि, जिनका वर्तमान ऋग्वेद में बारंबार आवा है। किन्तु अमराणपरम्परा के साधुओं की संज्ञा मुनि थी, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में केवल उन वातरक्षना मुनियों के संबंध को छोड़,

अन्यत्र कही नहीं आया। ऋषि-मुनि कहने से दोनों सम्प्रदायों का ग्रहण समझना चाहिये। पीछे परस्पर इन सम्प्रदायों का खूब आदान-प्रदान हुआ और दोनों शब्दों को प्रायः एक दूसरे का पर्यायवाची माना जाने लगा।

वैदिक साहित्य के यति और ब्राह्मण—

ऋग्वेद में मुनियों के अतिरिक्त यतियों का भी उल्लेख बहुतायत से आया है। ये यति भी ब्राह्मण परम्परा के न होकर अमरा-परम्परा के ही साधु सिद्ध होते हैं, जिनके लिये यह संज्ञा समस्त जैन साहित्य में उपयुक्त होते हुए आज तक भी प्रचलित है। यद्यपि आदि में ऋषियों, मुनियों और यतियों के बीच ठारमेल पाया जाता है, और वे समानरूप से पूज्य माने जाते थे। किन्तु कुछ ही पश्चात् यतियों के प्रति वैदिक परम्परा में महान् रोष उत्पन्न होने के प्रमाण हमें ब्राह्मण ग्रंथों में मिलते हैं, जहाँ इन्द्र द्वारा यतियों को शालावृकों (शृगालों व कुत्तों) द्वारा नुचवाये जाने का उल्लेख मिलता है (तैत्तरीय संहिता २, ४, ६, २; ६, २, ७, ५, ताण्ड्य ब्राह्मण १४, २, २८, १८, १, ६) किन्तु इन्द्र के इस कार्य को देवों ने उचित नहीं समझा और उन्होंने इसके लिये इन्द्र का बहिष्कार भी किया (ऐतरेय ब्राह्मण ७, २८)। ताण्ड्य ब्राह्मण के टीकाकारों ने यतियों का अर्थ किया है 'वेदविरोधनियमोपेत, कर्मविरोधिजन, ज्योतिष्ठोमावि अकृत्वा प्रकारान्तरेण वर्तमान' आदि, इन विशेषणों से उनकी अमरा-परम्परा स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। भगवद्गीता में ऋषियों मुनियों और यतियों का स्वरूप भी बतलाया है, और उन्हें समान रूप से योग साधना में प्रवृत्त माना है। यहाँ मुनि को इन्द्रिय और मन का संयम करने वाला, इच्छा, भय व क्रोध रहित मोक्षपरायण व सदा मुक्त के समान माना है (भ० गी० ५, २८) और यति को काम-क्रोध-रहित, संयत-चित्त व वीतराग कहा है (भ० गी० ५, २६; ८, ११ आदि) अथर्ववेद के १५ वें अध्याय में ब्राह्मणों का वर्णन आया है। सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण व लाट्यायन, कात्यायन व आपस्तम्बीय श्रौतसूत्रों में ब्राह्मणस्तोमविधि द्वारा उन्हें शुद्ध कर वैदिक परम्परा में सम्मिलित करने का भी वर्णन है। ये ब्राह्मण वैदिक विधि से 'अदीक्षित व संस्कारहीन' थे, वे अदुष्ट वाक्य को दुष्ट रीति से, (वैदिक व संस्कृत नहीं, किन्तु अपने समय की प्राकृत भाषा) बोलते थे, वे 'ज्याहूद' (प्रत्यंभा रहित अनुष) धारण करते थे। मनुस्मृति (१० अध्याय) में लिच्छवि, नाथ, मल्ल आदि क्षत्रिय जातियों को ब्राह्मणों में गिनाया है। इन सब उल्लेखों पर सूक्ष्मता से विचार करने से इसमें सन्देह नहीं रहता कि ये ब्राह्मण भी अमरा परम्परा के साधु व गृहस्थ थे, जो वेद-विरोधी होने से वैदिक

अनुयायियों के कोप-माजन हुए हैं। जैन धर्म के मुख्य पांच ग्रंथसादि नियमों को ब्रत कहा है। उन्हें ग्रहण करने वाले श्रावक देश विरत या अश्रुवती और मुनि महावती कहलाते हैं। जो विधिवत् ब्रत ग्रहण नहीं करते, तथापि धर्म में श्रद्धा रखते हैं, वे अविरत सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। इसीप्रकार के व्रतधारी ब्राह्म्य कहे गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे हिंसात्मक यज्ञविधियों के नियम से त्यागी होते हैं। इसीलिये उपनिषदों में कहीं कहीं उनकी बड़ी-प्रशंसा भी पाई जाती है, जैसे प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—
‘ब्राह्म्यस्त्वं प्रारण्यं ऋषिरसा विश्वस्य सत्यतिः’ (२, ११)। शांकर भाष्य में ब्राह्म्य का अर्थ ‘स्वभावतः एक शब्द इत्यभिप्रायः’ किया गया है। इस प्रकार अमर साधनाओं की परम्परा हमें नाना प्रकार के स्पष्ट व अस्पष्ट उल्लेखों द्वारा ऋग्वेद आदि समस्त वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होती है।

तीर्थंकर नमि—

वेदकालीन आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के पश्चात् जैन पुराण परम्परा में जो अन्य तेईस तीर्थंकरों के नाम या जीवन-वृत्त मिलते हैं, उनमें बहुतों के तुलनात्मक अध्ययन के साधनों का अभाव है। तथापि अंतिम चार तीर्थंकरों की ऐतिहासिक सत्ता के छोड़े बहुत प्रमाण यहां उल्लेखनीय हैं। इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ थे। नमि मिथिला के राजा थे, और उन्हें हिन्दू पुराण में भी जनक के पूर्वज माना गया है। नमि की प्रपञ्चा का एक सुंदर वर्णन हमें उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्याय में मिलता है, और यहां उन्हीं के द्वारा वे वाक्य कहे गये हैं, जो वैदिक व बौद्ध परम्परा के संस्कृत व पालि साहित्य में गूँजते हुए पाये जाते हैं, तथा जो भारतीय अध्यात्म संबंधी निष्काम कर्म व अनासक्ति भावना के प्रकाशन के लिये सर्वोत्कृष्ट वचन रूप से जहां तहां उद्धृत किये जाते हैं। वे वचन हैं—

सुहं वसामो जीवामो जेतिसि जों एत्थि किञ्चन ।

मिहित्ताए उज्जभाणीए ए मे उज्जह किञ्चए ॥

(उत्त० ९-१४)

सुसुहं वत जीवाम येसं जो नत्थि किञ्चन ।

मिचित्ताये इहमानाय न मे किञ्चि अदयहए ॥

(पालि-महाजनक जातक)

मिचित्तायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन इहयते ॥

(म० भा० शांतिपर्व)

नमि की यही अनात्मक वृत्ति निबिळा राक्षसों में जनक तक पाई जाती है । प्रतीत होता है कि जनक के कुल की इसी आध्यात्मिक परम्परा के कारण वह वंश तथा उनका समस्त प्रदेश ही विदेह (देह से निर्बोह, जीवन्मुक्त) कहलाया और उनकी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही उनका धनुष प्रत्यंचा-हीन रूप में उनके क्षत्रियत्व का प्रतीकमात्र सुरक्षित रहा । सम्भवतः यही वह जीर्ण धनुष था, जिसे राम ने चढ़ाया और तोड़ डाला । इस प्रसंग में जो वार्ताओं के 'ज्याहूव' शब्द के संबंध में ऊपर कह आये हैं, वह बात भी ध्यान देने योग्य है ।

तीर्थंकर नेमिनाथ—

तत्पश्चात् महाभारत काल में बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ हुए । इनकी वंश-परम्परा इस प्रकार बतलाई गई है—श्रीरोपुर के यादव वंशी राजा अंधकवृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र हुए समुद्रविजय, जिन्हें नेमिनाथ उत्पन्न हुए । तथा सबसे छोटे पुत्र थे वसुदेव, जिन्हें उत्पन्न हुए वासुदेव कृष्ण । इस प्रकार नेमिनाथ और कृष्ण आपस में बचेरे भाई थे । वराहचक्र के आतंक से त्रस्त होकर यादव श्रीरोपुर को छोड़कर द्वारका में जा बसे । नेमिनाथ का विवाह-सम्बन्ध गिरिनगर (जूमगढ़) के राजा उम्रसेन की कन्या राजकुलमती से निश्चित हुआ । किन्तु जब नेमिनाथ की बारात कन्या के घर पहुँची और वहाँ उन्होंने उन पशुओं को घिरे देखा, जो प्रतिभियों के भोजन के लिए भारे जाने वाले थे, तब उनका हृदय कसगा से व्याकुल हो उठा और वे इस हिंसाभरी गार्हस्थ्य प्रवृत्ति से विरक्त होकर, विवाह का विचार छोड़, गिरिनगर पर्वत पर जा बहे और तपस्या में प्रवृत्त हो गये । उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त कर उसी श्रमण परम्परा को पुष्ट किया । नेमिनाथ की इस परम्परा को विशेष देन प्रतीत होती है—अहिंसा का धार्मिक वृत्ति का मूल मानकर उसे सैद्धांतिक रूप देना । 'महाभारत का काल ई० पूर्व १००० के लगभग माना जाता है । अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से यही काल नेमिनाथ तीर्थंकर का मानना उचित प्रतीत होता है । यहाँ प्रसंगवश यह भी ध्यान देने योग्य है कि महाभारत के शांतिपर्व में जो भगवान् तीर्थंकिन् और उनके द्वारा दिये गये उपदेश का वृत्तान्त मिलता है, वह जैन तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म के समरूप है ।

तीर्थंकर पार्वनाथ—

तेईसवें तीर्थंकर पार्वनाथ का जन्म बनारस के राजा अश्वसेन और उनकी रानी वर्मला (वामा) देवी से हुआ था । उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में गृह त्याग

कर सम्मेलनशिखर पर्वत पर तपस्या की। यह पर्वत आजतक भी पारसनाथ पर्वत नाम से सुविख्यात है। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर सत्तर वर्ष तक श्रमण धर्म का उपदेश और प्रचार किया। जैन पुराणानुसार उनका निवर्तित भगवान महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व और तदनुसार ई० पूर्व ५२७+२५०=७७७ वर्ष में हुआ था। पार्ष्वनाथ का श्रमण-परम्परा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप आज तक भी जैन समाज प्रायः पारसनाथ के अनुयाइयों की मानी जाती है। ऋषभ-नाथ की सर्वस्व-त्याग रूप आकिञ्चन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता व नेमिनाथ की अहिंसा को उन्होंने अपने चातुर्याम रूप सामायिक धर्म में व्यवस्थित किया। चातुर्याम का उल्लेख निग्रन्थों के सम्बन्ध में पालि ग्रन्थों में भी मिलता है और जैन आगमों में भी। किन्तु इनमें चार याम क्या थे, इसके संबंध में मतभेद पाया जाता है। जैन आगमानुसार पार्ष्वनाथ के चार याम इस प्रकार थे - (१) सर्वप्राणतिक्रम से विरमण, (२) सर्व भूषावाद से विरमण, (३) सर्व अदत्तादान से विरमण, (४) सर्व बहिःस्थादान से विरमण। पार्ष्वनाथ का चातुर्यामरूप सामायिक धर्म महावीर से पूर्व ही सुप्रचलित था, यह दिग०, श्वे० परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध पालि साहित्य गत उल्लेखों से भलीभांति सिद्ध हो जाता है। मूलाचार (७, ३६-३८) में स्पष्ट उल्लेख है कि महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का उपदेश दिया था, तथा केवल अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करना आवश्यक बतलाया था। किन्तु महावीर ने सामायिक धर्म के स्थान पर छेदोपस्थापना संयम निर्धारित किया और प्रतिक्रमण नियम से करने का उपदेश दिया (मू० १२६-१३३)। ठीक यही बात भगवती (२०, ८, ६७५; २५, ७, ७८५), उत्तराध्ययन आदि आगमों में तथा तत्त्वार्थ सूत्र (६, १८) की सिद्धसेनीय टीका में पाई जाती है। बौद्ध ग्रंथ अंगु० निकाय चतुक्कनिपात (वज्र ५) और उसकी अट्ठकथा में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध का चाचा 'वप्प शाक्य' निग्रन्थ श्रावक था। पार्ष्वपितृयों तथा निग्रन्थ श्रावकों के इसी प्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे निग्रन्थ धर्म की सत्ता बुद्ध से पूर्व भलीभांति सिद्ध हो जाती है।

एक समय था जब पार्ष्वनाथ तथा उनसे पूर्व के जैन तीर्थंकरों व जैन धर्म की उस काल में सत्ता को पाश्चात्य विद्वान् स्वीकार नहीं करते थे। किन्तु जब जर्मन विद्वान् हर्मन याकोबी ने जैन व बौद्ध प्राचीन साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा महावीर से पूर्व निग्रन्थ सम्प्रदाय के अस्तित्व को सिद्ध किया, तबसे विद्वान् पार्ष्वनाथ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने लगे हैं, और उनके महावीर निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्ति की जैन परम्परा को भी मान देने लगे हैं। बौद्ध ग्रन्थों में जो

निर्ग्रन्थों के चातुर्याम का उल्लेख मिलता है और उसे निर्ग्रन्थ नातपुत्र (महावीर) का धर्म कहा है, उसका सम्बन्ध अवश्य ही पार्श्वनाथ की परम्परा से होना चाहिये, क्योंकि जैन सम्प्रदाय में उनके साथ ही चातुर्याम का उल्लेख पाया है, महावीर के साथ कदापि नहीं। महावीर, पांच व्रतों के संस्थापक कहे गये हैं। बौद्ध धर्म में जो कुछ व्यवस्थाएँ निर्ग्रन्थों से लेकर स्वीकार की गई हैं, जैसे उपोसथ, (महावग्ग २, १, १); वर्षावास (म० ३, १, १) वे भी पार्श्वनाथ की ही परम्परा की होनी चाहिये, तथा बुद्ध को जिन अमर साधुओं का समकालीन पालि ग्रन्थों में बतलाया गया है, वे भी पार्श्वनाथ परम्परा के ही माने जा सकते हैं।

तीर्थंकर वर्धमान महावीर—

अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर के माता-पिता तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सम्प्रदाय के अनुयायी थे-ऐसा जैन आगम (आचारांग ३, भावचूलिका ३, सूत्र ४०१) में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह भी कहा गया है कि उन्होंने प्रवृजित होने पर सामायिक धर्म ग्रहण किया था और पदचात् केवलज्ञानी होने पर छेदोपस्थापना संयम का विधान किया (आचारांग २, १५, १०१३)। उनके पिता सिद्धार्थ, कुंडपुर के राजा थे, और उनकी माता त्रिशला देवी लिच्छवि बंशी राजा चेटक की पुत्री, अथवा एक अन्य परम्परानुसार बहन, थी। उनका पैतृक गोत्र नाथ, नाथ, नात (संस्कृत शात्) था। इसी से वे बौद्ध पालि ग्रन्थों में नातपुत्त के नाम से उल्लिखित किये गये हैं। भगवान् का जन्मस्थान कुंडपुर कहा था, इसके संबंध में पदचात्-कालीन जैन परंपरा में भ्रान्ति उत्पन्न हुई पाई जाती है। दिगम्बर सम्प्रदाय ने उनका जन्मस्थान नालंदा के समीप कुंडलपुर को माना है, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने भुंघेर जिले के लछुआड़ के समीप क्षत्रियकुंड को उनकी जन्मभूमि होने का सम्मान दिया है। किन्तु जैन आगमों व पुराणों में उनकी जन्मभूमि के संबंध में जो बातें कही गई हैं, वे उक्त दोनों स्थानों में घटित होती नहीं पाई जाती। दोनों परम्पराओं के अनुसार भगवान् की जन्मभूमि कुंडपुर विदेह देश में स्थित माना गया है, (ह.पु. २, ४; उ.पु. ७४, २५१) और इसी से महावीर भगवान् को विदेहपुत्र, विदेह-सुकुमार आदि उपनाम दिये गये हैं और यह भी स्पष्ट कहा गया है कि उनके कुमारकाल के तीस वर्ष विदेह में ही व्यतीत हुए थे। विदेह की सीमा प्राचीनतम काल से प्रायः निश्चित रही पाई जाती है। अर्थात् उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पूर्व में कौशिकी और पश्चिम में गंडकी। किंतु उपर्युक्त वर्तमान में जन्मभूमि माने जाने वाले दोनों ही स्थान कुंडलपुर

व क्षत्रियकुंड, गंगा के उत्तर में नहीं, किन्तु दक्षिण में पड़ते हैं, और वे विदेह में नहीं, किन्तु भगवद्देश की सीमा के भीतर आते हैं। महावीर की जन्मभूमि के समीप गंडकी नदी प्रवाहित होने का भी उल्लेख है। गंडकी, उत्तर बिहार की ही नदी है, जो हिमालय से निकल कर गंगा में सोनपुर के समीप मिली है। उसकी गंगा से दक्षिण में होने की संभावना ही नहीं। महावीर को आगमों में अनेक स्थलों पर बेसालिय (वैशालीय) की उपाधि सहित उल्लिखित किया गया है, (सू.कृ. १, २; उत्तरा. ६) जिससे स्पष्ट होता कि वे वैशाली के नागरिक थे, जिसप्रकार कि कौशल देश के होने के कारण भगवान् ऋषभ-देव को अनेक स्थलों पर कोसलीय (कौशलीय) कहा गया है। इन्हीं कारणों से डा० हार्नेले, जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानों को उपर्युक्त परम्परा-मान्य दोनों स्थानों में से किसी को भी महावीर की यथार्थ जन्मभूमि स्वीकार करने में संदेह हुआ है, और वे वैशाली को ही भगवान् की सच्ची जन्मभूमि मानने की ओर झुके हैं। पुरातत्व की दृष्टि से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन वैशाली आधुनिक तिरहुत मंडल के मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ़ नामक ग्राम के आसपास ही बसी हुई थी, जहाँ राजा विशाल का गढ़ कहलानेवाला स्थल अब भी विद्यमान है। इस स्थान के आसपास के क्षेत्र में वे सब बातें उचितरूप से घटित हो जाती हैं, जिनका उल्लेख महावीर जन्मभूमि से संबद्ध पाया जाता है। यहाँ से समीप ही अब भी गंडक नदी बहती है, और वह प्राचीन काल में बसाढ़ के अधिक समीप बहती रही हो, यह भी संभव प्रतीत होता है। भगवान् ने प्रव्रजित होने के पश्चात् जो प्रथमरात्रि कर्मर ग्राम में व्यतीत की थी, वह ग्राम अब कम्मन-छपरा के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् ने प्रथम पारणा कोल्लाग संनिवेश में की थी, वही स्थान आजका कोल्हुआ ग्राम हो तो आश्चर्य नहीं। जिस वाणिज्यग्राम में भगवान् ने अपना प्रथम व आगे भी अनेक वर्षावास व्यतीत किये थे, वही अब बनिया ग्राम कहलाता है। इतिहास इस बात को स्वीकार कर चुका है कि लिच्छिविगण के अधिनायक, राजा चेटक, इसी वैशाली में अपनी राजधानी रखते थे। भगवान् का पैत्रिकगोत्र काश्यप और उनकी माता का गोत्र वशिष्ठ था। ये दोनों गोत्र यहाँ बसनेवाली जथरिया नामक जाति में अब भी पाये जाते हैं। इस पर से कुछ विद्वानों का यह भी अनुमान है कि यही जाति जातृवंश की आधुनिक प्रतिनिधि हो तो आश्चर्य नहीं। प्राचीन वैशाली के समीप ही एक वासुकुंड नामक ग्राम है, जहाँ के निवासी परंपरा से एक स्थल को भगवान् की जन्मभूमि मानते आए हैं, और उसी पूज्य भाव से उस पर कभी हल नहीं चलाया गया। समीप ही एक विशाल कुंड है जो अब भर गया है और जोता-बोया जाता है। वैशाली की खुदाई में एक ऐसी प्राचीन मुद्रा

भी मिली है, जिसमें 'वैशाली नाम कुंडे' ऐसा उल्लेख है। इन सब प्रमाणों के आधार पर बहुसंख्यक विद्वानों ने इसी बासु-कुंड को प्राचीन कुंडपुर व महावीर की सच्ची जन्मभूमि स्वीकार कर लिया है, व इसी आधार पर वहाँ के उक्त क्षेत्र को अपने अधिकार में लेकर, बिहार राज्य ने वहाँ महावीर स्मारक स्थापित कर दिया है, और वहाँ एक भद्रमागधी पथों में रचित शिलालेख में यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि यहीं वह स्थल है, जहाँ भगवान महावीर का जन्म हुआ था। इसी स्थल के समीप बिहार राज्य ने प्राकृत जैन विद्यापीठ को स्थापित करने का भी निश्चय किया है।

महावीर के जीवन संबंधी कुछ घटनाओं के विषय पर दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में थोड़ा मतभेद है। दिगम्बर परम्परानुसार वे तीस वर्ष की अवस्था तक कुमार व अविवाहित रहे और फिर प्रव्रजित हुए। किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार उनका विवाह भी हुआ था और उनके एक पुत्री भी उत्पन्न हुई थी, तथा इनका जामाता जानाली भी कुछ काल तक उनका शिष्य रहा था। प्रव्रजित होते समय दिगम्बर परम्परानुसार उन्होंने समस्त वस्त्रों का परित्याग कर अचेल दिगम्बर रूप धारण किया था, किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार उन्होंने प्रव्रजित होने से डेढ़ वर्ष तक वस्त्र सर्वथा नहीं छोड़ा था। डेढ़ वर्ष के पश्चात् ही वे अचेलक हुए। बारह वर्ष की तपश्चर्या के पश्चात् उन्हें अजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ और फिर तीस वर्ष तक नाना प्रदेशों में विहार करते हुए, व उपदेश देते हुए, उन्होंने अपने तीर्थ की स्थापना की, यह दोनों सम्प्रदायों को मान्य है। किंतु उनका प्रथम उपदेश दिगम्बर मान्यतानुसार राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर हुआ था तथा श्वेताम्बर मान्यतानुसार पावा के समीप एक स्थल पर, जहाँ हाल ही में एक विशालमंदिर बनवाया गया है। दोनों परम्पराओं के अनुसार भगवान् का निर्वाण बहत्तर वर्ष की आयु में पावापुरी में हुआ। यह स्थान पटना जिले में बिहारशरीफ के समीप लगभग सात मील की दूरी पर माना जाता है, जहाँ सरोवर के बीच एक भव्य मंदिर बना हुआ है।

महावीर की संघ-व्यवस्था और उपदेश—

महावीर भगवान् ने अपने अनुयायियों को चार भागों में विभाजित किया— मुनि, आर्षिका, श्रावक और श्राविका। प्रथम दो वर्ग गृहस्थांगी परित्राजकों के थे और अन्तिम दो गृहस्थों के। यही उनका चतुर्विध-संघ कहलाया। उन्होंने मुनि और गृहस्थ धर्म की भ्रमण भ्रमण व्यवस्थाएं बांधी। उन्होंने धर्म का मूलाधार अहिंसा को बनाया और उसी के विस्तार रूप पांच व्रतों को स्थापित किया—अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन

और अपरिग्रह । इन व्रतों व यमों का पालन मुनियों के लिए पूर्णरूप से महाव्रतरूप बतलाया तथा गृहस्थों के लिए स्थूलरूप-अणुव्रत रूप । गृहस्थों के भी उन्होंने श्रद्धात्मक मात्र से लेकर, कोपीनमात्र धारी होने तक के ग्यारह दर्जे नियत किये । दोषों और अपराधों के निवारणार्थ उन्होंने नियमित प्रतिक्रमण पर जोर दिया ।

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान को संक्षेप में इसप्रकार व्यक्त किया जा सकता है:—जीव और अजीव अर्थात् चेतन और जड़, ये दो विश्व के मूल तत्व हैं, जो आदितः परस्पर संबन्ध पाए जाते हैं, और चेतन की मन-वचन व कार्यात्मक क्रियाओं द्वारा इस जड़-चेतन संबन्ध की परम्परा प्रचलित रहती है । इसे ही कर्माश्रव व कर्मबन्ध कहते हैं । यमों, नियमों आदि के पालन द्वारा इस कर्माश्रव की परम्परा को रोका जा सकता है, एवं संयम व तप द्वारा प्राचीन कर्मबन्ध को नष्ट किया जा सकता है । इस प्रकार चेतन का जड़ से सर्वथा मुक्त होकर, अपना अनन्तज्ञान-दर्शनात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेना ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये, जिससे इस जन्म-मृत्यु की परम्परा का विच्छेद होकर मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हो सके ।

महावीर ने अपने उपदेश का माध्यम उस समय उनके प्रचार क्षेत्र में सुप्रचलित लोकभाषा अर्द्धमागधी को बनाया । इसी भाषा में उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को आचारांगादि बारह ग्रंथों में संकलित किया जो द्वादशांग आगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

महावीर निर्वाण काल—

जैन परम्परानुसार महावीर का निर्वाण विक्रम काल से ४७० वर्ष पूर्व तथा शक काल से ६०५ वर्ष पांच मास पूर्व हुआ था, जो सन् ईसवी से ५२७ वर्ष पूर्व पड़ता है । यह महावीर निर्वाण संवत् आषा भी प्रचलित है और उसके ग्रंथों व शिलालेखों में उपयोग की परम्परा, कोई पांचवी छठी शताब्दी से लगातार पाई जाती है । इसमें सन्देह उत्पन्न करनेवाला केवल एक हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व का उल्लेख है जिसके अनुसार महावीर निर्वाण से १५५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त (मौर्य) राजा हुआ । और चूकि चन्द्रगुप्त से विक्रमादित्य का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अतः वीर निर्वाण का समय विक्रम से $२५५ + १५५ = ४१०$ वर्ष पूर्व (ई०पू० ४६७) ठहरा । याकोबी, चार्पेटियर आदि पाश्चात्य विद्वानों का यही मत है । इसके विपरीत डा० जायसवाल का मत है कि चूकि निर्वाण से ४७० वर्ष पूर्व विक्रम का जन्म हुआ और १८ वर्ष के होने पर उनके राज्याभिषेक से उनका संवत् ठहरा, अतएव

विक्रम संवत् के ४७० + १८ = ४८८ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण कास मानना चाहिये । वस्तुतः ये दोनों ही मत भ्रान्त हैं । अधिकांश जैन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि विक्रम जन्म से १८ वर्ष पश्चात् अभिषिक्त हुए और ६० वर्ष तक राज्यारूढ रहे, एवं उनका संवत् उनकी मृत्यु से प्रारंभ हुआ और उसी से ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण का काल है ।

वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् जो शक सं० का प्रारम्भ कहा गया है, उसका कारण यह है कि महावीर का निर्वाण कार्तिक की अमावस्या को हुआ और इसीलिये प्रचलित वीर निर्वाण का संवत् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से बदलता है । इससे ठीक ५ माह पश्चात् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से शक संवत् प्रारम्भ होता है । शक संवत् ७०५ में रचित जिनसेन कृत सं० हरिवंश पुराण में वर्णन है कि महावीर के निर्वाण होने पर उनकी निर्वाणभूमि पावानगरी में दीपमालिका उत्सव मनाया गया और उसी समय से भारत में उक्त तिथि पर प्रतिवर्ष इस उत्सव के मनाने की प्रथा चली । इस दिन जैन लोग निर्वाणोत्सव दीपमालिका द्वारा मनाते हैं और महावीर की पूजा का विशेष आयोजन करते हैं । जहां तक पता चलता है दीपमालिका उत्सव जो भारतवर्ष का सर्वव्यापी महोत्सव बन गया है, उसका इससे प्राचीन अन्य कोई साहित्यिक उल्लेख नहीं है ।

गौतम-केशी-संवाद—

महावीर निर्वाण के पश्चात् जैन संघ के नायकत्व का भार क्रमशः उनके तीन शिष्यों—गौतम, सुघर्म और जंबू ने संभाला । इनका काल क्रमशः १२, १२, व ३८ वर्ष = ६२ वर्ष पाया जाता है । यहातक आचार्य परंपरा में कोई भेद नहीं पाया जाता । इससे भी इन तीनों गणधरों की केवली संज्ञा सार्थक सिद्ध होती है । किन्तु इनके पश्चात्कालीन आचार्य परम्पराएं, दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों में पृथक् पृथक् पाई जाती है, जिससे प्रतीत होता है कि सम्प्रदाय भेद के बीज यही से प्रारम्भ हो गये । इस सम्प्रदाय-भेद के कारणों की एक झलक हमें उत्तराध्ययन सूत्र के 'केशी-गोयम संवाद' नामक २३वें अध्यायन में मिलती है । इसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् महावीर ने अपना अचेलक या निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्थापित किया, उस समय पार्श्वनाथ का प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित था । हम ऊपर कह आए हैं कि स्वयं भगवान् महावीर के माता-पिता उसी पार्श्व सम्प्रदाय के अनुयायी माने गये हैं, और उसी से स्वयं भगवान् महावीर भी प्रभावित हुए थे । उत्तराध्ययन के उक्त प्रकरण के अनुसार, जब महावीर के सम्प्रदाय के अधिनायक गौतम थे, उससमय पार्श्व सम्प्रदाय

के नायक थे केशी कुमार श्रमण । इन दोनों गणधरों की भेंट श्रावस्तीपुर में हुई और उन दोनों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सम्प्रदाय एक होते हुए भी क्या कारण है कि पार्श्व-सम्प्रदाय चाउज्जाम धर्म तथा वर्द्धमान का सम्प्रदाय 'पंचसिक्खिय' कहा गया है । उसीप्रकार पार्श्व का धर्म 'संतरोत्तर' तथा वर्द्धमान का 'अचेलक' धर्म है । इस प्रकार एक-कार्य-प्रवृत्त होने पर भी दोनों में विशेषता का कारण क्या है ? केशी कुमार के इस संबंध में प्रश्न करने पर, गौतम गणधर ने बतलाया कि पूर्वकाल में मनुष्य सरल किन्तु जड़ (ऋजु जड़) होते थे और पश्चिमकाल में वक्र और जड़, किन्तु मध्यमकाल के लोग सरल और समझदार (ऋजु प्राज्ञ) थे । अतएव पुरातन लोगों के लिए धर्म की शोध कठिन थी और पश्चात्कालीन लोगों को उसका अनुपालन कठिन था । किन्तु मध्यकाल के लोगों के लिए धर्म शोधने और पालने में सरल प्रतीत हुआ । इसीकारण एक और आदि व अन्तिम तीर्थंकरों ने पंचव्रत रूप तथा मध्य के तीर्थंकरों ने उसे चतुर्धाम रूप से स्थापित किया । उसीप्रकार उन्होंने बतलाया कि अचेलक या संस्तर युक्त वेष तो केवल लोगों में पहचान आदि के लिए नियत किये जाते हैं, किन्तु यथार्थतः मोक्ष के कारणभूत तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र हैं । गौतम और केशी के बीच इस वार्तालाप का परिणाम यह बतलाया गया है कि केशी ने महावीर का पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लिया । किन्तु उनके बीच वेष के संबंध में क्या निर्णय हुआ, यह स्पष्ट नहीं बतलाया गया । अनुमानतः इस संबंध में अचेलकत्व और अल्पवस्त्रत्व का कल्प अर्थात् इच्छानुसार ग्रहण की बात स्वीकार कर ली गई, जिसके अनुसार हमें स्थविर कल्प और जिनकल्प के उल्लेख मिलते हैं । स्थविर कल्प पार्श्व-परम्परा का अल्प-वस्त्र-धारण रूप मान लिया गया और जिनकल्प सर्वथा अचेलक रूप महावीर की परम्परा का । किन्तु स्वभावतः एक सम्प्रदाय में ऐसा द्विविध कल्प बहुत समय तक चल सकना संभव नहीं था । बहुत काल तक इस प्रश्न का उठना नहीं एक सकता था कि यदि वस्त्रधारण करके भी महाव्रती बना जा सकता है और निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है, तब अचेलकता की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? इसी संघर्ष के फलस्वरूप महावीर निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् जबू स्वामी का नायकत्व समाप्त होते ही संघभेद हुआ प्रतीत होता है । दिगम्बर परम्परा में महावीर निर्वाण के पश्चात् पूर्वोक्त तीन केवली; विष्णु आदि पांच श्रुतकेवली, विशाखाचार्य आदि ग्यारह दशपूर्वी, नक्षत्र आदि पांच एकादश अंगधारी, तथा सुभद्र आदि लोहार्य पर्यन्त चार एकांगधारी आचार्यों की वंशावली मिलती है । इन समस्त अष्टादश आचार्यों का काल ६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३ वर्ष निर्दिष्ट पाया जाता है ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गणभेद—

जैन संघ संबंधी श्वेताम्बर परंपरा का प्राचीनतम उल्लेख कल्पसूत्र अन्तर्गत स्वविरावली में पाया जाता है। इसके अनुसार श्रमण भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारहों गणधरों द्वारा पढ़ाए गए श्रमणों की संख्या का भी उल्लेख है। ये ग्यारहों गणधर १२ अंग और १४ पूर्व, इस समस्त गरिपिटक के धारक थे, जिसके अनुसार उनके कुल श्रमण शिष्यों की संख्या ४२०० पाई जाती है। इन ग्यारहों गणधरों में से नौ का निर्वाण महावीर के जीवन काल में ही हो गया था। केवल दो अर्थात् इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्म ही महावीर के पश्चात् जीवित रहे। यह भी कहा गया है कि 'आज जो भी श्रमण निर्यन्त्र बिहार करते हुए पाए जाते हैं, वे सब आर्य सुधर्म मुनि के ही अपत्य हैं। शेष गणधरों की कोई सन्तान नहीं बची।' आगे स्वविरावली में आर्य सुधर्म से लगाकर आर्य शाण्डिल्य तक तेतीस आचार्यों की गुरु-शिष्य परम्परा दी गई है। छठे आचार्य आर्य यशोभद्र के दो शिष्य संभूतिविजय और भद्रबाहु द्वारा दो भिन्न-भिन्न शिष्य-परंपराएं चल पड़ीं। आर्य संभूतिविजय की शाखा में नौवें स्वविर आर्य वज्रसेन के चार शिष्यों द्वारा चार भिन्न-भिन्न शाखाएं स्थापित हुईं, जिनके नाम उनके स्थापकों के नामानुसार नाइन, पोमिल, जयन्त और तावत्त पड़े। उसी प्रकार आर्य भद्रबाहु के चार शिष्यों द्वारा तात्त्रलित्तिका, कोटिवर्धिका, पोण्डवर्द्धनिका और वासीलवर्द्धिका, ये चार शाखाएं स्थापित हुईं। उसीप्रकार सातवें स्वविर आर्य स्थूलभद्र के रोहगुप्त नामक शिष्य द्वारा 'तेरासिय' शाखा एवं उत्तर बलिस्सह द्वारा उत्तर बलिस्सह नामक गण निकले, जिसकी पुनः कौशाम्बिक, सौवर्तिका, कोडंबाणो और चंद्रनागरी, ये चार शाखाएं फूटीं। स्थूलभद्र के दूसरे शिष्य आर्य सुहस्ति के शिष्य रोहण द्वारा उद्देह गण की स्थापना हुई, जिससे पुनः उद्बर्जरिज्जिका आदि चार-उपशाखाएं और नाथभूत आदि छह कुल निकले। आर्य सुहस्ति के श्रीगुप्त नामक शिष्य द्वारा चारण गण और उसकी हार्यमासाकारी आदि चार शाखाएं एवं बर्बलीय आदि सात कुल उत्पन्न हुए। आर्य सुहस्ति के यशोभद्र नामक शिष्य द्वारा उद्बुवाडिय गण की स्थापना हुई, जिसकी पुनः चंपिज्जिया आदि चार शाखाएं और भद्रयशोय आदि तीन कुल उत्पन्न हुए। उसी प्रकार आर्य सुहस्ति के कामादि नामक शिष्य द्वारा वेसवाडिया गण उत्पन्न हुआ, जिसकी आवस्तिका आदि चार शाखाएं और वणिक आदि चार कुल स्थापित हुए। उन्हीं के अन्य शिष्य ऋषिगुप्त द्वारा माणव गण स्थापित हुआ, जिसकी कासबायिका गौतमायिका, वासिष्ठिका और सौराष्ट्रिका, ये चार शाखाएं तथा ऋषिगुप्ति आदि चार कुल

स्थापित हुए। शास्त्राग्रों के नामों पर ध्यान देने से अनुमान होता है कि कहीं-कहीं स्थान भेद के अतिरिक्त गोत्र-भेदानुसार भी शास्त्राग्रों के भेद प्रभेद हुए। स्वविर सुस्थिन द्वारा कोटिकण्व की स्थापना हुई, जिससे उच्चानागरी, विद्याधरी, वज्री एव माध्यमिका ये चार शास्त्राएं तथा बम्हलीय, बत्वालीय बाणिज्य और पण्डवाहृष्क, ये चार कुल उत्पन्न हुए। इस प्रकार आर्य सुहस्ति के शिष्यों द्वारा बहुत अधिक शास्त्राग्रों और कुलों के भेद प्रभेद उत्पन्न हुए। आर्य सुस्थित के ग्रहहस्त द्वारा मध्यमा शास्त्रा स्थापित हुई और विद्याधार गोपाल द्वारा विद्याधरी शास्त्रा। आर्यदत्त के शिष्य शांति सेन ने एक अन्य उच्चानागरी शास्त्रा की स्थापना की। आर्य शांतिसेन के श्रेष्ठिक तापस, कुबेर और ऋषिपालिका ये चार शिष्य हुए, जिनके द्वारा क्रमशः आर्यसेनिका, तापसी कुबेर और ऋषिपालिका ये चार शास्त्राएं निकली। आर्य-सिंहगिरि के शिष्य आर्य-शमित द्वारा ब्रह्मवीरिका तथा आर्य वज्र द्वारा आर्य वज्री शास्त्रा स्थापित हुई। आर्य-वज्र के शिष्य वज्रसेन, पद्म और रथ द्वारा क्रमशः आर्य-नाइलो पद्मा और जयन्ती नामक शास्त्राएं निकलीं। इन विविध शास्त्राग्रों व कुलों की स्थान व गोत्र आदि भेदों के अतिरिक्त अपनी अपनी क्या विशेषता थी, इसका पूर्णतः पता लगाना संभव नहीं है। इनमें से किसी किसी शास्त्रा व कुल के नाम मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त मूर्तियों आदि परके लेखों में पाए गये हैं, जिनसे उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध होती है।

प्राचीन ऐतिहासिक कालगणना —

कल्पसूत्र स्वविराबली में उक्त आचार्य परम्परा के संबंध में काल का निर्देश नहीं पाया जाता। किन्तु धर्मषोडशूरि कृत दुषमकाल-अमरणसंघ-स्तव नामक प्राकृत पट्टावली की अवधूरि में कुछ महत्त्वपूर्ण कालसंबंधी निर्देश पाये जाते हैं। यहाँ कहा गया है कि जिस रात्रि भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्रि को उज्जैनी में चंडप्रद्योत नरेश की मृत्यु व पालक राजा का अभिषेक हुआ। इस पालक राजा ने उदायी के निःसंतान मरने पर कुणिक के राज्य पर पाटलिपुत्र में अधिकार कर लिया और ६० वर्ष तक राज्य किया। इसी काल में गौतम ने १२, सुषयं ने ८, और जंबू ने ४४ वर्ष तक युगप्रधान रूप से संघ का नायकत्व किया। पालक के राज्य के साठ वर्ष व्यतीत होने पर पाटलिपुत्र में नव नन्दों ने १५५ वर्ष राज्य किया और इसी काल में जैन संघ का नायकत्व प्रभव ने ११ वर्ष, स्वयंभू ने २३, यशोभद्र ने ५०, संभूतिविजय ने ८, भद्रबाहु ने १४ और स्थूलभद्र ने ४५ वर्ष तक किया। इस प्रकार यहां तक वीर निर्वाण के २१५ वर्ष व्यतीत हुए। इसके पश्चात् मौर्य वंश का राज्य

१०८ वर्ष रहा, जिसके भीतर महागिरि ने ३० वर्ष, सुहस्ति ने ४६ और गुणसुन्दर ने ३२ वर्ष जैन संघ का नायकत्व किया। मौर्यों के पश्चात् राजा पुष्यमित्र ने ३० वर्ष तथा बलमित्र और भानुमित्र ने ६० वर्ष राज्य किया। इस बीच गुणसुन्दर ने अपनी आयु के शेष १२ वर्ष, कालिक ने ४० वर्ष और स्कंदिल ने ३८ वर्ष जैन संघ का नायकत्व किया। इस प्रकार महावीर निर्वाण से ४१३ वर्ष व्यतीत हुए। भानुमित्र के पश्चात् राजा नरवाहन ने ४०, गर्दभिल्ल ने १३ और शक ने ४ वर्ष पर्यन्त राज्य किया और इसी बीच रेवतीमित्र द्वारा ३६ वर्ष तथा आर्य-मंगु द्वारा २० वर्ष जैन संघ का नायकत्व चला। इस प्रकार महावीर निर्वाण से लेकर ४७० वर्ष समाप्त हुए। गर्दभिल्ल के राज्य की समाप्ति कालकाचार्य द्वारा कराई गई और उसके पुत्र विक्रमादित्य ने राज्यारूढ़ होकर, ६० वर्ष तक राज्य किया। इसी बीच जैन संघ में बहुल, श्रीव्रत, स्वाति, हारि, श्यामार्य एवं शाण्डिल्य आदि हुए, प्रत्येक-बुद्ध एवं स्वयंबुद्ध परम्परा का विच्छेद हुआ, बुद्धबोधितों की अल्पता, तथा भद्रगुप्त, श्रीगुप्त और वज्रस्वामी, ये आचार्य हुए। विक्रमादित्य के पश्चात् धर्मादित्य ने ४० और माइल्ल ने ११ वर्ष राज्य किया, और इस प्रकार वीर निर्वाण के ५८१ वर्ष व्यतीत हुए। तत्पश्चात् दुर्बलिका पुष्पमित्र के २० वर्ष तथा राजा नाहड के ४ (?) वर्ष समाप्त होने पर वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पश्चात् शक संवत् प्रारम्भ हुआ। वीर निर्वाण के ६६३ वर्ष व्यतीत होने पर कालकसूरि ने पर्युषणचतुर्थी की स्थापना की, तथा निर्वाण के ६८० वर्ष समाप्त होने पर आर्य-महागिरि की संतान में उत्पन्न श्री देवद्विगणि क्षमाश्रमण ने कल्पसूत्र की रचना की, एवं इसी वर्ष आनंदपुर में ध्रुवसेन राजा के पुत्र-मरण से शोकातं होने पर, उनके समाधान हेतु कल्पसूत्र सभा के समक्ष कल्पसूत्र की वाचना हुई। यह बहुश्रुतों की परम्परा से ज्ञात हुआ। इतनी वार्ता के पश्चात् यह 'दुषमकाल श्रमणसंघस्तव की अबचूरि' इस समाचार के साथ समाप्त होती है कि वीर निर्वाण के १३०० वर्ष समाप्त होने पर विद्वानों के शिरोमणि श्री बप्पभट्टि सूरि हुए।

सात निन्हव व दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय—

ऊपर जिन गणों कुलों व शाखाओं का उल्लेख हुआ है, उनमें कोई विशेष सिद्धान्त-भेद नहीं पाया जाता। सिद्धान्त-भेद की अपेक्षा से हुए सात निन्हवों का उल्लेख पाया जाता है। पहला निन्हव महावीर के जीवन काल में ही उनकी ज्ञानोत्पत्ति के चौदह वर्ष पश्चात् उनके एक शिष्य जमालि द्वारा आवस्ती में उत्पन्न

हुआ। इस निन्हव का नाम बहुरत कहा गया, क्योंकि यहां मूल सिद्धान्त यह था कि कोई वस्तु एक समय की क्रिया से उत्पन्न नहीं होती, अनेक समयों में उत्पन्न होती है। दूसरा निन्हव इसके दो वर्ष पश्चात् तिष्यगुप्त द्वारा ऋषभपुर में उत्पन्न हुआ कहा गया है। इसके अनुयायी जीवप्रवेशक कहलाए, क्योंकि वे जीव के अंतिम प्रदेश को ही जीव की संज्ञा प्रदान करते थे। अव्यक्त नामक तीसरा निन्हव, निर्वाण से २१४ वर्ष पश्चात् आषाढ़-आचार्य द्वारा श्वेतविका नगरी में स्थापित हुआ। इस मत में वस्तु का स्वरूप अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट व अज्ञेय माना गया है। चौथा समुच्छेद नामक निन्हव, निर्वाण से २२० वर्ष पश्चात् अश्वमित्र-आचार्य द्वारा मिथिला नगरी में उत्पन्न हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक कार्य अपने उत्पन्न होने के अनन्तर समय में समस्त रूप से व्युच्छिन्न हो जाता है, अर्थात् प्रत्येक उत्पादित वस्तु क्षणस्थायी है। यह मत बौद्ध दर्शन के क्षणिकत्ववाद से मेल खाता प्रतीत होता है। पांचवां निन्हव निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात् गंग-आचार्य द्वारा उल्लुकातीर पर उत्पन्न हुआ। इसका नाम द्विक्रिया कहा गया है। इस मत का मर्म यह प्रतीत होता है कि एक समय में केवल एक ही नहीं, दो क्रियाओं का अनुभवन संभव है। छठवां त्रैराशिक नामक निन्हव, छल्लुक मुनिद्वारा पुरमंतरंजिका नगरी में उत्पन्न हुआ। इस मत के अनुयायी वस्तु-विभाग तीन राशियों में करते थे; जैसे जीव, अजीव, और जीवाजीव। सातवां निन्हव अबद्ध कहालाता है, जिसकी स्थापना वी० निर्वाण से ५८४ वर्ष पश्चात् गोष्ठा माहिल द्वारा दशपुर में हुई। इस मत का मर्म यह प्रतीत होता है कि कर्म का जीव से स्पर्श-मात्र होता है, बंधन नहीं होता। इन सात निन्हवों के अनन्तर, वीर निर्वाण के ६०६ वर्ष पश्चात्, बोटिक निन्हव अर्थात् दिगम्बर संघ की उत्पत्ति कही गई है (स्या ७, वि० आवश्यक व तपा० पट्टा०)। दिगम्बर परम्परा में उपर्युक्त सात निन्हवों का तो कोई उल्लेख नहीं पाया जाता, किन्तु वि० सं० के १३६ वर्ष उपरान्त श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति होने का स्पष्ट उल्लेख (दर्शनसार गा० ११) पाया जाता है। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के काल में, व दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बर संप्रदाय के उत्पत्तिकाल-निर्देश में केवल ३ वर्षों का अन्तर पाया जाता है। इन उल्लेखों पर से यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि महावीर के संघ में दिगम्बर-श्वेताम्बर संप्रदायों का स्पष्ट रूप से भेद निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर आम्नाय में गणभेद —

दिगम्बर मान्यतानुसार महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष की आचार्य

परम्परा का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कहा गया है कि तत्पश्चात् किसी समय अर्हद्बलि आचार्य हुए। उन्होंने पंचवर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय एक विशाल मुनि-सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें सौ योजन के यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं पर से उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपात का युग आ गया। अतएव, उन्होंने नंदि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न भिन्न संघ स्थापित किये, जिनसे कि निकट अपनत्व की भावना द्वारा धर्म-वात्सल्य और प्रभावना बढ़ सके। दर्शनसार के अनुसार, विक्रम के ५२६ वर्ष पश्चात् दक्षिण मथुरा अर्थात् मथुरा नगर में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनंदि द्वारा द्राविडसंघ की उत्पत्ति हुई। इस संघ के मतानुसार बीजों में जीव नहीं होता, तथा प्रायुक्त-अप्रायुक्त का कोई भेद नहीं माना जाता; एवं बसति में रहने, बाणिज्य करने व क्षीतल नीर से स्नान करने में भी मुनि के लिये कोई पाप नहीं होता। वि० के २०५ वर्ष पश्चात् कल्याणनगर में श्वेताम्बर मुनि श्रीकलश द्वारा यापनीय संघ की स्थापना हुई कही गई है। वि० की पांचवीं-छठी शताब्दी के ताम्रपटों आदि में भी यापनीय संघ के आचार्यों का उल्लेख मिलता है। काष्ठासंघ की उत्पत्ति वि० सं० के ७५३ वर्ष पश्चात् नंदीतट ग्राम में कुमारसेन मुनि द्वारा हुई। इस संघ में स्त्रियों को दीक्षा देने, तथा पीछी के स्थान में मुनियों द्वारा चौरी रखने का विधान पाया जाता है। माथुरसंघ की स्थापना, काष्ठासंघ की स्थापना से २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर मथुरा में रामसेन मुनि द्वारा हुई कही गई है। इस संघ की विशेषता यह बतलाई गई है कि इसमें मुनियों द्वारा पीछी रखना छोड़ दिया गया। काष्ठासंघ की उत्पत्ति से १८ वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० ६७१ में दक्षिणदेश के विन्ध्यपर्वत के पुष्कल नामक स्थान पर वीरचन्द्र मुनि द्वारा भिल्लक संघ की स्थापना हुई। उन्होंने अपना एक अलग गच्छ बनाया, प्रतिक्रमण तथा मुनिचर्या की भिन्न व्यवस्था की, तथा वर्याचार को कोई स्थान नहीं दिया। इस संघ का दर्शनसार के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु इस एक उल्लेख पर से भी प्रमाणित होता है कि नौवीं-दसवीं शताब्दी में एक जैन मुनि ने विन्ध्यपर्वत के भीलों में भी धर्म प्रचार किया और उनकी श्रमता के विचारानुसार धर्मपालन की कुछ विशेष व्यवस्थाएं बनाई।

अवराबेलगोला से प्राप्त हुए ५०० से भी अधिक शिलालेखों द्वारा हमें अनेक शताब्दियों की विविध धाम्नायों तथा आचार्य-परम्पराओं का विवरण मिलता है। सिद्धरवस्ति के एक शिलालेख में कहा गया है कि अर्हद्बलि ने अपने दो शिष्यों, पुण्यदंत और भूतबलि, द्वारा बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की और उन्होंने मूल संघ को चार शाखाओं में

विभाजित किया — सेन, नंद, देव और सिंह । इनके केंद्रों में जी लंबी, गहरी, गहरी धार्मिक उत्प्रेक्षा मिलती है । उनमें से कुछ इस प्रकार हैं — मूलसंघ, नंदिसंघ, नंदिसंघ, मूलसंघ, किट्टूरसंघ, कोलसूरसंघ, नंदिसंघ, देवीसंघ, इमिल (सिमिल) संघ, काबूर संघ, पुस्तक या सरस्वती संघ, बज्रसंघ, तगरसंघ, मंडितसंघ, संतुल्यसंघ, पनसोने संघ, आदि ।

पूर्व व उत्तर भारत में धार्मिक प्रसार का इतिहास—

महावीर ने स्वयं बिहार करके तो अपना उपदेश विशेष रूप से मगध, विदेह, मगध, वन, आदि पूर्व के देशों, तथा पश्चिम की ओर कोसल व काशी प्रदेशों में ही फैलाया था, एवं तत्कालीन मगधराज श्रेष्ठिक बिंबसार व उनके पुत्र कुलिश अजात-शत्रु को अपना अनुयायी बनाया था । इसका भी प्रमाण मिलता है कि मंदराजा भी जैन धर्मानुयायी थे । ई० पू० १५० के लगभग के सार्वभौम के शिलालेख में स्पष्ट उल्लेख है कि जिस जैन प्रतिमा को मंदराज कलिग से मगध में ले गए थे, उसे सार्वभौम पुनः अपने देश में वापस लाए । यह लेख अरहंतों और सिद्धों को नमस्कार से प्रारम्भ होता है, और फिर उसमें सार्वभौम के कुमारकाल के शिलालेख के पश्चात् राज्यभित्तिका होकर उनके द्वारा नाना-प्रदेशों की विजय तथा स्वदेश में विविध लोकव्यवहारी कार्यों का विवरण पाया जाता है । कलिग (उड़ीसा) में जैनधर्म बिहार से ही गया है, इससे उसे सन्देह ही नहीं; और बिहार का जैनधर्म से संबंध इतिहासासीत काल से रहा है । भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार बिहार से उड़ीसा जाने का मार्ग मानभूम और सिन्धु-भूम जिलों में से था । मानभूम के ब्राह्मणों में एक वर्ग अब भी ऐसा विश्वास है जो अपने को 'पश्चिम ब्राह्मण' कहते हैं, और वे वर्तमान महावीर के वर्णन रूप से वर्णन किये जाते हैं । वे यह भी कहते हैं कि वे उस प्राचीनतम भार्यवंश की शाखा के हैं जिसने अति प्राचीन काल में इस भूमि पर पैर रखा । आदिम अथर्व-परम्परा धर्मों की ही थी, किन्तु वे भार्य वैदिक धर्मों के पूर्व-भारत की ओर बढ़ने से पहले ही मगध-विदेह में रहते थे, इसमें अब कोई सन्देह रह नहीं पाती है । इस दृष्टि से उनका 'पश्चिम ब्राह्मणों' की बात बड़े ऐतिहासिक महत्व की बात पड़ती है । यों तो मगध मगध प्रदेश में जैन पुराणत्व के प्रतीक बिन्दु हैं, जिनमें पटना जिले के राजगीर और पासा, तथा हजारीबाग जिले का पार्वनाथ गढ़ सुप्रसिद्ध हैं । किन्तु इन स्थानों में वर्तमान में जो अधिवास-पुस्तिका आदि-आदि जाती हैं, उनकी अपेक्षा मानभूम और सिन्धुभूम जिलों के मगध-स्थानों में बिन्दु जैन मन्दिर व पुस्तिका अधिकांश प्राचीन

सिद्ध होते हैं। इनमें से अनेक आजकल हिन्दुओं द्वारा अपने धर्मयितन मान कर पूजे जाते हैं। कहीं जैन मूर्तियाँ मैरौनाथ के नाम से पुजती हैं और कहीं वे पांडवों की मूर्तियाँ मानी जा रही हैं। यत्र तत्र से एकत्र कर जो अनेक जैन मूर्तियाँ पटना के संग्रहालय में सुरक्षित हैं, वे ग्यारहवीं शताब्दि से पूर्व की प्रमाणित होती हैं। (देखिये राय चौधरी कृत जैनजिम इन बिहार)। चीनी यात्री हुएनत्सांग (सातवीं शताब्दी) ने अपने वैशाली के वर्णन में वहाँ निर्ग्रन्थों की बड़ी संख्या का उल्लेख किया है। उसने सामान्यतः यह भी कहा है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के जैन मुनि पश्चिम में तक्षशिला और गृद्धकूट तक फैले हुए थे, तथा पूर्व में दिगम्बर निर्ग्रन्थ पुण्ड्रवर्धन और समतट तक भारी संख्या में पाये जाते थे। चीनी यात्री के इन उल्लेखों से सातवीं शती में समस्त उत्तर में जैन धर्म के सुप्रचार का अच्छा पता चलता है।

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से एक अति प्राचीन स्तूप और एक दो जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष मिले हैं। यहाँ पाई गई पुरातत्वसामग्री पर से ज्ञात होता है कि ई० पूर्व की कुछ शताब्दियों से लेकर, लगभग दसवीं शताब्दी तक वहाँ जैनधर्म का एक महान् केन्द्र रहा है। मूर्तियों के सिंहासनों, शायाम-पट्टों आदि पर जो लेख मिले हैं, उनमें से कुछ में कुषाण राजाओं, जैसे कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि नामों और उनके राज्यकाल के अंकों का स्पष्ट उल्लेख पाया गया है, जिससे वे ई० सन् के प्रारम्भिक काल के सिद्ध होते हैं। प्राचीन जैन ग्रन्थों में इस स्तूप का उल्लेख मिलता है, और कहा गया है कि यह स्तूप सुपार्ष्वनाथ की स्मृति में निर्माण कराया गया था, तथा पार्ष्वनाथ के काल में इसका उद्धार कराया गया था। उसे देव निर्मित भी कहा गया है। आश्चर्य नहीं जो वह प्राचीन स्तूप महावीर से भी पूर्वकालीन रहा हो। हरिषेण कथाकोश के 'बैरकुमार कथानक' (श्लोक १३२) में मथुरा के पाँच स्तूपों का उल्लेख आया है। यहाँ से ही संभवतः जैन मुनियों के पंचस्तूपान्वय का प्रारंभ हुआ। इस अन्वय का एक उल्लेख गुप्त संवत् १५६ (सन् ४७८) का पहाड़पुर (बंगाल) के लज्जपट से मिला है जिसके अनुसार उस समय बट गोहाली में एक जैन विहार था, जिसमें अरहंतों की पूजा के लिये निर्ग्रन्थ आचार्यों को एक दान दिया गया। ये आचार्य बनारस की पंचस्तूप निकाय के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य कहे गये हैं। धवला टीका के रचयिता वीरसेन और जिनसेन (८-९वीं शती) भी इसी शाखा के थे। इसी अन्वय का उल्लेख जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में सेनान्वय के नाम से किया है। अब से इस अन्वय की सेनगण के नाम से ही प्रसिद्धि लगातार आज तक अवच्छिन्न रूप से उसकी अनेक शाखाओं व उपशाखाओं के रूप में पाई जाती है। मथुरा के

स्तूपों की परम्परा मुगल सम्राट् अकबर के काल तक पाई जाती है, क्योंकि उस समय के जैन पंडित राजमल्ल ने अपने जम्बूस्वामी-चरित में लिखा है कि मथुरा में ५१५ जीर्ण स्तूप थे जिनका उद्धार टोडर सेठ ने अपरिमित व्यय से कराया था । ई० पू० प्रथम शताब्दी में जैन मुनिसंघ के उज्जैनी में अस्तित्व का प्रमाण कालकाचार्य कथानक में मिलता है । इस कथानक के अनुसार उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल ने अपनी कामुक प्रवृत्ति से एक जैन भजिका के साथ अत्याचार किया, जिसके प्रतिशोध के लिए कालक-सूरि ने शाही राजाओं से संबंध स्थापित किया । इन्होंने गर्दभिल्ल को युद्ध में परास्त कर, उज्जैन में शक राज्य स्थापित किया । इसी वंश का विनाश पीछे विक्रमादित्य ने किया । इस प्रकार यह घटना-चक्र विक्रम संवत् से कुछ पूर्व का सिद्ध होता है । उससे यह भी पता चलता है कि प्रसंगवश अतिशान्त-स्वभावी और सहनशील जैन-मुनियों का भी कभी-कभी राजसक्तियों से संघर्ष उपस्थित हो जाया करता था ।

मथुरा से प्राप्त एक लेख में उल्लेख मिलता है कि गुप्त संवत् ११३ (ई० सन् ४३२) में श्री कुमारगुप्त के राज्यकाल में विषाधरी शाखा के दंतिलाचार्य की आज्ञा से इयामाह्व ने एक प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई । कुमारगुप्त के काल (सन् ४२६) का एक और लेख उदयगिरि (विदिशा-मालवा) से मिला है, जिसमें वहाँ पार्वनाथ की प्रतिष्ठा का उल्लेख है । गुप्तकाल के सं० १४१ (ई० सन् ४६०) में स्कंदगुप्त राजा के उल्लेख सहित जो शिलालेख कहायू (संस्कृत ककुमः) से प्राप्त हुआ है उसमें उल्लेख है कि पांच अरहंनों की स्थापना मन्द नामके धर्म पुत्र ने कराई थी और शैल-स्तम्भ खड़ा किया था ।

दक्षिण भारत व लंका में जैन धर्म तथा राजवंशों से संबंध—

एक जैन परम्परानुसार मौर्यकाल में जैनमुनि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त सम्राट् को प्रभावित किया था और वे राज्य त्याग कर, उन मुनिराज के साथ दक्षिण को गए थे । मैसूर प्रान्त के अन्तर्गत अवणबेसगोला में अब भी उन्हीं के नाम से एक पहाड़ी चन्द्रगिरि कहलाती है, और उस पर वह गुफा भी बतलाई जाती है, जिसमें भद्रबाहु ने तपस्या की थी, तथा राजा चन्द्रगुप्त उनके साथ अन्त तक रहे थे । इस प्रकार मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल में जैनधर्म का दक्षिणभारत में प्रवेश हुआ माना जाता है । किन्तु बौद्धों के पालि साहित्यान्तर्गत महावंश में जो लंका के राजवंशों का विवरण पाया जाता है, उसके अनुसार बुद्धनिर्वाण से १०६ वर्ष पश्चात् पांडुकाभय राजा का अभिषेक हुआ और उन्होंने अपने राज्य के प्रारंभ में ही अनुराधपुर की स्थापना की,

जिसमें उन्होंने निर्बन्ध धर्मियों के लिए अनेक निवासस्थान बनवाए। इस उल्लेख पर से स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि बुद्ध निर्वाण सं० के १०६ वें वर्ष में भी लंका से निर्बन्धों का अस्तित्व था। लंका में बौद्ध धर्म का प्रवेश अशोक के पुत्र महेन्द्र द्वारा बुद्धनिर्वाण से २३६ वर्ष पश्चात् हुआ कहा गया है। इस पर से लंका में जैन धर्म का प्रचार, बौद्ध धर्म से कम से कम १३० वर्ष पूर्व हो चुका था, ऐसा सिद्ध होता है। संभवतः सिंहल में जैनधर्म दक्षिणभारत में से ही होता हुआ पहुँचा होगा। जिस समय उत्तर-भारत में १२ वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु ने सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा विशाल मुनि संघ के साथ दक्षिणायन की ओर विहार किया, तब वहाँ की जनता में जैनधर्म का प्रचार रहा होगा और इसी कारण भद्रबाहु को अपने संघ का निर्वाह होने का विश्वास हुआ होगा, ऐसा भी विद्वानों का अनुमान है। चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र सम्प्रति, एक जैन परम्परानुसार, आचार्य सुहस्ति के शिष्य थे, और उन्होंने जैनधर्म का स्तूप, मंदिर आदि निर्माण कराकर, देशभर में उसी प्रकार प्रचार किया जिसप्रकार कि अशोक ने बौद्धधर्म का किया था। रामनद और टिन्नावली की गुफाओं में ब्राह्मीलिपि के शिलालेख यद्यपि अस्पष्ट हैं, तथापि उनसे एवं प्राचीनतम तामिल ग्रंथों से उस प्रदेश में अति प्राचीनकाल में जैनधर्म का प्रचार सिद्ध होता है। तामिल काव्य कुरल व ठोलकप्पियम पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

मणिमेकलइ यद्यपि एक बौद्ध काव्य है, तथापि उसमें दिगम्बर मुनियों और उनके उपदेशों के अनेक उल्लेख आये हैं। जीवक चिन्तामणि, सिंहलपडिकारं, नीलकेशी, यशोधर काव्य आदि तो स्पष्टतः जैन कृतियाँ ही हैं। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र के कांची से सम्बंध का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य का सम्बंध, उनके एक टीकाकार, शिवकुमार महाराज से बतलाते हैं। प्राकृत लोक-विभाय के कर्ता सर्वमन्दि (सन् ४५८) कांची नरेश सिंहवर्मा के समकालीन कहे गये हैं। दर्शनसार के अनुसार द्राविड संघ की स्थापना पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि द्वारा मयुरा में सन् ४७० में की गई थी। इस प्रकार के अनेक उल्लेखों और नाना घटनाओं से सुप्रमाणित होता है कि ईसा की प्रारम्भिक सताब्दियों में तामिल प्रदेश में जैन धर्म का अच्छा प्रचार हो चुका था।

कदम्ब राजवंश —

कदम्बवंशी अविनीत महाराज के दानपत्र में उल्लेख है कि उन्होंने देसीगर, कुन्दकुन्दाचार्य के चन्द्रवंदि भट्टारक को जैनमंदिर के लिये एक गांव का दान दिया। यह दानपत्र शक सं० ३८८ (ई० सं० ४६६) का है और मर्करा नामक स्थान से मिला

है। इसी वंश के पुत्रराज काकुत्स्थ, द्वारा भगवान् अर्हन्त के निमित्त श्रुतकीर्ति सेनापति को भूमि का दान दिये जाने का उल्लेख है। इसी राजवंश के एक दो अन्य दानपत्र बड़े महत्वपूर्ण हैं। इनमें से एक में श्रीविजय शिवभूगेश वर्मा द्वारा अपने राज्य के चतुर्थ वर्ष में एक ग्राम का दान उसे तीन भागों में बांटकर दिये जाने का उल्लेख है। एक भाग 'भगवत् अर्हद् महाविनेन्द्र देवता' को दिया गया, दूसरा 'इवेतपट महाभ्रमण संघ' के उपभोग के लिए, और तीसरा 'निर्ग्रन्थ महाभ्रमण संघ' के उपयोग के लिए। दूसरे लेख में शान्ति वर्मा के पुत्र श्री भूगेश द्वारा अपने राज्य के आठवें वर्ष में यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक मुनियों के हेतु भूमि-दान दिये जाने का उल्लेख है। एक अन्य लेख में शान्तिवर्मा द्वारा यापनीय तपस्वियों के लिये एक ग्राम के दान का उल्लेख है। एक अन्य लेख में हरिवर्मा द्वारा सिंह सेनापति के पुत्र भूगेश द्वारा निर्मापित जैनमंदिर की अष्टान्तिका पूजा के लिये, तथा सर्वसंघ के भोजन के लिए एक गांव कूर्चकों के वारिखेणाचार्य संघ के हाथ में दिये जाने का उल्लेख है। इस वंश के और भी अनेक लेख हैं जिनमें जिनालयों के रक्षणार्थ व नाना जैन संघों के निमित्त ग्रामों और भूमियों के दान का उल्लेख है। उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पांचवीं छठी शताब्दी में जैन संघ के निर्ग्रन्थ (दिगम्बर), इवेतपट, यापनीय वा कूर्चक शास्त्राणु सुप्रतिष्ठित सुविख्यात, लोकप्रिय और राज्य-सम्मान्य हो चुकी थीं। इनमेंके प्रथम तीन मुनि-सम्प्रदायों का उल्लेख तो पट्टावलिमें व जैन साहित्य में बहुत आया है, किन्तु कूर्चक सम्प्रदाय का कहीं अन्यत्र विशेष परिचय नहीं मिलता।

गंग राजवंश—

अवराहमेलगोला के अनेक शिलालेखों तथा अभयचन्द्रकृत गोम्मटसार वृत्ति की उत्थानिका में उल्लेख मिलता है कि गंगराज की नींव डालने में जैनाचार्य सिंहनंद ने बड़ी सहायता की थी। इस वंश के अविनीत नाम के राजा के प्रतिपालक जैनाचार्य विजय-कीर्ति कहे गये हैं। सुप्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्र की सर्वावसिद्धि टीका के कर्ता प्राचार्य पूज्यपाद देवर्नदि इसी वंश के सातवें नरेश दुर्बिनीत के राजगुरु थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। इनके तथा शिवमार और श्रीपुरुष नामक नरेशों के अनेक लेखों में जैन मन्दिर निर्माण व जैन मुनियों को दान के उल्लेख भी मिलते हैं। गंगनरेश भारसिंह के विषय में कहा गया है कि उन्होंने अनेक भारी मुद्दों में विजय प्राप्त करके नाना दुर्ग और किले जीतकर एवं अनेक जैन मंदिर और स्तम्भ निर्माण करा कर अन्त में अजितसेन भट्टारक के समीप बंकापुर में संस्लेखना विधि से मरण किया, जिसका काल शक सं० ८६६ (ई०—

सं० ६७४) निर्दिष्ट है। भारसिंह के उत्तराधिकारी राचमल्ल (चतुर्थ) थे, जिनके मंत्री चामुण्डराज ने श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय बस्ति निर्माण कराई और गोमटेश्वर की उस विशाल मूर्ति का उद्घाटन कराया जो प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का एक गौरवशाली प्रतीक है। चामुण्डराय का बनाया हुआ एक पुराण ग्रन्थ भी मिलता है जो कन्नड भाषा में है। इसे उन्होंने शक सं० ६०० में समाप्त किया था। उसमें भी उन्होंने अपने ब्रह्मक्षत्र कुल तथा अजितसेन गुरु का परिचय दिया है। अनेक शिलालेखों में विविध गंगवंशी राजाओं, सामन्तों, मंत्रियों व सेनापतियों आदि के नामों, उनके द्वारा दिये गये दानों आदि धर्मकार्यों, तथा उनके संल्लेखना पूर्वक मरण के उल्लेख पाये जाते हैं। कन्नड कवि पोन्न द्वारा सन् ६३३ में लिखे गये शान्तिपुराण की सन् ६७३ के लगभग एक धर्मिष्ठ महिला आतिमन्वे ने एक सहस्र प्रतियाँ लिखाकर दान में बटवा दीं।

राष्ट्रकूट राजवंश —

सातवीं शताब्दी से दक्षिण-भारत में जिस राजवंश का बल व राज्य-विस्तार बढ़ा, उस राष्ट्रकूट वंश से तो जैनधर्म का बड़ा घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम ने स्वयं प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका की रचना की थी, जिसका तिब्बती भाषा में उसकी रचना के कुछ ही पश्चात् अनुवाद हो गया था और जिस पर से यह भी सिद्ध होता है कि राजा अमोघवर्ष राज्य छोड़कर स्वयं दीक्षित हो गये थे। उनके विषय में यह भी कहा पाया जाता है कि वे आदिपुराण के कर्ता जिनसेन के चरणों की पूजा करते थे। शाकटायन व्याकरण पर की अमोघवृत्ति नामक टीका उनके नाम से संबद्ध पाई जाती है, और उन्हीं के समय में महावीराचार्य ने अपने गणितसार नामक ग्रंथ की रचना की थी। वे कन्नड अलंकारशास्त्र 'कविराजमार्ग' के कर्ता भी माने जाते हैं। उनके उत्तराधिकारी कृष्ण-द्वितीय के काल में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण को पूरा किया, इन्द्रनन्दि ने ज्वाला-मालिनी-कल्प की रचना की; सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू नामक काव्य रचा तथा पुष्पदंत ने अपनी विशाल, श्रेष्ठ अपभ्रंश रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने ही कन्नड के सुप्रसिद्ध जैन कवि कोन्न को उमय-भाषा श्रृङ्गवर्ती की उपाधि से विभूषित किया। उनके पश्चात् राष्ट्रकूट नरेश इन्द्रराज-चतुर्थ ने शिलालेखानुसार अपने पूर्वज अमोघवर्ष के समान राज्यपाट त्याग कर जैन मुनि दीक्षा धारण की थी, और श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर समाधिपूर्वक मरण किया था। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में राष्ट्रकूट नरेशों की जैनधर्म के प्रति

आस्था, सम्मान-वृद्धि और दानशीलता के उल्लेख पाये जाते हैं। राष्ट्रकूटों के संरक्षण में उनकी राजधानी मान्यखेट एक अग्राज्य जैन केन्द्र बन गया था, और यही कारण है कि संवत् १०२६ के लगभग जब चारा के परमारवंशी राजा हर्षदेव के द्वारा मान्यखेट नगरी लूटी और जलाई गई, तब महाकवि पुष्पदंत के मुख से हठात् निकल पड़ा कि "जो मान्यखेट नगर दीनों और भ्रान्ताओं का घन था, सदैव बहुजन पूर्ण और पुष्पित उद्यानवनों से सुशोभित होते हुए ऐसा सुन्दर था कि वह इन्द्रपुरी की शोभा को भी फीका कर देता था, वह जब धारानाथ की कोपाग्नि से दग्ध हो गया तब, अब पुष्पदंत कवि कहाँ निवास करें"। (अप. महापुराण-संघि ५०)

चालुक्य और होयसल राजवंश—

चालुक्यनरेश पुलकेशी (द्वि०) के समय में जैन कवि रविकीर्ति ने ऐहोल में मेघुति मन्दिर बनवाया और वह शिलालेख लिखा जो अपनी ऐतिहासिकता तथा संस्कृत काव्यकला की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। उसमें कहा गया है कि रविकीर्ति की काव्यकीर्ति कालिदास और भारवि के समान थी। लेख में शक सं० ५५६ (ई० सन् ६३४) का उल्लेख है और इसी आधार पर संस्कृत के उक्त दोनों महाकवियों के काल की यही उत्तरावधि मानी जाती है। लक्ष्मेश्वर से प्राप्त अनेक दानपत्रों में चालुक्य नरेश विनयादित्य, विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वारा जैन आचार्यों को दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। बादामी और ऐहोल की जैन गुफायें और उनमें की स्तूपकरों की प्रतिमायें भी इसी काल की सिद्ध होती हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से दक्षिण में पुनः चालुक्य राजवंश का बल बढ़ा। यह राजवंश जैनधर्म का बड़ा संरक्षक रहा, तथा उसके साहाय्य से दक्षिण में जैनधर्म का बहुत प्रचार हुआ और उसकी ख्याति बढ़ी। पश्चिमी चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप ने जैन कन्नड़ कवि रन्न को आश्रय दिया। तैलप के उत्तराधिकारी सत्याश्रय ने जैनमुनि विमलचन्द्र पंडित देव को अपना गुरु बनाया। इस वंश के अन्य राजाओं, जैसे जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय, तथा विक्रमादित्य षष्ठम ने कितने ही जैन कवियों को प्रोत्साहित कर साहित्य-स्रजन कराया, तथा जैन मन्दिरों व अन्य जैन संस्थाओं को भूमि आदि का दान देकर उन्हें सबल बनाया। होयसल राजवंश की तो स्थापना ही एक जैनमुनि के निमित्त से हुई कही जाती है। विनयादित्य नरेश के राज्यकाल में जैनमुनि वर्द्धमानदेव का शासन के प्रबन्ध में भी हाथ रहा कहा जाता है। इस वंश के दो अन्य राजाओं के गुरु भी जैनमुनि रहे। इस वंश के प्रायः

सभी राजाओं ने जैन मंदिरों और आश्रमों को दान दिये थे। इस संबंध के सबसे अधिक प्रसिद्धी नरेश विष्णुवर्द्धन के विषय में कहा जाता है कि उसने रामानुजाचार्य के प्रभाव में बढ़कर वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया था। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि वह अपने राज्य के अन्त तक जैनधर्म के प्रति उपकारी और दानशील बना रहा। ई० सन् ११२५ में भी उसने जैनमुनि श्रीपाल त्रैविद्यदेव की आराधना की, शाल्य नामक स्थान पर जैन विहार बनवाया तथा जैन मंदिरों व मुनियों के आहार के लिए दान दिया। एक ग्रन्थ ई० सन् ११२६ के लेखानुसार उसने मल्लिखिनालय के लिए एक दान किया। ई० सन् ११३३ में उसने अपनी राजधानी हारासमुद्र में ही पार्ष्वनाथ जिनालय के लिए एक ग्राम का दान किया, तथा अपनी तत्कालीन विजय की स्मृति में वहाँ के मूलनायक को विजय-पार्ष्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध किया और अपने पुत्र का नाम विजयसिंह रक्खा, और इस प्रकार उसने अपने परम्परागत धर्म तथा नई धारण किये हुए धर्म के बीच संतुलन बनाये रखा। उसकी रानी शांतलदेवी आश्रम जैनधर्म की उपासिका रही और जैन मंदिरों को अनेक दान देती रही। उसके कुछ प्रभावशाली सिद्धान्तदेव थे, और उसने सन् ११२१ में जैन समाधि-मरण की संस्कार विधि से देह त्याग किया। विष्णुवर्द्धन के अनेक प्रभावशाली मंत्री और सेनापति भी जैन धर्मानुयायी थे। उसके मंगराज सेनापति ने अनेक जैनमंदिर बनवाये, अनेकों का जीर्णोद्धार किया तथा अनेकों जैन संस्थाओं को विपुल दान दिये। उसकी पत्नी लक्ष्मीमति ने भी जैन संस्कार विधि से मरण किया, जिसकी स्मृति में उसके पति ने अवणबेलगोला के पर्वत पर एक लेख खुदवाया। उसके अन्य अनेक सेनापति, जैसे बोध, पुनिष्ठ, मरियाणे व भरतेश्वर, जैन मुनियों के उपासक थे और जैन धर्म के प्रति बड़े दानशील थे, इसके प्रमाण अवणबेलगोला व अन्य स्थानों के बहुत से शिलालेखों में मिलते हैं। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम ने अवणबेलगोला की बंधना की तथा अपने महान् सेनापति हुल्ल द्वारा बनवाये हुए चतुर्विध जिनालय को एक ग्राम का दान दिया। होयसल नरेश वीर-बल्लाल द्वितीय व नरसिंह तृतीय के कुछ जैन मुनि थे। इन नरेशों ने तथा इस वंश के अन्य अनेक राजाओं ने जैन मंदिर बनवाये और उन्हें बड़े-बड़े दानों से पुष्ट किया। इस प्रकार यह पूर्णतः सिद्ध है कि होयसल वंश के प्रायः सभी नरेश जैन धर्मानुयायी थे और उनके साहाय्य एवं संरक्षण द्वारा जैन मंदिर तथा अन्य धार्मिक संस्थाएँ दक्षिण प्रदेश में बृहत् फैलीं और समृद्ध हुईं।

अन्य राजवंश—

उक्त राजवंशों के अतिरिक्त दक्षिण के अनेक छोटे-मोटे राजघरानों द्वारा भी जैनधर्म को खूब बल मिला। उदाहरणार्थ, कर्नाटक के तीर्थहस्ति तांभुका व उसके आसपास के प्रदेश पर राज्य करनेवाले सान्तर नरेशों ने प्रारम्भ से ही जैन धर्म को खूब अपनाया। मुजबल सान्तर ने अपनी राजधानी पोम्बुर्चा में एक जैनमंदिर बनवाया व अपने गुरु कमकनंदिदेव को उस मंदिर के संरक्षणार्थ एक ग्राम का दान दिया। वीर सान्तर के मंत्री नगुलरस को ई० सन् १०८१ के एक शिलालेख में जैनधर्म का गढ़ कहा गया है। स्वर्ण वीर सान्तर को एक लेख में जिनभगवान् के चरणों का भृंग कहा गया है। तेरहवीं शताब्दी में सान्तरनरेशों के वीरशैव धर्म स्वीकार कर लेने पर उनके राज्य में जैनधर्म की प्रगति व प्रभाव कुछ कम अवश्य हो गया, तथापि सान्तर वंशी नरेश शैवधर्मावलंबी होते हुए भी जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु और दानशील बने रहे। उसी प्रकार मैसूर प्रदेशान्तर्गत कुर्ग व उसके आसपास राज्य करनेवाले कांगल्व नरेशों ने ग्यारहवीं व बारहवीं शताब्दियों में अनेक जैनमंदिर बनवाये और उन्हें दान दिये। कांगल्व नरेश शैवधर्मावलंबी होते हुए भी जैनधर्म के बड़े उपकारी थे, यह उनके कुछ शिलालेखों से सिद्ध होता है जिनमें उनके द्वारा जैनमंदिर बनवाने व दान देने के उल्लेख मिलते हैं। इन राजाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे वैयक्तिक सामन्तों, भ्रिंतियों, सेनापतियों तथा सेठ साहूकारों के नाम शिलालेखों में मिलते हैं, जिन्होंने नाना स्थानों पर जिनमंदिर बनवाये, जैनमूर्तियां प्रतिष्ठा कराई, पूजा अर्चा की; तथा धर्म की बहु-विध प्रभावना के लिये विविध प्रकार के दान दिये। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने अपने जीवन के अन्त में वैराग्य धारण कर जैनविधि से समाधिभरण किया। दक्षिण प्रदेश भर में जो आज तक भी अनेक जैनमंदिर व मूर्तियां अवशेष उनके ध्वंसावशेष बिखरे पड़े हैं, उनसे भलेप्रकार सिद्ध होता है कि यह धर्म वहां कितना सुप्रचलित और लोकप्रिय रहा, एवं राजगृहों से लगाकर जनसाधारण तक के गृहों में प्रविष्ट हो, उनके जीवन को नैतिक, दानशील तथा लोकोपकारोन्मुख बनाता रहा।

पुजरात-काठियावाड़ में जैनधर्म—

ई० सन् की प्रथम शताब्दी के लगभग काठियावाड़ में भी एक जैन कैन्द सुप्रतिष्ठित हुआ पाया जाता है। बट्टांडांगण धूर्नों की रचना का जो इतिहास उसके टीकाकार कीर्तिवाचार्थ ने दिया है, उसके अनुसार वीर निर्विण्ण से ६८३ वर्ष की धृक्सावी आचार्य की प्रतिष्ठित परम्परा के कुछ काल पश्चात् धरसेनाचार्य हुए, जो

गिरिनगर (गिरिनार, काठियावाड़) की चन्द्रगुफा में रहते थे। वहीं उन्होंने पुष्पवंत और भूतबलि नामक आचार्यों को बुलवाकर उन्हें वह ज्ञान प्रदान किया, जिसके आधार पर उन्होंने पश्चात् द्रविड़ देश में जाकर षट्खंडागम की सूत्र-रूप रचना की। जूनागढ़ के समीप अत्यन्त प्राचीन कुछ गुफाओं का पता चला है जो अब बाबा-प्यारा का मठ कहलाती हैं। उनके समीप की एक गुफा में दो खंडित शिलालेख भी मिले हैं जो उनमें निर्दिष्ट क्षत्रपवंशी राजाओं के नामों के आधार से तथा अपनी लिपि पर से ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के सिद्ध होते हैं। मैंने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्भवतः यही गुफा धरसेनाचार्य की निवासभूमि थी और सम्भवतः वहीं उनका समाधिमरण हुआ, जिसकी ही स्मृति में वह लेख लिखा गया हो तो आश्चर्य नहीं। लेख जयदामन् के पुत्र रुद्रसिंह (प्र०) का प्रतीत होता है। खंडित होने से लेख का पूरा अर्थ तो नहीं लगाया जा सकता, तथापि उसमें जो केवलज्ञान, जरामरण से मुक्ति आदि शब्द स्पष्ट पढ़े जाते हैं, उनसे उसका किसी महान् जैनाचार्य की तपस्या व समाधिमरण से संबंध स्पष्ट है। उस गुफा में अंकित स्वस्तिक, भद्रासन, मोनयुगल आदि चिह्न भी उसके जैनत्व को सिद्ध करते हैं। ढंक नामक स्थान पर की गुफाएं और उनमें की ऋषभ, पार्व, महावीर व अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएं भी उसी काल की प्रतीत होती हैं। गिरनार में धरसेनाचार्य का उपदेश ग्रहण कर पुष्पवंत और भूतबलि आचार्यों के द्रविड़ देश को जाने और वहीं आगम की सूत्र-रूप रचना करने के वृत्तान्त से यह भी सिद्ध होता है कि उक्त काल में काठियावाड़-गुजरात से लेकर सुदूर तामिल प्रदेश तक जैन मुनियों का निबधि गमनागमन हुआ करता था।

आगामी शताब्दियों में गुजरात में जैनधर्म का उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ता हुआ पाया जाता है। यहाँ बीर निर्वाण के ६८० वर्ष पश्चात् बलभीनगर में क्षमाश्रमण देवादिगण की अध्यक्षता में जैन मुनियों का एक विशाल सम्मेलन हुआ जिसमें जैन आगम के अंगोपांग आदि वे ४५-५० ग्रंथ संकलित किये गये जो इवेताम्बर परम्परा में सर्वोपरि प्रमाणभूत माने जाते हैं, और जो अर्द्धमागधी प्राकृत की अद्वितीय उपलब्ध रचनाएं हैं। सातवीं शती के दो गुर्जरनरेशों, जयभट (प्र०) और दहड (द्वि०) के दान पत्रों में जो उनके वीतराग और प्रज्ञान्तराग विशेषण पाये जाते हैं, वे उनके जैनधर्मावलम्बित्व को नहीं तो जैनानुराग को अवश्य प्रकट करते हैं। इस प्रदेश के चावडा (चापोक्त) राजवंश के संस्थापक वनराज के जैनधर्म के साथ सम्बन्ध और उसके विशेष प्रोत्साहन के प्रमाण मिलते हैं। इस वंश के प्रतापी नरेन्द्र मूलराज ने अपनी राजधानी अनहिलवाड़ा में मूलवसतिका नामक जैन मंदिर बनवाया, जो अब भी

विद्यमान है। श्रीचन्द्र कवि ने अपनी कथाकोष नामक अपभ्रंश रचना की प्रशस्ति में कहा है कि मूलराज का धर्मस्थानीय गोष्ठिक प्राग्वाटवंशी सज्जन नामक विद्वान् था, और उसी के पुत्र कृष्ण के कुटुंब के धर्मोपदेश निमित्त कुंदकुंदान्वयी मुनि सहस्रकीर्ति के शिष्य श्रीचन्द्र ने उक्त ग्रंथ लिखा। मुनि सहस्रकीर्ति के संबंध में यह भी कहा गया है कि उनके चरणों की बंदना गांगेय, भोजदेव आदि नरेश करते थे। अनुमानतः गांगेय से वेदि के कलचुरि नरेश का, तथा भोजदेव से उस नाम के परमारवंशी मालवा के राजा से अभिप्राय है। उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला (ई०सं० ७७५) के अनुसार गुप्तवंशी आचार्य हरिगुप्त यवन राज तोरमाण (हूणवंशीय) के गुरु थे और चन्द्रभागा नदी के समीप स्थित राजधानी पवैया (पंजाब) में ही रहते थे। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त की भी बड़ी पद-प्रतिष्ठा थी। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र पवैया से विहार करते हुए भिन्नमाल (श्रीमाल, गुजरात की प्राचीन राजधानी) में आये। उनके शिष्य यज्ञदर्शन व अनेक अन्य गुणवान् शिष्यों ने गुर्जर देश में जैनधर्म का खूब प्रचार किया, और उसे बहुत से जैन मन्दिरों के निर्माण द्वारा अलंकृत कराया। उनके एक शिष्य वटेश्वर ने आकाश वप्र नगर में विशाल मन्दिर बनवाया। वटेश्वर के शिष्य तत्त्वाचार्य कुवलयमालाकार क्षत्रिय वंशी उद्योतनसूरि के गुरु थे। उद्योतन सूरि ने वीरभद्र आचार्य से सिद्धान्त की तथा हरिभद्र आचार्य से न्याय की शिक्षा पाकर शक संवत् ७०० में जावालपुर (जालोर-राजपुताना) में वीरभद्र द्वारा बनवाये हुए ऋषभदेव के मन्दिर में अपनी कुवलयमाला पूर्ण की। तोरमाण उस हूण आक्रमणकारी मिहिरकुल का उत्तराधिकारी था जिसकी क्रूरता इतिहास-प्रसिद्ध है। उस पर इतने शीघ्र जैन मुनियों का उक्त प्रभाव पड़ जाना जैनधर्म की तत्कालीन सजीवता और उदात्त धर्म-प्रचार-सरणि का एक अच्छा प्रमाण है।

चालुक्य नरेश भीम प्रथम में जैनधर्म का विशेष प्रसार हुआ। उसके मंत्री प्राग्वाट वंशी विमलशाह ने भावू पर आदिनाथ का वह जैनमंदिर बनवाया जिसमें भारतीय स्थापत्यकला का अति उत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ है, और जिसकी सूक्ष्म चित्रकारी, बनावट की चतुराई तथा सुन्दरता जगद्विख्यात मानी गई है। यह मंदिर ई० सन् १०३१ अर्थात् महमूद गजनी द्वारा सोमनाथ को ध्वस्त करने के सात वर्ष के भीतर बनकर तैयार हुआ था। खरतरगच्छ पट्टावली में उल्लेख मिलता है कि विमल मंत्री ने तेरह सुलतानों के छत्रों का अपहरण किया था; चन्द्रावती नगरी की नींव डाली थी, तथा अर्बुदाचल पर ऋषभदेव का मंदिर निर्माण कराया था। स्पष्टतः विमलशाह ने ये कार्य अपने राजा भीम की अनुमति से हीं किये होंगे और उनके द्वारा उसने सोमनाथ

तथा अन्य स्थानों पर किये गये विघ्नसों का प्रत्युत्तर दिया होगा। बालुक्यभरेश सिद्धराज और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के काल में जैनधर्म का और भी अधिक बल बढ़ा। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र के उपदेश से कुमारपाल ने स्वयं, खुलकर जैनधर्म धारण किया और गुजरात की जैन संस्थाओं को खूब समृद्ध बनाया, जिसके फलस्वरूप गुजरात प्रदेश सदा के लिए धर्मानुयायियों की संख्या एवं संस्थाओं की समृद्धि की दृष्टि से जैनधर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र बन गया। यह महान् कार्य किसी धार्मिक कट्टरता के बल पर नहीं, किन्तु नाना-धर्मों के प्रति सद्भाव व सामंजस्य-बुद्धि द्वारा ही किया गया था। यही प्रणाली जैनधर्म का प्राण रही है, और हेमचन्द्राचार्य ने अपने उपदेशों एवं कार्यों द्वारा इसी पर अधिक बल दिया था। धर्म की अविच्छिन्न परम्परा एवं उसके अनुयायियों की समृद्धि के फलस्वरूप ई० सन् १२३० में सोम सिंहदेव के राज्यकाल में घोरवाड बंसी सेठ ठेजपाल ने ब्राह्मपर्वत पर उक्त आदिनाथ मंदिर के समीप ही वह नेमिनाथ मंदिर बनवाया जो अपनी शिल्पकला में केवल उस प्रथम मंदिर से ही तुलनीय है। १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ब्राह्म पर और भी अनेक जैनमंदिरों का निर्माण हुआ था, जिससे उस स्थान का नाम देववाड़ा (देवलवाड़ा) अर्थात् देवों का नगर पड़ गया। ब्राह्म के अतिरिक्त काठियावाड़ के शत्रुजय और गिरनार तीर्थक्षेत्रों की ओर भी अनेक नरेशों और सेठों का ध्यान गया और परिणामतः वहाँ के शिखर भी अनेक सुन्दर और विशाल मंदिरों से अलंकृत हो गये। खंभात का चित्तामणि पार्ष्वनाथ मंदिर ई० सन् ११०८ में बनवाया गया था और १२६५ में उसका जीर्णोद्धार कराया गया था। वहाँ के लेखों से पता चलता है कि वह समय समय पर मालवा, सपादलख तथा चित्रकूट के अनेक धर्मानुयायियों के विपुल दानों द्वारा समृद्ध बनाया गया था।

जैन संघ में उत्तरकालीन पंथभेद—

जैन संघ में जो भेदोपभेद, सम्प्रदाय व गण बच्छादि रूप से, समय समय पर उत्पन्न हुए, उनका कुछ वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु उनसे जैन मान्यताओं व भुनि आचार में कोई विशेष परिवर्तन हुए हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। केवल जो दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद विक्रम की दूसरी शती के लगभग उत्पन्न हुआ, उसका भुनि-आचार पर कैम्बल गंभीर प्रभाव पड़ा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में न केवल भुनियों द्वारा वस्त्र ग्रहण की मात्रा बढ़ी, किन्तु धीरे-धीरे तीर्थकरों की मूर्तियों में भी कौपीन का चिन्ह प्रदर्शित किया जाने लगा। तथा मूर्तियों का घांस, धंगी, मुकुट आदि द्वारा अलंकृत किया जाना भी प्रारम्भ हो गया। इस कारण दिगम्बर और

इवेताम्बर मंदिर व मूर्तियाँ, जो पहले एक ही रहा करते थे, वे अब पृथक् पृथक् होने लगे । ये प्रवृत्तियाँ सातवीं शताब्दी से पूर्व नहीं पाई जाती । एक और प्रकार से मुनि-संघ में भेद दोनों सम्प्रदायों में उत्पन्न हुआ । जैन मुनि आदितः वर्षा ऋतु के आनुर्वास को छोड़ अन्य काल में एक स्थान पर परिमित दिनों से अधिक नहीं ठहरते थे, और वे सदा विहार किया करते थे । वे नगर में केवल आहार व धर्मोपदेश निमित्त ही आते थे, और शेषकाल वन, उपवन, में ही रहते थे । किन्तु धीरे-धीरे पाँचवीं छठी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयों में स्थायी रूप से निवास करने लगे । इससे इवेताम्बर समाज में बनवासी और चैत्यवासी मुनि सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये । विगम्बर सम्प्रदाय में भी प्रायः उसी काल से कुछ साधु चैत्यों में रहने लगे । यह प्रवृत्ति आदितः सिद्धान्त के पठन-पाठन व साहित्य-स्वजन की सुविधा के लिये प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है, किन्तु धीरे-धीरे वह एक साधु-वर्ग की स्थायी जीवन-प्रणाली बन गई, जिसके कारण नाना मंदिरों में भट्टारकों की गहियां व मठ स्थापित हो गये । इस प्रकार के भट्टारकों के आचार में कुछ शैवित्य तथा परिग्रह अनिवार्यतः आ गया । किन्तु दूसरी ओर उससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि इन भट्टारक गहियों और मठों में विद्याल शास्त्र भंडार स्थापित हो गये और वे विद्याभ्यास के सुदृढ़ केन्द्र बन गये । नौवीं दसवीं शताब्दी से आगे जो जैन साहित्य-स्वजन हुआ, वह प्रायः इसी प्रकार के विद्या-केन्द्रों में हुआ पाया जाता है । इसी उपयोगिता के कारण भट्टारक गहियां धीरे-धीरे प्रायः सभी नगरों में स्थापित हो गईं; और मंदिरों में अच्छा शास्त्र-भंडार भी रहने लगा । यहीं प्राचीन शास्त्रों की लिपियाँ प्रतिलिपियाँ होकर उनका नाना केन्द्रों में आदान-प्रदान होने लगा । यह प्रणाली ग्रंथों के ग्रंथों द्वारा मुद्रण के युग प्रारम्भ होने से पूर्व तक बराबर अविच्छिन्न बनी रही । जयपुर, जैसलमेर, ईडर, कारंजा, मूढबिंदी, कोल्हापुर आदि स्थानों पर इन शास्त्र भंडारों की परम्परा आज तक भी स्थिर है ।

१५ वीं, १६ वीं शती में उक्त जैन सम्प्रदायों में एक और महान् क्रान्ति उत्पन्न हुई । इवेताम्बर सम्प्रदाय में लोकाशाह द्वारा मूर्तिपूजा विरोधी उपदेश प्रारंभ हुआ, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई । यह सम्प्रदाय वृद्धिया नाम से भी पुकारा जाता है । इस सम्प्रदाय में मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है । वे मंदिर नहीं, किन्तु स्थानक में रहते हैं; और वहा मूर्ति नहीं, किन्तु आगमों की प्रतिष्ठा करते हैं । इवेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगमों में से कोई बारह-बीस आगमों को वे इस कारण स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनमें मूर्तिपूजा का विधान पाया जाता है ।

इसी सम्प्रदाय में से १८ वीं शती में आचार्य भिक्षु द्वारा 'तेरापंथ' की स्थापना हुई। वर्तमान के इस सम्प्रदाय के नायक तुलसी गरिा है, जिन्होंने अणुमत आंदोलन का प्रवर्तन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी १६ वीं शती में तारण स्वामी द्वारा मूर्ति पूजा निषेधक ंथ की स्थापना हुई, जो तारणपंथ कहलाता है। इस पंथ के अनुयायी विशेषरूप से मध्यप्रदेश में पाये जाते हैं। इन दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेदों का परिणाम जैन गृहस्थ समाज पर भी पड़ा, जिसके कारण जैनधर्म के अनुयायी आज इन्हीं पंथों में बटे हुए हैं। इस समय भारतवर्ष में जैनधर्मानुयायियों की संख्या पिछली भारतीय जनगणना के अनुसार लगभग २० लाख है।



व्याख्यान - २
जैन साहित्य

व्याख्यान—२

जैन साहित्य

साहित्य का द्रव्यात्मक और भावात्मक स्वरूप—

भारत का प्राचीन साहित्य प्रधानतया धार्मिक भावनाओं से प्रेरित और प्रभावित पाया जाता है। यहाँ का प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेदादि वेदों में है, जिनमें प्रकृति की शक्तियों, जैसे अग्नि, वायु, वरुण, (जल), मित्र (सूर्य), आकाश-पृथ्वी (आकाश और भूमि) उषः (प्रातः) आदि को देवता मानकर उनकी वन्दना और प्रार्थना सूक्तों व ऋचाओं के रूप में की गई है। वेदों के पश्चात् रचे जाने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हीं वैदिक देवताओं का वैदिक मंत्रों द्वारा आह्वान कर होम आदि सहित पूजा-अर्चा की विधियों का विवरण दिया गया है, और उन्हीं के उदाहरण स्वरूप उनमें यज्ञ कराने वाले प्राचीन राजाओं आदि महापुरुषों तथा यज्ञ करने वाले विद्वान् ब्राह्मणों के अनेक व्याख्यान उपस्थित किये गये हैं। सूत्र ग्रंथों की एक शाखा भीत सूत्र हैं, जिसमें सूत्र रूप से यज्ञविधियों के नियम प्रतिपादित किये गये हैं, और दूसरी शाखा गृह्यसूत्र है, जिसमें गृहस्थों के घरों में गर्भाधान, जन्म, उपनयन, विवाह आदि अवसरों पर की जाने वाली धार्मिक विधियों व संस्कारों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह समस्त वैदिक साहित्य मुख्यतः धार्मिक पाया जाता है।

इसी वैदिक साहित्य का एक ग्रंथ आरण्यक और उपनिषद् कहलाने वाले वे ग्रन्थ हैं, जिनमें हमें भारत के प्राचीनतम दर्शन-शास्त्रियों का तत्त्वचिन्तन प्राप्त होता है। यों तो—

को अद्वैता वेद क इह प्रबोध्यतु ।

कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥ (ऋ. १०, १२९, ६)

अर्थात् कौन ठीक से जानता है और कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई ? ऐसे तत्त्वचिन्तनात्मक विचारों के दर्शन हमें वेदों में भी होते हैं।

तथापि न तो वहाँ इन विचारों की कोई अविच्छिन्न धारा दृष्टिगोचर होती, और न उक्त प्रश्नों के समाधान का कोई व्यवस्थित प्रयत्न किया गया दिखाई देता। इस प्रकार का चिंतन आरम्भकों और उपनिषदों में हमें बहुलता से प्राप्त होता है। इन रचनाओं का प्रारंभ ब्राह्मण काल में अर्थात् ई० पू० आठवीं शताब्दी के लगभग हो गया था, और सहस्रों वर्ष पश्चात् तक निरन्तर प्रचलित रहा, जिसके फलस्वरूप संस्कृत साहित्य में सैकड़ों उपनिषद् ग्रन्थ पाये जाते हैं। ये ग्रन्थ केवल अपने विषय और भावना की दृष्टि से ही नहीं, किन्तु अपनी ऐतिहासिक व भौगोलिक परम्परा द्वारा शेष वैदिक साहित्य से अपनी विशेषता रखते हैं। जहाँ वेदों में देवी-देवताओं का ब्राह्मण, उनकी पूजा-अर्चा तथा सांसारिक सुख और अम्युदय संबंधी वरदानों की मांग की प्रधानता है, वहाँ उपनिषदों में उन समस्त बातों की कठोर उपेक्षा, और तात्त्विक एवं आध्यात्मिक चिन्तन की प्रधानता पाई जाती है। इस चिन्तन का आदि भौगोलिक केन्द्र वेद-असिद्ध पंचनद प्रदेश व गंगा-यमुना से पवित्र मध्य देश न होकर वह पूर्व प्रदेश है जो वैदिक साहित्य में धार्मिक दृष्टि से पवित्र नहीं माना गया। आध्यात्म के आदि-चित्तक, वैदिक ऋषि व ब्राह्मण पुरोहित नहीं, किन्तु जनक जैसे क्षत्रिय राजर्षि थे, और जनक की ही राजसभा में यह आध्यात्मिक चिन्तन-धारा पुष्ट हुई पाई जाती है।

जैनधर्म मूलतः आध्यात्मिक है, और उसका आदितः सम्बन्ध कोशल, काशी, बिदेह आदि पूर्वीय प्रदेशों के क्षत्रियवंशी राजाओं से पाया जाता है। इसी पूर्वी प्रदेश में जैनियों के अधिकांश तीर्थंकरों ने जन्म लिया, तपस्या की, ज्ञान प्राप्त किया और अपने उपदेशों द्वारा वह ज्ञानगंगा बहाई जो आज तक जैनधर्म के रूप में सुप्रवाहित है। ये सभी तीर्थंकर क्षत्रिय राजवंशी थे। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जनक के ही एक पूर्वज नमि राजा जैनधर्म के २१ वें तीर्थंकर हुए हैं। अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं जो जनक-कुल में उस आध्यात्मिक चिंतन की धारा पाई जाय जो जैनधर्म का भूलभूत अंग है। उपनिषत्कार पुकार पुकार कर कहते हैं कि :-

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

वृश्यते त्वग्रथा बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शनाभिः ॥ (कठो. १, ३, १२)

+ + + +

हन्त तेऽदम् प्रवक्ष्यामि तुह्यं सद्म सनातनम् ।

यथा ध्रुवः सरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥

श्वेतिमन्त्रे अपद्यन्ते शरीरत्वाय हेहिमः ।

स्थावुषम्येज्जुसंयन्ति यथाकर्म यथाभुतं ॥ (कठो. २, २, ६-७)

अर्थात् प्राणिमात्र में एक घनादि अनन्त जीव तत्त्व है जो भौतिक व होने के कारण दिखाई नहीं देता । वही आत्मा है । मरने के पश्चात् यह आत्मा अपने कर्म व ज्ञान की अवस्थानुसार वृक्षों से लेकर संसार की नाना जीव-योनिश्रों में भटकता फिरता है, जबतक कि अपने सर्वोत्कृष्ट चरित्र और ज्ञान द्वारा निर्वाण पद प्राप्त नहीं कर लेता । उपनिषद् में जो यह उपदेश गौतम को नाम लेकर सुनाया गया है, वह हमें जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उन उपदेशों का स्मरण कराये बिना नहीं रहता, जो उन्होंने अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को गौतम नाम से ही संबोधन करके सुनाये थे, और जिन्हें उन्ही गौतम ने बारह अंगों में निबद्ध किया, जो प्राचीनतम जैन साहित्य है और द्वादशांग आगम या जैन श्रुतींग के नाम से प्रचलित हुआ पाया जाता है ।

महावीर से पूर्व का साहित्य—

प्रश्न हो सकता है कि क्या महावीर से पूर्व का भी कोई जैन साहित्य है ? इसका उत्तर हां और ना दोनों प्रकार से दिया जा सकता है । साहित्य के भीतर दो तत्वों का ग्रहण होता है, एक तो उसका शाब्दिक व रचनात्मक स्वरूप और दूसरा आर्थिक व विचारात्मक स्वरूप । इन्हीं दोनों बातों को जैन परम्परा में द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत कहा गया है । द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्दात्मकता की दृष्टि से महावीर से पूर्वकालीन कोई जैन साहित्य उपलब्ध नहीं है, किन्तु भावश्रुत की अपेक्षा जैन श्रुतांगों के भीतर कुछ ऐसी रचनाएं मानी गई हैं जो महावीर से पूर्व श्रमण-परम्परा में प्रचलित थीं, और इसी कारण उन्हें 'पूर्व' कहा गया है । द्वादशांग आगम का बारहवां अंग दृष्टिवाद था । इस दृष्टिवाद के अन्तर्गत ऐसे चौदह पूर्वों का उल्लेख किया गया है, जिनमें महावीर से पूर्व की अनेक विचार-धाराओं, मत-मतान्तरों तथा ज्ञान-विज्ञान का संकलन उनके शिष्य गौतम द्वारा किया गया था । इन चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार हैं, जिनसे उनके विषयों का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है—उत्पादपूर्व, अष्टायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञान-प्रवाद, सत्य-प्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद (श्वेताम्बर परम्परानुसार अवन्ध्य), प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोक-चिन्दुसार । प्रथम पूर्व ब्रह्मवद में जीव, काल, पुद्गल आदि द्रव्यों के उत्पत्ति,

विनाश व ध्रुवता का विचार किया गया था। द्वितीय पूर्व अष्टाध्यायी में उक्त समस्त द्रव्यों तथा उनकी नाना अवस्थाओं की संख्या, परिमाण आदि का विचार किया गया था। तृतीय पूर्व बौद्धानुवाद में उक्त द्रव्यों के क्षेत्रकालादि की अपेक्षा से वीर्य अर्थात् बल-सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया था। चतुर्थ पूर्व अस्ति-नास्ति प्रवाद में लौकिक वस्तुओं के नाना अपेक्षाओं से अस्तित्व नास्तित्व का विवेक किया गया था। पांचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद में मति आदि ज्ञानों तथा उनके भेद प्रभेदों का प्रतिपादन किया गया था। छठे पूर्व सत्यप्रवाद में वचन की अपेक्षा सत्यासत्य विवेक व वक्ताओं की मानसिक परिस्थितियों तथा असत्य के स्वरूपों का विवेचन किया गया था। सातवें पूर्व आत्मप्रवाद में आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन सम्बन्धी विवेचन किया गया था। आठवें पूर्व कर्मप्रवाद में नाना प्रकार के कर्मों की प्रकृतियों स्थितियों शक्तियों व परिमाणों आदिका प्ररूपण किया गया था। नौवें पूर्व प्रत्याख्यान में परिग्रह-त्याग, उपवासादि विधि, मन वचन काय की विशुद्धि आदि आचार सम्बन्धी नियम निर्धारित किये गये थे। दसवें पूर्व विद्यानुवाद में नाना विद्याओं और उपविद्याओं का प्ररूपण किया गया था, जिनके भीतर अंगुष्ठ प्रसेनादि सातसौ अल्पविद्याओं, रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओं एवं अन्तरिक्ष भीम, भंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और छिन्न, इन आठ महानिमित्तों द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन था। ग्यारहवें पूर्व कल्याणवाद में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारागणों की नाना गतियों को देखकर शकुन के विचार तथा बलदेवों, वासुदेवों, चक्रवर्तियों आदि महापुरुषों के गर्भावतरण आदि के अवसरों पर होने वाले लक्षणों और कल्याणों का कथन किया गया था। इस पूर्व के अवन्ध्य नामकी सार्थकता यही प्रतीत होती है कि शकुनों और शुभाशुभ लक्षणों के निमित्त से भविष्य में होने वाली घटनाओं का कथन अवन्ध्य अर्थात् अवश्यम्भावी माना गया था। बारहवें पूर्व प्राणावायु में आयुर्वेद अर्थात् कायचिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन एवं प्राण अपान आदि वायुओं का शरीर धारण की अपेक्षा से कार्य का विवेचन किया गया था। तेरहवें पूर्व क्रियाविज्ञान में लेखन, गणना आदि बहूतर कलाओं, स्त्रियों के चौंसठ गुणों और शिल्पों, ग्रन्थरचना सम्बन्धी गुण-दोषों व छन्दों आदि का प्ररूपण किया गया था। चौदहवें पूर्व लोकविन्दुसार में जीवन की श्रेष्ठ क्रियाओं व व्यवहारों एवं उनके निमित्त से मोक्ष के सम्पादन विषयक विचार किया गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन पूर्व नामक रचनाओं के अंतर्गत तत्कालीन न केवल धार्मिक, दार्शनिक व नैतिक विचारों का संकलन किया गया था, किन्तु उनके

भीतर नाना कलाओं व ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों, तथा फलित ज्योतिष, शकुन-शास्त्र, व मन्त्र-तन्त्र आदि विषयों का भी समावेश कर दिया गया था। इस प्रकार ये रचनाएं प्राचीन काल का भारतीय ज्ञानकोष कही जायं तो अनुचित न होगा।

किन्तु दुर्भाग्यवश यह पूर्व-साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। यद्यपि पश्चात्-कालीन साहित्य में इनका स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है, और उनके विषय का पूर्वोक्त प्रकार प्ररूपण भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है, तथापि ये ग्रन्थ महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् क्रमशः विच्छिन्न हुए कहे जाते हैं। उक्त समस्त पूर्वों के अन्तिम ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। तत्पश्चात् १८१ वर्षों में हुए विशाखाचार्य से लेकर धर्मसेन तक अन्तिम चार पूर्वों को छोड़, शेष दश पूर्वों का ज्ञान रहा, और उसके पश्चात् पूर्वों का कोई ज्ञाता आचार्य नहीं रहा। वट्खंडागम के वेदना नामक चतुर्थखण्ड के आदि में जो नमस्कारात्मक सूत्र पाये जाते हैं, उनमें दशपूर्वों के और चौदहपूर्वों के ज्ञाता मुनियों को अलग-अलग नमस्कार किया गया है (नमो दसपुण्ड्रियाणं, नमो चउद्दसपुण्ड्रियाणं)। इन सूत्रों की टीका करते हुए वीर-सेनाचार्य ने बतलाया है कि प्रथम दशपूर्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ मुनियों को नाना महाविद्याओं की प्राप्ति से सांसारिक लोभ व मोह उत्पन्न हो जाता है, जिससे वे धामे वीतरागता की ओर नहीं बढ़ पाते। जो मुनि इस लोभ-मोह को जीत लेता है, वही पूर्ण श्रुतज्ञानी बन पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त के जिन पूर्वों में कलाओं, विद्याओं, मन्त्र-तन्त्रों व इन्द्रजालों का प्ररूपण था, वे सर्वप्रथम हीं मुनियों के संयमरक्षा की दृष्टि से निषिद्ध हो गये। शेष पूर्वों के विच्छिन्न हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि उनका जितना विषय जैन मुनियों के लिये उपयुक्त व आवश्यक था, उतना द्वादशांग के अन्य भागों में समा-विष्ट कर लिया गया था, इसीलिये इन रचनाओं के पठन-पाठन में समय-शक्ति को लगाना उचित नहीं समझा गया। इसी बातकी पुष्टि दिगं० साहित्य की इस परम्परा से होती है कि वीर निर्वाण से लगभग सात सताब्दियों पश्चात् हुए गिरि-नगर की चन्द्रगुफा के निवासी आचार्य धरसेन को द्वितीय पूर्व के कुछ अधिकांशों का विशेष ज्ञान था। उन्होंने वही ज्ञान पुष्पदंत और भूतबलि आचार्यों को प्रदान किया और उन्होंने उसी ज्ञान के आधार से सत्कर्मप्राप्त अर्थात् वट्खंडागम की सूत्र रूप रचना की।

अंग-प्रविष्ट व अंग-बाह्य साहित्य—

दिन० परम्परानुसार महावीर द्वारा उपदिष्ट साहित्य की ग्रन्थ-रचना उनके शिष्यों द्वारा दो भागों में की गई - एक अंग-प्रविष्ट और दूसरा अंग-बाह्य । अंग-प्रविष्ट के आचारंग आदि ठीक वे ही द्वादश ग्रन्थ थे, जिनका क्रमशः शोध माना गया है, किन्तु जिनमें से ग्यारह अंगों का श्वेताम्बर परम्परानुसार वीर-निर्वाण के पश्चात् १०वीं शती में किया गया संकलन अब भी उपलब्ध है । इनका विशेष परिचय आगे कराया जायगा । अंग-बाह्य के चौदह भेद माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, बन्वना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्ष, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महा-पुंडरीक और निषिद्धिका । यह अंग-बाह्य साहित्य भी यद्यपि दिग० परम्परानुसार अपने मूलरूप में अप्राप्य हो गया है, तथापि श्वे० परम्परा में उनका सद्भाव अब भी पाया जाता है । सामायिक आदि प्रथम छह का समावेश आवश्यक सूत्रों में हो गया है, तथा कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्रों में अन्त के कल्प, व्यवहारादि छह का अन्तर्भाव हो जाता है । दशवैकालिक और उत्तराध्ययन नाम की रचनाएँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं । इनका श्वे० आगम साहित्य में बड़ा महत्त्व है । यही नहीं, इन ग्रन्थों की रचना के कारण का जो उल्लेख दिग० शास्त्रों में पाया जाता है, ठीक वही उपलब्ध दशवैकालिक की रचना के संबंध में कहा जाता है । आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका (१,२०) में लिखा है कि “भारतीय आचार्यों ने कालदोष से संक्षिप्त आयु, मति और बलशाली शिष्यों के अनुग्रहार्थ दशवैकालिकादि ग्रन्थों की रचना की; इन रचनाओं में उतनी ही प्रमाणता है, जितनी गणधरों व श्रुतकेवलियों द्वारा रचित सूत्रों में; क्योंकि वे अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जिस प्रकार कि क्षीरोदधि से घड़े में भरा हुआ जल क्षीरोदधि से भिन्न नहीं है ।” दशवैकालिक निर्युक्ति व हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में बतलाया गया है कि स्वयंभव आचार्य ने अपने पुत्र मनक को अत्यायु जान उसके अनुग्रहार्थ आगम के साररूप दशवैकालिक सूत्र की रचना की । इस प्रकार इन रचनाओं के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों में मतेय्य पाया जाता है । श्वे० परम्परानुसार महावीर निर्वाण से १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र आचार्य ने जैन क्षमणु संघ का सम्मेलन कराया, और वहां ग्यारह अंगों का संकलन किया गया । बारहवें अंग दृष्टिवाद का उपस्थित भुनियों में से किसी की भी ज्ञान नहीं रहा था; अतएव

उसका संकलन नहीं किया जा सका। इसके पश्चात् की शताब्दियों में यह श्रुत-संकलन पुनः छिन्न-भिन्न हो गया। तब वीरनिर्वाण के लगभग ८४० वर्ष पश्चात् ज्ञान्य स्कन्दिल ने मङ्गुरा में एक संघ-सम्मेलन कराया, जिसमें पुनः आगम साहित्य को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय के लगभग बलभी में नागार्जुन सूरि ने भी एक मुनि सम्मेलन द्वारा आगम रक्षा का प्रयत्न किया। किन्तु इन तीन पाटलिपुत्री, माङ्गुरी और प्रथम वलभी वाचनाओं के पाठ उपलब्ध नहीं। केवल साहित्य में यत्र-तत्र उनके उल्लेख मात्र पाये जाते हैं। अन्त में महावीर निर्वाण के लगभग ६८० वर्ष पश्चात् बलभी में देवद्विगण क्षमाधर्मण द्वारा जो मुनि-सम्मेलन किया गया उसमें कोई ४५-४६ ग्रन्थों का संकलन हुआ, और ये ग्रन्थ आज तक सुप्रचलित हैं। यह उपलब्ध आगम साहित्य निम्नप्रकार है :—

अर्धमागधी जैनगम

(श्रुतांग—११)

१—आचारारंग (आचारंग)—इस ग्रन्थ में अपने नामानुसार मुनि-आचार का वर्णन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रत्येक श्रुतस्कंध अध्ययनों में और प्रत्येक अध्ययन उद्देशकों या चूलिकाओं में विभाजित है। इस प्रकार श्रुत प्रथम स्कंध में ६ अध्ययन व ४४ उद्देशक हैं; एवं द्वितीय श्रुतस्कंध में तीन चूलिकाएं हैं, जो १६ अध्ययनों में विभाजित हैं। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम की चूलिका रूप है। भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से स्पष्टतः प्रथम श्रुतस्कंध अधिक प्राचीन है। इसकी अधिकांश रचना गद्यात्मक है, पद्य बीच-बीच में कहीं कहीं आ जाते हैं। अर्धमागधी—ब्राह्मण भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह रचना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। अतएव अध्ययन का नाम महापरिज्ञा हो निश्चित किया गया है, किन्तु उसका पाठ उपलब्ध नहीं है। उपधान नामक नवमे अध्ययन में महावीर की तपस्या का बड़ा मार्मिक वर्णन पाया जाता है। यहां उनके लाड, वज्रभूषि और शुभभूमि में विहार और नाना प्रकार के चोर उपहार्य सहन करने का उल्लेख आया है। द्वितीय श्रुतस्कंध में अमण के लिए मिखा मांगने, आहार-पान-शुद्धि, शयना-संस्तरण-ग्रहण, विहार, वातुमन्त्रि, भाषा, वस्त्र, पात्रादि उपकरण, मल-मूत्र-त्याग एवं व्रतों व तत्सम्बन्धी अभ्यन्ताओं के स्वरूपों व नियमोपनिबन्धों का वर्णन हुआ है।

२—सूत्रकृतांग (सूत्रमंड) —यह भी दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है, जिनके पुनः क्रमशः १६ और ७ अध्यायन हैं। पहला श्रुतस्कंध प्रायः पद्यमय है। केवल एक अध्यायन में गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुतस्कंध में गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं। इसमें गाथा छंद के अतिरिक्त अन्य छंदों का भी उपयोग हुआ है, जैसे इन्द्रजप्ता, वैतालिक, अनुष्टुप् आदि। ग्रन्थ में जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों व वादों का प्ररूपण किया गया है जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद, आदि। मुनियों को भिक्षाचार में सतर्कता, परीषद्दों की सहनशीलता, नरकों के दुःख, उत्तम साधुओं के लक्षण, ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षुक व निर्धन्य आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भले प्रकार उदाहरणों व रूपकों द्वारा समझाई गई है। द्वितीय श्रुतस्कंध में जीव-शरीर के एकत्व, ईश्वर-कर्तृत्व व नियतिवाद आदि मतों का खंडन किया गया है। आहार व भिक्षा के दोषों का निरूपण हुआ है। प्रसंगवश भौमोत्पादादि महा-निमित्तों का भी उल्लेख आया है। प्रत्याख्यान क्रिया बतलाई गई है। पाप-मुण्य का विवेक किया गया है, एवं मोक्षालोक, शाक्यभिक्षु आदि तपस्वियों के साथ हुआ बाद-विवाद संकित है। अन्तिम अध्यायन नालन्दीय नामक है, क्योंकि इसमें नालन्दा में हुए गौतम गणधर और पार्श्वनाथ के शिष्य उदकपेठालपुत्र का वार्तालाप और अन्त में पेठालपुत्र द्वारा चातुर्याम को त्यागकर पंच-महाव्रत स्वीकार करने का वृत्तान्त आया है। प्राचीन मतों, वादों व दृष्टियों के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह विशेष प्राचीन सिद्ध होता है।

३—स्थानांग (ठाण्णांग) —यह श्रुतांग दस अध्यायनों में विभाजित है, और उसमें सूत्रों की संख्या एक हजार से ऊपर है। इसकी रचना पूर्वोक्त दो श्रुतांगों से भिन्न प्रकार की है। यहां प्रत्येक अध्यायन में जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु-संख्या गिनाई गई है; जैसे प्रथम अध्यायन में कहा गया है—एक दर्शन, एक चरित्र, एक समय, एक प्रदेश, एक परमाणु, एक सिद्ध आदि। उसी प्रकार दूसरे अध्यायन में बतलाया गया है कि क्रियाएं दो हैं, जीव-क्रिया और अजीव-क्रिया। जीव-क्रिया पुनः दो प्रकार की है, सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया। उसी प्रकार अजीव क्रिया भी दो प्रकार की है, इर्षापक्षिक और साम्प्रदायिक, इत्यादि। इसी प्रकार दसवें अध्यायन में इसी क्रम से वस्तुभेद दस तक गये हैं। इस दृष्टिसे यह श्रुतांग पालि बौद्धग्रन्थ ग्रंथोत्तर निकाय से तुलनीय है। यहाँ नाना प्रकार के वस्तु-निर्देश अपनी अपनी दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। यथास्थान ऋण, यजुः, और साम, ये तीन वेद बतलाये गये हैं, धर्म, धर्मः

और काम ये तीन प्रकार की कथाएं बतलाई गई हैं। वृक्ष भी तीन प्रकार के हैं, पत्रो-
पेत, पुष्पोपेत और फलोपेत। पुरुष भी नाना दृष्टियोंसे तीन-तीन प्रकार के हैं—जैसे नाम
पुरुष, द्रव्यपुरुष और भावपुरुष; अथवा ज्ञानपुरुष, दर्शनपुरुष और चरित्रपुरुष; अथवा उत्तम
पुरुष, मध्यमपुरुष, और अधन्यपुरुष। उत्तमपुरुष भी तीन प्रकार के हैं—धर्मपुरुष भोगपुरुष
और कर्मपुरुष। अर्हन्त धर्मपुरुष हैं, चक्रवर्ती भोगपुरुष हैं, और वासुदेव कर्मपुरुष। धर्म
भी तीन प्रकार का कहा गया है—श्रुतधर्म, चरित्रधर्म और अस्तिकाय धर्म। चार
प्रकार की अन्त-क्रियाएं बतलाई गई हैं, और उनके दृष्टान्त-स्वरूप भरत चक्रवर्ती,
गजसुकुमार, सनत्कुमार व मरुदेवी के नाम बतलाये गये हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थ-
करों को छोड़ बीच के २२ तीर्थकर चातुर्याम धर्मके प्रज्ञापक कहे गये हैं। आजीविकों का
चार प्रकार का तप कहा गया है—उग्रतप, घोरतप, रसनिर्ययसुता और जिह्वेन्द्रिय प्रति-
संलीनता। धूरवीर चार प्रकार के बतलाये गये हैं—अमासूर, तपसूर, दानसूर
और युद्धसूर। आचार्य वृक्षों के समान चार प्रकार के बतलाये गये हैं, और उनके
लक्षण भी चार गाथाओं द्वारा प्रगट किये गये हैं। कोई आचार्य और उसका शिष्य-
परिवार दोनों शालवृक्ष के समान महान् और सुन्दर होते हैं कोई आचार्य तो शाल वृक्ष के
समान होते हैं, किन्तु उनका शिष्य-समुदाय एरंड के समान होता है। किसी आचार्य
का शिष्य-समुदाय तो शालवृक्ष के समान महान् होता है, किन्तु स्वयं आचार्य एरंड
के समान खोखला; और कहीं आचार्य और उनका शिष्य-समुदाय दोनों एरंड के
समान खोखले होते हैं। सप्तस्वरो के प्रसंग से प्रायः गीतिशास्त्र का पूर्ण निरूपण
आ गया है। यहां भणिति-बोली दो प्रकार की कही गई है—संस्कृत और प्राकृत।
महावीर के तीर्थ में हुए बहुरत आदि सात निन्हवों और जामालि आदि उनके
संस्थापक आचार्यों एवं उनके उत्पत्ति-स्थान आवस्ती आदि नगरियों का उल्लेख भी
प्राया है। महावीर के तीर्थ में जिन नौ पुरुषों ने तीर्थकर गोत्र का वंश किया
उनके नाम इस प्रकार हैं—श्रेणिक, सुपासर्व, उदायी, प्रोष्ठिल, दुद्रायु, शंख,
सज्ज या शतक (सयय), सुलसा और रेवती। इस प्रकार इस श्रुतांग में
नाना प्रकार का विषय-वर्णन प्राप्त होता है जो अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

४ सप्तचाखांग—इस श्रुतांग में २७५ सूत्र हैं। अन्य कोई स्कंध, अध्ययन वा
उद्देशक आदि रूपसे विभाजन नहीं हैं। स्थानांग के अनुसार यहां भी संख्या के क्रम
से वस्तुओं का निर्देश और कहीं कहीं उनके स्वरूप व भेदोपभेदोंका वर्णन किया गया
है। आत्मा एक है; लोक एक है; धर्म अधर्म एक-एक हैं; इत्यादि क्रम के २, ३, ४, वस्तुओं
को मिलाते हुए १७८ वें सूत्रमें १०० तक संख्या पहुंची है, जहां बतसावा गया है कि

शतविंश नक्षत्र में १०० तारे हैं, पार्श्व भरहुंत तथा सुवर्माचार्य की पुराण्यु सौ वर्ष की थी, इत्यादि। इसके पश्चात् २००, ३०० आदि क्रम से वस्तु-निर्देश आये बढ़ा है। और यहां कहा गया है कि श्रवण भगवान् महावीर के तीन सौ शिष्य १४ पूर्वों के ज्ञाता थे, और ४०० वादी थे। इसी प्रकार शतक्रम से १६१ वें सूत्र पर संख्या दस सहस्र पर पहुंच गई है। तत्पश्चात् संख्या शतसहस्र (लाख) के क्रमसे बढ़ी है, जैसे भरहुंत पार्श्व के तीन शत-सहस्र और सत्ताईस सहस्र उत्कृष्ट आदिका संघ था। इस प्रकार २०८ वें सूत्रतक दशशत-सहस्र पर पहुंचकर आगे कोटि क्रमसे कथन करते हुए २१० वें सूत्रमें भगवान् ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर वर्धमान तक का अन्तर काल एक सागरूपम कोटाकोटि निर्दिष्ट किया गया है। तत्पश्चात् २११ वें से २२७ वें सूत्र तक आयातंग आदि बारहों अंगों के विभाजन और विषय का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यहां इन रचनावर्णों को द्वादशांग गणितपिटक कहा गया है। इसके पश्चात् जीवराशि का विवरण करते हुए स्वर्ग और नरक भूमियों का वर्णन पाया जाता है। २४६ वें सूत्र से अन्त के २७५ वें सूत्रतक कुलकरी, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, तथा बलदेव और वासुदेवों एवं उनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेवों) का उनके पिता, माता, जन्मनगरी, दीक्षास्थान आदि नामावली-क्रम से विवरण किया गया है। इस भाग को हम संक्षिप्त जैन पुराण कह सकते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सूत्र क्र० १३२ में उत्तम (शलाका) पुरुषों की संख्या ५४ निर्दिष्ट की गई है, ६३ नहीं, अर्थात् नौ प्रतिवासुदेवों को शलाका पुरुषों में सम्मिलित नहीं किया गया। ४६ संख्या के प्रसंग में दृष्टिवाद अंग के मातृकापदों तथा ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरों का उल्लेख हुआ है। सूत्र १२४ से १३० वें सूत्र तक मोहनीय कर्म के ५२ पर्यायवाची नाम गिनाये गये हैं, जैसे क्रोध, कोप, रोष, द्वेष, अक्षय, संजबसन कलह, आदि। अनेक स्थानों में (सू० १४१, १६२) कब्रम भरहुंत को कोसलीय विशेषण लगाया गया है, जो उनके कोशल देशवासी होने का सूचक है। इससे महावीर के साथ जो अन्वय 'देसालीय' विशेषण लगा पाया जाता है, उससे उनके बैशाली के नागरिक होने की पुष्टि होती है। १५० वें सूत्र में लेख, वरिणत, रूप, नाट्य, गीत, वादित्र आदि बहुरूप कलाओं के नाम निर्दिष्ट हुए हैं। इस प्रकार जैन सिद्धान्त व इतिहास की परम्परा के अध्ययन की दृष्टि से यह भूतांग महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश रचना गद्य रूप है, किन्तु बीच-बीच में नामावस्तियों व अन्य विवरण आवाजों द्वारा भी प्रस्तुत हुए हैं।

५ भगवती व्याख्या प्रकल्पित (विवाह-वर्णन)।—इस संक्षेप में केवल भगवती नाम से भी उल्लिखित किया जाता है। इसमें ४१ शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशकों में विभाजित है। आदि के आठ शतक, तथा १२-१४, तथा १८-२० ये १४ शतक १०, १० उद्देशकों में विभाजित हैं। शेष शतकों में उद्देशकों की संख्या हीनाधिक पाई जाती है। पन्द्रहवें शतक में उद्देशक-भेद नहीं है। यहाँ मंसलिगोशाल का चरित्र एक स्वतंत्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। कही कहीं उद्देशक संख्या विशेष प्रकार के विभागानुसार गुणित क्रम से बतलाई गई है; जैसे ४१ वें शतक में २८ प्रकार की प्रकृष्टा के गुण मात्र से उद्देशकों की संख्या १६६ हो गई है। ३३ वें शतक में १२ अर्धशतक हैं, जिनमें प्रथम आठ, ग्यारह के गुणित क्रम से ८८ उद्देशकों में, एवं अन्तिम चार, नौ उद्देशकों के गुणित क्रम से ३६ होकर सम्पूर्ण उद्देशकों की संख्या १२४ हो गई है। इस समस्त रचना का सूत्र-क्रम से की विभाजन पाया जाता है, जिसके अनुसार कुल सूत्रों की संख्या ८६७ है। इस प्रकार यह ग्रन्थ श्रुतांगों की अपेक्षा बहुत विशाल है। इसकी वर्णन शैली प्रबोत्तर रूप में है। गौतम गणधर जिज्ञासा-भाव से प्रश्न करते हैं, और स्वयं तीर्णकर महावीर उत्तर देते हैं। टीकाकार अभयदेव ने इन प्रबोत्तरों की संख्या ३६००० बतलाई है। प्रबोत्तर कहीं बहुत छोटे छोटे हैं। जैसे भगवन् मान का फल क्या है?—विज्ञान। विज्ञान का क्या फल है? प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का क्या फल है? संयम; इत्यादि। और कहीं ऐसे बड़े कि प्रायः एक ही प्रश्न के उत्तर में मंसलिगोशाल के चरित्र सम्बन्धी पन्द्रहवाँ शतक ही पूरा हो गया है। इन प्रबोत्तरों में जैन सिद्धान्त व इतिहास तथा अन्य सामयिक घटनाओं व व्यक्तियों का इतना विशाल संकलन हो गया है कि इस रचना को प्राचीन जैन-कोष ही कहा जाय तो अनुचित नहीं। स्थान स्थान पर विवरण अन्य ग्रन्थों, जैसे पण्डितवर्णन, जीवामिगम, उवाचइय, रावणसेलिज्ज, गंदी आदि का उल्लेख करके संक्षिप्त कर दिया गया है, और इस प्रकार उद्देशक के उद्देशक भी समाप्त कर दिये गये हैं। ये उल्लिखित रचनाएँ निश्चय ही ग्यारह श्रुतांगों से पश्चात्-कालीन हैं। नंदीसूत्र तो बल्कि वाचना के नायक वेदविराणि क्षमाधर्मसूत्र की ही रचना मानी जाती है। उसका भी इस ग्रन्थ में उल्लेख होने से, तथा यहाँ के विषय-विवरण को उसे देखकर पूर्ण कर लेने की सूचना से यह प्रमाणित होता है कि इस श्रुतांग को अपना वर्तमान रूप, नंदीसूत्र की रचना के पश्चात् अर्थात् वीर० निर्वाण से लगभग १००० वर्ष पश्चात् प्राप्त हुआ है। यही बात श्रवः ग्रन्थ श्रुतांगों के सम्बन्ध में भी उचित

होती है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि विषय-बर्णन प्राचीन है, और आचार्य-परम्परागत है। इसमें हमें महावीर के जीवन के अतिरिक्त उनके अनेक शिष्यों गृहस्थ-अनुयायियों तथा अन्य तीर्थकों का परिचय मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मंजलि गोशाल के जीवन का जितना विस्तृत परिचय यहां मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। स्थान-स्थान पर पादवपित्यों अर्थात् पादर्वनाथ के अनुयाइयों, तथा उनके द्वारा मान्य चातुर्याम धर्म के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के समय में यह निर्गन्ध सम्प्रदाय स्वतंत्र रूप से प्रचलित था। उसका महावीर द्वारा प्रतिपादित पंचमहाव्रत रूप धर्म से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था, एवं उसका क्रमशः महावीर के सम्प्रदाय में समावेश होना प्रारम्भ हो गया था। ऐतिहासिक व राजनैतिक दृष्टि से सातवें शतक में उल्लिखित, वैशाली में हुए महाशिलाकण्टक संग्राम तथा रथ-मुसल संग्राम, इन दो महायुद्धों का वर्णन अपूर्व है। कहा गया है कि इन युद्धों में एक और वज्जी एवं विदेहपुत्र थे, और दूसरी ओर नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी, काशी, कौशल एवं अठारह गणराजा थे। इन युद्धों में वज्जी, विदेहपुत्र कुरिण (अजातशत्रु) की विजय हुई। प्रथम युद्ध में ८४ और दूसरे युद्ध में ६६ लाख लोग मारे गये। २१, २२ और २३ वें शतक बनस्पति शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। यहां नानाप्रकार से बनस्पति का वर्गीकरण किया गया है; एवं उनके कंद, मूल, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज के सजीवत्व, निर्जीवत्व की दृष्टि से विचार किया गया है।

६ : ज्ञातुधर्म कथा (नायाचम्मकथाओ)— यह आगम दो श्रुतस्कंधों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध में १६ अध्याय हैं। इसके नामकी सार्थकता दो प्रकार से समझाई जाती है। एक तो संस्कृत रूपान्तर ज्ञातुधर्मकथा के अनुसार, जिससे प्रगट होता है कि श्रुतांग में ज्ञातु अर्थात् ज्ञातुपुत्र महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्म-कथाओं का प्ररूपण है। दूसरा संस्कृत रूपान्तर न्यायधर्मकथा भी सम्भव है, जिसके अनुसार इसमें न्यायों अर्थात् ज्ञान व नीति संबंधी सामान्य नियमों और उनके दृष्टान्तों द्वारा समझाने वाली कथाओं का समावेश है। रचना के स्वरूप को देखते हुए यह द्वितीय संस्कृत रूपान्तर ही उचित प्रतीत होता है, यद्यपि प्रचलित नाम ज्ञातुधर्मकथा पाया जाता है। प्रथम अध्ययन में राजगृह के नरेश भेलिक के धारिणी देवी से उत्पन्न राजपुत्र मेघकुमार का कथानक है। जब राजकुमार वैभवानुसार बालकपन को व्यतीत कर, व समस्त विद्याओं और कलाओं को सीखकर युवावस्था

को प्राप्त हुआ, तब उसका अनेक राजकन्याओं से विवाह हो गया। एकबार महावीर के उपदेश को सुनकर मेघकुमार को मुनिदीक्षा धारण करने की इच्छा हुई। माता ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु राजकुमार नहीं माना और उसने प्रव्रज्या ग्रहण करली। मुनि-धर्म पालन करते हुए एकबार उसके हृदय में कुछ शोभ उत्पन्न हुआ, और उसे प्रतीत हुआ जैसे मानों उसने राज्य छोड़, मुनि दीक्षा लेकर भूल की है। किन्तु जब महावीर ने उसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाकर समझाया, तब उसका चित्त पुनः मुनिधर्म में दृढ़ हो गया। इसी प्रकार अन्य अन्य अध्ययनों में निम्न निम्न कथानक तथा उनके द्वारा तप, त्याग व संयम संबंधी किसी नीति व न्याय की स्थापना की गई है। आठवें अध्ययन में विदेह राजकन्या मल्लि एवं सोलहवें अध्ययन के द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा विशेष ध्यान देने योग्य है। व्रतकथाओं में सुप्रचलित सुगंध-दशमी कथा का मूलाधार द्रौपदी के पूर्वजन्म में नागश्री व सुकुमालियाँ का चरित्र सिद्ध होता है। द्वितीय श्रुतस्कंध दश वर्गों में विभाजित है, और प्रत्येक वर्ग पुनः अनेक अध्ययनों में विभक्त है। इन वर्गों में प्रायः स्वर्गों के इन्द्रों जैसे चमरेन्द्र, असुरेन्द्र, वारुण्यंतरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, शक्र व ईशान की अग्रमहिषी रूपसे उत्पन्न होने वाली पुण्यशाली स्त्रियों की कथाएं हैं। तीसरे वर्ग में देवकी के पुत्र गजसुकुमार का कथानक विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि यह कथानक पीछे के जैन साहित्य में पल्लवित होकर अवतरित हुआ है। यही कथानक हमें पालि महावग्ग में यश पद्मवज्जा के रूप में प्राप्त होता है।

७ : उपासकाध्ययन (उपासगवसाधो)—इस श्रुतांग में, जैसा नाम में ही सूचित किया गया है, दश अध्ययन हैं; और उनमें क्रमशः आनंद, कामदेव, चुलनी-प्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकोलिय, सद्दालपुत्र, महाशतक, नंदिनीप्रिय और सालिहीप्रिय इन दस उपासकों के कथानक हैं। इन कथानकों के द्वारा जैन गृहस्थों के धार्मिक नियम समझाये गये हैं, और यह भी बतलाया गया है कि उपासकों को अपने धर्म के परिपालन में कैसे कैसे विघ्नों और प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है। प्रथम आनन्द अध्ययन में पांच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों — इन बारह व्रतों तथा उनके प्रतिचारों का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। इनका बिषयवत् पालन वाणिज्य ग्राम के जैन गृहस्थ आनंद ने किया था। आनंद बड़ा धनी गृहस्थ था, जिसकी धन-धान्य संपत्ति करोड़ों मुद्राओं की थी। आनंद ने स्वयं भयवान् महावीर से गृहस्थ-व्रत लेकर अपने समस्त परिग्रह और भोगोपभोग के परिमाण को सीमित किया था। उसने क्रमशः अपनी धर्मसाधना को बढ़ाकर बीस

वर्ष में इतना अवधिज्ञान प्राप्त किया था कि उसके विषय में जीतम यशधर को कुछ शंका हुई, जिसका निराकरण स्वयं भगवान् महावीर ने किया। इस कथानक के अनुसार वारिण्य ग्राम और कोल्साग संनिवेश पास-पास थे। कोल्साग सन्निवेश में शातृकुल की प्रीवधशाला थी, जहाँ का कोलाहल वारिण्य ग्राम तक सुनाई पड़ता था। वैशाली के समीप जो बनिया और कोल्हुआ नामक वर्तमान ग्राम हैं, वे ही प्राचीन वारिण्य ग्राम और कोल्साग सन्निवेश सिद्ध होते हैं। भगले चार अध्ययनों में धर्म के परिपालन में बाहर से कैंसी-कैंसी विघ्नबाधाएं आती हैं, इनके उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। द्वितीय अध्ययन में एक मिथ्यादृष्टि देव ने पिशाच आदि नाना रूप धारण कर, कामदेव उपासक को अपनी साधना छोड़ देने के लिये कितना डराया धमकाया, इसका सुन्दर चित्रण किया गया है। ऐसा ही चित्रण तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्ययनों में भी पाया जाता है। छठवें अध्ययन में उपासक के सम्मुख गोसाल मंसलिपुत्र के सिद्धान्तों का एक देव के व्याख्यान द्वारा उसकी धार्मिक श्रद्धा को ढिगाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु वह अपने श्रद्धान में दृढ़ रहता है तथा अपने प्रत्युत्तरों द्वारा प्रतिपक्षी को परास्त कर देता है। इस समाचार को जानकर महावीर ने उसकी प्रशंसा की। उक्त प्रसंग में गोसाल मंसलिपुत्र के नियतिवादका प्ररूपण किया गया है। सातवें अध्ययन में भगवान् महावीर आजीवक सम्प्रदाय के उपासक सद्दालपुत्र को सम्बोधन कर अपना अनुगामी बना लेते हैं। (यहाँ महावीर को उनकी विविध महाप्रवृत्तियों के कारण महाब्राह्मण, महागोप, महासायंबाह, महाधर्मकधिक, व महानिर्यापक उपाधियाँ दी गई हैं)। तत्पश्चात् उसके सम्मुख पूर्वोक्त प्रकार का दैवी उपसर्ग उत्पन्न होता है, किन्तु वह अपने श्रद्धान में अडिग बना रहता है, और अन्त तक धर्म पालन कर स्वर्गगामी होता है। आठवें अध्ययन में उपासक को उसकी अधार्मिक व मांसोलुपी पत्नी द्वारा धर्म-बाधा पहुँचाई जाती है। अन्त के कथानक बहुत संक्षेप में शांतिपूर्वक धर्मपालन के उदाहरण रूप कहे गये हैं। अन्य के अन्त की बारह गाथाओं में उक्त दसों कथानकों के नगर आदि के उल्लेखों द्वारा सार प्रगट कर दिया गया है। इस प्रकार यह श्रुतांग आचारांग का परिपूरक है, क्योंकि आचारांग में मुनिधर्म का और इसमें गृहस्थ धर्म का निरूपण किया गया है। आनंद आदि महासम्पत्तिवान् गृहस्थों का जीवन कैसा था, इसका परिचय इस अन्य से भलीभाँति प्राप्त होता है।

८ : अन्तकृद्बन्ध—(अंतगडबसाओ)—इस श्रुतांग में आठ वर्ग हैं, जो क्रमशः १०, ८, १३, १०, १०, १६, १३, और १० अध्ययनों में विभाजित हैं। इनमें ऐसे

महापुरुषों के कथानक उपस्थित किये गये हैं, जिन्होंने धीरे तपस्या कर अन्त में निर्वाण प्राप्त किया, और इसी के कारण वे अन्तर्कृत कहलाये। यहाँ कोई कथानक अपने रूप में पूर्णता से वर्णित नहीं पाया जाता। अविर्कांश वर्णन अन्यत्र के वर्णनानुसार पूरा कर लेने की सूचना मात्र करदी गई है। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्ययन में गौतम का कथानक द्वारावती नगरी के राजा अंधकवृष्णि की रानी धारणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर, कह दिया गया है कि यहाँ स्वप्न-दर्शन, पुत्र-जन्म, उसका बालकपन, कला-ग्रहण, जीवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रासाद और भोगों का वर्णन जिस प्रकार महाबल की कथा में अन्यत्र (भगवती में) किया गया है, उसी प्रकार यहाँ कर लेना चाहिये। आगे तो अध्ययन के अध्ययन केवल आख्यान के नायक या नायिका का नामोल्लेख मात्र करके शेष समस्त वर्णन अन्य आख्यान द्वारा पूरा कर लेने की सूचना देकर समाप्त कर दिये गये हैं। इस श्रुतांग के नाम पर से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें उवासगदसाधो के समान मूलतः दस ही अध्याय रहे होंगे। पश्चात् पल्लवित होकर ग्रन्थ को उसका वर्तमान रूप प्राप्त हुआ।

९ : अनुत्तरोपपातिक वज्रा (अनुत्तरोपाइय इसाधो) — इस श्रुतांग में कुछ ऐसे महापुरुषों का चरित्र वर्णित है, जिन्होंने अपनी धर्म-साधना के द्वारा मरणकर उन अनुत्तर स्वर्ग विमानों में जन्म लिया जहाँ से पुनः केवल एक बार ही मनुष्य योनि में आने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह श्रुतांग तीन वर्गों में विभाजित है। प्रथम वर्ग में १०, द्वितीय में १३ व तृतीय में १० अध्ययन हैं। किन्तु इनमें चरित्रों का उल्लेख केवल सूचना मात्र से कर दिया गया है। केवल प्रथम वर्ग में धारणीपुत्र जाली तथा तीसरे में भद्रापुत्र धन्य का चरित्र कुछ विस्तार से वर्णित है। उल्लिखित ३३ अनुत्तरविमानगामी पुरुषों में से प्रथम २३ राजा धेरिक की धारणी, चेलना व नंदा, इन तीन रानियों से उत्पन्न कहे गये हैं। और अन्त के धन्य आदि दस काकन्दी नगरी की सार्धवाही भद्रा के पुत्र। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन में धन्य की कठोर तपस्या और उसके कारण उसके अंग प्रत्यंगों की क्षीणता का बड़ा भाषिक और विस्तृत वर्णन किया गया है। वह वर्णन पालि ग्रंथों में बुद्ध की तप से उत्पन्न देह-क्षीणता का स्मरण करता है।

१० प्रश्न व्याकरण (अणु-वाकरण) — यह श्रुतांग दो खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में पाँच आसवद्वारों का वर्णन है, और दूसरे में पाँच संवरद्वारों का पाँच आसवद्वारों में हिसादि पाँच बापों का विवेचन है, और संवरद्वारों में उन्हीं के निषेध रूप अहिंसादि व्रतों का। इस प्रकार इसमें उक्त व्रतों का सुव्यवस्थित

वर्णन पाया जाता है। किन्तु इस विषय-वर्णन से श्रुतांग के नाभ की सार्वकता का कोई पता नहीं चलता। स्थानांग, समवायांग तथा नन्दीसूत्र में जो इस श्रुतांग का विषय-परिचय दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि मूलतः इसमें स्वसमय और परसमय सम्मत नाना विद्याओं व मंत्रों आदि का प्रश्नोत्तर रूप से विवेचन किया गया था, किन्तु यह विषय प्रस्तुत ग्रन्थ में अब प्राप्त नहीं होता।

११ : विपाक सूत्र (विभाग सुयं)—इस श्रुतांग में दो श्रुतस्कंध हैं, पहला दुःख-विपाक विषयक और दूसरा सुख-विपाक विषयक। प्रथम श्रुत-स्कंध दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ा है। प्रत्येक में दस-दस अध्यायन हैं, जिनमें क्रमशः जीव के कर्मानुसार दुःख और सुख रूप कर्मफलों का वर्णन किया गया है। कर्म-सिद्धान्त जैन धर्म का विशेष महत्वपूर्ण अंग है। उसके उदाहरणों के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। यहाँ लकड़ी टेककर चलते हुए व भिक्षा मांगते हुए कहीं एक अन्धे मनुष्य का दर्शन होगा, कहीं श्वास, कफ, भगंदर, भ्रूष, खाज, यक्ष्मा व कुष्ठ आदि से पीड़ित मनुष्यों के दर्शन होंगे। नाना व्याधियों के औषधि-उपचार का विवरण भी मिलता है। गर्भिणी स्त्रियों के दोहले, भ्रूण-हत्या, नरबलि, क्रूर अमानुषिक दंड, वेद्याओं के प्रलोभनों, नाना प्रकार के मांस संस्कारों, पकाने की विधि आदि के वर्णन भी यहाँ मिलते हैं। उनके द्वारा हमें प्राचीन काल की नाना सामाजिक विधियों, मान्यताओं एवं ग्रन्थविश्वासों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार सामाजिक अध्ययन के लिये यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है।

१२ : दृष्टिवाद (दिट्ठिवाद)—यह श्रुतांग अब नहीं मिलता। समवायांग के अनुसार इसके पाँच विभाग थे—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इन पाँचों के नाना भेद-प्रभेदों के उल्लेख पाये जाते हैं, जिनपर विचार करने से प्रतीत होता है कि परिकर्म के अन्तर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विवरण था। सूत्र के अन्तर्गत छिन्न-छेद नय, अछिन्न-छेद नय, त्रिक नय, व चतुर्नय की परिपाटियों का विवरण था। छिन्न छेद व चतुर्नय परिपाटियाँ निग्रन्थों की एवं अछिन्न छेद नय और त्रिक नय परिपाटियाँ आजीविकों की थीं। पीछे इन सबका समावेश जैन नयवाद में हो गया। दृष्टिवाद का पूर्वगत विभाग सबसे अधिक विशाल और महत्वपूर्ण रहा है। इसके अन्तर्गत उत्पाद, आत्मायणी, वीर्यप्रवाद आदि वे १४ पूर्व थे जिनका परिचय ऊपर कराया जा चुका है। अनुयोग नामक दृष्टिवाद के चतुर्भेद के मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग—ये दो भेद बतलाये गये हैं। प्रथम में घरहत्तों के गर्भ, जन्म, तप ज्ञान और निर्वाण संबंधी इतिवृत्त समाविष्ट

किया गया था, और दूसरे में कुत्सकर, चक्रवर्ती, बलदेव, बासुदेव आदि अन्य महापुरुषों के चरित्र का। इस प्रकार अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण कहा जा सकता है। दिग० जैन परम्परा में इस भेद का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है। पंचम भेद खूलिका के संबंध में समवायांग में केवल यह सूचना पाई जाती है कि प्रथम चार पूर्वों की जो खूलिकाएँ गिनाई गई हैं, वे ही यहाँ समाविष्ट समझना चाहिये। किन्तु दिग० परम्परा में खूलिका के पाँच भेद गिनाये गये हैं, जिनके नाम हैं— जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत। इन नामों पर से प्रतीत होता है कि उनका विषय इन्द्रजाल और मन्त्र-तन्त्रात्मक था, जो जैन धर्म की तात्त्विक और समीक्षात्मक दृष्टि के आगे स्वभावतः अधिक काल तक नहीं टिक सका।

उपांग-१२

उपर्युक्त श्रुतांगों के अतिरिक्त वल्लभी वाचना द्वारा १२ उपांगों, ६ छेद सूत्रों, ४ मूल सूत्रों, १० प्रकीर्णकों और २ खूलिका सूत्रों का भी संकलन किया गया था। (१) प्रथम उपांग औपपातिक में नाना विचारों, भावनाओं और साधनाओं से मरने वाले जीवों का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, इसका उदाहरणों सहित व्याख्यान किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि यहाँ नगरों, चैत्यों, राजाओं व रानियों आदि के वर्णन संपूर्ण रूप में पाये जाते हैं, जिनका वर्णन अन्य श्रुतांगों में इसी ग्रन्थ का उल्लेख देकर छोड़ दिया जाता है।

(२) दूसरे उपांग का नाम 'राय-पसेणिय' है, जिसका सं० रूपान्तर 'राजप्रसनीय' किया जाता है, क्योंकि इसका मुख्य विषय राजा पएसी (प्रदेशी) द्वारा किये गये प्रदनों का केशी मुनि द्वारा समाधान है। आश्चर्य नहीं जो इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कोशल का इतिहास-प्रसिद्ध राजा पसेंडी (सं० प्रसेनजित्) रहा हो, जिसके अनुसार ग्रन्थ के नामका ठीक सं० रूपान्तर 'राज-प्रसेनजित् सूत्र' होना चाहिये। इसके प्रथम भाग में तो सूर्याभदेव का वर्णन है, और दूसरे भाग में इस देव के पूर्व जन्म का वृत्तान्त है, जब कि सूर्याभ का जीव राजा प्रदेशी के रूप में पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि केशी से मिला था, और उनसे आत्मा की सत्ता व उसके स्वरूप के संबंध में नाना प्रकार से अपने भौतिकवाद की दृष्टि से प्रश्न किये थे। अन्त में केशी मुनि के उपदेश से वह सम्यग्दृष्टि बन गया और उसी के प्रभाव से दूसरे जन्म में महासमुद्रिस्थाली सूर्याभ देव हुआ। वह ग्रन्थ जड़वाद और अध्यात्मवाद

की प्राचीन परम्पराओं के अध्ययन के लिये तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है।

(३) तीसरे उपांग जीवाजीवाभिगम में २० उद्देश्य थे, किन्तु उपलभ्य संस्करण में नौ प्रतिपत्तियाँ (प्रकरण) हैं, जिनके भीतर २७२ सूत्र हैं। इसमें नामानुसार जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विवरण महावीर और गौतम के बीच प्रश्नोत्तर रूप से उपस्थित किया गया है। तीसरी प्रतिपत्ति में द्वीप-सागरों का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। यहाँ प्रसंगवश लोकोत्सवों, यानों, अलंकारों व मिष्टान्नों आदि के उल्लेख भी आये हैं, जो प्राचीन लोक-जीवन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

(४) चौथे उपांग प्रज्ञापना (पणवणा) में छत्तीस पद (परिच्छेद) हैं, जिनमें क्रमशः जीव से संबंध रखनेवाले प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति एवं कषाय, इन्द्रिय, लक्ष्या, कर्म, उपयोग, वेदना, समुद्वात आदि विषयों का प्ररूपण है। जैन दर्शन की दृष्टि से यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है। जो स्थान अंगों में भगवती सूत्र को प्राप्त है, वही उपांगों में इस सूत्रको दिया जा सकता है, और उसे भी उसी के अनुसार जैन सिद्धान्त का ज्ञानकोष कहा जा सकता है। इस रचना में इसके कर्ता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है, जिनका समय सुधर्म स्वामीसे २३ वीं पीढ़ी वीर नि० के ३७६ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है।

(५) पांचवां उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरियपणत्ति) में २० पाहुड हैं, जिनके अन्तर्गत १०८ सूत्रों में सूर्य तथा चन्द्र व नक्षत्रों की गतियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष संबंधी मान्यताओं के अध्ययन के लिये यह रचना विशेष महत्वपूर्ण है।

(६) छठा उपांग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति (जम्बूदीवपणत्ति) है। इसके दो विभाग हैं, पूर्वाह्न और उत्तराह्न। प्रथम भाग के चार वक्खकारों (परिच्छेदों) में जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र तथा उसके पर्वतों, नदियों आदि का एवं उत्सर्पिणी व अक्सर्पिणी काल-विभागों का तथा कुलकरों, तीर्थकरों और चक्रवर्ती आदि का वर्णन है।

(७) सातवां उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपणत्ति) अपने विषय-विभाजन व प्रतिपादन में सूर्यप्रज्ञप्ति से अभिन्न है। मूलतः ये दोनों अवश्य अपने-अपने विषय में भिन्न रहे होंगे, किन्तु उनका मिश्रण होकर वे प्रायः एक से हो गये हैं।

(८) आठवें उपांग कल्पिका (कप्पिया) में १० अध्ययन हैं, जिनमें कुणिक अजातशत्रु के अपने पिता श्रेणिक विविशार को बंदीगृह में डालने, श्रेणिक की आत्म-

हत्या तथा कुणिक का वैशाली नरेश चेटक के साथ युद्ध का वर्णन है, जिनसे मगध के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है ।

(९) नौवें उपांग कल्पावतंसिका (कप्पावडंसियाओ) में श्रेणिक के दस पौत्रों की कथाएं हैं, जो अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्गगामी हुए ।

(१०-११) दसवें व ग्यारहवें उपांग पुण्डिका (पुण्डियाओ) और पुण्डूला (पुण्डूलाओ) में १०-१० अध्ययन हैं, जिनमें ऐसे पुरुष-स्त्रियों की कथाएं हैं जो धार्मिक साधनाओं द्वारा स्वर्गगामी हुए, और देवता होकर अपने विमानों द्वारा महावीर की वंदना करने आये ।

(१२) बारहवें अंतिम उपांग वृष्णिदशा (वृष्णदसा) में बारह अध्ययन हैं, जिनमें द्वारावती (द्वारिका) के राजा कृष्ण वासुदेव का बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार का एवं वृष्णि वंशीय बारह राजकुमारों के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है ।

आठ से बारह तक के पाँच उपांग सामूहिक रूप से निरयावलियाओं भी कहलाते हैं, और उनमें उन्हें उपांग नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है । आश्चर्य नहीं जो आदितः ये ही पाँच उपांग रहे हों और वे अपने विषयानुसार अंगों से सम्बन्ध हों । पीछे द्वादशांग की देखादेखी उपांगों की संख्या बारह तक पहुँचा दी गई हो ।

छेदसूत्र—६

छह छेदसूत्रों के नाम क्रमशः (१) निशीथ, (निसीह) (२) महानिशीथ (महानिसीह) (३) व्यवहार (विवहार) (४) आचारदशा (आचारदसा) (५) कल्पसूत्र (कल्पसुत्त) और (६) पंचकल्प (पंचकप्प) या जीतकल्प (जीतकप्प) हैं, जिनमें बड़े विस्तार के साथ जैन मुनियों की बाह्य और आन्तरिक साधनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, और विशेष नियमों के भंग होने पर समुचित प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है, प्रसंगवश यहाँ नाना तीर्थंकरों व गणधरों सम्बन्धी घटनाओं के उल्लेख भी आये हैं । इन रचनाओं में कल्पसूत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध है, और साधुओं में उसके पठन-पाठन की परम्परा आज तक विशेष रूप से सुप्रचलित है । मुनियों के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन और उसकी समस्याओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये ये रचनाएँ बड़े महत्व की हैं ।

मूलसूत्र—४

चार मूल सूत्रों के नाम हैं—उत्तराध्ययन (उत्तरअध्ययण), आश्वयक

(आवस्सय) दशवैकालिक (दसवेयावसिय) और पिंडनिर्युक्ति (पिंडसिञ्जुत्ति) । ये चारों सूत्र मुनियों के अध्ययन और चिन्तन के लिये विशेषरूप से महत्वपूर्ण माने गये हैं, क्योंकि उनमें जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों, विचारों व भावनाओं और साधनाओं का प्रतिपादन किया गया है । आवस्सयक सूत्र में साधुओं की छह नित्यक्रियाओं अर्थात् सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाया गया है । पिंडनिर्युक्ति में अपने नामानुसार पिंड अर्थात् मुनिके ग्रहण योग्य आहार का विवेचन किया गया है । इसमें आठ अधिकार हैं—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, भ्रंगार, धूम और कारण, जिनके द्वारा आहार में उत्पन्न होने वाले दोषों का विवेचन किया गया है, और उनके साधु द्वारा निवारण किये जाने पर जोर दिया गया है । निर्युक्ति आगमों पर सबसे प्राचीन टीकाओं को कहते हैं, और इनके कर्ता भद्रबाहु माने जाते हैं । पिंड-निर्युक्ति यथार्थतः दशवैकालिक के अंतर्गत पिंड-एषणा नामक पांचवें अध्ययन की इसी प्रकार की प्राचीन टीका है, जिसे अपने विषय के महत्व व विस्तार के कारण आगम में एक स्वतंत्र स्थान प्राप्त हुआ है । शेष दो मूलसूत्र अर्थात् उत्तराध्ययन और दशवैकालिक विशेष महत्वपूर्ण, सुप्रचलित और लोकप्रिय रचनायें हैं, जो भाषा, साहित्य एवं सिद्धान्त, तीनों दृष्टियों से अपनी विशेषता रखती हैं । उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं । परम्परानुसार महावीर ने अपने जीवन के उत्तरकाल में निर्वर्ण से पूर्व ये उपदेश दिये थे । इन छत्तीस अध्ययनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक सैद्धान्तिक, दूसरा नैतिक व सुभाषितात्मक, और तीसरा कथात्मक । इन तीनों प्रकार के विषयों का पश्चात्कालीन साहित्य में खूब अनुकरण व टीकाओं आदि द्वारा खूब पल्लवन किया गया है । दशवैकालिक सूत्र में बारह अध्ययन हैं, जिनमें विशेषतः मुनि-आचार का प्ररूपण किया गया है । ये दोनों रचनाएं बहुलता से पद्यात्मक हैं, और सुभाषितों, न्यायों व रूपकों से भरपूर हैं । इनकी भाषा आचारांग और सूत्रकृतांग के सदृश अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सिद्ध होती है । इन दोनों सूत्रों का उल्लेख दिग० शास्त्रों में भी पाया जाता है ।

प्रकीर्णक—१०

दसपइष्णा—नामक ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में टीकाकारों ने कहा है कि तीर्थंकर द्वारा दिये गये उपदेश के आधार पर नाना श्रमणों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गये, वे प्रकीर्णक कहलाये । ऐसे प्रकीर्णकों की संख्या सहस्रों बतलाई जाती है, किन्तु जिन

रचनाओं को बल्लभी वाचना के समय आगम के भीतर स्वीकृत किया गया-वे दस हैं, जिनके नाम हैं—(१) चतुःशरण (चउसरण), (२) आतुर-प्रत्याख्यान (आउर पञ्चकखारण), (३) महाप्रत्याख्यान (महा-पञ्चकखारण), (४) भक्त-परिज्ञा, (भक्तपइष्णा), (५) तंदुलबैचारिक (तंदुलवेयालिय), (६) संस्तारक (संचारण), (७) गच्छाचार (गच्छाचार), (८) गरिबिद्या (गरिबिज्जा), (९) देवेन्द्रस्तव (देविद्रय) और (१०) मरखसमाधि (मरणसमाहि)। ये रचनायें प्रायः पद्यात्मक हैं। (१) चतुःशरण में आरंभ में छः आवश्यकों का उल्लेख करके पश्चात् अरहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म इन चार को शरण मानकर दुष्कृत (पाप) के प्रति निंदा और सुकृत (पुण्य) के प्रति अनुराग प्रगट किया गया है। इसमें त्रैसठ गाथाएँ मात्र हैं। अंतिम गाथा में कर्ता का नाम वीरभद्र अंकित पाया जाता है। (२) आतुर-प्रत्याख्यान में बालमरण और पंडितमरण में भेद स्थापित किया गया है, और प्रत्याख्यान अर्थात् परित्याग को मोक्षप्राप्ति का साधन कहा गया है। इसमें केवल ७० गाथाएँ हैं, और कुछ अंश गद्य में भी है। (३) महाप्रत्याख्यान में १४२ अनुष्टुप् छंदमय गाथाओं द्वारा दुष्चरित्र की निंदापूर्वक, सच्चरित्रात्मक भावनाओं, व्रतों व आराधनाओं और अन्ततः प्रत्याख्यान के परिपालन पर जोर दिया गया है। इस प्रकार यह रचना पूर्वोक्त आतुर-प्रत्याख्यान की ही पूरक स्वरूप है। (४) भक्त-परिज्ञा में १७२ गाथाओं द्वारा भक्त-परिज्ञा, इंगिनी और पादोपसमन रूप मरण के भेदों का स्वरूप बतलाया गया है, तथा नाना दृष्टान्तों द्वारा मन को संयत रखने का उपदेश दिया गया है। मन को बन्दर की उपमा दी गई है, जो स्वभावतः अत्यन्त चंचल है और क्षणमात्र भी शांत नहीं रहता। (५) तंदुलबैचारिक या वैकालिक १२३ गाथाओं युक्त गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमें गौतम और महावीर के बीच प्रश्नोत्तरों के रूप में जीव की गर्भविस्था, 'आहार-विधि, बालजीवन-क्रीड़ा आदि अवस्थाओं का वर्णन है। प्रसंग वश इसमें शरीर के अंग प्रत्यंगों का व उसकी अपवित्रता का, स्त्रियों की प्रकृति और उनसे उत्पन्न होने वाले साधुओं के भयों आदि का विस्तार से वर्णन है। (६) संस्तारक में १२२ गाथाओं द्वारा साधु के अंत समय में तृण का आसन (संचारा) ग्रहण करने की विधि बतलाई गई है, जिस पर अविचल रूप से स्थिर रहकर वह पंडित-मरण करके सद्गति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रसंग के दृष्टान्त स्वरूप सुबंधु व चाणक्य आदि नामों का उल्लेख हुआ है। (७) गच्छाचार में १३७ गाथाओं द्वारा मुनियों व आर्थिकाओं के गच्छ में रहने व तत्संबंधी विनय व नियमोपनियमों के पालन की विधि समझाई गई है। यहां मुनियों और साध्वियों को एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सतर्क रहने और

अपने को कामवासना की जागृति से बचाने पर बहुत जोर दिया गया है। (८) गणि-विद्या में ८६ गाथाओं द्वारा दिवस, तिथि, नक्षत्र, योग, करण, भुक्तं आदि का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया है जिसमें होरा शब्द भी आया है। (९) बेवेम्बस्तव में ३०७ गाथाएं हैं, जिनमें २४ तीर्थंकरों की स्तुति करके, स्तुतिकार एक प्रश्न के उत्तर में कल्पों और कल्पातीत देवों का वर्णन करता है। यह कृति भी वीरभद्र कृत मानी जाती है। (१०) मरण-समाधि में ६६३ गाथाएं हैं, जिनमें आराधना, आराधक, आलोचन, संलेखन, क्षमापन आदि १४ द्वारों से समाधि-मरण की विधि समझाई गई है, व नाना दृष्टान्तों द्वारा परीषद् सहन करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अन्तमें बारह भावनाओं का भी निरूपण किया गया है। दसों प्रकीर्णकों के विषय पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य प्रधानतः मुनियों के अपने अन्त समय में मनको धार्मिक भावनाओं में लगाते हुए शांति और निराकुलता पूर्वक शरीर परित्याग करने की विधि को समझाना ही है।

चूलिका सूत्र—२

अन्तिम दो चूलिका सूत्र नंदी और अनुयोगद्वार हैं, जो अपेक्षाकृत पीछे की रचनाएं हैं। नंदीसूत्र के कर्ता तो एक मतानुसार वल्लभी वचना के प्रधान देवद्विगण क्षमाभ्रमण ही है। नंदीसूत्र में ९० गाथाएं और ५९ सूत्र हैं। यहाँ भगवान महावीर तथा उनके संभवर्त्ति श्रमणों व परंपरागत भद्रबाहु, स्थूलभद्र, महागिरि आदि आचार्यों की स्तुति की गई है। तत्पश्चात् ज्ञान के पांचभेदों का विवेचन कर, आचारांगों के बारह श्रुतांगों के स्वरूप को विस्तार से व्यक्त किया गया है। यहाँ भारत, रामायण, कौटिल्य, पातंजल आदि शास्त्रपुराणों तथा वेदों एवं बह्तर कलाओं का उल्लेख कर मुनियों के लिये उनका अध्ययन वर्ज्य कहा गया है। (२) अनुयोगद्वार आर्यरक्षित कृत माना जाता है। उसमें प्रश्नोत्तर रूप से पल्योपमादि उपमा प्रमाण का स्वरूप समझाया गया है, और नयों का भी प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त काव्यसम्बन्धी नव-रसों, स्वर, ग्राम, भूच्छना आदि के लक्षणों एवं चरक, गौतम आदि अन्य शास्त्रों के उल्लेख भी आये हैं। इस पर हरिभद्र द्वारा विवृति भी लिखी गई है।

अर्द्धमागधी भाषा

उपर्युक्त ४५ आगम ग्रन्थों की भाषा अर्द्धमागधी मानी जाती है। अर्द्ध-मागधी का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है—जो भाषा आगे मगध प्रदेश में बोली जाती

थी, अथवा जिसमें मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तियाँ पाई जाती थी। यथार्थतः ये दोनों ही व्युत्पत्तियाँ सार्थक हैं, और इस भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को सूचित करती हैं। मागधी भाषा की मुख्यतः तीन विशेषताएँ थीं। (१) उसमें र का उच्चारण ल होता था, (२) तीनों प्रकार के ऊष्म ष, स, श वर्णों के स्थान पर केवल तालव्य 'श' ही पाया जाता था; और (३) अकारान्त कर्त्ताकारक एक वचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय द्वारा बनता था। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियों में से अर्द्ध-मागधी में कर्त्ताकारक की एकार विभक्ति बहुलता से पाई जाती है। र का ल ब्वचित् ही होता है, तथा तीनों सकारों के स्थानपर तालव्य 'श' कार न होकर दन्त्य 'स' कार ही होता है। इस प्रकार इस भाषा में मागधी की आधी प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। इसकी शेष प्रवृत्तियाँ शौरसैनी प्राकृत से मिलती हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध से पश्चिम प्रदेश में रहा होगा। विद्वानों का यह भी मत है कि मूलतः महावीर एवं बुद्ध दोनों के उपदेशों की भाषा उस समय की अर्द्धमागधी रही होगी, जिससे वे उपदेश पूर्व एवं पश्चिम की जनता को समान रूप से सुबोध हो सके होंगे। किन्तु पूर्वोक्त उपलभ्य आगम ग्रन्थों में हमें उस प्राक्तन अर्द्धमागधी का स्वरूप नहीं मिलता। भाषा-शास्त्रियों का मत है कि उस काल की मध्ययुगीन आर्य भाषा में संयुक्त व्यंजनों का समीकरण अथवा स्वर-भक्ति आदि विधियों से भाषा का सरलीकरण तो प्रारंभ हो गया था, किन्तु उसमें वर्णों का विपरिवर्तन जैसे क-ग, त-द, अथवा इनके लोप की प्रक्रिया प्रारंभ नहीं हुई थी। यह प्रक्रिया मध्ययुगीन आर्य भाषा के दूसरे स्तर में प्रारंभ हुई मानी जाती है; जिसका काल लगभग दूसरी शती ई० सिद्ध होता है। उपलभ्य आगम ग्रन्थ इसी स्तर की प्रवृत्तियों से प्रभावित पाये जाते हैं। स्पष्टतः ये प्रवृत्तियाँ कालानुसार उनकी मौखिक परम्परा के कारण उनमें समाविष्ट हो गई हैं।

सूत्र या सूक्त ?—

इन आगमों के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। उन्हें प्रायः सूत्र नाम से उल्लिखित किया जाता है, जैसे आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि। किन्तु जिस अर्थ में संस्कृत में सूत्र शब्द का प्रयोग पाया जाता है, उस अर्थ में ये रचनावें सूत्र रूप सिद्ध नहीं होतीं। सूत्र का मुख्य लक्षण संक्षिप्त वाक्य में अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना है, और उनमें पुनरावृत्ति को दोष माना जाता है। किन्तु वे जैन श्रुतांग न तो वैसी संक्षिप्त रचनावें हैं, और न उनमें विषय व वाक्यों की पुनरावृत्ति की कमी है। अतएव उन्हें सूत्र कहना अनुचित सा प्रतीत होता है। अपने प्राकृत

नामानुसार ये रचनाएं सुत्त कही गई हैं, जैसे आचार्यसुत्त, उत्तराध्ययन सुत्त आदि । इस सुत्त का संस्कृत पर्याय सूत्र भ्रमभूलक प्रतीत होता है । उसका उचित संस्कृत पर्याय सूक्त अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है । महावीर के काल में सूत्र शैली का प्रारंभ भी सम्भवतः नहीं हुआ था । उस समय विशेष प्रचार या वेदों के सूक्तों का । और संभवतः वही नाम मूलतः इन रचनाओं को, तथा बौद्ध साहित्य के सुत्तों को, उसके प्राकृत रूप में दिया गया होगा ।

आगमों का टीका साहित्य—

उपर्युक्त आगम ग्रन्थों से सम्बद्ध अनेक उत्तरकालीन रचनाएं हैं, जिनका उद्देश्य आगमों के विषय को संक्षेप या विस्तार से समझाना है । ऐसी रचनाएं चार प्रकार की हैं, जो निर्युक्ति (णिज्जुत्ति), भाष्य (भास), चूर्णि (चुप्पिण) और टीका कहलाती हैं । ये रचनाएं भी आगम का अंग मानी जाती हैं, और उनके सहित यह साहित्य पंचांगी आगम कहलाता है । इनमें निर्युक्तियां अपनी भाषा, शैली, व विषय की दृष्टि से सर्वप्राचीन हैं । ये प्राकृत पद्यों में लिखी गई हैं, और संक्षेप में विषय का प्रतिपादन करती हैं । इनमें प्रसंगानुसार विविध कथाओं व दृष्टान्तों के संकेत मिलते हैं, जिनका विस्तार हमें टीकाओं में प्राप्त होता है । वर्तमान में आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाधृतस्कंध, उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक इन ६ आगमों की निर्युक्तियां मिलती हैं, और वे भद्रबाहुकृत मानी जाती हैं । दशवीं 'ऋषि भाषित निर्युक्ति' का उल्लेख है, किन्तु वह प्राप्त नहीं हुई । इनमें कुछ प्रकरणों की निर्युक्तियां, जैसे पिण्डनिर्युक्ति व ओषनिर्युक्ति मुनियों के आचार की दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण समझी गई कि के स्वतंत्र रूप से आगम साहित्य में प्रतिष्ठित कर ली गई हैं ।

भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में रचित संक्षिप्त प्रकरण हैं । ये अपनी शैली में निर्युक्तियों से इतने मिलते हैं कि बहुधा इन दोनों का परस्पर मिश्रण हो गया है, जिसका पृथक्करण असंभव सा प्रतीत होता है । कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, निशीथ, और व्यवहार, इनके भाष्य मिलते हैं । इनमें कथाएं कुछ विस्तार से पाई जाती हैं । निशीथ भाष्य में शत्रु आदि चार धूर्तों की वह रोचक कथा वर्णित है जिसे हरिमद्रसूरि ने अपने धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ में सरस्वता के साथ पल्लवित किया है । कुछ भाष्यों, जैसे कल्प, व्यवहार और निशीथ के कर्ता संघदास गरिण माने जाते हैं, और विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनमद्र (ई० सं० ६०६) । यह भाष्य कोई ३६०० वाक्यांशों में पूर्ण हुआ है और उसमें ज्ञान,

नय-निक्षेप, आचार आदि सभी विषयों का विवेचन किया गया है। इस पर स्वीकृति टीका भी है।

चूरिंगियाँ भाषा व रचना शैली की दृष्टि से अपनी विशेषता रखती हैं। वे गद्य में लिखी गई हैं, और भाषा यद्यपि प्राकृत-संस्कृत मिश्रित है, फिर भी इनमें प्राकृत की प्रधानता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध, जैतिकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर चूरिंगियाँ पाई जाई हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक व कथात्मक सामग्री के लिये निशीथ और आवश्यक की चूरिंगियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। सामान्यरूप से चूरिंगियों के कर्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं, जिनका समय ई० की छठी-सातवीं शती अनुमान किया जाता है।

टीकाएं अपने नामानुसार ग्रन्थों को समझने समझाने के लिये विशेष उपयोगी हैं। ये संस्कृत में बिस्तार से लिखी गई हैं, किन्तु कहीं कहीं, और विशेषतः कथाओं में प्राकृत का आश्रय लिया गया है। प्रतीत होता है कि जो कथाएं प्राकृत में प्रचलित थीं, उन्हें यहाँ जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया है। आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्र सूरि (ई० सं० ७५०) की टीकाएं उपलब्ध हैं। इनके पश्चात् आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांक आचार्य (ई० सं० ८७६) ने टीकाएं लिखीं। ११ वीं शताब्दी में वादि वेताल शान्तिसूरि द्वारा लिखित उत्तराध्ययन की शिष्यहिता टीका प्राकृत में है, और बड़ो महत्वपूर्ण है। इसी शताब्दी में उत्तराध्ययन पर देवेन्द्रगणि नेमिचन्द्र ने सुखबोधा नामक टीका लिखी, जिसके अन्तर्गत ब्रह्मदत्त अगडदत्त आदि कथाएं प्राकृत कथा साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं, जिनका संकलन डा० हर्मेन जैकोबी ने एक पृथक् ग्रन्थ में किया था, और जो प्राकृत-कथा-संग्रह के नाम से मुनि जिनविजय जी ने भी प्रकाशित कराई थीं। उत्तराध्ययन पर और भी अनेक आचार्यों ने टीकाएं लिखीं, जैसे अभयदेव, द्रोणाचार्य, मलयगिरि, मलवारी हेमचन्द्र, क्षेमकीर्ति, शांतिचन्द्र आदि। टीकाओं की यह बहुलता उत्तराध्ययन के महत्त्व व लोकप्रियता को स्पष्टतः प्रमाणित करती है।

शौरसेनी जैनगम—

उपर्युक्त उपलब्ध आगम साहित्य जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सुप्रचलित है, किन्तु दिगं सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक नहीं मानता। इस मान्यतानुसार मूल आगम ग्रन्थों का क्रमशः लोप हो गया, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। उन ग्रन्थों का केवल प्रांशिक ज्ञान मुनि-परम्परा में सुरक्षित रहा। पूर्वोक्त के एकदेश-ज्ञाता

आचार्य घरसेन माने गये हैं, जिन्होंने अपना वह ज्ञान अपने पुष्पदंत और भूतबलि नामक शिष्यों को प्रदान किया और उन्होंने उस ज्ञान के आधार से षट्खंडागम की सूत्ररूप रचना की। यह रचना उपलम्ब्य है, और अब सुचारु रूप से टीका व अनुवाद सहित २३ भागों में प्रकाशित हो चुकी है। इसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने प्रारंभ में ही इस रचना के विषय का जो उद्गम बतलाया है, उससे हमें पूर्वों के विस्तार का भी कुछ परिचय प्राप्त होता है। पूर्वों में द्वितीय पूर्व का नाम आश्रायणीय था। उसके भीतर पूर्वान्त, अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इनमें पांचवें प्रकरण का नाम चयन लब्धि था, जिसके अन्तर्गत बीस पाहुड थे। इनमें चतुर्थ पाहुड का नाम कर्म-प्रकृति था। इस कर्म-प्रकृति पाहुड के भीतर कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारा थे, जिनके विषय को लेकर षट्खंडागम के छह खंड अर्थात् जीवट्ठारण, खुददाबंध, बंधस्वा-मित्व-विचय, वेदना, वर्णणा और महाबंध की रचना हुई। इसमें का कुछ अंश अर्थात् सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक जीवस्थान की आठवीं चूलिका बारहवें अंग दृष्टिवाद के द्वितीय भेद सूत्रसे तथा गति-अगति नामक नवमीं चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से उत्पन्न बतलाई गई है। यही आगम दिगं सम्प्रदाय में सर्वप्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इसकी रचना का काल ई० द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसकी रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पूर्ण हुई थी और उस दिन जैन संघ ने श्रुतपूजा का महान् उत्सव मनाया था, जिसकी परम्परानुसार श्रुतपंचमी की मान्यता दिगं सम्प्रदाय में आज भी प्रचलित है। इस आगम की परम्परा में जो साहित्य निर्माण हुआ, उसे चार अनुयोगों में विभाजित किया जाता है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में पुराणों, चरितों व कथाओं अर्थात् आख्यानात्मक ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। करणानुयोग में ज्योतिष, गणित आदि विषयक ग्रन्थों का, चरणानुयोग में मुनियों व गृहस्थों द्वारा पालने योग्य नियमोपनियम संबंधी आचार विषयक ग्रन्थों का, और द्रव्यानुयोग में जीव-अजीव आदि तत्वों के चिंतन से संबंध रखने वाले दार्शनिक, कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी, तथा नय-निक्षेप आदि विषयक सैद्धान्तिक ग्रन्थों का।

इस धार्मिक साहित्य में प्रधानता द्रव्यानुयोग की है, और इस वर्ग की रचनाएं बहुत प्राचीन, बड़ी विशाल तथा लोकप्रिय हैं। इसमें सबसे प्रथम स्थान पूर्वोंलिखित षट्खंडागम का ही है। इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने का भी एक रोचक इतिहास है। इस ग्रन्थ का साहित्यकारों द्वारा प्रचुरता से उपयोग केवल ११वीं १२वीं शताब्दी तक गोमटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र और उनके टीकाकारों तक ही पाया जाता है। उसके पश्चात् के लेखक इन ग्रन्थों के नाम-मात्र से परिचित प्रतीत होते हैं। इस

ग्रन्थ की दो संपूर्ण और एक त्रुटित, ये तीन प्रतियां प्राचीन कन्नड लिपि में ताड़पत्र पर लिखी हुई केवल एक स्थान में, अर्थात् मैसूर राज्य में मूडबिद्री नामक स्थान के सिद्धान्त वस्ति नामक मंदिर में ही सुरक्षित बची थीं, और वहां भी उनका उपयोग स्वाध्याय के लिये नहीं, किन्तु दर्शन मात्र से पुण्योपार्जन के लिए किया जाता था। उन प्रतियों की उत्तरोत्तर जीर्णता को बढ़ती देखकर समाज के कुछ कर्णधारों को चिंता हुई, और सन् १८९५ के लगभग उनकी कागज पर प्रतिलिपि करा डालने का निश्चय किया गया। प्रतिलेखन कार्य सन् १९२२ तक धीरे धीरे चलता आ २६-२७ वर्ष में पूर्ण हुआ। किन्तु इसी बीच इनकी एक प्रतिलिपि गुप्तरूप से बाहर निकलकर सहारनपुर पहुंच गई। यह प्रतिलिपि भी कन्नड लिपि में थी। अतएव इसकी नागरी लिपि कराने का आयोजन किया गया, जो १९२४ तक पूरा हुआ। इस कार्य के संचालन के समय उनकी एक प्रति पुनः गुप्त रूपसे बाहर आ गई, और उसी की प्रतिलिपियां भ्रमरावती, कारंजा, सागर और आरा में प्रतिष्ठित हुई। इन्हीं गुप्तरूप से प्रगट प्रतियों पर से इनका सम्पादन कार्य प्रस्तुत लेखक के द्वारा सन् १९३८ में प्रारम्भ हुआ, और सन् १९५८ में पूर्ण हुआ। हर्ष की बात यह है कि इसके प्रथम दो भाग प्रकाशित होने के पश्चात् ही मूडबिद्री की सिद्धान्त वस्ति के अधिकारियों ने मूल प्रतियों के मिलान की भी सुविधा प्रदान कर दी, जिससे इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन-प्रकाशन प्रामाणिक रूप से हो सका।

षट्खंडागम टीका—

षट्खंडागम के उपर्युक्त छह खंडों में सूत्ररूप से जीव द्वारा कर्मबंध और उससे उत्पन्न होनेवाले नाना जीव-परिणामों का बड़ी व्यवस्था, सूक्ष्मता और विस्तार से विवेचन किया गया है। यह विवेचन प्रथम तीन खंडों में जीव के कर्तृत्व की अपेक्षा से और अंतिम तीन खंडों में कर्मप्रवृत्तियों के स्वरूप की अपेक्षा से हुआ है। इसी विभागानुसार नेमिचन्द्र आचार्य ने इन्हीं के संक्षेप रूप गोम्मटसार ग्रंथ के दो भाग किये हैं—एक जीवकांड और दूसरा कर्मकांड। इन ग्रन्थों पर श्रुतावतार कथा के अनुसार क्रमशः अनेक टीकाएं लिखी गईं जिनके कर्ताओं के नाम कुंदकुंद, श्यामकुंड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और बप्पदेव उल्लिखित मिलते हैं, किन्तु ये टीकाएं अप्राप्य हैं। जो टीका इस ग्रन्थ की उक्त प्रतियों पर से मिली है, वह वीरसेनाचार्यकृत घबला नाम की है, जिसके कारण ही इस ग्रन्थ की ख्याति घबल सिद्धान्त के नाम से पाई जाती है। टीकाकार ने अपनी जो प्रसस्ति ग्रन्थ के अंत में लिखी है, उसपर से उसके पूर्ण होने का

समय कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी, शक सं० ७३८=ई० सन् ८१६ सिद्ध होता है। इस प्रशस्ति में वीरसेन ने अपने पंचस्तूप ग्रन्थ का, विद्यागुरु एलाचार्य का, तथा दीक्षागुरु आर्यनन्दि व दादागुरु चन्द्रसेन का भी उल्लेख किया है। इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार कथा के अनुसार एलाचार्य ने चित्रकूटपुर में रहकर वीरसेन को सिद्धान्त पढ़ाया था। पश्चात् वीरसेन ने वाटप्रभम में जाकर अपनी यह टीका लिखी। वीरसेन की टीका का प्रमाण बहल्लर हजार श्लोक अनुमान किया जाता है।

शौरसेनी भागम की भाषा—

बबला टीका की भाषा गद्यात्मक प्राकृत है, किन्तु यत्र तत्र संस्कृत का भी प्रयोग किया गया है। यह शैली जैन साहित्यकारों में सुप्रचलित रही है, और उसे मणि-प्रवाल शैली कहा गया है। टीका में कहीं कहीं प्रमाण रूप से प्राचीन गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस ग्रन्थ में हमें प्राकृत के तीन स्तर मिलते हैं—एक सूत्रों की प्राकृत जो स्पष्टतः अधिक प्राचीन है तथा शौरसेनी की विशेषताओं को लिये हुए भी कहीं कहीं अर्द्धमागधी से प्रभावित है। शौरसेनी प्राकृत का दूसरा स्तर हमें उद्धृत गाथाओं में मिलता है, और तीसरा टीका की गद्य रचना में। यहाँ उद्धृत गाथाओं में की अनेक गोमटसार में भी जैसी की तैसी पाई जाती हैं; भेद यह है कि वहाँ शौरसेनी महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ कुछ अधिकता से मिश्रित दिखाई देती हैं।

यहां प्राकृत भाषा के ऐतिहासिक विकास सम्बन्धी कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीनतम प्राकृत साहित्य तथा प्राकृत व्याकरणों में हमें मुख्यतः तीन भाषाओं का स्वरूप, उनके विशेष लक्षणों सहित, दृष्टिगोचर होता है। मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी। मागधी और अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। शौरसेनी का प्राचीनतम रूप हमें अशोक (ई० पू० तीसरी शती) की गिरनार शिला पर खुदी हुई चौदह धर्मलिपियों में दृष्टिगोचर होता है। यहां कारक व क्रिया रूपों के सरलीकरण के अतिरिक्त जो संस्कृत की ध्वनियों में सरलता के लिये उत्पन्न हुए हेरफेर पाये जाते हैं, उनमें मुख्य परिवर्तन हैं : संयुक्त व्यंजनों का समीकरण या एक वर्ण का लोप; जैसे धर्म का धम्म, कर्म का कम्म, पश्यति का पसति, पुत्र का पुत, कल्याण का कलाण, आदि। तत्पश्चात् अश्वघोष (प्रथम शती ई०) के नाटकों में उक्त परिवर्तन के अतिरिक्त हमें अघोष वर्णों के स्थान पर उनके अनुरूप सघोष वर्णों का आदेश मिलता है ; जैसे क का ग, च का ज, त का द, और थ का ध। इसके अनन्तर काल में जो प्रवृत्ति भास, कालिदास आदि के नाटकों की प्राकृतों में

दिखाई देती है, वह है-मध्यवर्ती असंयुक्त वर्णों का लोप तथा महाप्रास वर्णों के स्थान पर 'ह' आदेश। यही प्रवृत्ति महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण माना गया है, और इसका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी के पश्चात् का स्वीकार किया जाता है। दण्डी के उल्लेखानुसार प्राकृत (शौरसेनी) ने महाराष्ट्र में जाने पर जो रूप धारण किया, वही उत्कृष्ट प्राकृत महाराष्ट्री कहलाई (महाराष्ट्राध्यायां नाष्ठां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः-काव्यादर्श) और इसी महाराष्ट्री प्राकृत में सेतुबन्धादि काव्यों की रचना हुई है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अर्द्धमागधी आगम में भी ये महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हुई पाई जाती हैं। भारत के उत्तर व पश्चिम प्रदेशों में जो प्राकृत ग्रंथ लिखे गये, उनमें भी इन प्रवृत्तियों का आंशिक समावेश पाकर पाश्चात्य विद्वानों ने उनकी भाषा को 'जैन महाराष्ट्री' की संज्ञा दी है। किन्तु जिन षट्संज्ञागमादि रचनाओं का ऊपर परिचय दिया गया है, उनमें प्रधान रूप से शौरसेनी की ही मूल प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं और महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ गौण रूप से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। इस कारण इन रचनाओं की भाषा को 'जैन शौरसेनी' कहा गया है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब महाराष्ट्र प्रदेश और उससे उत्तर की भाषा में महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियाँ पूर्ण या बहुत रूप से प्रविष्ट हो गई, तब महाराष्ट्र से सुदूर दक्षिण प्रदेश में लिखे गये ग्रन्थ इस प्रवृत्ति से कैसे बचे, या अपेक्षाकृत कम प्रभावित हुए ? इस प्रश्न का समाधान यही अनुमान किया जा सकता है कि जिस मुनि-सम्प्रदाय में ये ग्रन्थ लिखे गये उसका दक्षिण प्रदेश में आगमन महाराष्ट्री प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होने से पूर्व ही हो चुका था और आर्येतर भाषाओं के बीच में लेखक अपने उस प्रान्तीय भाषा के रूप का ही अभ्यास करते रहने के कारण, वे महाराष्ट्री के बढ़ते हुए प्रभाव से बचे रहे या कम प्रभावित हुए। इसी भाषा-विकास-क्रम का कुछ स्वरूप हमें उक्त स्तरों में दिखाई देता है।

षट्संज्ञागम के टीकाकार के सम्मुख जैन सिद्धान्त विषयक विशाल साहित्य उपस्थित था। उन्होंने संतकम्मपाहुड, कषायपाहुड, सम्मति सुत्त, तिलोयपण्णत्ति सुत्त, पंचत्थिपाहुड, तत्त्वार्थसूत्र, आचारांग, षट्ठकेर कृत मूलाचार, पूज्यपाद कृत सारसंग्रह, अकलंक कृत तत्त्वार्थ भाष्य, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, जीवसमास, छेदसूत्र, कम्मप्रवाद, दशकरणी संग्रह आदि के उल्लेख किये हैं। इनमें से अनेक ग्रन्थ तो सुविख्यात हैं, किन्तु कुछ का जैसे पूज्यपाद कृत सारसंग्रह, जीवसमास, छेदसूत्र, कम्मप्रवाद और दशकरणी संग्रह का कोई पता नहीं चलता। इसी प्रकार उन्होंने अपने गणित संबंधी विवेचन में परिकर्म का उल्लेख किया है, तथा व्याकरणात्मक विवेचन में कुछ ऐसे सूत्र व गायार्थ

उद्धृत की है, जिनसे प्रतीत होता है कि उनके सम्मुख कोई पञ्चात्मक प्राकृत व्याकरण का ग्रन्थ उपस्थित था, जो अब प्राप्त नहीं है। स्वयं षट्खंडागम सूत्रों की उनके सम्मुख अनेक प्रतियाँ थीं, जिनमें पाठभेद भी थे, जिनका उन्होंने अनेकस्थलों पर स्पष्ट उल्लेख किया है। कहीं कहीं सूत्रों में परस्पर विरोध देखकर टीकाकार ने सत्यासत्य का निर्णय करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है, और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र है और कौन असूत्र इसका निर्णय आगम में निपुण आचार्य करें। कहीं कहा है—इसका निर्णय तो चतुर्दश-पूर्वधारी या केवलज्ञानी ही कर सकते हैं; किन्तु वर्तमान काल में वे हैं नहीं, और उनके पास से उपदेश पाकर आये हुए भी कोई विद्वान् नहीं पाये जाते, अतः सूत्रों की प्रामाणिकता नष्ट करने से डरने वाले आचार्यों को दोनों सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये। कहीं कहीं सूत्रों पर उठाई गई शंका पर उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि इस विषय की पूछताछ गौतम गणधर से करना चाहिये; हमने तो यहाँ उनका अभिप्राय कह दिया। टीका के अनेक उल्लेखों पर से ज्ञात होता है कि सूत्रों का अध्ययन कई प्रकार से चलता था। कोई सूत्राचार्य थे, तो कोई निक्षेपाचार्य और कोई व्याख्यानाचार्य। इनसे भी ऊपर महावाचकों का पद था। कषाय-प्राभृत के प्रकाण्ड ज्ञाता आर्य मंक्षु और नागहस्ति को अनेक स्थानों पर महावाचक कहा गया है। आर्य नंदी महावाचक का भी उल्लेख आया है। सैद्धान्तिक मतभेदों के प्रसंग में टीकाकार ने अनेक स्थानों पर उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति का उल्लेख किया है, जिनमें से वे स्वयं दक्षिण प्रतिपत्ति को स्वीकार करते थे, क्योंकि वह सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परम्परागत है। कुछ प्रसंगों पर उन्हें स्पष्ट आगम परम्परा प्राप्त नहीं हुई, तब उन्होंने अपना स्वयं स्पष्ट मत स्थापित किया है और यह कह दिया है कि शास्त्र प्रमाण के अभाव में उन्होंने स्वयं अपने युक्तिबल से अमुक बात सिद्ध की है। विषय चाहे दार्शनिक हो और चाहे गणित जैसा शास्त्रीय, वे उस पर पूर्ण विवेचन और स्पष्ट निर्णय किये बिना नहीं रुकते थे। इसी कारण उनकी ऐसी असाधारण प्रतिभा को देखकर ही उनके विद्वान् शिष्य आचार्य जिनसेन ने उनके विषय में कहा है कि—

यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञां वृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् ।

जाताः सर्वज्ञ-सद्भावे निरारेका मनस्विनः ॥

अर्थात् उनकी स्वाभाविक सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर विद्वज्जन सर्वज्ञ के सद्भाव के विषय में निस्सन्देह हो जाते थे। इस टीका के आलोड़न से हमें तत्कालीन

सैद्धांतिक विवेचन, वादविवाद व गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

नेमिचन्द्र (११वीं शती) की रचनाएं

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, इसी षट्खंडागम और उसकी ध्वला टीका के आधार से गोम्मटसार की रचना हुई, जिसके ७३३ गाथाओं युक्त जीवकांड तथा ६६२ गाथाओं युक्त कर्मकांड नामक खंडों में उक्त आगम का समस्त कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी सार निचोड़ लिया गया है, और अनुमानतः इसी के प्रचार से मूल षट्खंडागम के अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली समाप्त हो गई। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्रने अपनी कृति के अंत में गर्व से कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती षट्खंड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा सिद्ध करता है, उसी प्रकार मैंने अपनी बुद्धि रूपी चक्र से षट्खंडागम को सिद्ध कर अपनी इस कृति में भर दिया है। इसी सफल सैद्धांतिक रचना के कारण उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई और तत्पश्चात् यह उपाधि अन्य अनेक आचार्यों के साथ भी संलग्न पाई जाती है। संभवतः त्रैविद्यदेव की उपाधि वे आचार्य धारण करते थे, जो इस षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों के पारगामी हो जाते थे। इन उपाधियों ने ध्वलाकार के पूर्व की सूत्राचार्य आदि उपाधियों का लोप कर दिया। उन्होंने अपनी यह कृति गोम्मटाराय के लिये निर्माण की थी। गोम्मट गंगनरेश राचभल्ल के मंत्री चामुंडाराय का ही उपनाम था, जिसका अर्थ होता है—सुन्दर, स्वरूपवान्। इन्होंने चामुंडाराय ने मैसूर के श्रवण बेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बहुबलि की उस प्रख्यात मूर्ति का उद्घाटन कराया था, जो अपनी विशालता और कलात्मक सौन्दर्य के लिये कोई उपमा नहीं रखती। समस्त उपलभ्य प्रमाणों पर से इस मूर्ति की प्रतिष्ठा का समय रविवार दि० २३ मार्च सन् १०२८, चैत्र शुक्ल पंचमी, शक सं० ६५१ सिद्ध हुआ है। कर्मकांड की रचना तथा इस प्रतिष्ठा का उल्लेख कर्मकाण्ड की ६६८ वीं गाथा में साथ-साथ आया है। अतएव लगभग यही काल गोम्मटसार की रचना का माना जा सकता है। इन रचनाओं के द्वारा षट्खंडागम के विषय का अध्ययन उसी प्रकार सुलभ बनाया गया जिस प्रकार उपर्युक्त निर्युक्तियों और भाष्यों द्वारा श्रुतांगों का। गोम्मटसार पर संस्कृत में दो विशाल टीकाएं लिखी गईं—एक जीवप्रबोधिनी नामक टीका केशव वर्णी द्वारा, और दूसरी मंदप्रबोधिनी नामकी टीका श्रीमदभयचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती के द्वारा। कुछ संकेतों के आधार से प्रतीत होता है कि गोम्मटसार पर चामुंडाराय ने भी कसब में एक वृत्ति लिखी थी, जो अब नहीं मिलती। इनके आधार

से हिंदी में इसकी सम्म्यग्ज्ञान-चन्द्रिका नामक वचनिका पं० टोडरमल जी ने सं० १८१८ में समाप्त की । गोम्मटसार से सम्बद्ध एक और कृति लब्धिसार नामक है, जिसमें आत्मशुद्धि रूप लब्धियों को प्राप्त करने की विधि समझाई गयी है । अपनी ब्रह्मसंग्रह नामक एक ५८ गाथायुक्त अन्य कृति द्वारा नेमिचन्द्र ने जीव तथा अजीव तत्त्वों को विधिवत् समझाकर एक प्रकार से संपूर्ण जैन तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन कर दिया है । लब्धिसार के साथ साथ एक कृति अमरणासार भी मिलती है, जिसमें कर्मों को खपाने की विधि समझाई गई है । इसकी प्रशस्ति के अनुसार इसे माधवचन्द्र त्रैविद्यने बाहुबलि मंत्री की प्रार्थना से लिखकर शक सं० ११२५ (ई० सन् १२०३) में पूर्ण किया था ।

षट्खंडागम की परम्परा की द्वितीय महत्वपूर्ण रचना है पंचसंग्रह, जो अभी प्रकाशित हुई है । इसमें नामानुसार पांच अधिकार (प्रकरण) हैं: जीवसमास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्त्व, शतक और सत्तर अर्थात् सप्ततिका, जिनमें क्रमानुसार २०६, १२, ७७, १०५ और ७० गाथाएं हैं । प्रकृति समुत्कीर्तन में कुछ भाग गद्यात्मक भी है । इसकी बहुतसी गाथाएं ध्वला और गोम्मटसार के समान ही हैं । अंतिम दो प्रकरणों पर गाथाबद्ध भाष्य भी है, जिसकी गाथाएं भी गोम्मटसार से मिलती हैं । ये भाष्य गाथाएं मूलग्रन्थ से मिश्रित पाई जाती हैं । शतक नामक प्रकरण के आदि में कर्ता ने स्पष्ट कहा है कि मैं यहां कुछ गाथाएं दृष्टिवाद से लेकर कहता हूं (बोच्छं कविबइ गाहाओ दिट्ठिवावाओ) । शतक के अंत में १०३ वीं गाथा में कहा गया है कि यहां बंध-समास का वर्णन कर्म-प्रवाद नामक श्रुतसागर का रस मात्र ग्रहण करके किया गया है । जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, कर्मप्रवाद दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वों में से आठवें पूर्व का नाम था । उसी प्रकार सप्तति के प्रारंभ में कहा गया है कि मैं यहां दृष्टिवाद के सार को संक्षेप से कहता हूं (बोच्छं संखेवेणं निस्संबं दिट्ठिवावादी) । प्रत्येक प्रकरण मंगलाचरण और प्रतिज्ञात्मक गाथाओं से प्रारंभ होता है, और अपने अपने रूप में परिपूर्ण है । इससे प्रतीत होता है कि आदित: ये पांचों प्रकरण स्वतंत्र रचनाओं के रूप में रहे हैं । इनपर एक संस्कृत टीका भी है, जिसके कर्ता ने अपना परिचय शतक की अंतिम गाथा की टीका में दिया है । यहां उन्होंने मूलसंघ के विद्यानंदि गुरु, भट्टारक मल्लिभूषण, मुनि लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र, उनके पट्टवर्ती ज्ञानभूषण गणि और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र यति के नाम लिये हैं । ये प्रभाचन्द्र ही इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं । उक्त आचार्य-परम्परावर्ती प्रभाचन्द्र का काल संवत् १६२५ से १६३७ तक पाया जाता है । उक्त प्रशस्तिके अन्तकी पुष्पिका में मूल ग्रन्थ को पंचसंग्रह अपर नाम लघुगोम्मटसार सिद्धान्त, कहा है । इस पर से अनुमान होता है कि मूल शतक अथवा उसकी भाष्य-गाथाओं का

संकलन गोम्मटसार पर से किया गया है। इसी पंचसंग्रह के आधार से अमितमति ने संस्कृत श्लोकबद्ध पंचसंग्रह की रचना की, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार वि० सं० १०७३ (ई० सन् १०१६) में मसूरिकापुर नामक स्थान में समाप्त हुई। इसमें पाँचों अधिकारों के नाम पूर्वोक्त ही हैं, तथा दृष्टिवाद और कर्मप्रवाद के उल्लेख ठीक पूर्वोक्त प्रकार से ही आये हैं। यदि हम इसका आधार प्राकृत पंचसंग्रह को न माने तो यहां शतक और सप्तति नामक अधिकारों की कोई सार्थकता ही सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इनमें श्लोक-संख्या उससे बहुत अधिक पाई जाती है। किन्तु जब संस्कृत रूपान्तरकारने अधिकारों के नाम वे ही रखे हैं, तब उन्होंने भी मूल और भाष्य आधारित श्लोकों को अलग अलग रखा हो तो आश्चर्य नहीं। प्राकृत मूल और भाष्य को सम्मुख रखकर, संभव है श्लोकों का उक्त प्रकार पृथक्त्व किया जा सके।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी एक प्राकृत पंचसंग्रह पाया जाता है जिसके कर्ता पाद्वर्षि के शिष्य चंद्रर्षि हैं। उनका काल छठी शती अनुमान किया जाता है। इस ग्रन्थ में ६६३ गाथाएँ हैं जो शतक, सप्तति, कषायपाहुड, षट्कर्म और कर्मप्रकृति नामक पांच द्वारों में विभाजित हैं। ग्रन्थ पर मलयगिरि की टीका उपलब्ध है।

शिवशर्म कृत कर्मप्रकृति (कम्मपयडि) में ४१५ गाथाएँ हैं और वे बंधन, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, उपशमना, उदय और सत्ता इन आठ करणों (अध्यायों) में विभाजित हैं। इस पर एक चूर्णि तथा मलयगिरि और यशोविजय की टीकाएँ उपलब्ध हैं।

शिवशर्म की दूसरी रचना शतक नामक भी है। गर्गर्षि कृत कर्मविपाक (कम्मविवाग) तथा जिनवल्लभगणि कृत षडशीति (सडसीइ) एवं कर्मस्तव (कम्मत्थव) बंधस्वामित्व (सामित्त) और सप्ततिका (सत्तरी) अनिश्चित कर्ताओं की उपलब्ध हैं, जिनमें कर्म सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न प्रकरणों का अतिसंक्षेप में मुख्यवस्थित वर्णन किया गया है। ये छहों रचनाएँ प्राचीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन पर नाना कर्ताओं की चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, टिप्पण आदि रूप टीकाएँ पाई जाती हैं। सत्तरी पर अमयदेव सूरि कृत भाष्य तथा मेरुतुंग की वृत्ति (१४ वीं शती) उपलब्ध हैं।

ईस्वी की १३वीं शती में जगन्मन्त्र सूरि के शिष्य देवेन्द्र सूरि ने कर्मविपाक (गा० ६०), कर्मस्तव (गा० ३४), बंधस्वामित्व (गा० २४), षडशीति (गा० ८६) और शतक (गा० १००), इन पांच ग्रन्थों की रचना की, जो मने कर्मग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पर उन्होंने स्वयं विवरण भी लिखा है। छठा नव्य कर्मग्रन्थ प्रकृति-बंध विषयक ७२ गाथाओं में लिखा गया है, जिसके कर्ता के विषय में अनिश्चय है। इस पर मलयगिरि कृत टीका मिलती है।

जिनभद्र गणी कृत विशेषणवती (६वीं शती) में ४०० गाथाओं द्वारा ज्ञान, दर्शन, जीव, अजीव आदि नाना प्रकार से द्रव्य-प्ररूपण किया गया है।

जिनवल्लभसूरि कृत सार्धशतक का दूसरा नाम 'सूक्ष्मार्थ विचारसार' है जिसमें सिद्धान्त के कुछ विषयों पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस पर एक भाष्य, मूनचन्द्र कृत चूर्णि तथा हरिभद्र, धनेश्वर और चक्रेश्वर कृत चूर्णियों के उल्लेख मिलते हैं। मूल रचना का काल लगभग ११०० ईस्वी पाया जाता है।

जीवसमास नामक एक प्राचीन रचना २८६ गाथाओं में पूर्ण हुई है, और उसमें सत्, संख्या आदि सात प्ररूपणों द्वारा जीवादि द्रव्यों का स्वरूप समझाया गया है। इस ग्रन्थ पर एक बृहद् वृत्ति मिलती है, जो मलधारी हेमचन्द्र द्वारा ११०७ ईस्वी में लिखी गई ७००० श्लोक प्रमाण है।

जैन सिद्धान्त में मन, वचन और काय योग के भेद-प्रभेदों का वर्णन आता है गोम्मटसारादि रचनाओं में यह पाया जाता है। यशोविजय उपाध्याय (१८वीं शती) ने अपने भाषारहस्य-प्रकरण की १०१ गाथाओं में द्रव्य व भाव-आत्मक भाषा के स्वरूप तथा सत्यभाषा के जनपद-सत्या, सम्मत-सत्या, नामसत्या आदि दश भेदों का निरूपण किया है।

षट्खंडागम सूत्रों की रचना के काल में ही गुणधर आचार्य द्वारा कसायपाहुड की रचना हुई। यथार्थतः कहा नहीं जा सकता कि धरसेन और गुणधर आचार्यों में कौन पहले और कौन पीछे हुए। श्रुतावतार के कर्ता ने स्पष्ट कह दिया है कि इन आचार्यों की पूर्वापर परम्परा का उन्हें कोई प्रमाण नहीं मिल सका। कसायपाहुड की रचना षट्खंडागम के समान सूत्र रूप नहीं, किन्तु पद्यबद्ध है। इसमें २३३ मूल गाथाएँ हैं, जिनका विषय कषायो अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के स्वरूप का विवेचन और उनके कर्मबन्ध में कारणीभूत होने की प्रक्रिया का विवरण करना है। ये चारों कषाय पुनः दो वर्गों में विभाजित होते हैं—प्रेयस् (राग) और द्वेष, और इसी कारण ग्रन्थ का दूसरा नाम पेज्जदोस पाहुड पाया जाता है। इस पाहुड को आर्यमंथु और नागहस्ति से सीखकर, यतिवृषभाचार्य ने उस पर छह हजार श्लोक प्रमाण वृत्तिसूत्र लिखे; जिन्हें उच्चारणाचार्य ने पुनः पल्लवित किया। इन पर वीरसेनाचार्य ने अपनी जयधवला टीका लिखी। इसे वे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखकर स्वर्गवासी हो गये; तब उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिख कर उसे पूरा किया। यह रचना शक सं० ७५६ (ई० सन् ८३७) में पूरी हुई, जबकि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष का राज्य था। इस टीका की रचना भी धवला के समान

मणि-प्रवाल न्याय से बहुत कुछ प्राकृत, किन्तु यत्र-तत्र संस्कृत में हुई है। इस रचना के मूडबद्री के सिद्धान्त वसति से बाहर आने का इतिहास वही है, जो षट्खंडागम का।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ—

प्राकृत पाहुडों की रचना की परम्परा में कुंदकुंद आचार्य का नाम सुविख्यात है। यथार्थतः दिग० सम्प्रदाय में उन्हें जो स्थान प्राप्त है, वह दूसरे किसी ग्रन्थकार को नहीं प्राप्त हो सका। उनका नाम एक मंगल पद्य में भगवान् महावीर और गीतम के पश्चात् ही तीसरे स्थान पर आता है—“मंगलं भगवान् बीरो मंगलं गीतमो गणी । मंगलं कुन्दकुन्दाचार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम् ।” दक्षिण के शिलालेखों में इन आचार्य का नाम कोडकुंद पाया जाता है, जिससे उनके तामिल देशवासी होने का अनुमान किया जा सकता है। श्रुतावतार के कर्ता ने उन्हें कोडकुंद-पुर वासी कहा है। मद्रास राज्य में गुतकल के समीप कुंडकुंडी नामक ग्राम है, जहाँ की एक गुफा में कुछ जैन मूर्तियाँ स्थापित हैं। प्रतीत होता है कि यही कुंदकुन्दाचार्य का मूल निवास-स्थान व तपस्या-भूमि रहा होगा। आचार्य ने अपने ग्रन्थों में अपना कोई परिचय नहीं दिया, केवल बारस अणुवेक्खा की एक प्रति के अंत में उसके कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य कहे गये हैं। इसके अनुसार कवि का काल ई० पू० तीसरी चौथी शताब्दी मानना पड़ेगा। किन्तु एक तो वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की जो आचार्य-परम्परा सुसम्बद्ध और सर्वमान्य पाई जाती है, उसमें कुन्दकुन्द का कही नाम नहीं आता, और दूसरे भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाएं इतनी प्राचीन सिद्ध नहीं होती। उनमें अधोष वर्णों के लोप, य-श्रुति का आगमन आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो उन्हें ई० सन् से पूर्व नहीं, किन्तु उससे पश्चात् कालीन सिद्ध करती हैं। पांचवी शताब्दी में हुए आचार्य देवनंदी पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्ध टीका में कुछ गाथाएं उद्धृत की हैं, जो कुन्दकुन्द की बारस-अणुवेक्खा में भी पाई जाने से वही से ली हुई अनुमान की जा सकती है। बस यही कुन्दकुन्दाचार्य के काल की अंतिम सीमा कही जा सकती है। मर्करा के शक संवत् ३८८ के ताम्रपत्रों में उनके आम्नाय का नाम पाया जाता है, किन्तु अनेक प्रबल कारणों से ये ताम्रपत्र जाली सिद्ध होते हैं। अन्य शिलालेखों में इस आम्नाय का उल्लेख सातवीं आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं पाया जाता। अतएव वर्तमान प्रमाणों के आधार पर निश्चयतः इतना ही कहा जा सकता है कि वे ई० की पांचवीं शताब्दी के प्रारंभ व उससे पूर्व हुए हैं।

मान्यतानुसार कुंदकुन्दाचार्य ने कोई चौरासी पाहुडों की रचना की। किन्तु वर्तमान

में इनकी निम्न रचनाएं सुप्रसिद्ध हैं—(१) समयसार (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय, (४) नियमसार, (५) रयणसार, (६) दशभक्ति, (७) अष्ट पाहुड और (८) बारस अणुवेक्खा । समयसार जैन अध्यात्म की एक बड़ी उत्कृष्ट रचना मानी जाती है, और उसका आदर जैनियों के सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाया जाता है । इसमें आत्मा के गुणधर्मों का, निश्चय और व्यवहार दृष्टियों से, विवेचन किया गया है । तथा उसकी स्वाभाविक और वैभाविक परिणतियों का मुन्दर निरूपण अनेक दृष्टान्तों, उदाहरणों, व उपमाओं सहित ४१५ गाथाओं में हुआ है । प्रवचनसार की २७५ गाथाएं ज्ञान, ज्ञेय व चारित्र नामक तीन श्रुतस्कंधों में विभाजित हैं । यहां आचार्य ने आत्मा के मूलगुण ज्ञान के स्वरूप का सूक्ष्मता से विवेचन किया है, और जीव की प्रवृत्तियों को शुभ होने से पुण्य बंध करने वाली, अशुभ होने से पाप कर्म बंधक, तथा शुद्ध होने से कर्मबंध से मुक्त करनेवाली बतलाया है । ज्ञेय तत्त्वाधिकार में गुण और पर्याय का भेद, तथा व्यवहारिक जीवन में होनेवाले आत्म और पुद्गल संबंध का विवेचन किया है । चारित्राधिकार में श्रमणों की दीक्षा और उसकी मानसिक तथा दैहिक साधनाओं का स्वरूप समझाया है । इस प्रकार यह ग्रंथ अपने नामानुसार जैन प्रवचन का सार सिद्ध होता है । कुंदकुंद की रचनाओं में अभी तक इसी ग्रन्थ का भाषा-त्मक व विषयात्मक सम्पादन व अध्ययन आधुनिक समालोचनात्मक पद्धति से हो सका है ।

पंचास्तिकाय की १८१ गाथाएं दो श्रुतस्कंधों में विभाजित है । प्रथम श्रुतस्कंध १११ गाथाओं में समाप्त हुआ है और इसमें ६ द्रव्यों में से पांच अस्तिकायो अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश का स्वरूप समझाया गया है । अंतिम आठ गाथाएं चूलिका रूप हैं, जिनमें सामान्य रूप से द्रव्यों और विशेषतः काल के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है । दूसरा श्रुतस्कंध महावीर के नमस्कार रूप मंगल से प्रारंभ हुआ है, और इसमें नौ पदार्थों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है; तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाकर, उनका आचरण करने पर जोर दिया गया है । पांच अस्तिकायों के समवाय को ही लेखक ने समय कहा है, एवं अपनी रचना को संग्रहसूत्र (गाथा १०१, १८०) कहा है ।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर दो टीकाएं सुप्रसिद्ध हैं—एक अमृतचन्द्र सूरि कृत और दूसरी जयसेन कृत । अमृतचन्द्र का समय १३ वीं शती का पूर्वार्द्ध व जयसेन का १० वीं का अन्तिम भाग सिद्ध होता है । ये दोनों ही टीकाएं बड़ी विद्वत्सापूर्ण हैं, और मूलग्रंथों के मर्म को तथा जैन सिद्धान्त संबंधी अनेक बातों को

स्पष्टता से समझने में बड़ी सहायक होती हैं। अमृतचन्द्र की समयसार-टीका विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने इस ग्रन्थ को संसार का सच्चा सार स्वरूप दिखलाने वाला नाटक कहा है, जिसपर से न केवल यह ग्रन्थ, किन्तु उक्त तीनों ही ग्रन्थ नाटक-त्रय के नाम से भी प्रख्यात हैं; यद्यपि रचना की दृष्टि से वे नाटक नहीं हैं। अमृतचन्द्र की समयसार टीका में आये श्लोकों का संग्रह 'समयसार कलश' के नाम से एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही बन गया है, जिसपर शुभचन्द्र कृत टीका भी है। इन्हीं कलशों पर से हिन्दी में बनारसीदास ने अपना 'समयसार नाटक' नाम का आध्यात्मिक काव्य रचा है, जिसके विषय में उन्होंने कहा है कि 'नाटक के पढ़त हिया फाटक सो खुलत है'। अमृतचन्द्र की दो स्वतंत्र रचनाएं भी मिलती हैं—एक पुरुषार्थसिद्ध युपाय जो जिन प्रवचन-रहस्य-कोष भी कहलाता है, और दूसरी तत्त्वार्थसार, जो तत्त्वार्थसूत्र का पद्यात्मक रूपान्तर या भाष्य है। कुछ उल्लेखों व अवतरणों पर से अनुमान होता है कि उनका कोई प्राकृत पद्यात्मक ग्रन्थ, संभवतः श्रावकाचार, भी रहा है, जो अभी तक मिला नहीं।

अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओं में मूल ग्रन्थों की गाथा-संख्या भी भिन्न भिन्न पाई जाती है। अमृतचन्द्र के अनुसार पंचास्तिकाय में १७३, समयसार में ४१५ और प्रवचनसार में २७५ गाथाएं हैं, जब कि जयसेन के अनुसार उनकी संख्या क्रमशः १८१, ४३६ और ३११ है।

उक्त तीनों ग्रन्थों पर बालचन्द्र देव कृत कण्ड टीका भी पाई जाती है, जो १२ वी १३ वी शताब्दी में लिखी गई है। यह जयसेन की टीका से प्रभावित है। प्रवचनसार पर प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित सरोज-भास्कर नामक टीका भी है, जो अनुमानतः १४ वी शती की है, और उक्त टीकाओं की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त है।

कुंदकुंद कृत शेष रचनाओं का परिचय चरणानुयोग विषयक साहित्य के अन्तर्गत आता है।

द्रव्यानुयोग विषयक संस्कृत रचनाएं—

संस्कृत में द्रव्यानुयोग विषयक रचनाओं का प्रारम्भ तत्त्वार्थ सूत्र से होता है, जिसके कर्ता उमास्वाति हैं। इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है, किन्तु इसकी सर्वप्रथम टीका पांचवी शताब्दी की पाई जाती है; अतएव मूल ग्रन्थ की रचना इससे पूर्व किसी समय हुई होगी। यह एक ऐसी अद्वितीय रचना है, कि उसपर दिग० श्वे० दोनों सम्प्रदायों की अनेक पृथक् पृथक् टीकाएं पाई जाती हैं। इस ग्रन्थ की रचना सूत्र रूप है और वह दस अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय के ३३ सूत्रों में

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के उल्लेख पूर्वक सम्यग्दर्शन की परिभाषा, सात तत्त्वों के नाम-निर्देश, प्रमाण और नयका उल्लेख एवं मति श्रुत आदि पांचज्ञानों का स्वरूप बतलाया गया है। दूसरे अध्याय में ५३ सूत्रों द्वारा जीवों के भेदोपभेद बतलाये गये हैं। तीसरे अध्याय में ३८ सूत्रों द्वारा अधोलोक और मध्यलोक का, तथा चौथे अध्याय में ४२ सूत्रों द्वारा देवलोक का वर्णन किया गया है। पांचवें अध्याय में छह द्रव्यों का स्वरूप ४२ सूत्रों द्वारा बतलाया गया है, और इस प्रकार सात तत्त्वों में से प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का प्ररूपण समाप्त किया गया है। छठे अध्याय में २७ सूत्रों द्वारा आस्रव तत्व का निरूपण समाप्त किया गया है, जिसमें शुभाशुभ परिणामो द्वारा पुण्य पाप रूप कर्मास्रव का वर्णन है। सातवें अध्याय में अहिंसादि व्रतो तथा उनसे सम्बद्ध भावनाओं का ३९ सूत्रों द्वारा वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय के २६ सूत्रों में कर्मबन्ध के मिथ्यादर्शनादि कारण, प्रकृति स्थिति आदि विधियो, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मभेदों और उनके उपभेदों को स्पष्ट किया गया है। नौवें अध्याय में ४७ सूत्रों द्वारा अनागत कर्मों को रोकने के उपाय रूप सवर, तथा बंधे हुए कर्मों के विनाश रूप निर्जरा तत्त्वों को समझाया गया है। दसवें अध्याय में नौ सूत्रों द्वारा कर्मों के क्षय से उत्पन्न मोक्ष का स्वरूप समझाया गया है। इस प्रकार छोटे छोटे ३५६ सूत्रों द्वारा जैन धर्म के मूलभूत सात तत्त्वों का विधिवत् निरूपण इस ग्रन्थ में आ गया है, जिससे इस ग्रन्थ को समस्त जैन सिद्धान्त की कुंजी कहा जा सकता है। इसी कारण यह ग्रन्थ लोक प्रियता और सुविस्तृत प्रचार की दृष्टि से जैन साहित्य में अद्वितीय है। दिग० परम्परा में इसकी प्रमुख टीकाएं देवन्दि पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि (५वीं शती), अकलंक कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक (आठवीं शती) तथा विद्यानंदि कृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (नौवीं शती) एवं इवे० परम्परा में स्वोपज्ञ भाष्य तथा सिद्धसेन गरिण कृत टीका (आठवीं शती) हैं। इन टीकाओं के द्वारा मूल ग्रन्थ का सूत्रों द्वारा संक्षेप में वर्णित विषय खूब पल्लवित किया गया है। इनके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ पर छोटी बड़ी और भी अनेक टीकाएं उत्तर काल में लिखी गई हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के विषय को लेकर उसके भाष्य रूप स्वतंत्र पद्यात्मक रचनाएं भी की गई हैं। इनमें अमृतचन्द्रसूरि कृत तत्त्वार्थसार विशेष उल्लेखनीय है।

न्याय विषयक प्राकृत जैन साहित्य—

जैन आगम सम्मत तत्त्वज्ञान की पुष्टि अनेक प्रकार की न्यायशैलियों में की गई है, जिन्हें स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नयवाद आदि नामों से कहा गया है। इन न्याय

शैलियों का स्फुटरूप से उल्लेख व प्रतिपादन तो जैन साहित्य में आदि से ही यत्र तत्र आया है, तथापि इस विषय के स्वतंत्र ग्रन्थ चौथी पांचवी शताब्दी से रचे गये मिलते हैं। जैन न्यायका प्राकृत में प्रतिपादन करने वाला सर्व प्रथम ग्रन्थ सिद्धसेन कृत 'सम्मद सुत्त' (सन्मति या सम्मति तर्क) या सन्मति-प्रकरण है। सन्मति-तर्क को तत्त्वार्थसूत्र के समान ही दिग० श्वे० दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने प्रमाण रूप से स्वीकृत किया है। षट्खडागम की धवला टीका में इसके उल्लेख व उद्धरण मिलते हैं, तथा बादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित (शक ६४७) में इसका व संभवतः उस पर सन्मति (सुमतिदेव) कृत विवृत्ति का उल्लेख किया है। इसका रचना काल चौथी-पांचवी शताब्दी ई० है। इसमें तीन कांड हैं, जिनमें क्रमशः ५४, ४३ और ६६ या ७० गाथाएं हैं। इस पर अभयदेव कृत २५००० श्लोक प्रमाण 'तत्त्वबोध विधायिनी' नामकी टीका है, जिसमें जैन न्याय के साथ साथ जैन दर्शन का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इससे पूर्व मल्लवादी द्वारा लिखित टीका के भी उल्लेख मिलते हैं। प्राकृत में स्याद्वाद और नयका प्ररूपण करने वाले दूसरे आचार्य देवसेन हैं, जो दसवी शताब्दी में हुए हैं। उनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं: एक लघु-नयचक्र, जिसमें ८७ गाथाओं द्वारा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो तथा उनके नैगमादि नौ नयों को उनके भेदोपभेद के उदाहरणों सहित समझाया है। दूसरी रचना बृहन्नयचक्र है, जिसमें ४२३ गाथाएं हैं, और उसमें नयों व निक्षेपों का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। रचना के अंत की ६, ७ गाथाओं में लेखक ने एक यह महत्वपूर्ण बात बतलाई है कि आदितः उन्होंने 'द्वव-सहाव-पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) नाम से इस ग्रन्थ की रचना दोहा बंध में की थी, किन्तु उनके एक शुभंकर नामके मित्र ने उसे सुनकर हंसते हुए कहा कि यह विषय इस छंद में शोभा नहीं देता; इसे गाथा बद्ध कीजिये। अतएव उसे उनके माहल्ल-धवल नामक शिष्य ने गाथा रूप में परिवर्तित कर डाला। स्याद्वाद और नयवाद का स्वरूप, उनके पारिभाषिक रूप में, व्यवस्था से समझने के लिये देवसेन की ये रचनाएँ बहुत उपयोगी हैं। इनकी न्यायविषयक एक अन्य रचना 'आलाप-पद्धति' है। इसकी रचना संस्कृत गद्य में हुई है। जैन न्याय में सरलता से प्रवेश पाने के लिये यह छोटा सा ग्रन्थ बहुत सहायक सिद्ध होता है। इसकी रचना नयचक्र के पश्चात् नयों के सुबोध व्याख्यान रूप हुई है।

न्याय विषयक संस्कृत जैन साहित्य—

जैन न्याय की इस प्राचीन शैली को परिपुष्ट बनाने का श्रेय आचार्य समंतभद्र

(५-वीं ६ ठी शती) को है, जिनकी न्याय विषयक **आप्तमीमांसा** (११४ श्लोक) और **युक्त्यनुशासन**, (६४ श्लोक), ये दोनों रचनाएं प्राप्त हैं। **आप्तमीमांसा** को देवागम स्तोत्र भी कहा गया है। ये दोनों कृतियां स्तुतियों के रूप में रची गई हैं, और उनमें विषय की ऊहापोह एवं खंडन-मंडन स्याद्वाद की सप्तभंगी व नयों के आश्रय से किया गया है; और उनमें विशेष रूप से एकांतवाद का खंडन कर अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है। इसी अनेकान्तवाद के आधारपर युक्त्यनुशासन में महावीर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा गया है। इस रचना का दिग० सम्प्रदाय में बड़ा आदर हुआ है, और उसपर विशाल टीका साहित्य पाया जाता है। सबसे प्राचीन टीका भट्टकालंककृत **अष्टशती** है, जिसे आत्मसात् करते हुए विद्यानंदि आचार्य ने अपनी **अष्टसहस्री** नामक टीका लिखी है। इस टीका के **आप्तमीमांसा**लंकृति व देवागमालंकृति नाम भी पाये जाते हैं। अन्य कुछ टीकाएं वसुनंदि कृत **देवागम-वृत्ति** (१० वीं शती) तथा लघु समंतभद्र कृत **अष्टसहस्रीविषमपद-तात्पर्यटीका** (१३ वीं शती) नामकी हैं। एक टिप्पणा उपाध्याय यशोविजय कृत भी उपलब्ध है। युक्त्यनुशासन पर विद्यानंदि आचार्य कृत टीका पाई जाती है। इस टीका की प्रस्तावना में कहा गया है कि समन्तभद्र स्वामी ने **आप्तमीमांसा** में 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' द्वारा तीर्थंकर भगवान् को व्यवस्थापित किया, और फिर युक्त्यनुशासन की रचना की। इसके द्वारा हमें उक्त दोनों ग्रन्थों के रचना-क्रम की सूचना मिलती है। विद्यानंदि ने यहाँ जो 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' पद **आप्तमीमांसा** के सम्बन्ध में प्रयोग किया है, उसका आगे बड़ा प्रभाव पड़ा, और हेमचन्द्र ने अपनी एक स्तुति रूप रचना का यही नाम रखा, जिस पर मल्लिकार्जुन ने **स्याद्वाद मंजरी** टीका लिखी। अपनी एक दूसरी स्तुति-रूप रचना को हेमचन्द्र ने 'अयोग-व्यवच्छेदिका' नाम दिया है। समंतभद्र कृत अन्य दो ग्रन्थों अर्थात् **जीव-सिद्धि** और **तत्त्वानुशासन** के नामों का उल्लेख मिलता है, किन्तु ये रचनाएँ अभी तक प्रकाश में नहीं आईं।

संस्कृत में जैन न्याय विषयक संक्षिप्ततम रचना सिद्धसेन कृत **न्यायावतार** उपलब्ध होती है, जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण-भेदों के प्रतिपादन द्वारा जैन न्याय को एक नया मोड़ दिया गया है। इससे पूर्व प्रमाण के मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवल, ये पांच ज्ञानभेद किये जाते थे, जिनमें प्रथम दो परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष माने जाते थे। इसके अनुसार इन्द्रिय-जन्य समस्त ज्ञान परोक्ष माना जाता था। किन्तु वैदिक व बौद्ध परम्परा के न्याय शास्त्रों में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ही मानकर चला गया है। इस ज्ञान को

सम्भवतः जिनभद्रगणि ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में प्रथम बार परोक्ष के स्थान पर 'सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष' की संज्ञा प्रदान की। इसी आधार पर पीछे के न्याय ग्रन्थों में प्रमाण को प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन अथवा उपमान को मिलाकर चार भेदों में विभाजित कर ऊहापोह की जाने लगी। न्यायावतार में कुल ३२ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा उपर्युक्त तीन प्रमाणों का संक्षेप से प्रतिपादन किया गया है। इसी विषय का विस्तार न्यायावतार की हरिभद्र सूरि (८वीं शती) कृत वृत्ति, सिद्धिषि गणि (१०वीं शती) कृत टीका, एवं देवभद्र सूरि (१२ वीं शती) कृत टिप्पणों में किया गया है। शान्तिसूरि (११ वीं शती) ने न्यायावतार की प्रथम कारिका पर सटीक पद्यबंध वार्त्तिक रचा है। इसी प्रथम कारिका पर जिनेश्वर सूरि (११ वीं शती) ने अपना पद्यबंध प्रमालक्षण नामक ग्रन्थ लिखा, और स्वयं उसपर व्याख्या भी लिखी।

जैन न्याय को अकलंक की देन बड़ी महत्वपूर्ण है। अनेक शिलालेखों व प्रशस्तियों के आधार से अकलंक का समय ई० की आठवीं शती का उत्तरार्द्ध विशेषतः ई० ७२०-७८० सिद्ध हो चुका है। इनकी तत्त्वार्थसूत्र तथा आप्तमीमांसा पर लिखी हुई टीकाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उन रचनाओं में हमें एक बड़े नैयायिक की तर्क शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अकलंक की न्यायविषयक चार कृतियाँ प्राप्त हुई हैं—प्रथम कृति लघीयस्त्रय मे प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश तथा प्रवचन-प्रवेश नाम के तीन प्रकरण हैं, जो प्रथमतः स्वतंत्र ग्रन्थ थे, और पीछे एकत्र ग्रथित होकर लघीय-स्त्रयनाम से प्रसिद्ध हो गये। प्रमाण, नय और निक्षेप इन तीनों का तार्किक शैली से एकत्र प्ररूपण करने वाला यही सर्वप्रथम ग्रन्थ सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने प्रत्यक्ष का स्वतंत्र लक्षण स्थिर किया (१, ३), तार्किक कसौटी द्वारा क्षणिक-वाद का खंडन किया (२, १), तर्क का विषय, स्वरूप, उपयोग आदि स्थिर किया; इत्यादि। इसपर स्वयं कर्ता की विवृति नामक टीका मिलती है। इसी पर प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रयालंकार नामकी वह विशाल टीका लिखी जो 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामसे प्रसिद्ध है, और जैन न्याय का एक बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इनका काल ई० की ग्यारहवीं शती है। अकलंक की दूसरी रचना 'न्यायविनिश्चय' है, और उसपर भी लेखक ने स्वयं एक वृत्ति लिखी थी। मूल रचना की कोई स्वतंत्र प्रति प्राप्त नहीं हो सकी, किन्तु उसका उद्धार उनकी वादिराजसूरि (१३ वीं शती) द्वारा रचित विवरण नामकी टीका पर से किया गया है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन नाम के तीन प्रस्ताव हैं, जिनकी तुलना सिद्धसेन द्वारा न्यायावतार में स्थापित प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुत; तथा बौद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान से करने योग्य है। तीसरी

रचना 'सिद्धिविनिश्चय' में प्रत्यक्षसिद्धि, सविकल्प सिद्धि, प्रमाणान्तरसिद्धि व जीवसिद्धि आदि बारह प्रस्तावों द्वारा प्रमाण, नय और निक्षेप का विवेचन किया गया है। इस पर अनन्त-वीर्यकृत (११वीं शती) विशाल टीका है। इनका चौथा ग्रन्थ 'प्रमाण-संग्रह' है, जिसकी ८७-८८ कारिकाएँ नौ प्रस्तावों में विभाजित हैं। इसपर कर्ता द्वारा स्वरचित वृत्ति भी है, जो गद्य मिश्रित शैली में लिखी गई है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का स्वरूप, हेतुओं और हेत्वाभासों का निरूपण, वाद के लक्षण, प्रवचन के लक्षण, सप्तभंगी और नैगमादि सात नयों का कथन, एवं प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण बड़ी प्रौढ़ और गंभीर शैली में किया गया है, जिससे अनुमान होता है कि यही अकलंक की अन्तिम रचना होगी। इसपर अनन्तवीर्य कृत प्रमाणसंग्रह भाष्य, अपर नाम 'प्रमाणसंग्रह-अलंकार टीका' उपलब्ध है। इन रचनाओं द्वारा अकलंक ने जैन न्याय को खूब परिपुष्ट किया है, और उसे उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कराई है।

अकलंक के अनन्तर जैन न्याय विषयक साहित्य को विशेष रूप से परिपुष्ट करने का श्रेय आचार्य विद्यानंद को है, जिनका समय ई० ७७५ से ८४० तक सिद्ध होता है। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की पाई जाती हैं, एक तो उनसे पूर्वकाल की विशेष सैद्धान्तिक कृतियों की टीकाएँ, और दूसरे अपनी स्वतंत्र कृतियाँ। उनकी उमास्वाति कृत त० सूत्र पर श्लोकवार्तिक नामक टीका, समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन की टीका और आप्तमीमांसा पर अष्टसहस्री टीका के उल्लेख यथास्थान किये जा चुके हैं। इन टीकाओं में भी उनकी सैद्धान्तिक प्रतिभा एवं न्याय की तर्क शैली के दर्शन पद-पद पर होते हैं। उनकी न्याय विषयक स्वतंत्र कृतियाँ हैं—**आप्तपरीक्षा**, **प्रमाणपरीक्षा**, **पत्रपरीक्षा** और **सत्याशासन-परीक्षा**। **आप्त-परीक्षा** सर्वार्थसिद्धि के 'भोक्षमार्गस्थ नेतार' आदि प्रथम श्लोक के भाष्य रूप लिखी गई है। विद्यानंद ने अपने प्रमाण-परीक्षादि ग्रन्थों से उस दर्शन-शैली को अपनाया है, जिसके अनुसार प्रतिपादन अन्य ग्रन्थ की व्याख्या रूप से नहीं, किन्तु विषय का स्वतंत्र धारावाही रूप से किया जाता है। इन सब ग्रन्थों में कर्ता ने अकलंक के न्याय को और भी अधिक परिमार्जित करके चमकाया है। उनकी एक और रचना 'विद्यानंद-महोदय' का उल्लेख स्वयं उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में, तथा वादिदेव सूरि के 'स्याद्वाद-रत्नाकर' में मिलता है, किन्तु वह अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है।

विद्यानंद के पश्चात् विशेष उल्लेखनीय नैयायिक अनन्तकीर्ति (१० वीं शती) और माणिक्यनंद (११ वीं शती) पाये जाते हैं। अनन्तकीर्ति की दो रचनाएँ 'बृहत्सर्वज्ञसिद्धि' और 'लघुसर्वज्ञसिद्धि' प्रकाश में आ चुकी हैं। माणिक्यनंद कृत **परीक्षा-श्रुत** में हमें अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन, इन पाँचों अवयवों

के प्रयोग की स्वीकृति दिखाई देती है (३, २७-४६) । यहां अनुपलब्धि को एक मात्र प्रतिषेध का ही नहीं, किन्तु विधि-निषेध दोनों का साधक बतलाया है (३, ५७ आदि) । यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्र कृत 'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड' नामक टीका के द्वारा विशेष प्रख्यात हो गया है । प्रभाचन्द्र कृत 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक टीका का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । प्रभाचन्द्र का काल ई० की ११ वीं शती सिद्ध होता है । १२ वीं शती में अनंतवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला, १५ वीं शती में धर्मभूषण ने न्यायदीपिका, विमल-दास ने सप्तभंगि-सरंगिणी, शुभचन्द्र ने संशयवदनविदारण, तथा अनेक आचार्यों ने पूर्वोक्त ग्रन्थों पर टीका, वृत्ति व टिप्पण रूप से अथवा स्वतंत्र प्रकरण लिखकर संस्कृत में जैन न्यायशास्त्र की परम्परा को १७ वीं-१८ वीं शती तक बराबर प्रचलित रखा; और उसका अध्ययन-अध्यापन उत्तरोत्तर सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया ।

जिस प्रकार दिग० सम्प्रदाय में पूर्वोक्त प्रकार से न्यायविषयक ग्रन्थों की रचना हुई, उसी प्रकार श्वे० सम्प्रदाय में भी सिद्धसेन के पश्चात् संस्कृत में नाना न्यायविषयक ग्रन्थों की रचना की परम्परा १८ वीं शती तक पाई जाती है । मुख्य नैयायिक और उनकी रचनाएं निम्न प्रकार हैं: मल्लवादी ने छठवीं शती में, द्वावशार नयचक्र नामक ग्रन्थ की रचना की जिसपर सिंहसूरिगणि की वृत्ति है और उसी वृत्तिपर से इस ग्रन्थका उद्धार किया गया है । इसमें सिद्धसेन के उद्धरण पाये जाते हैं, तथा भर्तृहरि और दिङ्नाग के मतों का भी उल्लेख हुआ है । इस नयचक्र का कुछ उद्धरण अकलंकके तत्त्वार्थवार्तिक में भी पाया जाता है । आठवीं शती में हरिभद्राचार्य ने न केवल जैन न्याय को, किन्तु जैन सिद्धान्त को भी अपनी बिपुल रचनाओं द्वारा परिपुष्ट बनाया है, एवं कथा साहित्य को भी अलंकृत किया है । उनकी रचनाओं में अनेकान्त जयपताका (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), अनेकान्त-वाद-प्रवेश तथा सर्वज्ञसिद्धि जैन न्याय की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं ।

अनेकान्त-जयपताका में ६ अधिकार है, जिनमें क्रमशः सदसद्-रूप-वस्तु, नित्यानित्यवस्तु, सामान्य-विशेष, अभिलाष्यानभिलाष्य, योगाचार मत, और मुक्ति, इन विषयों पर गम्भीर व विस्तृत न्यायशैली से ऊहापोह की गई है । उक्त विषयों में से योगाचार मत को छोड़कर शेष पांच विषयों पर हरिभद्रने अनेकान्तवाद-प्रवेश नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा, जो भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से अनेकान्तजयपताका का संक्षिप्त रूप ही प्रतीत होता है । यह ग्रन्थ एक टिप्पणी सहित प्रकाशित हो चुका है (पाटन १९१२) । उनके अष्टप्रकरण नामक ग्रन्थ में आठ-आठ पक्षों के ३२

प्रकरण है जिनमें आत्मनित्यवाद, क्षणिकवाद, नित्यानित्य आदि विषयों का निरूपण पाया जाता है। इसपर जिनेश्वर सूरि (११ वी शती) की टीका है। इस टीका में कुछ अंश प्राकृत के हैं, जिनका संस्कृत रूपान्तर टीकाकार के शिष्य अभयदेव सूरि ने किया है। उनकी अन्य दार्शनिक रचनाएं हैं : षट्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय (सटीक), धर्मसंग्रहणी, तत्त्वतरंगिणी व परलोकसिद्धि आदि। धर्मसंग्रहणी में १३६६ गाथाओं द्वारा धर्म के स्वरूप का निक्षेपों द्वारा प्ररूपण किया गया है। प्रसंगवश इसमें चार्वाक मत का खंडन भी आया है। इसपर मलयगिरि कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। उनकी योग विषयक योगबिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योग-शतक, योगविशिका (विंशति विशिका में १७ वी विशिका) एवं षोडशक (१५ वा, १६ वां षोडशक) नामक रचनाएं पातञ्जल योग शास्त्र की तुलना में योग विषयक ज्ञान विस्तार की दृष्टि से अध्ययन करने योग्य है। अन्यमतों के विवेचन की दृष्टि से उनकी द्विज-बदन-चपेटा नामक रचना उल्लेखनीय है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने बौद्धाचार्य दिङ्नाग (५ वी शती) के न्यायप्रवेश पर अपनी टीका लिखकर एक तो मूलग्रन्थ के विषय को बड़े विगदरूप में सुस्पष्ट किया, और दूसरे उसके द्वारा जैन सम्प्रदाय में बौद्ध न्याय के अध्ययन की परम्परा चला दी। आगामी काल की रचनाओं में वादिदेव सूरि (१२ वी शती) कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, स्याद्वाद रत्नाकर, हेमचन्द्र (१२ वी शती) कृत प्रमाण-मीमांसा व अन्ययोगव्यवच्छेदिका और केवांकुश, रत्नप्रभसूरि (१३ वी शती) कृत स्याद्वाद-रत्नाकरावतारिका, जयसिंह सूरि (१५ वी शती) कृत न्यायसार-बीषिका, शुभविजय (१७ वीं शती) कृत स्याद्वादमाला, विनयविजय (१७ वी शती) कृत नयकणिका उल्लेखनीय है।

समन्तभद्र कृत युवत्यनुशासन के परिचय में कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ के टीकाकार विद्यानंदि ने आप्तमीमांसा को 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' कहा है, और तदनुसार हेमचन्द्र ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अन्ययोगव्यवच्छेदके दो द्वात्रिंशिकाएं लिखीं। अन्ययोग-व्यवच्छेदिका पर मल्लिषेण सूरि ने एक सुविस्तृत टीका लिखी, जिसका नाम स्याद्वादमंजरी है, और जिसे उन्होंने अपनी प्रशस्ति के अनुसार जिनप्रभसूरि की सहायता से शक स० १२१४ (ई० १२६२) में समाप्त किया था। इसमें न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध व चार्वाक मतों का परिचय और उनपर टीकाकार के समालोचनात्मक विचार प्राप्त होते हैं। इस कारण यह ग्रन्थ जैन दर्शन के उक्त दर्शनों से तुलनात्मक अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

आठरवीं शताब्दी में आचार्य यशोविजय हुए, जिन्होंने जैनन्याय और सिद्धान्त

को अपनी अनेक रचनाओं द्वारा खूब परिपुष्ट किया । न्याय की दृष्टि से उनकी 'अनेकान्त-व्यवस्था', 'जैन तर्कभाषा', 'सप्तमंगी-नय-प्रदीप', 'नयप्रदीप', 'नवोपदेश', 'नयरहस्य' व 'ज्ञानसार-प्रकरण', 'अनेकान्त-प्रवेश', अनेकान्त-व्यवस्था व वादमाला आदि उल्लेखनीय हैं । तर्कभाषा में उन्होंने अकलंकके लघीयस्त्रय तथा प्रमाण-संग्रह के अनुसार प्रमाण, नय और निक्षेप, इन तीन विषयों का प्रतिपादन किया है । बौद्ध परम्परा में भोक्षाकर कृत तर्कभाषा (१२ वीं शती) और वैदिक परम्परा में केशव मिश्र कृत तर्कभाषा (१३ वीं-१४ वीं शती) के अनुसरण पर ही इस ग्रन्थ का नाम 'जैन तर्कभाषा' चुना गया लगता है । उन्होंने ज्ञानबिन्दु, न्याय-खण्डखाद्य तथा न्यायालोक को नव्य शैली में लिखकर जैन न्याय के ग्रंथयन को नया मोड़ दिया । ज्ञानबिन्दु में उन्होंने प्राचीन मतिज्ञान के व्यञ्जनावग्रह को कारणांश, अर्थावग्रह और ईहा को व्यापारांश, अवाय को फलांश और धारणा को परिपात्रांश कहकर जैन परिभाषाओं की न्याय आदि दर्शनों में निर्दिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रियाओं से संगति बैठाकर दिखलाई है ।

करणानुयोग साहित्य—

उपर्युक्त विभागानुसार द्रव्यानुयोग के पश्चात् जैन साहित्य का दूसरा विषय है करणानुयोग । इसमें उन ग्रन्थों का समावेश होता है जिनमें ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोको का, द्वीपसागरों का, क्षेत्रों, पर्वतों व नदियों आदि का स्वरूप व परिमाण विस्तार से, एवं गणित की प्रक्रियाओं के आधार से, वर्णन किया गया है । ऐसी अनेक रचनाओं का उल्लेख ऊपर वर्णित जैन आगम के भीतर किया जा चुका है, जैसे सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति । इन प्रज्ञप्तियों में समस्त विश्व को दो भागों में बांटा गया है—लोकाकाश व अलोकाकाश । अलोकाकाश विश्व का वह अनन्त भाग है जहाँ आकाश के सिवाय अन्य कोई जड़ या चेतन द्रव्य नहीं पाये जाते । केवल लोकाकाश ही विश्व का वह भाग है जिसमें जीव, और पुद्गल तथा इनके गमनागमन में सहायक धर्म और अधर्म द्रव्य तथा द्रव्य परिवर्तन में निमित्तभूत काल, वे पांच द्रव्य भी पाये जाते हैं । इस द्रव्यलोक के तीन विभाग हैं—ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोक । मध्यलोक में हमारी वह पृथ्वी है, जिसपर हम निवास करते हैं । यह पृथ्वी गोलाकार असंख्य द्वीप-सागरों में विभाजित है । इसका मध्य में एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है, जिसे वलयाकार वेष्टित किये हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण-समुद्र है । लवणसमुद्र को चार लाख योजन विस्तार वाला घातकी खंड द्वीप वेष्टित

किये हुए है, और उसे भी वेष्टित किये हुए आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि के आसपास १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है। उसके आगे उक्त प्रकार दुगुने, दुगुने विस्तार वाले असंख्य सागर और द्वीप हैं। पुष्करवर-द्वीप के मध्य में एक महान् दुर्लभ पर्वत है, जो मानुषोत्तर कहलाता है, क्योंकि इसको लांघकर उस पार जाने का सामर्थ्य मनुष्य में नहीं है। इस प्रकार जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध ये ढाई द्वीप मिलकर मनुष्य-लोक कहलाता है। जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों में विभाजित है, जिनकी सीमा निर्धारित करने वाले छह कुल-पर्वत हैं। क्षेत्रों के नाम हैं--भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इनके विभाजक पर्वत हैं--हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी। इनमें मध्यवर्ती विदेह क्षेत्र सबसे विशाल है, और उसी के मध्य में मेरु पर्वत है। भरतक्षेत्र में हिमालय से निकलकर गंगा नदी पूर्व समुद्रकी ओर, तथा सिंधु पश्चिम समुद्र की ओर बहती है। मध्य में विन्ध्य पर्वत है। इन नदी-पर्वतों के द्वारा भरत क्षेत्र के छह खंड हो गये हैं, जिनको जीतकर अपने वशीभूत करने वाला सम्राट् ही षट्खंड चक्रवर्ती कहलाता है।

मध्यलोक में उपर्युक्त असंख्य द्वीपसागरो की परम्परा स्वयम्भूरमण समुद्र पर समाप्त होती है। मध्यलोक के इस असंख्य योजन विस्तार का प्रमाण एक राजु माना गया है। इस प्रमाण से सात राजु ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक, और सात राजु नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। ऊर्ध्वलोक में पहले ज्योतिर्लोक आता है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारों की स्थिति बतलाई गई है। इनके ऊपर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत, ये सोलह स्वर्ग हैं। इन्हे कल्प भी कहते हैं, क्योंकि इनमें रहने वाले देव, इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और कित्विषिक इन दस उत्तरोत्तर हीन पदरूप कल्पों (भेदों) में विभाजित हैं। इन सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ श्रेयिक, और उनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि, ये पांच कल्पातीत देव-विमान हैं। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर लोक का अग्रतम भाग है, जहां मुक्तात्माएं जाकर रहती हैं। इसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव होने से कोई जीव या अन्य द्रव्य प्रवेश नहीं कर पाता। अधोलोक में क्रमशः रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम प्रभा नाम के सात उत्तरोत्तर नीचे की ओर जाते हुए नरक हैं।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप से कालचक्र घूमा

करता है, जिसके अनुसार सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह अवसर्पिणी के, और ये ही विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी के आरे होते हैं। प्रथम तीन आरों के काल में भोगभूमि की रचना रहती है, जिसमें मनुष्य अपनी अन्न वस्त्र आदि समस्त आवश्यकताएं कल्पवृक्षों से ही पूरी करते हैं, और वे कृषि आदि उद्योग-व्यवसायों से अनभिज्ञ रहते हैं। सुषमा-दुषमा काल के अन्तिम भाग में क्रमशः भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होती और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ होती है। उस समय कर्मभूमि सम्बन्धी युगधर्मों को समझने वाले क्रमशः चौदह कुलकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के सुषमा-दुषमा काल के अंत में प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अमिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराज, इन चौदह कुलकरों और विशेषतः अंतिम कुलकर नाभिराज ने असि, मसि, कृषि, विद्या-वारिण्य, शिल्प और उद्योग, इन षट्कर्मों की व्यवस्थाएं निर्माण की। इनके पश्चात् ऋषभ आदि २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव ६ वासुदेव, और ६ प्रति-वासुदेव, ये ६३ शलाका पुरुष दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल में हुए। अंतिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् पंचम काल दुषम प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में चल रहा है। यही सामान्य रूप से करणानुयोग के ग्रन्थों में वर्णित विषयों का संक्षिप्त परिचय है। किन्हीं ग्रन्थों में यह सम्पूर्ण विषयवर्णन किया गया है, और किन्हीं में इसमें से कोई। किन्तु विशेषता यह है कि इनके विषय के प्रतिपादन में गणित की प्रक्रियाओं का प्रयोग किया गया है, जिससे ये ग्रन्थ प्राचीन गणित के सूत्रों, और उनके क्रम-विकास को समझने में बड़े सहायक होते हैं। इस विषय के मुख्य ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

दिग० परम्परा में इस विषय का प्रथम ग्रन्थ लोकविभाग प्रतीत होता है। यद्यपि यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तथापि इसका पश्चात् कालीन संस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर सिंहसूरि कृत लोकविभाग में मिलता है। सिंहसूरि ने अपनी प्रशस्ति में स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर महावीर ने जगत् का जो विधान बतलाया, उसे सुधर्म स्वामी आदि ने जाना, और वही आचार्य-परम्परा से प्राप्त कर, सिंहसूरि ऋषि ने भाषा का परिवर्तन करके रचा। जिस मूलग्रन्थ का उन्होंने यह भाषा-परिवर्तन किया, उसका भी उन्होंने यह परिचय दिया है कि वह ग्रन्थ कांची नरेश सिंहवर्मा के बाईसवें संवत्सर, तदनुसार शक के ३८० वें वर्ष में सर्वनंदि मुनि ने पांड्य राष्ट्र के पाटलिक ग्राम में लिखा था। इतिहास से सिद्ध है कि शक संवत् ३८० में पल्लव वंशी राजा सिंहवर्मा राज्य करते थे, और उनकी राजधानी कांची थी। यह मूल ग्रन्थ अनुमानतः प्राकृत में ही रहा होगा।

कुसकुन्दकृत नियमसार की १७ वीं गाथा में जो 'लोयविभागे सुपादब्धं' रूप से उल्लेख किया गया है, उसमें सम्भव है इसी सर्वनंदि कृत लोकविभाग का उल्लेख हो। आगामी तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में लोकविभाग का अनेक बार उल्लेख किया गया है।

सिंहभूरि ऋषि ने यह भी कहा है कि उन्होंने अपना यह रूपांतर उक्त ग्रन्थ पर से समास अर्थात् संक्षेप में लिखा है। जिस रूप में यह रचना प्राप्त हुई है, उसमें २२३० श्लोक पाये जाते हैं, और वह जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुषक्षेत्र, द्वीप-समुद्र, काल, ज्योतिर्लोक, भवनवासी लोक, अषोलोक, व्यन्तरलोक, स्वर्गलोक, और मोक्ष, इन ग्यारह विभागों में विभाजित है। ग्रन्थ में यत्र तत्र तिलोयपण्णत्ति, आदिपुराण, त्रिलोकसार व जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति ग्रन्थों के अवतरण या उल्लेख पाये जाते हैं, जिससे इसकी रचना ११ वीं शती के पश्चात् हुई अनुमान की जा सकती है।

त्रैलोक्य संबंधी समस्त विषयों को परिपूर्णता और सुव्यवस्था से प्रतिपादित करने वाला उपलभ्य प्राचीनतम ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति है, जिसकी रचना प्राकृत गाथाओं में हुई है। यत्र तत्र कुछ प्राकृत गद्य भी आया है, एवं अंकात्मक संदृष्टियों की उसमें बहुलता है। ग्रन्थ इन नौ महाधिकारों में विभाजित है— सामान्य लोक, नारकलोक, भवनवासीलोक, मनुष्यलोक, तिर्यक्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धलोक। ग्रन्थ की कुल गाथा-संख्या ५६७७ है। बीच बीच में इन्द्रवज्रा, खगधरा, उपजाति, दोधक, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका और मालिनी छंदों का भी प्रयोग पाया जाता है। ग्रन्थोल्लेखों में अग्गायणी, संगायणी, संगहनी, दिट्ठवाद, परिकम्म, मूलायार, लोयविणिच्छय, लोगाइणी व लोकविभाग नाम पाये जाते हैं। मनुष्य लोकान्तर्गत त्रैसठ शलाका पुरुषों की ऐतिहासिक राजवंशीय परम्परा, महावीर निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् हुए चतुर्मुख कल्कि के काल तक वर्णित है। षट्खंडागम की वीरसेन कृत धवला टीका में तिलोयपण्णत्ति का अनेक बार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों पर से इस ग्रन्थ की रचना मूलतः ई० सन् के ५०० और ८०० के बीच हुई सिद्ध होती है। किन्तु उपलभ्य ग्रन्थ में कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते हैं जो उक्त वीरसेन कृत धवला टीका परसे जोड़े गये प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ के कर्ता यति बृषभाचार्य हैं, जो कषायप्राभृत की चूर्णि के लेखक से अभिन्न ज्ञात होते हैं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत त्रिलोकसार १०१८ प्राकृत गाथाओं में समाप्त हुआ है। उसमें यद्यपि कोई अध्यायों के विभाजन का निर्देश नहीं किया गया, तथापि जिन विषयों के वर्णन की आरंभ में प्रतिज्ञा की गई है, और उसी अनुसार जो वर्णन हुआ है, उसपर से इसके लोक-सामान्य तथा भवन, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक और

नर-तिर्यक्लोक ये छह अधिकार पाये जाते हैं। विषय-वर्णन प्रायः त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनुसार संक्षिप्त रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११ वीं शती है।

पद्मनंदि मुनि कृत जम्बूद्वीपवर्णनसि में २३८६ प्राकृत गाथाएं हैं और रचना तिलोय पण्णति के आधार से हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। इसके तेरह उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—उपोद्घात, भरत-ऐरावत वर्ष; शैल-नंदी-भोगभूमि; सुदर्शन मेरु, मंदर जिनभवन, देवोत्तरकुश, कक्षाविजय, पूर्व विदेह, अपर विदेह, लवण समुद्र, द्वीपसागर-अथ-ऊर्ध्व-सिद्ध लोक; ज्योतिर्लोक और प्रमाण परिच्छेद। ग्रन्थ के अन्त में कर्ता ने बतलाया है कि उन्होंने जिनागम को ऋषि विजयगुरु के समीप सुनकर उन्हीं के प्रसाद से यह रचना माधनंदि, के प्रशिष्य तथा सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनंदि गुरु के निमित्त की। उन्होंने स्वयं अपने को वीरनंदि के प्रशिष्य व बलनंदि के शिष्य कहा है; तथा ग्रन्थ रचना का स्थान पारियात्र देश के अन्तर्गत वारानगर और वहां के राजा सति या सति का उल्लेख किया है।

इवे० परम्परा में इस विषय की आगमान्तर्गत सूर्य, चन्द्र व जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिओं के अतिरिक्त जिनभद्रगणि कृत दो रचनाएं श्लोत्रसमास और संग्रहणी उल्लेखनीय हैं। इन दोनों रचनाओं के परिमाण में क्रमशः बहुत परिवर्द्धन हुआ है, और उनके लघु और बृहद् रूप संस्करण टीकाकारों ने प्रस्तुत किये हैं। उपलब्ध बृहत्श्लोत्रसमास, अपर-नाम त्रैलोक्यदीपिका, में ६५६ गाथाएं हैं, जो इन पांच अधिकारों में विभाजित हैं—जम्बूद्वीप, लवणोदधि, धातकीखंड, कालोदधि और पुष्कराढ। इस प्रकार इसमें मनुष्य लोक मात्र का वर्णन है। उपलब्ध बृहत्संग्रहणी के संकलनकर्ता मलधारी हेमचन्द्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि (१२ वीं शती) हैं। इसमें ३४६ गाथाएं हैं, जो देव, नरक, मनुष्य, और तिर्यच, इन चार गति नामक अधिकारों में, तथा उनके नाना विकल्पों एवं स्थिति, अवगाहना आदि के प्ररूपक नाना द्वारों में विभाजित है। यहां लोकों की अपेक्षा उनमें रहने वाले जीवों का ही अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। एक लघुश्लोत्रसमास रत्नशेखर सूरि (१४ वीं शती) कृत २६२ गाथाओं में तथा बृहत्श्लोत्रसमास सोम-तिलक सूरि (१४ वीं शती) कृत ४८६ गाथाओं में, भी पाये जाते हैं। इनमें भी अठ्ठाई द्वीप प्रमाण मनुष्य-लोक का वर्णन है। विचारसार-प्रकरण के कर्ता देवसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि (१३ वीं शती) हैं। इसमें ६०० गाथाओं द्वारा कर्मभूमि, भोगभूमि, आर्य व अनार्य देश, राजधानियां, तीर्थंकरों के पूर्वभव, माता-पिता, स्वप्न, जन्म आदि एवं समवसारण, गणघर, अष्टमहाप्राप्तिहाय, कल्कि, शक व विक्रम काल गणना,

दशनिहव, ८४ लाख योनियां व सिद्ध, इस प्रकार नाना विषयों का वर्णन है। इस पर माणिक्यसागर कृत संस्कृत छाया उपलभ्य है। (आ० स०, भावनगर, १९८३)।

उक्त समस्त रचनाओं से संभवतः प्राचीन 'ज्योतिषकरंडक' नामक ग्रन्थ है जिसे मुद्रित प्रति में 'पूर्वभृद् वाल्म्य प्राचीनतराचार्य कृत' कहा गया है (प्र० रतलाम १९२८)। इस पर पादलिप्त सूरि कृत टीका का भी उल्लेख मिलता है। उपलभ्य ज्योतिषकरंडक-प्रकीर्णक में ३७६ गाथाएं हैं, जिनकी भाषा व शैली जैन महाराष्ट्री प्राकृत रचनाओं से मिलती है। ग्रन्थ के आदि में कहा गया है कि सूर्यप्रज्ञप्ति में जो विषय विस्तार से वर्णित है उसको यहाँ संक्षेप से पृथक् उद्धृत किया जाता है। ग्रन्थ में कालप्रमाण, मान, अधिकमास-निष्पत्ति, तिथि-निष्पत्ति, ओमरत्त (हीनरात्रि) नक्षत्र-परिमाण, चन्द्र-सूर्य-परिमाण, नक्षत्र-चन्द्र-सूर्य-गति, नक्षत्रयोग, मंडलविभाग, अयन, आवृत्ति, मुहूर्तगति, ऋतु, विषुवत् (अहोरात्रि-समत्व), व्यतिपात, ताप, दिवसवृद्धि, अमावस-पौर्णमासी, प्रनष्टपर्व और पौरुषो, ये इक्कीस पाहुड हैं।

संस्कृत और अपभ्रंश के पुराणों में, जैसे हरिवंशपुराण, महापुराण, त्रिशष्टि-शालाकापुरुष चरित्र, तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार में भी त्रैलोक्य का वर्णन पाया जाता है। विशेषतः जिनसेन कृत संस्कृत हरिवंशपुराण (८ वीं शती) इसके लिये प्राचीनता व विषय-विस्तार की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उसके चौथे से सातवें सर्ग तक क्रमशः अधोलोक, तिर्यग्लोक, ऊर्ध्वलोक और काल का विशद वर्णन किया गया है, जो प्रायः तिलोय-मण्णत्ति से मेल खाता है।

चरणानुयोग-साहित्य

जैन साहित्य के चरणानुयोग विभाग में वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें आचार धर्म का प्रतिपादन किया गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि द्वादशांग आगम के भीतर ही प्रथम आचारांग में मुनिधर्म का तथा सातवें अंग उपासकाध्ययन में गृहस्थों के आचार का वर्णन किया गया है। पश्चात्कालीन साहित्य में इन दोनों प्रकार के आचार पर नाना ग्रन्थ लिखे गये।

मुनिआचार-प्राकृत

सर्वप्रथम कुन्दाकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में हमें मुनि और श्रावक सम्बन्धी आचार का भिन्न-भिन्न निरूपण प्राप्त होता है। उनके प्रवचनसार का तृतीय श्रुतस्कंध यथार्थतः मुनिआचार सम्बन्धी एक स्वतंत्र रचना है जो सिद्धों, तीर्थंकरों और श्रमणों के

नमस्कारपूर्वक श्रामण्य का निरूपण करता है। यहाँ ७५ गाथाओं द्वारा श्रमण के लक्षण, प्रवृज्या तथा उपस्थापनात्मक दीक्षा, अट्ठाईस मूलगुणों का निर्देश, द्वेद का स्वरूप, उत्सर्ग व अपवाद मार्ग का निरूपण, ज्ञानसाधना, बुभोपयोग, संयमविरोधी प्रवृत्तियों का निषेध तथा श्रामण्य की पूर्णता द्वारा मोक्ष तत्व की साधना का प्ररूपण कर अन्तिम गाथा में यह कहते हुए ग्रन्थ समाप्त किया गया है कि जो कोई सागर या अनगर आचार से युक्त होता हुआ इस शासन को समझ जाय, वह अल्पकाल में प्रवचन के सार को प्राप्त कर लेता है।

नियमसार में १८७ गाथाएँ हैं। लेखक ने आदि में स्पष्ट किया है कि जो नियम से किया जाय, वही नियम है और वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप है। 'सार' शब्द से उनका तात्पर्य है कि उक्त नियम से विपरीत बातों का परिहार किया जाय। तत्पश्चात् ग्रन्थ में उक्त तीनों के स्वरूप का विवेचन किया है। गाथा ७७ से १५७ तक ८१ गाथाओं में आवश्यकों का स्वरूप विस्तार से समझाया है, जिसे उन्होंने मुनियों का निश्चयात्मक चारित्र्य कहा है। यहाँ षड्वाक्यों का क्रम एवं उनके नाम ग्रन्थ से कुछ भिन्न है। जिन आवश्यकों का यहाँ वर्णन हुआ है, वे हैं—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति। उन्होंने कहा है—प्रतिक्रमण उसे कहते हैं जिसका जिनवर-निदिष्ट सूत्रों में वर्णन है (गाथा ८६) और उसका स्वरूप वही है जो प्रतिक्रमण नामके सूत्र में कहा गया है (गाथा ६४)। यहाँ आवश्यक निर्युक्ति का स्वरूप भी समझाया गया है। जो अपने वश अर्थात् स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है वह अवश, और अवश करने योग्य कार्य आवश्यक है। युक्ति का अर्थ है उपाय, वही निरवयव अर्थात् समष्टि रूप से निर्युक्ति कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि लेखक के सम्मुख एक आवश्यक निर्युक्ति नाम की रचना थी और वे उसे प्रामाणिक मानते थे (गाथा १४२)। आवश्यक द्वारा ही श्रामण्य गुण की पूर्ति होती है। अतएव जो श्रमण आवश्यक से हीन है, वह चारित्र्य-अष्ट होता है (१४७-४८)। आवश्यक करके ही पुराण पुरुष केवली हुए हैं (गाथा १५७)। इस प्रकार ग्रन्थ का बहुभाग आवश्यकों के महत्व और उनके स्वरूप विषयक है। भागे की १०, १२ गाथाओं में केवली के ज्ञानदर्शन तथा इनके क्रमशः पर-प्रकाशकत्व और स्व-प्रकाशकत्व के विषय में आचार्य ने अपने आलोचनात्मक विचार प्रकट किये हैं। यह प्रकारण षट्संज्ञागम की ध्वला टीका में ज्ञान और दर्शन के विवेचन विषयक प्रकरण से मिलान करने योग्य है। अंत में मोक्ष के स्वरूप पर कुछ विचार प्रकट कर नियमसार की रचना निजभावना निमित्त की गई है, ऐसा कह कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ

की १७ वीं गाथा में मनुष्य, नारकी, तिर्यंच व देवों का भेद-विस्तार लोकविभाग से जानना चाहिये, ऐसा कहा है। इस उल्लेख के संबंध में विद्वानों में यह मतभेद है कि यहां लोक-विभाग नामक किसी विशेष रचना से तात्पर्य है, अथवा लोकविभाग संबंधी सामान्य ज्ञानों से। ग्रन्थ के टीकाकार मलधारिदेव ने तो यहां स्पष्ट कहा है कि पूर्वोक्त जीवों का भेद लोकविभाग नामक परमाणुमय देखना चाहिये (लोकविभागाभिधान-परमाणुमे दृष्टव्यः)। लोकविभाग नामक संस्कृत ग्रन्थ मिलता है, जिसके कर्ता सिंहसूरि ने उसमें सर्वनंदि द्वारा शक सं० ३८० (ई० सं० ४५८) में लिखित प्राकृत लोकविभाग का उल्लेख किया है। आश्चर्य नहीं जो यही लोक विभाग नियमसार के लेखक की दृष्टि में रहा हो। किसी बाधक प्रमाण के अभाव में इस काल को कुंदकुंद के काल की पूर्वाविधि मानना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

नियमसार पर संस्कृत टीका 'तात्पर्यवृत्ति' पद्मप्रभ मलधारिदेव कृत पाई जाती है। इस टीका के आदि में तथा पांचवें श्रुतस्कंध के अन्त में कर्ता ने वीरनंदि मुनि की वन्दना की है। चालुक्यराज त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वरदेवके समय शक सं० ११०७ के एक शिलालेख (एपी० इन्डि० १६१६-१७) में पद्मप्रभ मलधारिदेव और उनके गुरु वीरनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती का उल्लेख है। ये ही पद्मप्रभ इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं।

नियमसार में गाथा १३४ से १४० तक परमभक्तिरूप आवश्यकक्रिया का निरूपण है, जिसमें सम्यक्त्व, ज्ञान व चरण में भक्ति, निर्वाणभक्ति, मोक्षगत पुरुषों की भक्ति एवं योगभक्ति का उल्लेख आया है, और अन्त में यह भी कहा गया है कि योगभक्ति करके ही ऋषभादि जिनेन्द्र निर्वाण-सुख को प्राप्त हुए (गा० १४०)। इस प्रसंगानुसार कुंदकुंद द्वारा स्वयं पृथक् रूप से भक्तियां लिखा जाना भी सार्थक प्रतीत होता है। कुंदकुंद कृत उपलभ्य दशभक्तियों के नाम ये हैं :—तौर्धकर भक्ति (गा० ८), सिद्धभक्ति (गा० ११), चारित्रभक्ति (गा० १२), अनगारभक्ति (गा० २३), आचार्यभक्ति (गा० १०), निर्वाणभक्ति (गा० २७), पंचपरमेष्ठिभक्ति (गा० ७), मंदीश्वरभक्ति और शान्तिभक्ति। ये भक्तियां उनके नामानुसार वन्दनात्मक व भावनात्मक हैं। सिद्धभक्ति की गाथा-संख्या कुछ अनिश्चित है। अन्तिम दो अर्थात् मंदीश्वरभक्ति और शान्तिभक्ति जिस रूप में मिलती हैं, उसमें केवल अन्तिम कुछ वाक्य प्राकृत में हैं। उनका पूर्ण प्राकृत पाठ अप्राप्य है। इनकी प्राचीन प्रतियां एकत्र कर संशोधन किये जाने की आवश्यकता है। ये भक्तियां प्रभाचन्द्र कृत संस्कृत टीका सहित 'क्रियाकलाप' नाम से प्रकाशित हुई हैं। (प्र० शोलापुर १९२१)।

धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य है मोक्ष-प्राप्ति; और मोक्ष का मार्ग है सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य। इन्हीं तीन का प्रतिपादन कुंदकुंद ने क्रमशः अपने दर्शन, सूत्र व चारित्र्य पाटुडों में किया है। उन्होंने दर्शन पाटुड की १५ वीं गाथा में कहा है कि सम्यक्त्व (दर्शन) से ज्ञान और ज्ञान से सब भावों की उपलब्धि तथा श्रेय-अश्रेय का बोध होता है, जिसके द्वारा शील की प्राप्ति होकर अन्ततः निर्वाण की उपलब्धि होती है। उन्होंने छह द्रव्य और नौ पदार्थों तथा पांच अस्तिकायों और सात तत्त्वों के स्वरूप में श्रद्धान करने वाले को व्यवहार से सम्यग्दृष्टि तथा आत्म श्रद्धानी को निश्चय सम्यग्दृष्टि कहा है (गाथा १६-२०)।

सूत्र पाटुड में बतलाया गया है कि जिसके अर्थ का उपदेश अर्हत् (तीर्थकर) द्वारा, एवं ग्रंथ-रचना गणधरों द्वारा की गई है, वही सूत्र है और उसी के द्वारा श्रमण परमार्थ की साधना करते हैं (गाथा १)। सूत्र को पकड़ कर चलने वाला पुरुष ही बिना भ्रष्ट हुए संसार के पार पटुच सकता है, जिस प्रकार कि सूत्र (धागा) से पिरोई हुई सुई सुरक्षित रहती है और बिना सूत्र के खो जाती है (गाथा ३-४)। आगे जिनोक्त सूत्र के ज्ञान से ही सच्ची दृष्टि की उत्पत्ति तथा उसे ही व्यवहार परमार्थ बतलाया गया है। सूत्रार्थपद से भ्रष्ट हुए साधक को मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये (गाथा ५-७)। सूत्र संबंधी इन उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि कुंदकुंद के सम्मुख जिनागम सूत्र थे, जिनका अध्ययन और तदनुसार वर्णन, वे मुनि के लिये आवश्यक समझते थे। आगे की गाथाओं में उन्होंने मुनि के नगत्व व तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहितपना बतलाकर स्त्रियों की प्रवृज्या का निषेध किया है, जिससे अनुमान होता है कि कर्ता के समय में दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद बद्धमूल हो गया था।

चरित्र पाटुड के आदि में बतलाया गया है कि जो जाना जाय वह ज्ञान, जो देखा जाय वह दर्शन, तथा इन दोनों के संयोग से उत्पन्न भाव चारित्र्य होता है, तथा ज्ञान-दर्शन युक्त क्रिया ही सम्यक् चारित्र्य होता है। जीव के ये ही तीन भाव अक्षय और अनन्त हैं, और इन्हीं के शोधन के लिये जिनेन्द्र ने दो प्रकार का चारित्र्य बतलाया है—एक दर्शनज्ञानात्मक सम्यक्त्व चारित्र्य और दूसरा संयम-चारित्र्य (गाथा ३-५)। आगे सम्यक्त्व के निःशंकादिक आठ अंग (गाथा ७) संयम चारित्र्य के सामार और अनगार रूप दो भेद (गाथा २१), दर्शन, व्रत आदि देशव्रती की ग्यारह प्रतिमाएँ (गाथा २२), अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रत, द्वारा बारह प्रकार का सागारधर्म (गाथा २३-२७) तथा पंचेन्द्रिय संवर व पांच व्रत उनकी पच्चीस क्रियाओं सहित, पांच समिति और तीन गुप्ति रूप अनगार संयम का प्ररूपण किया है (गाथा २८ आदि)। बारह

श्रावक व्रतों के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां दिशा-विदिशा प्रमाण, अनर्थदंडवर्जन और भोगोपभोग-प्रमाण ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषध, प्रतिथि पूजा और सल्लेखना, ये चार शिक्षा-व्रत कहे गये हैं। यह निर्देश त० सू० (७, २१) में निर्दिष्ट व्रतों से तीन बातों में भिन्न है-एक तो यहां भोगोपभोग-परिमाण को अनर्थ-दंड व्रत के साथ गुणव्रतों में लिया गया है, दूसरे यहां देशव्रत का कोई उल्लेख नहीं है; और तीसरे शिक्षाव्रतों में सल्लेखना का निर्देश सर्वथा नया है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि त. सू. (७-२१) में दिग्देशादि सात व्रतों का निर्देश एक साथ किया गया है, उसमें गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का पृथग् निर्देश नहीं है। इनका निर्देश हमें प्रथम बार कुंदकुंद के इसी पाहुड में दिखाई देता है। हरिभद्रकृत श्रावकप्रज्ञप्ति में गुणव्रतों का निर्देश कुंदकुंद के अनुकूल है, किन्तु शिक्षाव्रतों में वहां सल्लेखना का उल्लेख न होकर देशावकाशिक का ही निर्देश है। अनगार संयम के संबंध में उल्लेखनीय बात यह है कि यहां पंचावशति क्रियाओं व तीन गुप्तियों का समावेश नया है तथा उसमें लोच आदि सात विशेष गुणों का निर्देश नहीं पाया जाता, यद्यपि प्रवचनसार (गा० ३, ८) में उन सातों का निर्देश है, किन्तु तीन गुप्तियों का उल्लेख नहीं है।

बोध पाहुड (गाथा ६२) में आयतन, चैत्य-गृह, प्रतिमा, दर्शन, बिंब, जिन-मुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हत् और प्रवृज्या इन ग्यारह के सच्चे स्वरूप का प्ररूपण किया गया है, और पंचमहाव्रतधारी महर्षि को सच्चा आयतन, उसे ही चैत्य-गृह, वन्दनीय प्रतिमा; सम्यक्त्व, ज्ञान व संयम रूप मोक्षमार्ग का दर्शन करानेवाला सच्चा दर्शन; उसी को तप और व्रतगुणों से युक्त सच्ची अर्हत् मुद्रा; उसके ही ध्यान योग में युक्त ज्ञान को सच्चा ज्ञान, वही अर्थ, धर्म, काम व प्रवृज्या को देनेवाला सच्चा देव, और उसी के निर्मल धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप व ज्ञान को सच्चा तीर्थ बतलाया है। जिसने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य और पाप एवं समस्त दोषों और कर्मों का नाशकर अपने को ज्ञानमय बना लिया है, वही अर्हत् है, और जिसमें गृह और परिग्रह के मोह से मुक्ति, बार्दस परीषह व सोलहकषायों पर विजय तथा पापारंभ से विमुक्ति पाई जाती है, वही प्रवृज्या है। इसमें शत्रु और मित्र, प्रशंसा और निन्दा, लाभ और अलाभ एवं तृण और कांचन के प्रति समताभाव पाया जाता है; उत्तम या मध्यम, दरिद्र या धनी के गृह से निरपेक्षभाव से पिण्ड (आहार) ग्रहण किया जाता है, यथा जात (नग्न दिग्म्बर) मुद्रा धारण की जाती है; शरीर संस्कार छोड़ दिया जाता है; एवं क्षमा मार्दव आदि भाव धारण किये जाते हैं। इस पाहुड को कर्ता ने छक्काय सुहृकरं (षट्काय जीवों के लिये सुखकर-हितकर) कहा है, और सम्भवतः यही इस पाहुड

का कर्ता द्वारा निदिष्ट नाम है, जिसे उन्होंने भव्यजनों के बोधनार्थ कहा है। इस पाहुड में प्ररूपित उक्त म्यारह विषयों के विवरण को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नाना प्रकार के आयतन माने जाते थे, नाना प्रकार के चैत्यों, मंदिरों, मूर्तियों व बिंबों की पूजा होती थी, नाना मुद्राओं में साधु दिखलाई देते थे, तथा देव, तीर्थ व प्रवृज्या के भी नाना रूप पाये जाते थे। अतएव कुंदकुंद ने यह आवश्यक समझा कि इन लोक-प्रचलित समस्त विषयों पर सच्चा प्रकाश डाला जाय। यही उन्होंने इस पाहुड द्वारा किया है।

भावपाहुड : (गाथा १६५) में द्रव्यालिंगी और भावालिंगी श्रमणों में भेद किया गया है और कर्ता ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि मुनि का वेष धारण कर लेने, व्रतों और तपो का अभ्यास करने, यहाँ तक कि शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मकल्याण तो तभी होगा जब परिणामों में शुद्धि आ जाय, राग द्वेष आदि कषायभाव छूट जाय, और आत्मा का आत्मा में रमण होने लगे (गा० ५६-५९)। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक पूर्वकालीन द्रव्य और भाव श्रमणों के उल्लेख किये हैं। बाहुबलि, देहादि से विरक्त होने पर भी मान कषाय के कारण दीर्घकाल तक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके (गाथा ४४)। मधुपिग एवं वशिष्ठ मुनि आहारादि का त्याग कर देने पर भी चित्त में निदान (शल्य) रहने से श्रमणत्व को प्राप्त नहीं हो सके (गाथा ४५-४६)। जिनलिंगी बाहु मुनि आभ्यन्तर दोष के कारण समस्त दंडक नगर को भस्म करके रौरव नरक में गये (गाथा ४९)। द्रव्य श्रमण द्वीपायन सम्यग्-दर्शन-ज्ञान और चारित्र्य से भ्रष्ट होकर अनन्त संसारी हो गये। भव्य-सेन बारह अंग और चौदह पूर्व पढ़कर सकल श्रुतिज्ञानी हो गये, तथापि वे भाव-श्रमणत्व को प्राप्त न कर सके (गाथा ५२)। इनके विपरीत भावश्रमण शिवकुमार युवती स्त्रियों से घिरे होते हुए भी विशुद्ध परिणामों द्वारा संसार को पार कर सके, तथा शिवभूति मुनि तुष-माष की घोषणा करते हुए (जिसप्रकार छिलके से उसके भीतर का उड़द भिन्न है, उसीप्रकार देह और आत्मा पृथक् पृथक् हैं) भाव विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हो गये। प्रसंगवश १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानी, एवं ३२ वैतयिक, इसप्रकार ३६३ पाषंडों (मर्तों) का उल्लेख आया है (गा० १३७-१४२)। इस पाहुड में साहित्यिक गुण भी अन्य पाहुडों की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं। जिसका मति रूपी धनुष, श्रुत रूपी गुण और रत्नत्रयरूपी वारण स्थिर हैं, वह परमार्थ रूपी लक्ष्य से कभी नहीं झूकता (गा० २३)। जिनधर्म उसीप्रकार सब धर्मों में श्रेष्ठ है जैसे रत्नों में वज्र और वृक्षों में चन्दन (गा० ८२)। राग-द्वेष रूपी पवन

के ऋकोरों से रहित ध्यान रूपी प्रदीप उसीप्रकार स्थिरता से प्रज्वलित होता है जिस प्रकार गर्भगृह में दीपक (गा० १२३) । जिसप्रकार बीज दग्ध हो जाने पर उसमें फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसीप्रकार भावश्रमण के कर्मबीज दग्ध हो जाने पर भव (पुनर्जन्म) रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता, इत्यादि । इस पाहुड के अवलोकन से प्रतीत होता है कि कर्ता के समय में साधुलोग बाह्य वेश तथा जप, तप, व्रत आदि बाह्य क्रियाओं में अधिक रत रहते थे, और यथार्थ आत्म्यन्तर शुद्धि की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते थे । इसी बाह्याडम्बर से भावशुद्धि की ओर साधुओं की चित्तवृत्तियों को मोड़ने के लिये यह पाहुड लिखा गया । इसी अभिप्राय से उनका अगला लिंग पाहुड भी लिखा गया है ।

लिंगपाहुड : (गा० २२) में मुनियों की कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की निंदा की गई है जिनसे उनका श्रमणत्व सघटा नहीं, किन्तु दूषित होता है । कोई श्रमण नाचता, गाता व बाजा बजाता है (गा० ४) । कोई संचय करता है, रखता है व श्रार्तध्यान में पड़ता है (गा० ५) । कोई कलह, वाद व झूत में अनुरक्त होता है (गा० ६) । कोई विवाह जोड़ता है और कृषिकर्म व वाणिज्य द्वारा जीवघात करता है (गा० ९) । कोई चोरों लम्पटों के वाद-विवद में पड़ता है व चोपड़ खेलता है (गा० १०) । कोई भोजन में रस का लोलुपी होता व काम-क्रीड़ा में प्रवृत्त होता है (गा० १२) । कोई बिना दी हुई वस्तुओं को ले लेता है (गा० १४) । कोई ईर्ष्यासक्त समिति का उल्लंघन कर कूदता है, गिरता है, दौड़ता है (गा० १५) । कोई शस्य (फसल) काटता है, वृक्ष का छेदन करता है या भूमि खोदता है (गा० १६) । कोई महिला वर्ग को रिभाता है, कोई प्रवृज्याहीन गृहस्थ अथवा अपने शिष्य के प्रति बहुत स्नेह प्रकट करता है (गा० १८) । ऐसा श्रमण बड़ा जानी भी हो तो भी भाव-विनष्ट होने के कारण श्रमण नहीं है, और मरने पर स्वर्ग का अधिकारी न होकर नरक व तिर्यंच योनि में पड़ता है । ऐसे भाव-विनष्ट श्रमण को पासत्य (पावर्त्स्य) से भी निकृष्ट कहा है (गा० २०) । अन्त में भावपाहुड के समान इस लिंग पाहुड को सर्व्व बुद्ध (सर्व्वज्ञ) द्वारा उपदिष्ट कहा है । जान पड़ता है कर्ता के काल में मुनि सम्प्रदाय में उक्त दोष बहुलता से दृष्टिगोचर होने लगे थे, जिससे कर्ता को इस रचना द्वारा मुनियों को उनकी ओर से सचेत करने की आवश्यकता हुई ।

शीलपाहुड : (गा० ४४) भी एक प्रकार से भाव और लिंग पाहुडों के विषय का ही पूरक है । यहाँ धर्मसाधना में शील के ऊपर बहुत अधिक जोर दिया गया है, जिसके बिना विशाल ज्ञानकी प्राप्ति भी निष्फल है । यहाँ सच्चइपुत्त (सात्यकिपुत्र)

का इस बात पर दृष्टान्त दिया गया है कि वह दश पूर्वों का ज्ञाता होकर भी विषयों की लोलुपता के कारण नरकगामी हुआ (गा० ३०-३१) । व्याकरण, छंद, वैशेषिक, व्यवहार तथा न्यायशास्त्र के ज्ञान की सार्थकता तभी बतलाई है जब उसके साथ शील भी हो (गा० १६) । शील की पूर्णता सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान, ध्यान, योग, विषयों से विरक्ति और तप के साधन में भी बतलाई गई है । इसी शीलरूपी जल से स्नान करने वाले सिद्धालय को जाते हैं (गा० ३७-३८) ।

कुंदकुंद की उक्त रचनाओं में से बारह अणुवेक्खा तथा लिंग और शील पाहुड़ों को छोड़, शेष पर टीकायें भी मिलती हैं । दर्शन आदि छह पाहुड़ों पर श्रुतसागर कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है । इन्हीं की एकत्र प्रतियां पाये जाने से उनका सामूहिक नाम षट् प्राभुत (छप्पाहुड) भी प्रसिद्ध हो गया है । श्रुतसागर देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य तथा विद्यानन्दि के शिष्य थे । अतः उनका काल ई० सन् की १५-१६ वीं सदी सिद्ध होता है ।

रयणसारः (गा० १६२) में श्रावक और मुनि के आचार का वर्णन किया गया है । आदि में सम्यग्दर्शन की आवश्यकता बतला कर उसके ७० गुणों और ४४ दोषों का निर्देश किया गया है (गा० ७-८) । दान और पूजा गृहस्थ के लिये, तथा ध्यान और स्वाध्याय मुनि के लिये आवश्यक बतलाये गये हैं (गा० ११ आदि); तथा सुपात्रदान की महिमा बतलाई गई है (गा० १७ आदि) । आगे अशुभ और शुभ भावों का निरूपण किया है । गुरुभक्ति पर जोर दिया गया है, तथा आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये श्रुताभ्यास करने का आदेश दिया गया है । आगे स्वेच्छाचारी मुनियों की निंदा की गई है, व बहिरात्म भाव से बचने का उपदेश दिया गया है । अन्त में गणगच्छ को ही रत्नत्रय रूप, संघ को ही नाना गुण रूप, और शुद्धात्मा को ही समय कहा गया है । इस पाहुड का अभी तक सावधानी से सम्पादन नहीं हुआ । उसके बीच में एक दोहा व छह पद्य अपभ्रंश भाषा में पाये जाते हैं; या तो ये प्रक्षिप्त हैं, या फिर यह रचना कुन्दकुन्द कृत न होकर किसी उत्तरकालीन लेखक की कृति है । गण-गच्छ आदि के उल्लेख भी उसकी अपेक्षाकृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं ।

वट्टकेर स्वामी कृत मूलाचार दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनिधर्म के लिये सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है । कहीं कहीं यह ग्रंथ कुंदाकुंदाचार्य कृत भी कहा गया है । यद्यपि यह बात सिद्ध नहीं होती, तथापि उससे इस ग्रंथ के प्रति समाज का महान् आदरभाव प्रकट होता है । घवलाकार वीरसेन ने इसे आचारारण नाम से उद्धृत किया है । इसमें कुल १२४३ शार्थाएँ हैं, जो मूलगूण, वृहत्प्रत्याख्यान, संक्षेप प्रत्याख्यान, सामाचार,

पंचाचार, पिंडशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनंगारभावना, समयसार, शीलगुण-प्रस्तार और पर्याप्ति, इन बारह अधिकारों में विभाजित हैं। यह सब यथार्थतः मुनि के उन अट्ठाईस गुणों का ही विस्तार है, जो प्रथम अधिकार के भीतर संक्षेप से निर्दिष्ट और वर्णित हैं। षडावश्यक अधिकार की कोई ८० गाथाएं आवश्यक निर्युक्ति और उसके भाष्य से ज्यों की त्यों मिलती है। इस पर वसुनंदि कृत टीका मिलती है। टीकाकार सम्भवतः वे ही हैं जिन्होंने प्राकृत उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) की रचना की है।

मुनि आचार पर एक प्राचीन रचना भगवती आराधना है, जिसके कर्ता शिवार्य हैं। इन्होंने ग्रंथ के अन्त में प्रगट किया है कि उन्होंने आर्य जिननंदिगणि, सर्वगुप्तगणि और मित्रनंदि के पादमूल में सूत्र और उसके अर्थ का भले प्रकार ज्ञान प्राप्त कर, पूर्वआर्य-निबद्ध रचना के आश्रय से अपनी शक्ति अनुसार इस आराधना की रचना की। इससे सुस्पष्ट है कि उनके सम्मुख इसी विषय की कोई प्राचीन रचना थी। कल्पसूत्र की स्थविरावली में एक शिवभूति आचार्य का उल्लेख आया है, तथा आवश्यक मूल भाष्य में शिवभूति को वीर निर्वाण से ६०६ वर्ष पश्चात् बोद्धि (दिगम्बर) संघ का संस्थापक कहा है। कुंदकुंदाचार्य ने भावपाहुड में कहा है कि शिवभूति ने भाव-विशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। जिनसेन ने अपने हरिवंश-पुराण में लोहार्य के पश्चाद्बर्ती आचार्यों में शिवगुप्त मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणों से अर्हद्बलि पद को धारण किया था। आदिपुराण में शिवकोटि मुनीश्वर और उनकी चतुष्टय मोक्षमार्ग की आराधना रूप हितकारी वाणी का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के आराधना कथाकोश व देवचन्द्र कृत 'राजावली कथे' में शिव-कोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य कहा गया है। आश्चर्य नहीं जो इन सब उल्लेखों का अभिप्राय इसी भगवती आराधना के कर्ता से हो। ग्रंथ सम्भवतः ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों का है। एक मत यह भी है कि यह रचना यापनीय सम्प्रदाय की है, जिसमें दिगम्बर सम्प्रदाय का अचेलकत्व तथा श्वेताम्बर की स्त्री-मुक्ति मान्य थी। इस ग्रंथ में २१६६ गाथाएं हैं और उनमें बहुत विशदता व विस्तार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन्हीं चार आराधनाओं का वर्णन किया गया है, जिनका कुंदकुंद की रचनाओं में अनेक बार उल्लेख आया है। प्रसंगवश जैनधर्म संबंधी सभी बातों का इसमें संक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। मुनियों की अनेक साधनाएं व वृत्तियां ऐसी वर्णित हैं, जैसी दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में अन्यत्र नहीं पाई जाती। गाथा १६२१ से १८६१ तक की २७१ गाथाओं में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों का

विस्तार से वर्णन किया गया है। आवश्यक्निर्युक्ति, वृहत्कल्पभाष्य व निषीथ आदि प्राचीन ग्रंथों से इसकी अनेक गाथाएं व वृत्तान्त मिलते हैं। इस पर दो टीकाएं विस्तीर्ण और सुप्रसिद्ध हैं—एक अपराजित सूरि कृत विजयोदया और दूसरी पं० आशाधर कृत मूलाराधनावर्षण। अपराजित सूरि का समय लगभग ७ वीं, ८ वीं शती ई०, तथा पं० आशाधर का १३ वीं शती ई० पाया जाता है। इस पर एक पंजिका तथा भावार्थ-दीपिका नामकी दो टीकाएं भी मिली हैं।

मुनि आचार पर इवेताम्बर सम्प्रदाय में हरिभद्रसूरि (८वीं शती) कृत पंचवस्तुग (पंचवस्तुक) नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसमें १७१४ प्राकृत गाथाएं हैं जो विषयानुसार निम्न पांच वस्तु नामक अधिकारों में विभक्त हैं—(१) मुनि-दीक्षा, (२) यतिदिनकृत्य, (३) गच्छाचार, (४) अनुज्ञा और (५) सल्लेखना। इनमें मुनि धर्म संबंधी साधनाओं का विस्तार तथा ऊहापोह पूर्वक वर्णन किया गया है। (प्रकाशित १९२७, गुज० अनुवाद, रतलाम, १९३७)। इस ग्रंथ पर स्वोपज्ञ टीका भी है। हरिभद्रकृत सम्यक्त्व-सप्तति में १२ अधिकारों द्वारा सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है और सम्यक्त्व की प्रभावना बढ़ानेवालों में वज्रस्वामी, भल्लवादी, भद्रबाहु, पादलिप्त, सिद्धसेन आदि के चरित्र वर्णन किये गये हैं।

जीवानुशासन में ३२३ गाथाओं द्वारा मुनिसंघ, मासकल्प, बंदना आदि मुनि चारित्र संबंधी विषयों पर विचार किया गया है। प्रसंगवश बिम्ब-प्रतिष्ठा का भी वर्णन आया है। इस ग्रंथ की रचना वीरचंद्र सूरि के शिष्य देवसूरि ने वि० सं० ११६२ (११०५ ई०) में की थी।

नेमिचन्द्रसूरि (१३वीं शती) कृत प्रवचनसारोद्धार में लगभग १६०० गाथाएं हैं जो १७६ द्वारों में विभाजित हैं। यहां बंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, महाव्रत, परीषह आदि अनेक मुनिचारित्र संबंधी विषयों का वर्णन किया गया है। पूजा-अर्चा के संबंध में तीर्थंकरों के लांछन, यक्ष-यक्षिणी, अतिशय, जिनकल्प और स्थविरकल्प आदि का विवरण भी यहां प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। जैन क्रिया-काण्ड समझने के लिये यह ग्रंथ विशेष रूप से उपयोगी है। इस पर देवभद्र के शिष्य सिद्धसेनसूरि (१३ वीं शती) ने तत्त्वज्ञानविकासिनी नामक संस्कृत टीका लिखी है।

जिनवल्लभसूरि (११-१२वीं शती) कृत द्वादशकुलक में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद तथा क्रोधादि कषायों के परित्याग का उपदेश पाया जाता है। इस पर जिनपालकृतवृत्ति है जो वि० सं० १२६३ (बम्बई, सन् १२३६) में पूर्ण हुई थी।

मुनिआचार—संस्कृत :

प्रज्ञानरसि प्रकरण उमास्वाति कृत माना जाता है। इसमें ३१३ संस्कृत पद्यों में जैन तत्त्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त, साधु व गृहस्थ आचार, अनित्यादि बारह भावनाओं, उत्तमक्षमादि दशधर्मों एवं धर्मध्यान, केवलज्ञान, अयोगी व सिद्धों का स्वरूप सरल और सुन्दर शैली में वर्णित पाया जाता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने इसको विषय की दृष्टि से २२ अधिकारों में विभाजित किया है। (सटीक हिन्दी अनु० सहित प्रका० बम्बई, १९५०)

मुनि आचार पर एक चारित्रसार नामक संस्कृत ग्रन्थ है। ग्रन्थ की पुष्पिका में कहा गया है कि इस ग्रन्थ को अजितसेन भट्टारक के चरणकमलों के प्रसाद से चारों अनुयोगों रूप समुद्र के पारगामी धर्मविजय श्रीमद् चामुण्डराय ने बनाया। इस पुष्पिका से पूर्वं श्लोक में कहा गया है कि इसमें अनुयोगवेदी रणारंगसिंह ने तत्त्वार्थ-सिद्धान्त, संभवतः तत्त्वार्थ (राजवातिक,) महापुराण एवं आचार शास्त्रों में विस्तार से वर्णित चारित्रसार का संक्षेप से वर्णन किया है। कर्ता के संबंध में इस परिचय से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि इसकी रचना उन्हीं चामुण्डराय ने अथवा उनके नाम से किसी अन्य ने संग्रहरूप से की है, जिनके द्वारा बाहुबलि की मूर्ति श्रवण-बेलगोला में प्रतिष्ठित की गई थी, तथा जिनके निमित्त से नेमिचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती ने शोम्पटसार की रचना की थी। अतः इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ वीं शताब्दी निश्चित है। ग्रन्थ की उक्त पुष्पिका के अन्त में कहा गया है कि 'भावनासारसंग्रहे चारित्रसारे अनगारधर्मः समाप्तः' इस पर से ग्रन्थ का दूसरा नाम 'भावनासारसंग्रह' भी प्रतीत होता है।

आचार विषयक ग्रन्थों में अमृतचन्द्र सूरि कृत 'पुरुषार्थसिद्धचुपाय' (अपर नाम 'जिन-प्रवचन-रहस्य-कोष') कई बातों में अपनी विशेषता रखता है। यहां २२६ संस्कृत पद्यों में रत्नत्रय का व्याख्यान किया गया है, जिसमें क्रमशः चारित्रविषयक अहिंसादि पांच व्रत, सात शील (३ गुणव्रत-४ शिक्षाव्रत), सल्लेखना, तथा सम्यक्त्व और सल्लेखना को मिलाकर चौदह व्रत-शीलों के ७० अतिचार, इनका स्वरूप सम-झाया है, और १२ तप ६ आवश्यक, ३ दंड, ५ समिति, १० धर्म, १२ भावना और २२ परीषह, इन सब का निर्देश किया है। यहां हिंसा और अहिंसा के स्वरूप पर सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया है, जैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। यही नहीं, किन्तु शेष व्रतों और शीलों में भी मूलतः अहिंसा की ही भावना स्थापित की है। आदि में आत्मा को ही पुरुष और परिणामी-नित्य बतलाकर उसके द्वारा समस्त

विवर्तों को पार कर पूर्ण स्व-चैतन्य की प्राप्ति को ही अर्थसिद्धि बताया है, और यही ग्रन्थ के नाम की सार्थकता है। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने एक पद्य में जैन धर्मेकान्त नीति को गोपी की उपमा द्वारा बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट किया है। ग्रन्थ की शैली आदि से अन्त तक विशद और विवेचनात्मक है। इस ग्रन्थ के कोई ६०-७० पद्य जयसेनकृत धर्म-रत्नाकर में उद्धृत पाये जाते हैं। धर्मरत्नाकर की रचना का समय स्वयं उसी की प्रशस्ति के अनुसार वि० सं० १०५५-ई० ६९८ है। अतएव यही पुरुषार्थसिद्धयुपाय के रचनाकाल की उत्तरावधि है।

वीरनंदि कृत आचारसार में लगभग १००० संस्कृत श्लोको में मुनियों के मूल और उत्तर गुणों का वर्णन किया गया है। इसके १२ अधिकारों के विषय हैं-मूलगुण, सामाचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, शुद्धयष्टक, षडावश्यक, ध्यान, जीवकर्म और दशधर्मशील। इसकी रचना बटुकर कृत प्राकृत मूलाचार के आधार से की गई प्रतीत होती है। ग्रन्थकर्ता ने अपने गुरु का नाम मेघ-चन्द्र प्रगट किया है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं० ५० में इन दोनों गुरु-शिष्यों का उल्लेख है, एवं शिलालेख नं० ४७ में मेघचन्द्र मुनि के शक संवत् १०३७ (ई० १११५) में समाधिमरण का उल्लेख किया गया है। इस पर से प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल उक्त तिथि के आसपास सिद्ध होता है। उक्त लेखों में वीरनंदि को संज्ञांत-वेदी और लोकप्रसिद्ध, अमलचरित, योगि-जनाग्रणी आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है।

सोमप्रभ कृत सिन्दूरप्रकर, व भुंगार-बैराग्यतरंगिणी (१२वीं-१३वीं शती) ये दो नैतिक उपदेश पूर्ण रचनाएं हैं। दूसरी रचना विशेष रूप से प्रौढ़ काव्यात्मक है और उसमें कामशास्त्रानुसार स्त्रियों के हाव-भाव व लीलाओं का वर्णन कर उनसे सतर्क रहने का उपदेश दिया गया है।

श्रावकाचार-प्राकृत :

प्राकृत में श्रावकधर्म विषयक सर्वप्रथम स्वतंत्र रचना सावयपण्णत्ति है, जिसमें ४०१ गाथाओं द्वारा श्रावकों के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों का प्ररूपण किया गया है। प्रथम व्रत अहिंसा का यहां सबसे अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन १७६ के लेकर २५६ तक की गाथाओं में किया गया है। इस ग्रंथ के कर्तृत्व के संबंध में मतभेद है। कोई इसे उमास्वातिकृत मानते हैं, और कोई हरि-भद्रकृत। उमास्वाति-कर्तृत्व का समर्थन अभयदेवसूरी कृत पंचाक्षकटीका के उस

उल्लेख से होता है जहाँ उन्होंने कहा है कि 'वाचकतिलकेन श्रीमदुमास्वतिवाचकेन श्रावकप्रज्ञप्तौ सम्यक्त्वादिः श्रावकधर्मो विस्तरेण अभिहितः'। उमास्वाति कृत श्रावक प्रज्ञप्ति का उल्लेख यशोविजय के धर्मसंग्रह तथा मुनिचन्द्रसूरि कृत धर्मबिन्दु-टीका में बारहवें व्रत के संबंध में आया है। किन्तु स्वयं अभयदेवसूरि ने हरिभद्रसूरि कृत पंचाशक की ही वृत्ति में प्रस्तुत ग्रंथ की संपत्तदंसणाद्-आदि दूसरी गाथा को हरिभद्रसूरि के ही निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत प्राकृत ग्रन्थ तो हरिभद्रकृत ही है। यदि उमास्वाति कृत कोई श्रावक-प्रज्ञप्ति रही हो तो संभव है कि वह संस्कृत में रही होगी। यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण से भी सिद्ध होती है। इस ग्रन्थ में २८० से ३२८ गाथाओं के बीच जो गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का निर्देश और क्रम पाया जाता है वह त० सूत्र के ७, २१ में निर्दिष्ट क्रम से भिन्न है। त० सूत्र में दिग्, देश और अनर्थदंड, ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि-संविभाग, ये चार शिक्षाव्रत निर्दिष्ट किये हैं। परन्तु यहाँ दिग्व्रत, भोगोपभोग-परिमाण और अनर्थदंडविरति ये गुणव्रत, तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं, जो हरिभद्रकृत समराइच्चकहा के प्रथम भव में वर्णित व्रतों के क्रम से ठीक मिलते हैं। यही नहीं, किन्तु समराइच्चकहा का उक्त समस्त प्रकरण श्रावक-प्रज्ञप्ति के प्रकरण से बहुत समानता रखता है, यहाँ तक कि सम्यक्त्वोत्पत्ति के संबंध में जिस बंसण-बोलन निमित्त का उल्लेख श्रा० प्र० की ३१ वीं गाथा में है, वही स० कहा के सम्यक्त्वोत्पत्ति प्रकरण में भी प्राकृत गद्य में प्रायः ज्यों का त्यों मिलता है। इससे यही सिद्ध होता है कि यह कृति हरिभद्रकृत ही है। इस पर उन्ही की संस्कृत में स्वोपज्ञ टीका भी उपलब्ध है।

श्रावकधर्म का प्रारम्भ सम्यक्त्व की प्राप्ति से होता है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति के आदि (गाथा २) में ही श्रावक का लक्षण यह बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके प्रतिदिन यतिजनों के पास से सदाचारात्मक उपदेश सुनता है, वही श्रावक होता है। तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति को विधिवत् समझाया गया है। हरिभद्र की एक अन्य कृति बंसणसत्तरि अपर नाम 'सम्मत्त-सत्तरि' या 'दंसण-मुद्धि' में भी ७० गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाया गया है। इस पर संधतिलक सूरि (१४ वीं शती) कृत टीका उपलब्ध है (प्रकाशित १९१६)। हरिभद्र की एक और प्राकृत रचना सावयधम्मविहि नामक है जिसमें १२० गाथाओं द्वारा श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस पर मानदेवसूरि कृत विवृत्ति है (भावनगर १९२४)। हरिभद्रकृत

१६ प्रकरण ऐसे हैं, जिनमें प्रत्येक में ५० गाथाएं हैं, अतएव जो समष्टि रूप से पंसात्सव कहलाते हैं। ये प्रकरण हैं— (१) श्रावकधर्म (२) दीक्षाविधान (३) वन्दनविधि (चैत्यवन्दन) (४) पूजाविधि (५) प्रत्याख्यानविधि (६) स्तवविधि (७) जिनभवन करण विधि (८) प्रतिष्ठाविधि (९) यात्राविधि (१०) उपासकप्रतिमा विधि (११) साधुधर्म (१२) सामाचारी (१३) पिंडविधि (१४) क्षीलांग विधि (१५) आलोचना विधि (१६) प्रायश्चित्त (१७) स्थितास्थित विधि (१८) साधु प्रतिमा और (१९) तपोविधि। इन प्रकरणों में श्रावक और मुनि आचार संबंधी प्रायः समस्त विषयों का समावेश हो गया है। पंचासग पर अभयदेवसूरि कृत शिष्यहिता नामक संस्कृत टीका है। (भावनगर १९१२; रतलाम १९४१)। पंचासग के समान अन्य २० प्रकरण इस प्रकार के हैं जिनमें प्रत्येक में २० गाथाएं हैं। यह संग्रह बीसवींसीश्रो (विंशतिविंशिका) के नाम से प्रसिद्ध है। इन विंशिकाओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) अधिकार (२) अनादि (३) कुलनीति (४) चरमपरिवर्त (५) बीजादि (६) सद्धर्म (७) दान (८) पूजाविधि (९) श्रावकधर्म (१०) श्रावकप्रतिमा (११) यतिधर्म (१२) शिक्षा (१३) भिक्षा (१४) तदंतरायशुद्धिालग (१५) आलोचना (१६) प्रायश्चित्त (१७) योगविधान (१८) केवलज्ञान (१९) सिद्धविभक्ति और (२०) सिद्धसुख। इन विंशिकाओं में भी श्रावक और मुनिधर्म के सामान्य नियमों तथा नानाविधानों और साध-
नाओं का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर आनन्दसागर सूरि द्वारा एक टीका लिखी गई है। १७ वीं योगविधान नामक विंशिका पर श्री न्या० यशोविजयगणिकृत टीका भी है। (प्र० मूलमात्र, पूना, १९३२)

शान्तिसूरि (१२ वीं शती) कृत धर्मरत्न-प्रकरण में १८१ गाथाओं द्वारा श्रावक पद प्राप्ति के लिये सौम्यता, पापभीरुता आदि २१ आवश्यक गुणों का वर्णन किया है तथा भावश्रमण के लक्षणों और शीलों का भी निरूपण किया है। इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

प्राकृत गाथाओं द्वारा गृहस्थधर्म का प्ररूपण करनेवाला दूसरा ग्रन्थ वसुनंदिकृत उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) है, जिसमें ५४६ गाथाओं द्वारा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं अर्थात् दर्जों का विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्ता ने अपना परिचय ग्रंथ की प्रशस्ति में दिया है, जिसके अनुसार उनकी गुरु-परम्परा कुंदकुंदाम्नाय में क्रमशः श्रीनंदि, नयनंदि, नेमिचन्द्र और वसुनंदि, इसप्रकार पाई जाती है। उन्होंने यह भी कहा है कि मैंने अपने गुरु नेमिचन्द्र के प्रसाद से इस आचार्य-परम्परागत उपासकाध्ययन को वात्सल्य और आदरभाव से भव्यों के लिये रचा। ग्रंथ के आदि में उन्होंने यह भी कहा

है कि विपुलाचल पर्वत पर इन्द्रभूति ने जो श्रेणिक को उपदेश दिया था, उसीको गुरु परिपाटी से कहे जानेवाले इस ग्रंथ को सुनिये। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि द्वादशांगान्तर्गत सातवें श्रुतांग 'उपासक दशा' में हमें श्रावक की इन्हीं ग्यारह प्रतिमाओं का प्ररूपण मिलता है। भेद यह है कि वहां यह विषय आनंद श्रावक के कथानक के अन्तर्गत आया है, और यहां स्वतंत्र रूप से। इसमें की २६५-३०१ तक की, तथा इससे पूर्व की अन्य कुछ गाथाएं श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र से ज्यों की त्यों मिलती हैं। कुन्द कुन्दाचार्य कृत चारित्र पाहुड (गाथा २२) में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मात्र उल्लिखित हैं। उनका कुछ विस्तार से वर्णन कालिकेयानुप्रेक्षा की ३०५-३६० तक ८६ गाथाओं में किया गया है। इन सब से भिन्न वसुनंदि ने विशेषता यह उत्पन्न की है कि उन्होंने निशिभोजन-त्याग को प्रथम दर्शन प्रतिमा में ही आवश्यक बतलाकर छठवीं प्रतिमा में उसके स्थान पर दिवा-ब्रह्मचर्य का विधान किया है। ग्रंथ की रचना का काल निश्चित नहीं है, तथापि इस ग्रन्थ की अनेक गाथाएं देवसेन कृत भावसंग्रह के आधार से लिखी गईं प्रतीत होती हैं, जिससे इसकी रचना की पूर्वावधि वि० सं० ६६० (ई० ६३३) अनुमान की जा सकती है। आशाधरकृत सागार-वर्मामृत टीका में वसुनंदि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जिससे उनके काल की उत्तरावधि वि० सं० १२६६ (ई० १२३६) सिद्ध होती है। इन्हीं सीमाओं के बीच सम्भवतः ११ वीं, १२वीं शती में यह ग्रन्थ लिखा गया होगा।

अपभ्रंश में श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ 'सावयधम्मवोद्वा' है। इसमें २२४ दोहों द्वारा श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं व बारह व्रतों का स्वरूप समझाया गया है। बारह व्रतों के नाम कुंदकुंद के अनुसार हैं, जिनमें देशव्रत सम्मिलित न होकर सल्लेखना का समावेश है। सप्तव्यसनो, अभक्ष्यो एवं कुसंगति, अन्याय, चुगलखोरी, भूठे व्यापार आदि दुर्गुणों के परित्याग का उपदेश दिया गया है। शैली बड़ी सरल, सुन्दर, व काव्य गुणात्मक है। प्रायः प्रत्येक दोहे की एक पंक्ति में धर्मोपदेश और दूसरी में उसका कोई सुन्दर, हृदय में चुभने वाला दृष्टान्त दिया गया है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के संबंध में कुछ विवाद है। प्रकाशित ग्रन्थ (कारंजा १६३२) की भूमिका में उहापोह पूर्वक इसके कर्ता दसवीं शताब्दी में हुए देवसेन को सिद्ध किया गया है। किन्तु कुछ हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में इसे योगीन्द्र कृत भी कहा गया है, और कुछ में लक्ष्मीचन्द्र कृत श्रुतसागर कृत षट्पाहुड टीका में इस ग्रन्थ के कुछ दोहे उद्धृत पाये जाते हैं जिन्हें लक्ष्मीचन्द्र कृत कहा गया है। यदि पूर्ण ग्रन्थ के कर्ता लक्ष्मीचन्द्र हैं तो वह १५ वीं, छठी की रचना सिद्ध होती है। ग्रन्थ पर योगीन्द्र कृत परमात्म प्रकाश तथा देवसेन

कृत भावसंग्रह का बहुत प्रभाव पाया जाता है। इसकी एक प्राचीन प्रति जयपुर के पाटोदी जैन मंदिर में वि० सं० १५५५ (ई० सन् १४६८) की है, और इसकी पुष्पिका में “इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्र-विरचिते दोहक-सूत्राणि समाप्तानि” ऐसा उल्लेख है।

श्रावकाचार-संस्कृत :

रत्नकरंज श्रावकाचार— संस्कृत में श्रावक धर्म विषयक बड़ी सुप्रसिद्ध रचना है। इसके १५० श्लोकों में क्रमशः सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का निरूपण किया गया है। चारित्र्य में पांच अणुव्रत, तीन गुरुव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विस्तार से वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् सल्लेखना का निरूपण किया गया है, और इसप्रकार कुंदकुंद के निर्देशानुसार (चारित्र्य पाहुड गा० २५-२६) सल्लेखना को भी श्रावक के व्रतों में स्वीकार कर लिया है। अन्त में ग्यारह श्रावक-पदों (प्रतिमाओं) का भी निरूपण कर दिया गया है। इसप्रकार यहां श्रावक धर्म का प्ररूपण, निरूपण की दोनों पद्धतियों के अनुसार कर दिया गया है। ग्रन्थ कर्ता ने इस कृति में अपना नाम प्रगट नहीं किया, किन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्र ने इसे समन्तभद्र कृत कहा है, और इसी आधार पर यह उन्ही स्वामी समन्तभद्र कृत मान लिया गया है जिन्होंने आप्तमीमांसादि ग्रन्थों की रचना की। किन्तु शैली आदि भेदों के अतिरिक्त भी इसमें आप्तमीमांसा सम्मत आप्त के लक्षण से भेद पाया जाता है, दूसरे बादिराज के पार्श्वनाथ चरित्र की उत्पानिका में इस रचना को स्पष्टतः समन्तभद्र से पृथक् ‘योगीन्द्र’ की रचना कहा है; तीसरे इससे पूर्व इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं मिलता; और चौथे स्वयं ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक में ‘वीतकलंक’, ‘विद्या’ और ‘सर्वार्थसिद्धि’ शब्दों का उपयोग किया गया है जिससे अनुमान होता है कि अकलंककृत राजवातिक, और विद्यानंदि कृत श्लोक वातिक तथा पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, इन तीनों टीकाओं से ग्रन्थकार परिचित और उपकृत थे। इसके अनुसार यह रचना विद्यानंदि और बादिराज के कालों के बीच अर्थात् आठवीं से दसवीं-ग्यारहवीं शती तक किसी समय हुई होगी।

सोमदेवकृत यशस्तिनक चम्पू के पांच से आठवें तक के चार आश्वसों में चारित्र्य का वर्णन पाया जाता है। विशेषतः इसके सातवें और आठवें आश्वसों में श्रावक के बारह व्रतों का विस्तार से प्रौढ़ शैली में वर्णन किया है। यह ग्रन्थ शक सं० ८८१ (ई० सन् १५६) में समाप्त हुआ था।

अभितमति कृत श्रावकाचार लगभग १५०० संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है, और

वह १५ अध्यायों में विभाजित है, जिनमें धर्म का स्वरूप, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का भेद, सप्त तत्त्व, अष्ट मूलगुण, बारह व्रत और उनके अतिचार, सामायिक आदि छह आवश्यक, दान, पूजा व उपवास एवं बारह भावनाओं का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है। अन्तिम अध्याय में ध्यान का वर्णन ११४ पद्यों में किया गया है, जिसमें ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल का निरूपण है। अमिताभ ने अपने अनेक ग्रन्थों में उनके रचनाकाल का उल्लेख किया है, जिनमें वि० सं० १०५० से १०७३ तक के उल्लेख मिलते हैं। अतएव उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग १००० ई० सिद्ध होता है।

आशाघर कृत सागारधर्मामृत लगभग ५०० संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है, और उसमें आठ अध्यायों द्वारा श्रावकधर्म का सामान्य वर्णन, अष्ट मूलगुण तथा ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है। व्रत प्रतिमा के भीतर बारह व्रतों के अतिरिक्त श्रावक की दिनचर्या भी बतलाई गई है। अन्तिम अध्याय के ११० श्लोकों में समाधि-मरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। रचनाशैली काव्यात्मक है। ग्रन्थ पर कर्ता की स्वोपज्ञ टीका उपलब्ध है, जिसमें उसकी समाप्ति का समय वि० सं० १२६६-ई० १२३६ उल्लिखित है। (प्र० बंबई, १९१५)

गुणभूषण कृत श्रावकाचार को कर्ता ने अव्यजन-चित्तवल्लभ श्रावकाचार कहा है। इसमें २६६ श्लोकों द्वारा दर्शन, ज्ञान और श्रावकधर्म का तीन उद्देशों में सरल रीति से निरूपण किया गया है। इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है, किन्तु उस पर रत्नकरंड, वसुनंदि श्रावकाचार आदि की छाप पड़ी दिखाई देती है। अनुमानतः यह रचना १४वीं १५वीं शताब्दी की है।

श्रावकधर्म संबंधी रचनाओं की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आई है जिसमें १७वीं शताब्दी में अकबर के काल में राजमल्ल द्वारा रचित लाटी संहिता उल्लेखनीय है।

ध्यान व योग-प्राकृत :

मुनिचर्या में तप का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। तप के दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्तादि छह प्रभेदों में अन्तिम तप का नाम ध्यान है। अष्टभागाधी आगम ग्रन्थों में और विशेषतः ठाण्ण (अ० ४ उ० १) में आर्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल इन चारों ध्यानों और उनके भेदोपभेदों का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार नियुक्तियों में और विशेषतः आचम्यक नियुक्ति के कायोत्सर्ग अध्ययन (गा० १४६२-८६) में ध्यानों के लक्षण व भेद-प्रभेद वर्णित पाये जाते हैं। इस

आगम-प्रणाली के अनुसार ध्यान का निरूपण जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी ध्यानशासक नामक रचना में किया है ।

वैदिक परम्परा में ध्यान का निरूपण योग दर्शन के भीतर पाया जाता है, जिसके आदि संस्थापक महर्षि पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) माने जाते हैं । पातञ्जल 'योगसूत्र' में जो योग का लक्षण 'चित्तवृत्तिनिरोध' किया है, और उसके प्रथम अंग यम के अहिंसादि पांच भेद बतलाये हैं, इससे उस पर श्रमण परम्परा की संयम विधि की छाप स्पष्ट दिखाई देती है । अष्टांग योग का सातवां अंग ध्यान है जिसके द्वारा मुनि अपने चित्त को बाह्य विषयों से खींचकर आत्मचिन्तन में लगाने का प्रयत्न करता है । इस प्रक्रिया का योग नाम से उल्लेख हर्षे कुन्दकुन्द कृत मोक्ष-पाहुड में मिलता है ।

मोक्षपाहुड (गाथा १०६) में कुन्दकुन्द ने आदि में ही अपनी कृति को परम योगियों के उस परमात्मरूप परमपद का व्याख्यान करनेवाली कहा है, जिसको जानकर तथा निरन्तर अपनी साधना में योजित करके योगी अव्याबाध, अनन्त और अनुपम निर्वाण को प्राप्त करता है (गा० २-३) । यहां आत्मा के बहिः, अंतर और परम ये तीन भेद किये हैं, जिनके क्रमशः इन्द्रिय परायणता, आत्म चेतना और कर्मों से मुक्ति, ये लक्षण हैं (गा० ५) । परद्रव्य में रति मिथ्यादृष्टि है और उससे जीव की दुर्गति होती है; एवं स्व-द्रव्य (आत्मा) में रति सद्गति का कारण है । स्व-द्रव्य-रत श्रमण नियम से सम्यग्दृष्टि होता है । तप से केवल स्वर्ग ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु शाश्वत सुख रूप निर्वाण की प्राप्ति ध्यान योग से ही सम्भव है (गा० २३) कषायों, मान, मद, राग-द्वेष, व्यामोह, एवं समस्त लोक-व्यवहार से मुक्त और विरक्त होकर आत्मध्यान में प्रवृत्त हुआ जा सकता है (गा० २७) । साधक को मन, बचन, काय से मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य, और पाप का परित्याग कर मौनव्रत धारण करना चाहिए (गा० २८) । योग की अवस्था में समस्त आस्रवों का निरोध होकर, संचित कर्मों का क्षय होने लगता है (गा० ३०) । लोक व्यवहार के प्रति सुषुप्ति होने पर ही आत्मजागृति होती है (गा० ३१) । पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन शुप्ति और रत्नत्रय से युक्त होकर मुनि को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिये (गा० ३३) । तभी वह सच्चा आराधक बनता है, आराधना के विधान को साध सकता है, और आराधना का केवलज्ञान रूप फल प्राप्त कर सकता है (गा० ३४) । किन्तु कितने ही साधक आत्मज्ञानी होकर भी पुनः विषयविमोहित होकर सद्भाव से अष्ट हो जाते हैं । जो विषय-विरक्त बने रहते हैं, वे चतुर्गति से मुक्त हो जाते हैं (गा० ६७-६८) ।

सम्यक्त्वहीन, चारित्रहीन अभव्य और अज्ञानी ही कहते हैं कि यह दुस्समकाल ध्यान करने का नहीं है (गा० ७४-७६)। ध्यान दो प्रकार से किया जा सकता है, एक तो शुद्ध आत्म-चिन्तन, जिसके द्वारा योगी अपने आप में सुरक्त हो जाता है। यह निश्चयात्मक ध्यानावस्था है। जिसमें यह योग्यता नहीं है वह आत्मा का पुरुषाकार रूप से ध्यान करे (गा० ८३-८४)। यह ध्यान श्रमणों का है। श्रावकों को तत्त्वचिन्तन रूप सम्यक्त्व का निष्कंप रूप से ध्यान करना चाहिए (गा० ८६)। ध्यानाभ्यास के बिना बहुत से शास्त्रों का पठन, और नानाविध चारित्र का पालन, बाल-श्रुत बाल-चरण ही है (गा० १००)। अन्त में दो गाथाओं (१०४-१०५) में पंचपरमेष्ठि, रत्नत्रय व तप की जिस आत्मा में प्रतिष्ठा है उसकी ही शरण संबंधी भावना का निरूपण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस प्रकार इस पाहुड में हमें जैन योग विषयक अतिप्राचीन विचार दृष्टिगोचर होते हैं जिसका परवर्ती योग विषयक रचनाओं से तुलनात्मक अध्ययन करने योग्य है। यथार्थतः यह रचना योगशतक रूप से लिखी गई प्रतीत होती है और उसको 'योग-पाहुड' नाम भी दिया जा सकता है। पातंजल योग शास्त्र में योग के जिन यम नियमादि आठ अंगों का निरूपण किया गया है, उनमें से प्राणायाम को छोड़, शेष सात का विषय यहा स्फुटरूप से जैन परम्परानुसार वर्णित पाया जाता है।

बारस अनुपेक्षा (गा० ६०-६१), में अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आसव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह भावनाओं का आरम्भ में निर्देश और फिर क्रमशः उनका स्वरूप संक्षेप में वर्णन किया गया है। ग्यारहवीं धर्मभावना के निरूपण में श्रावकों के दर्शन व्रतादि ग्यारह प्रतिमाओं (गा० ६६) तथा मुनियों के उत्तम क्षमादि दश धर्मों का (गा० ७०) निर्देश किया गया है, और फिर एक एक गाथा में इन दशों का स्वरूप बतलाया गया है। अन्तिम ६१ वीं गाथा में कुन्दकुन्द मुनिनाथ का नामोल्लेख है, किन्तु यह गाथा प्राचीन कुछ प्रतियों में नहीं मिलती। इसकी कुछ गाथाएं मूलाचार और सर्वार्थ सिद्धि में पाई जाती है। इस रचना में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं देती जिसके कारण वह कुन्दकुन्द कृत मानी न जा सके। तत्त्वार्थसूत्रानुसार अनुपेक्षा धार्मिक साधना का एक आवश्यक अंग है; वहां बाहर अनुपेक्षाओं का निर्देशन भी किया गया है। अतएव यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि जब कुन्दकुन्द ने चारित्र सम्बन्धी सभी विषयों पर लिखा, तब उन्होंने बारह अनुपेक्षाओं का निरूपण भी अवश्य किया होगा।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियों में कहीं संक्षेप और

कहीं विस्तार से धर्मग्रंथों और श्रावकों के चारित्र्य संबंधी प्रायः सभी विषयों का निर्देश व निरूपण आ गया है। उनकी इन कृतियों का आगे की साहित्य रचनाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा दिखाई देता है, और उनमें उक्त विषयों को लेकर पल्लवित किया गया है।

कस्तिगोपानुवेक्षणा (कार्तिकेयानुप्रेक्षा) में ४६१ गाथाओं द्वारा उन्होंने बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनका संक्षिप्त निरूपण हमें कुन्दकुन्द के बारह अणुवेक्षणा में प्राप्त होता है। किन्तु यहाँ उनका क्रम कुछ भिन्न प्रकार से पाया जाता है। यहां संसार भावना तीसरे, अशुचित्व छठे, और लोक दसवें स्थान में पाई जाती है। लोकानुप्रेक्षा का वर्णन ११५ से २८३ तक की १६९ गाथाओं में किया गया है; क्योंकि उसके भीतर समस्त त्रैलोक्य का स्वरूप और उनके निवासी जीवों-का, जीवादि छह द्रव्यों का, द्रव्यों से उत्पादादि पर्यायों का तथा मति श्रुति आदि पांच ज्ञानों का भी प्ररूपण किया गया है, और इस प्रकार वह प्रकरण त्रिलोक-प्रज्ञप्ति का संक्षिप्त रूप बन गया है। उसी प्रकार धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन गा० ३०२ से गा० ४६७ तक की १८६ गाथाओं में हुआ है। क्योंकि यहां श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं व बारह व्रतों का (गा० ३०५-३६१), साधु के क्षमादि दश धर्मों का (गा० ३६२-४०४), सम्बन्ध के आठ अंगों का (गा० ४१४-४२२) एवं अनशनादि बारह तपों का (गा० ४४१-४८७) वर्णन भी पर्याप्त रूप से किया गया है। बारह व्रतों के निरूपण में गुण और शिक्षा-व्रतों का क्रम वही है, जो कुन्दकुन्द के चारित्र्यपाहुड (गा० २५-२६) में पाया जाता है। भेद केवल इतना है कि यहां अंतिम शिक्षाव्रत सल्लेखना नहीं, किन्तु देशावकाशिक ग्रहण किया गया है। यह गुण और शिक्षाव्रतों की व्यवस्था त० सू० से संख्या क्रम में भिन्न है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति की व्यवस्था से मेल खाता है। ग्रन्थ की अन्तिम तीन गाथाओं में कर्ता ने ग्रन्थ को समाप्त करते हुए केवल इतना ही कहा है कि स्वामिकुमार ने इन अनुप्रेक्षाओं की रचना परम श्रद्धा से, जिन-वचनों की भावना तथा चंचल मन के अवरोध के लिये जिनागम के अनुसार की। अन्तिम गाथा में उन्होंने कुमारकाल में तपश्चरण कारण करनेवाले वामपुण्य, मल्लि और अन्तिम तीन अर्थात् नेमि, पार्श्व और महावीर की वन्दना की है। इस पर से ग्रन्थकर्ता के विषय में इतना ही परिचय प्राप्त होता है कि वे स्वयं (ब्रह्मचारी) थे और उनका नाम स्वामिकुमार (कार्तिकेय) था। ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में अभी कोई अनुमान लगाना कठिन है। ग्रन्थ पर भट्टारक मुषमन्त्र कृत संस्कृत टीका (वि० सं० १६१३-ई० १५५६) में समाप्त हुई प्राप्त होती है।

कुंदकुंद के पश्चात् स्वतंत्ररूप से योग विषयक ग्रन्थकर्ता आ० हरिभद्र हैं, जिनकी योग विषयक स्वतंत्र तीन रचनाएं प्राप्त हैं—योगशतक (प्राकृत), योगबिन्दु (संस्कृत) और योगदृष्टिसमुच्चय (सं०)। इनके अतिरिक्त उनकी विंशति विशिका में एक (१७ वीं विशिका) तथा षोडशक में १४ वां व १६ वां ये दो, इसप्रकार तीन छोटे छोटे प्रकरण भी हैं। योगशतक में १०१ प्राकृत गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शन आदि रूप निश्चय और व्यवहार योग का स्वरूप, योग के अधिकारी, योगाधिकारी के लक्षण एवं ध्यान रूप योगावस्था का सामान्य रीति से जैन परम्परानुसार ही वर्णन किया गया है। योगविंशति की बीस गाथाओं में अतिसंक्षिप्त रूप से योग की विकसित अवस्थाओं का निरूपण किया गया है, जिसमें कर्ता ने कुछ नये पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया है। यहां उन्होंने योग के पांच भेदों या अनुष्ठानों को स्थान, उर्ग, अर्थ, आलम्बन और अन्तर्लम्बन संज्ञाएं देकर (गा० २), पहले दो को कर्मयोग रूप और शेष तीन को ज्ञानयोग रूप कहा है (गा० ३)। तत्पश्चात् इन पांचों योग भेदों के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि, ये चार यम नामक प्रभेद किये हैं, और अन्त में इनकी प्रीति, भक्ति, वचन और असंग अनुष्ठान नामक चार चार अवस्थाएं स्थापित करके आलंबन और अनालंबन योग का स्वरूप समझाया है।

ध्यान व योग-अपभ्रंश :

यहां अपभ्रंश भाषा की कुछ रचनाओं का उल्लेख भी उचित प्रतीत होता है, क्योंकि वे अध्यात्म विषयक हैं। योगीन्द्र कृत परमात्म-प्रकाश ३४५ दोहों में तथा योगसार १०७ दोहों में समाप्त हुए हैं। इन दोनों रचनाओं में कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड के अनुसार आत्मा के बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म इन तीन स्वरूपों का विस्तार से वर्णन किया गया है, और जीवों को संसार के विषयों से चित्त को हटाकर, उसे आत्मोन्मुख बनाने का नानाप्रकार से उपदेश दिया गया है। यह सब उपदेश योगीन्द्र ने अपने एक शिष्य भट्ट प्रभाकर के प्रश्नों के उत्तर में दिया है। इन रचनाओं का काल संपादक ने ई० की छठी शती अनुमान किया है (प्रकाशित बम्बई १९३७)। परमात्म प्रकाश के कुछ दोहे हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत पाये जाते हैं, जिससे इसकी रचना हेमचन्द्र से पूर्व काल की सुनिश्चित है।

रामसिंह मुनि कृत 'पाहुड बोहा' में २२२ दोहे हैं, और इनमें योगी रचयिता ने बाह्य क्रियाकांड की निष्फलता तथा आत्म-संयम और आत्मदर्शन में ही सच्चे कल्याण का उपदेश दिया है। झूठे जोगियों को ग्रन्थ में खूब फटकारा गया है। देह

को कुटी या देवालय और आत्मा को शिव तथा इन्द्रिय-वृत्तियों का शक्ति रूप से संबोधन अनेक जगह आया है। शैली में यह रचना एक ओर बौद्ध दोहाकोशों और चर्यापदों से समानता रखती है; और दूसरी ओर कबीर जैसे संतों की वाणियों से। दो दोहों (६६-१००) में देह और आत्मा अथवा आत्मा और परमात्मा का प्रेयसी और प्रेमी के रूप में वर्णन किया गया है, जो पीछे के सूफी सम्प्रदाय की काव्य-धारा का स्मरण दिलाता है। इसके ४,५ दोहे अत्यल्प परिवर्तन के साथ हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण में उद्धृत पाये जाते हैं। अतएव इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११०० से पूर्व सिद्ध होता है। (प्रकाशित, कारंजा, १९३३)

ध्यान व योग-संस्कृतः—कुंदकुंद के पश्चात् पूज्यपाद कृत योग विषयक दो संक्षिप्त संस्कृत रचनाएं उल्लेखनीय हैं। एक इष्टोपदेश है, जिसमें ५१ श्लोक हैं। यहां योग-साधक की उन भावनाओं का निरूपण किया गया है, जिनके द्वारा साधक अपनी इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से पराङ्मुख करके मन को आत्मध्यान में प्रवृत्त करता है, तथा उसमें ऐसी अध्यात्मवृत्ति जागृत हो जाती है कि वह समस्त जगत् को इन्द्र-जाल के समान देखने लगता है, एकान्तवास चाहता है, कार्यवश कुछ कहकर तुरन्त भूल जाता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता, देखता हुआ भी नहीं देखता, यहां तक कि उसे स्वयं अपने देह का भी भान नहीं रहता (श्लोक० ३६-४२)। इसप्रकार व्यवहार से दूर हटकर व आत्मानुष्ठान में स्थित होकर योगी को परमानन्द प्राप्त होता है (श्लो० ४७)। इस योगावस्था का वर्णन जीवन्मुक्त की अवस्था से मेल खाता है।

पूज्यपाद की दूसरी रचना समाधिशातक है, जिसमें १०५ संस्कृत श्लोक हैं। इसमें बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म का स्वरूप बतला कर, अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा के ध्यान का स्वरूप बतलाया गया है। ध्यान-साधना में अविद्या, अभ्यास व संस्कार के कारण, अथवा मोहोत्पन्न रागद्वेष द्वारा चित्त में विक्षेप उत्पन्न होने पर साधक को प्रयत्नपूर्वक मन को खींचकर, आत्मतत्त्व में नियोजित करने का उपदेश दिया गया है। साधक को अव्रतों का त्याग कर व्रतों में निष्ठित होने, और आत्मपद प्राप्त करने पर उन व्रतों का भी त्याग करने को कहा गया है (श्लो० ८४) लिंग तथा जाति का आग्रह करने वालों को यहां परमपद प्राप्ति के अयोग्य बतलाया है (श्लोक० ८६)। आत्मा अपने से भिन्न आत्मा की उपासना करके उसी के समान परमात्मा बन जाता है, जिसप्रकार कि एक बाती अन्य दीपक के पास से ज्वाला ग्रहण कर उसीके सदृश भिन्न दीपक बन जाती है (श्लोक० ९७)। इस रचना के संबंध में

यह बात ध्यान देने योग्य है कि विषय की दृष्टि से इसका कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड से बहुत कुछ साम्य के अतिरिक्त उसकी अनेक गाथाओं का यहाँ शब्दशः अथवा किंचित् भेद सहित अनुवाद पाया जाता है, जैसा कि मोक्ष पा० गा० ५, ६, ८, ९, १०, ११, २१, ३१, ३२, ४२, व ६२ और समधि शतक श्लोक ५, ६, ७, १०, ११, १२, १८, ७८, ४८, ८३, व १०२ का क्रमशः मिलान करने पर स्पष्ट पता लग जाता है।

आचार्य हरिभद्र कृत बोद्धक के १४ वें प्रकरण में १६ संस्कृत पद्यों में योग साधना में बाधक श्लेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, ग्रन्थमुद, रुग्, और आसंग, इन आठ चित्त-दोषों का निरूपण किया गया है; तथा १६ वें प्रकरण में उक्त आठ दोषों के प्रतिपक्षी अद्वेष, जिज्ञासा, सुभ्रूवा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति इन आठ चित्तगुणों का निरूपण किया है; एवं योग साधना के द्वारा क्रमशः स्वानुभूति रूप परमानंद की प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

योगबिंदु में ५२७ संस्कृत पद्यों में जैनयोग का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। यहाँ 'मोक्ष प्रापक धर्मव्यापार' को योग और मोक्ष को ही उसका लक्ष्य बतलाकर, चरमपुद्गलपरावर्त काल में योग की संभावना, अपुनबर्धक, भिन्नग्रंथि, देशविरत और सर्वविरत (सम्यग्दृष्टि) ये चार योगाधिकारियों के स्तर, पूजा, सदाचार, तप आदि अनुष्ठान, अध्यात्म, भावना, ध्यान आदि योग के पांच भेद; विष, गरलादि पांच प्रकार के सद् वा असद् अनुष्ठान, तथा आत्मा का स्वरूप परिणामी नित्य बतलाया गया है; और प्रसंगानुसार सांख्य, बौद्ध, वेदान्त आदि दर्शनों का समालोचन भी किया गया है। पातंजल योग और बौद्ध सम्मत योगभूमिकाओं के साथ जैन योग की तुलना विशेष उल्लेखनीय है।

योगदृष्टिसमुच्चय में २२७ संस्कृत पद्यों में कुछ योगबिंदु में वर्णित विषय की संक्षेप में पुनरावृत्ति की गई है; और कुछ नवीनता भी लाई गई है। यहाँ आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है, एक मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नामक आठ योग-दृष्टियों द्वारा; दूसरा इच्छायोग, वासत्रयोग, साप्रर्ष्य योग इन तीन प्रकार के योग-भेदों द्वारा; तथा तीसरा गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी इन चार योगी भेदों द्वारा। प्रथम वर्गीकरण में निर्दिष्ट आठ योगदृष्टियों में ही १४ गुरुस्थानों की योजना कर ली गई है। मुक्त तत्त्व की विस्तार से मीमांसा भी की गई है।

इन रचनाओं द्वारा हरिभद्र ने अपने विशेष चिन्तन, नवीन वर्गीकरण तथा अपूर्व पारिभाषिक शब्दावली द्वारा जैन परम्परा के योगात्मक विचारों को कुछ नये

रूप में प्रस्तुत किया है; और वैदिक तथा बौद्ध परम्परा सम्मत योगधाराओं से उसका मेल बैठाने का प्रयत्न किया है। योगदृष्टि-समुच्चय पर स्वयं हरिभद्रकृत, तथा यशोविजयगणित कृत टीका उपलब्ध है। यही नहीं, किन्तु यशोविजय जी ने मित्रा तारादि आठ योगदृष्टियों पर चार द्वात्रिंशिकाएं (२१-२४) भी लिखी है, और संक्षेप में गुजराती में एक छोटी सी सङ्काय भी लिखी है।

गुणभद्र कृत आत्मानुशासन में २७ संस्कृत पद्यों द्वारा इन्द्रियों और मन की बाह्य वृत्तियों को रोककर आत्मध्यान परक बनने का उपदेश दिया गया है। और इस प्रकार इसे योगाभ्यास की पूर्व-पीठिका कह सकते हैं। यह कृति रचना में काव्य गुण युक्त है। इसके कर्ता वे ही गुणभद्राचार्य माने जाते हैं जो धवला टीकाकार बीरसेन के प्रशिष्य और जिनसेन के शिष्य थे, तथा जिन्होंने उत्तरपुराण की रचना ६ वीं शताब्दी के मध्यभाग में पूर्ण की थी। अतएव प्रस्तुत रचना का भी लगभग यही काल सिद्ध होता है।

अमितगति कृत सुभाषित-रत्न-संबोह (१० वी, ११ वी शती) एक सुभाषितों का संग्रह है जिसमें ३२ अध्यायों के भीतर उत्तम काव्य की रीति से नैतिक व धार्मिक उपदेश दिये गये हैं। प्रसंगवश यत्रतत्र अन्यधर्मों मान्यताओं पर आलोचनात्मक विचार भी प्रकट किये गये हैं। अमितगति की एक दूसरी रचना योगसार है, जिसके ६ अध्यायों में नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश दिये गये हैं।

संस्कृत में आचार सम्बन्धी और प्रसंगवश योग का भी विस्तार से वर्णन करनेवाला एक ग्रन्थ ज्ञानार्णव है। इसके कर्ता शुभचन्द्र हैं, जो राजाभोज के समकालीन ११ वी शताब्दी में हुए माने जाते हैं। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति पाटन भंडार से सं० १२४८ की लिखी प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ में २००० से ऊपर श्लोक हैं, जो ४२ प्रकरणों में विभाजित हैं। इनमें जैन सिद्धान्त के प्रायः सभी विषयों का संक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। आचार सम्बन्धी व्रतों का और भावनाओं आदि का भी विस्तार से रूपरूप किया गया है। इसके अतिरिक्त आसन, प्राणायाम आदि योग की प्रक्रियाओं का, तथा ध्यान के आज्ञा, विपाक व संस्थान विषयों का वर्णन किया गया है। यहां ध्यान के निरूपण में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत संज्ञाओं का प्रयोग मौलिक है, और इन ध्यान-भेदों का स्वरूप भी अपूर्व है। इन्हीं सब प्रकारों में शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व का वर्णन भी इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ग्रन्थकर्ता ने प्राणायाम का निरूपण तो पर्याप्त किया है, किन्तु उसे ध्यान की सिद्धि में साधक नहीं, एक प्रकार से बाधक कहकर उसके अभ्यास का निषेध किया

है। यह वर्णन संस्कृत गद्य में किया गया है और उस पर श्रुतसागर कृत एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। इसमें वर्णित विषयों का इतना बाहुल्य है कि वे इसका ज्ञानार्णव नाम सार्थक सिद्ध करते हैं। दिगम्बर परम्परा में योग विषयक ध्यानसार और योग-प्रवीण नामक दो अन्य संस्कृत पद्यबद्ध रचनाएं भी मिलती हैं।

हेमचन्द्र (१२ वीं शती ई०) कृत योगशास्त्र में लगभग १००० संस्कृत श्लोक हैं। इनमें मुनि और श्रावक धर्मों का व तत्संबंधी व्रतों का क्रमवार निरूपण है। तत्पश्चात् यहां श्रावक की दिनचर्या, कषाय जय द्वारा मनःशुद्धि तथा अनित्य आदि बारह भावनाओं का स्वरूप बतलाकर आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा; ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ व रूपातीन तथा आज्ञा-विचय, अपाय-विचय आदि धर्मध्यान, और शुक्लध्यान के चार भेद; केवल समुद्धात और मोक्षप्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह प्रायः समस्त वर्णन स्पष्ट रूप से शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव से कहीं शब्दशः और कहीं कुछ हेरफेर अथवा संकोच-विस्तार पूर्वक लिया गया है। यहाँ तक कि प्राणायाम का विस्तार पूर्वक कोई ३०० श्लोकों में प्ररूपण करने पर भी उसे ज्ञानार्णव के समान मोक्षप्राप्ति में बाधक कहा गया है। शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के काल की दृष्टि से पूर्वापरत्व और एक पर दूसरे की छाप इतनी सुस्पष्ट है कि हेमचन्द्र को शुभचन्द्र का इस विषय में ऋणी न मानने का कोई अवकाश नहीं।

आशाधर कृत ग्रन्थात्म्य-रहस्य हाल ही प्रकाश में आया है। इसमें ७२ संस्कृत श्लोकों द्वारा आत्मशुद्धि और आत्मदर्शन एवं अनुभूति का योग की भूमिका पर प्ररूपण किया गया है। आशाधर ने अपनी अनगारधर्माभूत की टीका की प्रशस्ति में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति की अन्तिम पुष्पिका में इसे धर्माभूत का 'योगीदीपन' नामक अठारहवां अध्याय कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का दूसरा नाम योगीदीपन भी है और इसे कर्ता ने अपने धर्माभूत के अन्तिम उपसंहारात्मक अठारहवें अध्याय के रूप में लिखा था। स्वयं कर्ता के शब्दों में उन्होंने अपने पिता के आदेश से आरब्ध योगियों के लिये इस प्रसन्न, गम्भीर और प्रिय शास्त्र की रचना की थी।

स्तोत्र साहित्य :

जैन मुनियों के लिये जो छह आवश्यक क्रियाओं का विधान किया गया है, उनमें चतुर्विंशति-स्तव भी एक है। इस कारण तीर्थंकरों की स्तुति की परम्परा प्रायः उतनी ही प्राचीन है, जितनी जैन संघ की सुव्यवस्था। ये स्तुतियां पूर्व में

भक्त्यात्मक विचारों के प्रकाशन द्वारा की जाती थीं, जैसाकि हम पूर्वोक्त कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत व पूज्यपाद कृत संस्कृत भक्तियों में पाते हैं। तत् पश्चात् इन स्तुतियों का स्वरूप दो धाराओं में विकसित हुआ। एक ओर बुद्धिवादी नैयायिकों ने ऐसी स्तुतियाँ लिखीं जिनमें तीर्थंकरों की, अन्यदेवों की अपेक्षा, उत्कृष्टता और गुणात्मक विशेषता स्थापित की गई हैं। इस प्रकार की स्तुतियाँ आप्तमीमांसावि समन्तभद्र कृत, द्वात्रिंशिकाएं सिद्धसेन कृत तथा हेमचन्द्र कृत अन्ययोग व भयोग-व्यवच्छेदिकाएं आदि हैं, जिनका उल्लेख ऊपर जैन न्याय के प्रकरण में किया जा चुका है।

दूसरी धारा का विकास, एक ओर चौबीसों तीर्थंकरों के नामोल्लेख और यत्र तत्र गुणात्मक विशेषणों की योजनात्मक स्तुतियों में हुआ। इसप्रकार की अनेक स्तुतियाँ हमें पूजाओं की जयमालाओं के रूप में मिलती हैं। क्रमशः स्तोत्रों में विशेषणों व पर्यायवाची नामों का प्राचुर्य बढ़ा। इस शैली के चरम विकास का उदाहरण हमें जिनसेन (६ वीं शती) कृत 'जिनसहस्रनाम स्तोत्र' में मिलता है। इस स्तोत्र के आदि के ३४ श्लोकों में नाना विशेषणों द्वारा परमात्म तीर्थंकर को नमस्कार किया गया है, और फिर दश शतकों में सब मिलाकर जिनेन्द्र के १००८ नाम गिनाये गये हैं। इन नामों में प्रायः अन्य धर्मों के देवताओं जैसे ब्रम्हा, शिव, विष्णु, बुद्ध, बृहस्पति, इन्द्र आदि के नाम भी आ गये हैं। इसी के अनुसार पं० आशाधर (१३ वीं शती), देवविजयगणि (१६ वीं शती), विनयविजय उपाध्याय (१७ वीं शती) व सकलकीर्ति आदि कृत अनेक जिनसहस्रनाम स्तोत्र उपलब्ध हैं। सिद्धसेन दिवाकर कृत जिनसहस्रनामस्तोत्र का भी उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर काव्य प्रतिभाशाली स्तुतिकारों ने ऐसे स्तोत्र लिखे, जिनमें तीर्थंकरों का गुणानुवाद भक्ति भाव पूर्ण, छन्द, अलंकार व लालित्य युक्त कविता में पाया जाता है और इस प्रकार ये रचनायें जैन साहित्य में गीति-काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। प्राकृत में इस प्रकार का अति प्राचीन उदाहरण स्तोत्र है, जो भद्र बाहु कृत कहा जाता है। इसमें पांच गाथाओं द्वारा पार्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति की गई है। बनपाल कृत कषम पंचाशिका में ५० पद्याँ द्वारा प्रथम तीर्थंकर के जीवन चरित्र संबंधी उल्लेख आये हैं। यह स्तुति कला और कल्पना पूर्ण है, और उसमें अलंकारों की अच्छी छटा पायी जाती है। कवि के शब्दों में जीवन एक महोदधि है, जिसमें कषम भगवान् ही एक नौका हैं। जीवन एक चोर ढाकुओं से व्याप्त वन है, जिसमें कषम ही एक रक्षक हैं। जीवन मिथ्यात्व मय एक रात्रि है, जिसमें कषम ही उदीयमान सूर्य हैं। जीवन वह रंगमंच है जहाँ से प्रत्येक पात्र को अन्त में प्रस्थान करना ही

पड़ता है, इत्यादि। इस पर प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, महीमेरु, धर्मशेखर आदि कृत टीकाएं पाई जाती हैं। इसका कलाट द्वारा जर्मन भाषा में अनुवाद भी हुआ है। नंदिवेरा (६ वीं शती) कृत अजितशान्तिस्तव्य (अजित-शान्ति-स्तव) में द्वितीय व सोलहवें तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, क्योंकि इन दो तीर्थंकरों ने, एक प्राचीन मान्यता-नुसार, शत्रुंजय पर्वत की गुफाओं में वर्षा काल व्यतीत किया था; एवं, टीकाकार के अनुसार, कवि इसी तीर्थ की यात्रा से इस स्तुति की रचना करने के लिये प्रोत्साहित हुआ था। इन्हीं दो तीर्थंकरों की स्तुति जिनवल्लभ (१२ वीं शती) ने उल्लासि-कमण्डलु द्वारा की है। सुमति गरिण के अनुसार जिनवल्लभ पाणिनीय व्याकरण, महाकाव्य, अलंकार शास्त्र, नाट्य, साहित्य, ज्योतिष व न्याय के महान् पंडित थे। वीर गरिण ने भी एक अजितशान्तिस्तव्य स्तोत्र की रचना की है। अमरदेव (११ वीं शती) कृत जयतिद्वयरा स्तोत्र भी प्राकृत की एक लालित्य व भक्तिपूर्ण स्तुति है, जिसके फलस्वरूप, कहा जाता है, स्तुतिकर्ता को एक व्याधि से मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ हुआ था। नेमिजिनस्तव एक छोटा सा स्तोत्र है जिसमें ल और म के अतिरिक्त और किसी व्यंजन का उपयोग नहीं किया गया। प्राकृत में महावीरस्तव शब्दालंकार का सुन्दर उदाहरण है, जिसमें एक एक शब्द लगातार तीन तीन बार भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ स्तुतियां ऐसी हैं जिनमें अनेक भाषाओं का प्रयोग किया गया है, जैसे धर्मबर्द्धन (१३ वीं शती) कृत पार्श्वजिनस्तवन, एवं जिनपद्य (१४ वीं शती) कृत शातिनाथस्तवन। इनमें संस्कृत, महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पेशाची, और अपभ्रंश इन छह भाषाओं के पद्य समाविष्ट किये गये हैं। कहीं कहीं एक ही पद्य आधा संस्कृत और आधा प्राकृत में रचा गया है। धर्मघोष कृत इसिमंडल (ऋषिमंडल) स्तोत्र में जम्बूस्वामी, स्वयंभव, भद्रबाहु आदि आचार्यों की स्तुति की गई है। एक समवधारण स्तोत्र धर्मघोष कृत (२४ गाथाओं का) और दूसरा महाख्यकृत (५२ गाथाओं का) पाये जाते हैं।

संस्कृत में काव्य शैली की सर्व प्राचीन दो स्तुतियां समन्तभद्र कृत उपलब्ध हैं। एक बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि वह 'स्वयम्भुवा' शब्द से प्रारम्भ होता है। इसके भीतर २४ तीर्थंकरों की पृथक् पृथक् स्तुतियां आ गई हैं। अधिकांश स्तव ५, ५ पदोंके हैं, एवं समस्त पद्यों की संख्या १४३ है। इनमें वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, वसंततिलका आदि १५, १६ प्रकार के छंदों का उपयोग हुआ है। अर्थ व शब्दालंकार भी खूब पाये हैं। तात्त्विक वर्णन और नैतिक व धार्मिक उपदेश भी खूब आया है। इस पर प्रभाचन्द्रकृत संस्कृत टीका मिलती है।

समस्तभद्रकृत दूसरी स्तोत्रपरक रचना स्तुतिविद्या है, जिसके जिनसत्त्वक व जिनशतकालंकार आदि नाम भी पाये जाते हैं। इसमें कवि का काव्य-कौशल अति उत्कृष्ट सीमा पर पहुँचा दिखाई देता है। इसमें ११६ पद्य हैं, जो अलंकारों व शिष्ट-काव्यों द्वारा कही कही इतने जटिल हो गये हैं कि बिना टीका के उनको भले प्रकार समझना कठिन है। इसपर वसुनंदि कृत एक मात्र टीका पाई जाती है। इसी कोटि का पूज्यपाद देवनंदि (छठी शती) कृत अलंकार प्रचुर सिद्धप्रिय स्तोत्र है, जो २६ पद्यों में पूरा हुआ है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, व सिद्धप्रिय शब्द से प्रारम्भ होने के कारण उक्त नाम से प्रसिद्ध है।

संस्कृत में मानतुंगाचार्य (लगभग ५ वीं ६ ठीकी शती) कृत 'भक्तामर स्तोत्र' बहुत ही लोकप्रिय और सुप्रचलित एवं प्रायः प्रत्येक जैन की जिह्वा पर आरुढ़ पाया जाता है। दिग० परम्परानुसार इसमें ४८ तथा श्वेताम्बर परम्परा में ५४ पद्य पाये जाते हैं। स्तोत्र की रचना सिंहोन्नता छंद में हुई है। इसमें स्वयं कर्ता के अनुसार प्रथम जिनेन्द्र अर्थात् ऋषभनाथ की स्तुति की गई है। तथापि समस्त रचना ऐसी है कि वह किसी भी तीर्थंकर के लिये लागू हो सकती है। प्रत्येक पद्य में बड़े सुन्दर उपमा, रूपक आदि अलंकारों का समावेश है। हे भगवन् आप एक अद्भुत जगत् प्रकाशी दीपक हैं, जिसमें न तेल है, न वाती और न धूम; एवं जहाँ पर्वतों को हिला देने वाले वायु के भोके भी पहुँच नहीं सकते, तथापि जिससे जगत् भर में प्रकाश फैलता है। हे मुनीन्द्र, आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है, क्योंकि आप न कभी अस्त होते, न राहुगम्य हैं, न आपका महान् प्रभाव मेघों से निरुद्ध होता, एवं एक साथ समस्त लोकों का स्वरूप सुस्पष्ट करते हैं। भगवन् आपही बुद्ध हैं, क्योंकि आपके बुद्धि व बोध की विबुध जन अर्चना करते हैं। आप ही शंकर हैं, क्योंकि आप भुवनत्रय का शम् अर्थात् कल्याण करते हैं। और आप ही विधाता ब्रह्मा हैं, क्योंकि आपने शिव मार्ग (मोक्ष मार्ग) की विधि का विधान किया है, इत्यादि। इसका सम्पादन व जर्मन भाषा में अनुवाद डा० जैकोबी ने किया है। इस स्तोत्र के आधार से बड़ा विशाल साहित्य निर्माण हुआ है। कोई २०, २५ तो टीकाएँ लिखी गई हैं एवं भक्तामर स्तोत्र कथा व चरित्र, छाया स्तवन, पंचांग विधि, पादपूर्ति स्तवन, पूजा, मंत्र, माहात्म्य, व्रतोद्यापन आदि रचनाएं भी २०, २५ से कम नहीं हैं। प्राकृत में भी मानतुंग कृत भयहर स्तोत्र पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया पाया जाता है।

भक्तामर के ही जोड़ का और उसी छंद व शैली में, तथा उसी के समान लोक-प्रिय दूसरी रचना कल्याण मंथिर स्तोत्र है। उसमें ४४ पद्य हैं। अन्तिम भिन्न छंद के

एक पद्य में इसके कर्त्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है, जिसे कुछ लोग सिद्ध-सेन (लगभग ६ठी शती) का ही दूसरा नाम मानते हैं। दूसरे पद्य के अनुसार यह २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया है। भक्तामर के सदृश होते हुए भी यह स्तोत्र अपनी काव्य कल्पनाओं व शब्द योजना में मौलिक ही है। हे जिनेंद्र, आप उन भव्यों को संसार से कैसे पार कर देते हैं, जो अपने हृदय में आपका नाम धारण करते हैं ? हां जाना, जो एक मशक (दृति) भी जल में तैर कर निकल जाती है, वह उसके भीतर भरे हुए पवन का ही तो प्रभाव है। हे जिनेश, आपके ध्यान से भव्य पुरुष भगवान् में देह को छोड़कर परमात्म दशा को प्राप्त हो जाते हैं; क्यों न हो, तीव्र अग्नि के प्रभाव से नाना धातुएं अपने पाषाण भाव को छोड़कर शुद्ध सुवर्णत्व को प्राप्त कर लेती हैं। इस स्तोत्र का भी डा० जैकोबी ने सम्पादन व जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। भक्तामर स्तोत्र के समान इस पर भी कोई २०, २५ टीकाएं व छाया स्तोत्र पाये जाते हैं।

धनंजय (७वी शती, ८वी शती) कृत विषापहार स्तोत्र में ४० इन्द्रवज्रा छंद के पद्य हैं। अन्तिम पद्य का छंद भिन्न है, और उसमें कर्त्ता ने अपना नाम सूचित किया है। स्तोत्र के द्वितीय पद्य में इस स्तुति को प्रथम तीर्थंकर वृषभ की कहा गया है। इसमें अन्य देवों से पृथक् करने वाले तीर्थंकर के गुणों का वर्णन विशेष रूप से आया है। हे देव, जो यह कहकर आपका गुणानुवाद करते हैं कि आप अमुक के पुत्र हैं, अमुक के पिता हैं, व अमुक कुल के हैं, वे यथार्थतः अपने हाथ में आये हुए सुवर्ण को पत्थर समझकर फेंक देते हैं। हे देव, मैं यह स्तुति करके आपसे दीनता पूर्वक कोई वर नहीं मांगता हूं; क्योंकि आप उपेक्षा (मध्यस्थ भाव) रखते हैं। जो कोई छायापूर्ण वृक्ष का आश्रय लेता है, उसे छाया अपने आप मिलती ही है, फिर छाया मांगने से लाभ क्या ? और हे देव, यदि आपको मुझे कुछ देने की इच्छा ही है, और उसके लिये अनुरोध भी, तो यही वरदान दीजिये कि मेरी आपमें भक्ति दृढ़ बनी रहे। स्तोत्र का नाम उसके १४वें पद्य के आदि में आये हुए विषापहार शब्द पर से पड़ा है, जिसमें कहा गया है कि हे भगवन् लोग विषापहार भण्ण, औषधियां, मंत्र और रसायन की खोज में मटकते फिरते हैं; वे यह नहीं जानते कि ये सब आपके ही पर्यायवाची नाम हैं। इस स्तोत्र पर नागचन्द्र और पार्श्वनाथ गोम्मट कृत टीकाएं हैं व एक अवचूर तथा देवेन्द्रकीर्ति कृत विषापहार व्रतोद्यापन नामक रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं।

वादिराज (११ वीं शती) कृत एकीभाव स्तोत्र में २६ पद्य मन्द्राक्रान्ता छन्द के हैं। अन्तिम भिन्न छन्दात्मक पद्य में कर्त्ता के नाम के साथ उन्हें एक उत्कृष्ट शास्त्रिक,

सांस्कृतिक काव्यकृत और भव्यसहायक कहा गया है। इस स्तोत्र में भक्त के मन, वचन और काय को स्वस्थ और शुद्ध करने वाले तीर्थकर के गुणों की विशेष रूप से स्तुति की गई है। हे भगवन्, जो कोई आपके दर्शन करता है, वचन रूपी अमृत का भक्ति रूपी पात्र से पान करता है, तथा कर्मरूपी मनसे आप जैसे असाधारण आनन्द के घाम, दुर्बार काम के मदहारी व प्रसाद की अद्वितीय भूमिरूप पुरुष में ध्यान द्वारा प्रवेश करता है, उसे क्रूराकार रोग और कंटक कैसे सता सकते हैं ? हे देव, न आपमें कोप का आवेश है, और न किसी के प्रति प्रसन्नता; एवं आपका चित्त परम उपेक्षा से व्याप्त है। इतने पर भी भुवन मात्र आपकी आज्ञा के वश है, और आपके सामीप्य मात्र से वैर का अपहार हो जाता है; ऐसा भुवनोत्कृष्ट प्रभाव आपको छोड़कर और किसमें है ? इस स्तोत्र पर एक स्वोपज्ञ टीका, एक श्रुतसागर कृत टीका व एक अन्य टीका मिलती है, तथा जगत्कीर्ति कृत व्रतोद्घापन का भी उल्लेख मिलता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्तोत्र लिखे गये हैं, जिनकी संख्या सैकड़ों पर पहुँच जाती है, और जिनकी कुछ न कुछ छंद, शब्द-योजना, अलंकार व भक्तिभाव (१) बप्पभट्टिकृत सरस्वती स्तोत्र (१६वीं शती) (२) भूपालकृत जिनचतुर्विंशतिका, (३) हेमचन्द्र कृत वीतराग स्तोत्र (१३वीं शती), संबंधी अपनी अपनी विशेषता है। इनमें से कुछ के नाम ये हैं: (४) आशाधर कृत सिद्धगुण स्तोत्र (१३ वीं शती) स्वोपज्ञ टीका सहित, (५) धर्मघोष कृत यमक स्तुति व चतुर्विंशति जिन स्तुति, (६) जिनप्रभ सूरि कृत चतुर्विंशति जिनस्तुति (१४ वीं शती), (७) मुनिसुन्दर कृत जिन स्तोत्र रत्नकोष (१४वीं शती), (८) सोमतिलक कृत सर्वज्ञ स्तोत्र, (९) कुमारपाल, (१०) सोमप्रभ, (११) जयानंद, और (१२) रत्नाकर कृत पृथक्, पृथक् 'साधारण जिन स्तोत्र'; (१३) जिन वल्लभ कृत नंदीश्वर स्तवन, (१४) शान्तिचन्द्रगणि (१६ वीं शती) कृत 'ऋषभजिनस्तव' व 'अजितशान्ति स्तव' आदि। धर्मसिंह कृत सरस्वती भक्तामर स्तोत्र तथा भावरत्न कृत नेमिभक्तामर स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इनकी रचना भक्तामर स्तोत्र पर से समस्यापूर्ति प्रणाली द्वारा हुई है, और इनमें क्रमशः सरस्वती व नेमि तीर्थकर की स्तुति की गई है।

प्रथमानुयोग—प्राकृत पुराण :

जैनागम के परिचय में कहा जा चुका है कि बारहवें श्रुतांग दृष्टिवाद के पाँच भेदों में एक भेद प्रथमानुयोग था, जिसमें अरहंत व चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया गया था। यही जैन कथा साहित्य का आदि स्त्रोत माना जाता

है। चौथे श्रुतांग समवायांग के भीतर २४६ से २७५वें सूत्र तक जो कुलकरों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों का वर्णन गाथा है, उसका भी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। समवायांग के उस वर्णन की अपनी निराली ही प्राचीन प्रणाली है। वहाँ पहले जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्र में वर्तमान ध्वसपिण्डी काल में चौबीसों तीर्थंकरों के पिता, माता, उनके नाम, उनके पूर्वज के नाम, उनकी शिक्षाओं के नाम, निष्क्रमण भूमियाँ, तथा निष्क्रमण करने वाले अन्य पुरुषों की संख्या, प्रथम भिक्षादाताओं के नाम, दीक्षा से प्रथम आहार ग्रहण का कालान्तर, चैत्यवृक्ष व उनकी ऊँचाई तथा प्रथम शिष्य और प्रथम शिष्यनी, इन सबकी नामावलियाँ मात्र क्रम से दी गई हैं। तीर्थंकरों के पश्चात् १२ चक्रवर्तियों के पिता, माता, स्वयं चक्रवर्ती और उनके स्त्रीरत्न क्रमशः गिनाये गये हैं। तत्पश्चात् ६ बलदेव और ६ वासुदेवों के पिता, माता, स्वयं उनके नाम, उनके पूर्वज के नाम व धर्मचार्य, वासुदेवों की निदान भूमियाँ और निदान कारण (स० २६३), इनके नाम गिनाये गये हैं। विशेषता केवल बलदेवों और वासुदेवों की नामावली में यह है कि उनसे पूर्व उत्तमपुरुष, प्रधान पुरुष, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, कान्त, सौम्य, सुभग आदि कोई सौ से भी ऊपर विशेषण लगाये गये हैं। तत्पश्चात् इनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेव) के नाम दिये गये हैं। इसके पश्चात् भविष्य काल के तीर्थंकर आदि गिनाये गये हैं। यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि उक्त नामावलियों में त्रेशठ पुरुषों का वृत्तान्त दिया गया है; तथापि उससे पूर्व १३२वें सूत्र में उत्तम पुरुषों की संख्या ५४ कही गई है, ६३ नहीं; अर्थात् ६ प्रतिवासुदेवों को उत्तम पुरुषों में सम्मिलित नहीं किया गया।

यतिवृषभ कृत तिलोद्य पण्डित के चतुर्थ महा अधिकार में भी उक्त महापुरुषों का वृत्तान्त पाया जाता है। इस अधिकार की गाथा ४२१ से ५०६ तक चौदह मनुष्यों या कुलकरों का उल्लेख करके क्रमशः १४११वीं गाथा तक उनका वही वर्णन दिया गया है जो ऊपर बतलाया जा चुका है। किन्तु विशेषता यह है कि यहाँ अनेक बातों में अधिक विस्तार पाया जाता है, जैसे—तीर्थंकरों की जन्मतिथियाँ और जन्मनक्षत्र, उनके वंशों का निर्देश, जन्मान्तराल, आयुप्रमाण, कुमारकाल, उत्प्रेष, शरीर वर्ण, राज्यकाल, चिन्ह, राज्य पद, वैराग्य कारण व भावना; दीक्षा स्थान, तिथि, काल व नक्षत्र और वन तथा उपवासों के नाम-निर्देश; दीक्षा के पूर्व की उपवास-संख्या, पारणा के समय नक्षत्र और स्थान, केवलज्ञान का अन्तरकाल, सप्तोसरण की रचना का विस्तार पूर्वक वर्णन (गाथा ७१० से ६३३ तक), यक्ष-यक्षिणी, केवलि-काल, गणधरों की संख्या, ऋद्धियों के भेद, ऋद्धियों की संख्या, सात भण, आर्याकाओं की संख्या, मुख्य

अयिकाओं के नाम, आचकों की संख्या, मुक्ति की तिथि, काल व नक्षत्र, तथा साथ में मुक्त हुए जीवों की संख्या; मुक्ति से पूर्व का योग-काल, मुक्त होते समय के आसन, अनुबद्ध केवलियों की संख्या, अनुत्तर जानेवालों की संख्या, मुक्तिप्राप्त यति-मणों की संख्या, मुक्ति-प्राप्त शिष्यगणों का मुक्ति-काल, स्वर्ग-प्राप्त शिष्यों की संख्या, भाव श्रमणों की संख्या, आदि; और अन्तिम तीर्थंकरों का मुक्ति काल और परस्पर अन्तराक्ष एवं तीर्थ-प्रवर्तन काल। यह सब विस्तार १२७८वीं गाथा में समाप्त होकर तत्पश्चात् चक्रवर्तियों का विवरण प्रारम्भ होता है, जिसमें उनके शरीरोत्सेध, आयु, कुमारकाल, मंडलीक-काल, दिग्विजय, विभव, राज्यकाल, संयमकाल और पर्यायान्तर प्राप्ति (पुनर्जन्म) का वर्णन गाथा १४१० तक किया गया है। इसके पश्चात् बलदेव, वासुदेव और उनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेवों) के नामों के अतिरिक्त वे किस-किस तीर्थंकर के तीर्थ में हुए इसका निर्देश किया गया है, और फिर उनके शरीर-प्रमाण, आयु, कुमार काल और मंडलीक काल; तथा शक्ति, अनुष आदि सात महारत्नों व मुसल आदि चार रत्नों के उल्लेख के पश्चात् गाथा १४३६ में कहा गया है कि समस्त बलदेव निदान रहित होने से मरण के पश्चात् ऊर्ध्वगामी व सब नारायण निदान सहित होने से अधोगामी होते हैं। यह गाथा कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ बही है जो समवायंग के २६३वें सूत्र के अन्तर्गत आई है। इसके पश्चात् उनके मोक्ष, स्वर्ग व नरक गतियों का विशेष उल्लेख है। गा० १४३७ में यह भी निर्देश किया गया है कि अन्तिम बलदेव, कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता, ब्रह्मस्वर्ग को गये हैं; और अगले जन्म में वे कृष्ण तीर्थंकर के तीर्थ में सिद्धि को प्राप्त होंगे। इसके पश्चात् ११ रुद्र, ६ नारद और २४ कामदेव, इनका वृत्तान्त गा० १४३६ से १४७२वीं गाथा तक दिया गया है। और तदनन्तर दुःषम काल का प्रवेश, अनुबुद्ध केवली, १४ पूर्वघारी, १० पूर्वघारी, ११ अंग-घारी, आचारंग के धारक, इनका काल-निर्देश करते हुए, शक राजा की उत्पत्ति, उसके वंश का राज्यकाल; गुप्तों और चतुर्मुख के राज्यकाल तक महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष तक की परम्परा; तथा दूसरी ओर महावीर-निर्वाण की रात्रि में राक्ष्या-भिषिक्त हुए अवन्तिराज पालक, विजयवंश, मुरुष वंश, पुष्यमित्र, वसुमित्र, अग्निमित्र, गन्धर्व, नरवाहन, भृत्यान्ध और गुप्तवंश तथा कल्कि चतुर्मुख के राज्यकाल की परम्परा द्वारा वीर-निर्वाण से बही १००० वर्ष का वृत्तान्त दिया गया है। बस यहीं पर तिलोय पञ्चति का पौराणिक व ऐतिहासिक वृत्तान्त समाप्त होता है (पा० १४७६-१५१४)।

जैन साहित्य में महापुरुषों के चरित्र को नवीन काव्य शैली में लिखने का

आरम्भ विमलसूरि ने किया। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में आदि काव्य बाल्मीकि कृत रामायण माना जाता है, उसी प्रकार प्राकृत का आदि काव्य भी विमलसूरि कृत 'पद्मचरितम्' (पद्मचरितम्) है। इस काव्य के अन्त की प्रशस्ति में इसके कर्ता व रचना-काल का निर्देश पाया जाता है। यहां कहा गया है कि स्व-समय और पर-समय अर्थात् अपने धर्म तथा अन्यधर्म के शायक रोहू नामके आचार्य हुए। उनके शिष्य थे माहल कुलवंशी विजय, और विजय के शिष्य विमलसूरि ने पूर्वगत में से नारायण और सीरि(बलदेव)के चरित्र सुनकर इस काव्य की रचना की, जिसकी समाप्ति महावीर के सिद्ध होने के उपरान्त दुषमाकाल के ५३० वर्ष व्यतीत होने पर हुई। त्रिलोक-प्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों के अनुसार वीर निर्वाण से ३ वर्ष ८ मास और १ पक्ष व्यतीत होने पर दुषमाकाल का आरम्भ हुआ (ति० प० ४, १४७४)। अब यदि हम पहले कहे अनुसार महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ की कार्तिक कृष्ण अमावास्या को मानते हैं, तो पद्मचरित्य की समाप्ति का काल आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा सन् ७ ई० सिद्ध होता है। किन्तु कुछ विद्वान्, जैसे जैकोबी, ग्रन्थरचना के इस काल को ठीक नहीं मानते, क्योंकि एक तो ग्रन्थ की भाषा अधिक विकसित है, और उसमें दीनार, लज्ज आदि ऐसे शब्द आये हैं जो यूनान से लिये गये प्रतीत होते हैं। दूसरे उसमें कुछ ऐसे छंदों का उपयोग हुआ है, जिनका आविष्कार संभवतः उस समय तक नहीं हुआ था। अतः विद्वान् इसका रचना-काल तीसरी-चौथी शती ई० अनुमान करते हैं। यथार्थतः ये मत बहुत कुछ काल्पनिक व अपर्याप्त प्रमाणों पर आधारित हैं। वस्तुतः अभी तक ऐसा कोई प्रमाण सम्मुख नहीं लाया जा सका, जिसके कारण ग्रन्थ में निर्दिष्ट समय पूर्णतः असिद्ध किया जा सके। यह बात अवश्य है कि इसकी भाषा में हमें महाराष्ट्री प्राकृत का प्रायः निखरा हुआ रूप दिखाई देता है; और महाराष्ट्री के विकास का काल लगभग ई० की दूसरी शताब्दी माना जाता है। दूसरी यह बात भी चिन्तनीय है कि जैन साहित्य में अन्य कोई इस शैली का प्राकृत काव्यछठी-सातवी शती से पूर्व का नहीं मिलता।

पद्मचरित्य के कर्ता ने अपने ग्रन्थ विषयक आदि स्त्रोतों के विषय में यह सूचित किया है कि उन्होंने नारायण और बलदेव (जक्ष्मण और राम) का चरित्र पूर्वगत में से सुना था (उ० ११८, गा० ११८)। यद्यपि पूर्वों के प्राप्त परिचय में कथात्मक साहित्य का उल्लेख नहीं पाया जाता; तथापि १२वें श्रुतंग दृष्टिवाद के भेदों में प्रथमानुयोग और पूर्वगत, दोनों साथ साथ निर्दिष्ट हैं। पद्मचरित्य में यह भी कहा गया है कि जो पद्मचरित पहले नामावली निबद्ध और आचार्य परम्परागत था,

उसे उन्होंने अनुपूर्वी से संक्षेप में कहा है (१, ८) । यहां स्पष्टतः कर्ता का संकेत उक्त नामावली-निबद्ध चरित्रों से है, जो समवायांग व तिलोपपन्नति में पाये जाते हैं । वे नामावलियां यथार्थतः स्मृति-सहायक मात्र हैं । उनके आधार से विशेष कथानक मौखिक गुरु-शिष्य परम्परा में अवश्य प्रचलित रहा होगा; और इसी का उल्लेख कर्ता ने आचार्य-परम्परागत कहकर किया है । जिन सूत्रों के आधार पर यह गाथात्मक काव्य रचा गया है, उनका निर्देश ग्रन्थ के प्रथम उद्देश में किया गया है । कवि को इस ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा कहां से मिली, इसकी भी सूचना ग्रन्थ में पाई जाती है । श्रेष्ठिक राजा ने गीतम के सम्मुख अपना यह सन्देह प्रकट किया कि वानरों ने अतिप्रबल राक्षसों का कैसे विनाश किया होगा ? क्या सचमुच रावण आदि राक्षस और मांस-भक्षी थे ? क्या सचमुच रावण का भाई कुम्भकर्ण छह महीने तक लगातार सोता था ? और निद्रा से उठकर भूखवश हाथी और भैंसे निगल जाता था ? क्या इन्द्र संग्राम में रावण से पराजित हो सका होगा ? ऐसी विपरीत बातों से पूर्ण रामायण कवियों द्वारा रची गई है, क्या वह सच है ? अथवा तथ्य कुछ अन्य प्रकार है ? श्रेष्ठिक के इस सन्देह के समाधानार्थ गीतम ने उन्हें यथार्थ रामायण का कथानक कहकर सुनाया (२, ३) । इस कथनसे स्पष्ट है कि पउमचरिय के लेखक के सम्मुख बाल्मीकि कृत रामायण उपस्थित थी और उसी से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने पूर्व साहित्य व गुरु परम्परा से प्राप्त कथा-सूत्रों को पल्लवित करके प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया ।

पउमचरिय में स्वयं कर्ता के कथनानुसार सात अधिकार हैं । स्थिति, वंशोत्पत्ति, प्रस्थान, रण, लवकुश (लवणाकुश) उत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव । ये अधिकार उद्देशों में विभाजित हैं, जिनकी संख्या ११८ है । समस्त रचना प्राकृत गाथाओं में है; किन्तु उद्देशों के अन्त में भिन्न भिन्न छन्दों का भी प्रयोग किया गया है । रचना प्रायः सर्वत्र सरल, धारावाही कथा-प्रधान है; किन्तु यत्र-तत्र उपमा आदि अलंकारों, सूक्तियों व रस-भावात्मक वर्णनों का भी समावेश पाया जाता है । इन विशेषताओं के द्वारा उसकी शैली भाषाभेद होने पर भी संस्कृत के रामायण महाभारत आदि पुराणों की शैली से मेल रखती है । इसमें काव्य का वह स्वरूप विकसित हुआ दिखाई नहीं देता जिसमें अलंकारिक वर्णन व रस-भाव-निरूपण प्रधान, और कथा भाग गौण हो गया है । प्रथम २४ उद्देशों में मुख्यतः विद्याधर और राक्षस वंशों का विवरण दिया गया है । राम के जन्म से लेकर, उनके लंका से लौटकर राज्याभिषेक तक अर्थात्, रामायण का मुख्य भाग २५ से ८५ तक के ६१ उद्देशों में वर्णित है । ग्रन्थ के शेष भाग में सीता-निर्वासन (उद्देश ६४), लवकुश-उत्पत्ति, देश-विजय व

समागम, पूर्व भवों का बर्णन आदि विस्तार से करके अन्त में राम को केवलज्ञान की उत्पत्ति, और उनकी निर्वाण-प्राप्ति के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। यहां राम का कथानक कई बातों में बाल्मीकि रामायण से अपनी विशेषता रखता है। यहां हनुमान सुग्रीव आदि वानर नहीं, किन्तु विद्याधर थे, जिनका ध्वज-चिन्ह वानर होने के कारण वे वानर कहलाने लगे। रावण के दशमुख नहीं थे; किन्तु उसके गले में पहनाये गये हार के मणिमयों में प्रतिबिम्बित नौ अन्य मुखों के कारण वह दशमुख कहलाया। सीता यथार्थतः जनक की ही औरस कन्या थी; और उसका एक भाई भामंडल भी था। रामने बर्बरोں द्वारा किये गये आक्रमण के समय जनक की सहायता की; और उसी के उपलक्ष्य में जनक ने सीता का विवाह राम के साथ करने का निश्चय किया। सीता के भ्राता भामंडल को उसके बचपन में ही एक विद्याधर हर ले गया था। युवक होने पर तथा अपने सच्चे मातापिता से अपरिचित होने के कारण उसे सीता का चित्रपट देखकर उस पर मोह उत्पन्न हो गया था, और वह उसी से अपना विवाह करना चाहता था। इसी विरोध के पारेहार के लिये धनुष-परीक्षा का आयोजन किया गया, जिसमें राम की विजय हुई। दशरथ ने जब वृद्धत्व आया जान राज्यभार से मुक्त हो, वैराग्यधारण करने का विचार किया; तभी गंभीर-स्वभावी भरत को भी वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार अपने पति और पुत्र दोनों के एक साथ वियोग की आशंका से भयभीत होकर कैकेयी ने अपने पुत्र को गृहस्थी में बांधे रखने की भावना से उसे ही राज्य पद देने के लिये दशरथ से एक मात्र वर मांगा; और राम, दशरथ की आज्ञा से नहीं, किन्तु स्वेच्छा से वन को गये। इस प्रकार कैकेयी को किसी दुर्भावना के कलंक से बचाया गया है। रावण के आचिपत्य को स्वीकार करने के प्रस्ताव को ठुकराकर बालि स्वयं अपने लघु भ्राता सुग्रीव को राज्य देकर प्रवृजित हो गया था; राम ने उसे नहीं मारा। रावण को यहां ज्ञानी और व्रती चित्रित किया गया है। वह सीता का अपहरण तो कर ले गया; किन्तु उसने उसकी इच्छा के प्रतिकूल बलात्कार करने का कभी विचार या प्रयत्न नहीं किया; और प्रेम की पीड़ा से वह घुलता रहा। जब स्वयं उसकी पत्नी मंदोदरी ने रावण के सुधारने का दूसरा कोई उपाय न देख, सच्ची पत्नी के नाते उसे बलपूर्वक भी अपनी इच्छा पूर्ण कर लेने का सुझाव दिया; तब उसने यह कहकर उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि मैंने किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध कभी संभोग न करने का व्रत ले लिया है; जिसे मैं कभी भंग न करूंगा। रावण के स्वयं अपने मुख से इस व्रत के उल्लेख द्वारा कवि ने न केवल उसके अरिज को ऊंचा उठाया है, किन्तु सीता के अश्लेष पातिव्रत का भी एक निस्संदेह

प्रमाण उपस्थित कर दिया है। रावण की मृत्यु यहां राम के हाथ से नहीं, किन्तु लक्ष्मण के हाथ से कही गई है। राम के पुत्रों के नाम यहां लवण और अंकुश पाये जाते हैं। इस प्रकार की अनेक विशेषताएं इस कथानक में पाई जाती हैं; जिनका उद्देश्य कथा को अधिक स्वाभाविक बनाना, और मानव चरित्र को सभी परिस्थितियों में ऊंचा उठाये रखना प्रतीत होता है। कथानक के बीच में प्रसंगवश नाना अवान्तर कथाएं व धर्मोपदेश भी गुंथे हुए हैं। पउमचरित्र के अतिरिक्त विमलसूरि की और कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई; किन्तु शक संवत् ७०० (ई० सन् ७७८) में बनी कुवलयमाला में उसके कर्ता उद्योतनसूरि ने कहा है कि—

बुधयण-सहस्त्र-वद्वयं हरिवंशुत्पत्ति-कारयं पठयं ।

बंवाभि बंदियं पि तु हरिवंशं खेव विमलपयं ॥

अर्थात् मैं सहस्त्रों बुधजनो के प्रिय हरिवंशोत्पत्ति के प्रथम कारक अर्थात् रचयिता विमलपद हरिवंश की ही वन्दना करता हूं। इस उल्लेख पर से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः विमलसूरि ने हरिवंश-कथात्मक ग्रन्थ की भी रचना की थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि समवायांग सूत्र में यद्यपि नामावलियां समस्त त्रैलोक्य शालाका पुरुषों की निबद्ध की गई हैं, तथापि उनमें से ६ प्रतिवासुदेवों को छोड़कर शेष ५४ को ही उत्तमपुरुष कहा है। इन्हीं ५४ उत्तमपुरुषों का चरित्र शीलांकाचार्य ने अपने 'खडपञ्चमहापुरिस-चरित्र' में किया है; जिसकी रचना वि० सं० ६२५ ई०-सन् ८६८ में समाप्त हुई। यह ग्रन्थ प्राकृत गद्य में व यत्र तत्र पद्यों में रचा गया है। तीर्थंकरों व चक्रवर्तियों का चरित्र यहां पूर्वोक्त नामावलियों के आधार से जैन परम्परानुसार वर्णन किया गया है। किन्तु विशेष तुलना के लिये यहां राम का आख्यान ध्यान देने योग्य है। अधिकांश वर्णन तो संक्षेप से विमलसूरि कृत पउमचरित्र के अनुसार ही है, किन्तु कुछ बातों में उल्लेखनीय भेद दिखाई देता है। जिस रावण की भगिनी को पउमचरित्र में सर्वत्र चन्द्रनखा कहा गया है; उसका नाम यहां सूर्यनखा पाया जाता है। पउमचरित्र में रावण ने लक्ष्मण के स्वर में सिंहनाद करके राम को ढोखा देकर सीता का अपहरण किया; किन्तु यहां स्वर्णमयी मायामृग का प्रयोग पाया जाता है। पउमचरित्र में कक्षि स्वयं सुग्रीव को राज्य देकर प्रवृजित हो गया था; किन्तु यहां उसका राम के हाथ से वध हुआ कहा गया है। यहां सीता को अपहरण के पश्चात् सम्बोधन करने वाली त्रिजटा का उल्लेख आया है, जो पउमचरित्र में नहीं है। इन भेदों से स्पष्ट है कि शीलांक की रचना में बाल्मीकि कृत रामायण का प्रभाव अधिक पड़ा है, यद्यपि ग्रन्थ के अन्त में शीलांक ने स्पष्टतः कहा है कि राम और लक्ष्मण का चरित्र जो पउमचरित्र में

विस्तार से वर्णित है, उसे उन्होंने सक्षेप से कहा है।

भद्रेश्वर कृत 'कहावलि' में त्रैलोक्य महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। भद्रेश्वर अभयदेव के गुरु थे। अभयदेव के शिष्य आषाढ़ का समय लगभग ११६१ ई० पाया जाता है; अतएव यह रचना १२ वीं शती के प्रारम्भ की सिद्ध होती है। समस्त रचना प्राकृत गद्य में लिखी गई है; केवल यज्ञ तत्र पद्य पाये जाते हैं। ग्रन्थ में कोई अध्यायों का विभाग नहीं है; किन्तु कथाओं का निर्देश 'रामकहा भण्णइ', 'वाणरकहा भण्णइ' इत्यादि रूपसे किया गया है। इस ग्रन्थ में रामायण की कथा विमलसूरि कृत 'पउम-चरियं' के ही अनुसार है। जो थोड़ा-बहुत भेद यत्र-तत्र पाया जाता है, उसमें विशेष उल्लेखनीय सीता के निर्वासन का प्रसंग है। सीता गर्भवती है और उसे स्वप्न हुआ है कि वह दो पराक्रमी पुत्रों को जन्म देगी। सीता के इस सौभाग्य की बात से उसकी सपलियों को ईर्ष्या उत्पन्न होती है। उन्होंने सीता के साथ एक छल किया। उन्होंने सीता से रावण का चित्र बनाने का आग्रह किया। सीता ने यह कहते हुए कि मैंने उसके मुखदि अंग तो देखे नहीं, केवल उसके पैरों का चित्र बना दिया। इसे उन सपलियों ने राम को दिखाकर कहा कि सीता रावण में अनुरक्त हो गई है; और उसी की चरण-बंदना किया करती है। राम ने इसपर जब तत्काल कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई; तब उन सपलियों ने जनता में यह अपवाद फैला दिया; जिसके परिणाम-स्वरूप राम सीता का निर्वासन करने के लिये विवश हुए। रावण के चित्र का वृत्तान्त हेमचन्द्र ने अपने त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित में भी निबद्ध किया है।

प्राकृत में तीर्थंकर चरित्र —

शीलांक कृत 'उपमहापुरिसचरिय' के पश्चात् आगामी तीन चार शताब्दियों में नाना तीर्थंकरों के चरित्र प्राकृत में कही पद्यात्मक, कहीं गद्यात्मक और कहीं मिश्रित रूप से काव्यशैली में लिखे गये। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ नाथ पर अभयदेव के शिष्य वर्द्धमान सूरि ने सन् ११०३ ई० में ११००० श्लोक प्रमाण आदिच्छाह-चरिवं की रचना की। पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का चरित्र १२ वीं शती के मध्य में विजयसिंह के शिष्य सोमप्रभ द्वारा लगभग ६००० श्लोकों में रचा गया। छठे तीर्थंकर षड्मप्रभ का चरित्र देवसूरि द्वारा १३ वीं शती में रचा गया। सातवें तीर्थंकर पर लगभग गणिका कृत 'सुपत्तज्जाह-चरियं' एक सुविस्तृत और उत्कृष्ट कोटि की रचना है, जो वि०सं० ११६६ में समाप्त हुई है। इसमें लगभग ७० पद्य अष्टांश के भी समाविष्ट पाये जाते हैं। आठवें तीर्थंकर अक्षयप्रभ पर अक्षयदेव कृत (सं० ११७०) तथा बीचन्द्र के शिष्य

हरिभद्रकृत (सं० १२२३), ११ वें श्लोकांश पर अजितसिंह कृत, और १२ वें कल्पसूत्र पर चन्द्रप्रभ कृत चरित्र-ग्रन्थ पाये जाते हैं। १४ वें तीर्थंकर जनस्तनाथ का चरित्र नेमिचन्द्र द्वारा वि० सं० १२१३ में लिखा गया। १६ वें तीर्थंकर क्षान्तिनाथ का चरित्र देवचन्द्र सूरि द्वारा वि० सं० ११६० में तथा दूसरा मुनिभद्र द्वारा वि० सं० १३५३ में लिखा गया। देवसूरि कृत रचना लगभग १२००० श्लोक प्रमाण है। १९वें मल्लिनाथ तीर्थंकर के चरित्र पर दो रचनाएँ मिलती हैं; एक श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिभद्र द्वारा सर्वदेवगणि की सहायता से; और दूसरी जिनेश्वर सूरि द्वारा। १२ वीं शती में ही २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का चरित्र श्रीचन्द्र द्वारा लगभग ११००० श्लोकाओं में लिखा गया। २२ वें नेमिनाथ पर भी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं, एक मलघारी हेमचन्द्र कृत, दूसरी जिनेश्वर सूरि कृत वि० सं० ११७५ की, और तीसरी रत्नप्रभ सूरि कृत वि० संवत् १२२३ की। २३ वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र अभयदेव के प्रशिष्य देवभद्र सूरि द्वारा वि० सं० ११६८ में रचा गया। रचना गद्य-पद्य मिश्रित है। अन्तिम तीर्थंकर पर 'महावीर-चरित्र' नामक तीन रचनाएँ (प्रका० अमदाबाद १९४५) उपलब्ध हैं; एक सुमति वाचक के शिष्य गुणचन्द्र गरिणकृत, दूसरी देवेन्द्रगणि अपर नाम नेमिचन्द्र, और तीसरी देवभद्र सूरिकृत। इन सबसे प्राचीन महावीर चरित्र आचारांग व कल्पसूत्र में पाया जाता है। कल्पसूत्र में वर्णित चरित्र अपनी काव्यात्मक शैली में ललितविस्तर में वर्णित बुद्धचरित से मिलता है। यह रचना भद्रबाहु कृत कही जाती है।

उक्त समस्त रचनाओं की भाषा व शैली प्रायः एक सी है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, किन्तु कहीं कहीं शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ भी पाई जाती हैं। शैली प्रायः पौदा-गुणिक है; किन्तु कवि की प्रतिमानुसार उनमें छंद, अलंकार, रस-भाव आदि काव्य गुणों का तरतम भाव पाया जाता है। प्रत्येक रचना में प्रायः चरित्रनायक के अनेक पूर्व भवों का वर्णन किया गया है; जो ग्रन्थ के एक-तृतीय भाग से कहीं कहीं अर्द्ध-भाग तक पहुँच गया है। शेष भाग में भी उपाख्यानों और उपदेशों की बहुलता पाई जाती है। नायक के चरित्र वर्णन में जन्म-नगरी की शोभा, माता-पिता का वैभव, गर्भ और जन्म समय के देव-कृत अतिशय, कुमार-क्रीड़ा और शिक्षा-दीक्षा, प्रवृत्त्या और तपस्वता की कठोरता, परिश्रम और उपसर्गों का सहन, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवधारण-रचना चर्मोपदेश, देश-प्रदेश विहार, और अन्ततः निवृत्ति, इनका वर्णन कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से; कहीं सरल रूप में और कहीं कल्पना, सांकेतिक और अलंकारों से भरपूर पाया जाता है।

प्राकृत में विशेष कथाग्रन्थ-पद्यात्मक—

तीर्थकरों के चरित्रों के अतिरिक्त प्राकृत में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें किसी व्यक्तिविशेष के जीवन-चरित्र द्वारा जैनधर्म के किसी विशेष गुण, जैसे संयम, उपवास, पूजा, विधि-विधान, पात्र-दान आदि का माहात्म्य प्रकट किया गया है। ये रचनाएं अपनी शैली व प्रमाणादि की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक वे ग्रन्थ हैं जिनमें प्राकृत पद्यात्मक रचनाएं ही पाई जाती हैं, एवं जिनमें छंद, अलंकार आदि का भी वैशिष्ट्य दिखाई देता है। अतएव इन्हें हम प्राकृत काव्य कह सकते हैं। दूसरी वे रचनाएं हैं जिनमें मुख्यतः प्राकृत गद्य शैली में किसी व्यक्ति विशेष का जीवन वृत्तान्त कहा गया है। तीसरे प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जो बहुधा कथाकोष के नाम से प्रकट किये गये हैं; और जिनमें कहीं पर, और कहीं मिश्रित रूप से अपेक्षा कृत संक्षेप में धार्मिक स्त्री-पुरुषों के चरित्र वर्णित किये गये हैं।

सबसे अधिक प्राचीन प्राकृत काव्य पादलिप्तसूरि कृत तरंगवती कथा का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों, जैसे अनुयोगद्वारसूत्र, कुवलयमाला, तिलकमंजरी आदि में मिलता है। 'विवेकसिन्धु चूरी,' में नरबाहनवत्स की कथा को लौकिक व तरंगवती और मण्डसेना आदि कथाओं को लोकोत्तर कहा गया है। हालकृत गाथा-सप्तशती में पादलिप्त कृत गाथाओं का संकलन पाया जाता है। प्रभाचन्द्र कृत प्रभावक-चरित्र में (१३ वीं शती) पादलिप्तसूरि का जीवनवृत्त पाया जाता है, जिसमें उनके विद्याभर कुल व नागहस्ति गुरु का उल्लेख है। इन उल्लेखों पर से इस रचना का काल ई० सन् ४०० से पूर्व सिद्ध होता है। दुर्भाग्यतः यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु लगभग १५ वीं शती में वीरभद्र के शिष्य नैमिचन्द्र ने इसका संक्षेप तरंगलोला नाम से १६४३ गाथाओं में प्रस्तुत किया है, जो प्रकाश में आ चुका है। (नैमिविज्ञान ग्रन्थमाला वि० सं० २०००)। इसका जर्मन में प्रोफेसर लायमन द्वारा, तथा गुजराती में नरसिंह भाई पटेल द्वारा किये हुए अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। तरंगलोलाकार ने स्पष्ट कहा है कि तरंगवती कथा देशी-वचनात्मक, बड़ी विस्तार और विचित्र थी, जिसमें सुन्दर कुलों, कहीं गहन युगलों और कहीं दुर्गम घटकों का प्रयोग हुआ था। वह विद्वानों के ही योग्य थी; जनसाधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। अतएव उस रचना की गाथाओं को संक्षेपरूप से यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उक्त कथा का लोप न हो। इस कथा में तरंगवती नामकी एक साध्वी जब भिक्षा के लिये नगर में गई तब एक सेठानी ने उसके रूप से आकृष्ट होकर उसका जीवन-वृत्तान्त पूछा। साध्वी ने बतलाया कि जब वह युवती थी, तब एक चकवा पक्षी को देखकर

उसे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया कि जब वह भी चकवी के रूप में गंगा के किनारे अपने प्रिय चकवे से साथ क्रीड़ा किया करती थी। वह एक व्याघ्र के बालू से विद्ध होकर मर गया, तब मैंने भी प्राण परित्याग कर वह जन्म धारण किया। यह जाति-स्मरण होने पर मैंने अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त का चित्रपट लिखकर कौमुदी महोत्सव के समय कौशाम्बी नगर के चौराहे पर रखवा दिया। इसे देख एक सेठ के पुत्र पद्मदेव को भी अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। हम दोनों का प्रेम बढ़ा, किन्तु पिताने उस युवक से मेरा विवाह नहीं किया; क्योंकि वह पर्याप्त धनी नहीं था। तब हम दोनों एक रात्रि नाव में बैठकर वहाँ से निकल भागे। धूमते भटकते हम एक चोरों के दल द्वारा पकड़े गये। चोरों ने कात्यायनी के सम्मुख हमारा वलिदान करना चाहा ! किन्तु मेरे विलाप से द्रवित होकर चोरों के प्रधान ने हमें छोड़वा दिया। हम कौशाम्बी वापिस आये; और धूमधाम से हमारा विवाह हो गया। कुछ समय पश्चात् मैं चन्दनबाला की शिष्या बन गई, और उन्हीं के साथ विहार करती हुई यहाँ आ पहुँची। इस जीवन-वृत्तान्त से प्रभावित होकर सेठानी ने भी श्रावक-व्रत ले लिये। इस कथानक की अनेक घटनाएं सुबंधु, बाण आदि संस्कृत कवियों की रचनाओं से मेल खाती हैं। नरबलि का प्रसंग तो भवभूति के मालती-माधव में वर्णित प्रसंग से बहुत कुछ मिलता है।

हरिभद्रसूरि (८ वीं शती)कृत धूर्तारख्यान में ४८५ गयाएँ हैं, जो पांच आख्यानों में विभाजित है। उज्जैनी के समीप एक उद्यान था, जिसमें एक बार पांच धूर्तों के दल संयोग व्रत आकर एकत्र हो गए। वर्षा लगातार हो रही थी, और खाने-पीने का प्रबन्ध करना कठिन प्रतीत हो रहा था। पांचों दलों के नायक एकत्र हुए, और उनमें से एक मूलदेव ने यह प्रस्ताव किया कि हम पांचों अपने-अपने अनुभव की कथा कहकर सुनायें। उसे सुनकर दूसरे अपने कथानक द्वारा उसे सम्भव सिद्ध करें। जो कोई ऐसा न कर सके, और आख्यान को असम्भव बतलावे, वही उस दिन समस्त धूर्तों के भोजन का खर्च उठावे। मूलदेव, कंडरीक, एलाषाढ़ और शश नामक धूर्तराजों ने अपने अपने असाधारण अनुभव सुनाये; जिनका समाधान पुराणों के भौतिक वृत्तान्तों द्वारा दूसरों ने कर दिया। पाँचवा वृत्तान्त खंडपाना नामकी धूर्तनी का था। उसने अपने वृत्तान्त में नाना असम्भव घटनाओं का उल्लेख किया; जिनका समाधान क्रमशः उन धूर्तों ने पौराणिक वृत्तान्तों द्वारा कर दिया; तथापि खंडपाना ने उन्हें सहाह्वी की कि वे उसको अपनी स्वामिनी स्वीकार कर लें; तो वह उन्हें भोजन भी करावेगी और वे पराजय से भी बच जायेंगे। किन्तु अपनी यहाँ तक की विजय के उन्माद से

उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया; और उसे अपना अन्तिम आख्यान सुनाने की कुनौसी दी। खंडपाना ने प्रसंग मिलाकर कहा कि उसके जो वस्त्र हवा में उड़ गये थे, व उसके चार नौकर भाग गये थे, आज उसकी पहचान में आ गये। तुम चारों वे ही मेरे सेवक हो; और मेरे उन्हीं वस्त्रों को पहने हुए हो। यदि यह सत्य है, तो मेरी आकरी स्वीकार करो; और यदि यह असत्य है, तो सबको भोजन कराओ। तब सब भूतों ने उसे अपनी प्रधान नायिका स्वीकार कर लिया; और उसने स्वयं सब भूतों को भोजन कराना स्वीकार कर लिया। फिर वह श्मशान में गई और वहां से एक तत्काल मृतक बालक को लेकर नगरमें पहुंची। एक घनी सेठ से उसने सहायता मांगी और उसे उत्तेजित कर दिया। उसके नौकरों द्वारा ताड़ित होने पर वह चिल्ला उठी कि मेरे पुत्र को तुम लोगों ने मार डाला। सेठ ने उसे धन देकर अपना पीछा छोड़ा। उस धन से खंडपाना ने सब भूतों को आहार कराया। यह रचना भारतीय साहित्य में अपने ढंग की अद्वितीय है; और पुराणों की अतिरंजित घटानाओं की व्यंग्यात्मक कड़ी भलोचना है। इसी के अनुकरण पर अपभ्रंश में हरिवेण और श्रुतकीर्ति कृत; तथा संस्कृत में भ्रमिगत कृत धर्मपरीक्षा नामक ग्रन्थों की रचना हुई। (प्रका० बम्बई, १९४४)।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य धनेश्वर सूरि कृत 'सुरसुन्दरी-चरित' १६ परिच्छेदों में, तथा ४००० गद्यांशों में समाप्त हुआ है। इसकी रचना चन्द्रावती नगरी में वि० सं० १०९५ में हुई थी। सुरसुन्दरी कुशाग्रपुर के राजा नरवाहनवत्त की पुत्री थी। वह पढ़लिखकर बड़ी विदुषी युवती हुई। बुद्धिला नामक परिव्राजिका ने उसे नास्तिकता का पाठ पढ़ाना चाहा; किन्तु सुरसुन्दरी के तर्कों से पराजित और रुष्ट होकर उसने उज्जैन के राजा शत्रुंजय को उसका चित्रपट दिखाकर उभाड़ा। शत्रुंजय ने उसके पिता से विवाह की मांग की, जो अस्वीकार कर दी गई। इस कारण दोनों राजाओं में युद्ध छिड़ गया। इसी बीच वैताइय पर्वत के एक खेबर ने सुरसुन्दरी का अपहरण कर लिया; और उसे ले जाकर एक कदलीवृक्ष में रक्खा। सुरसुन्दरी ने आत्मघात की इच्छा से विषफल का अक्षण किया। दैवयोग से उसी बीच उसका सच्चे प्रेमी मकरकेतु ने वहां पहुंच कर उसकी रक्षा की; तथा वहां से जाकर उसने शत्रुंजय का भी वध किया। किन्तु एक बैरी विद्याधर ने स्वयं उसका अपहरण कर लिया। बड़ी कठिनाइयों और नाना घटनाओं के पश्चात् सुरसुन्दरी और मकरकेतु का पुनर्मिलन और विवाह हुआ। दीर्घ काल तक राज्य भोगकर दोनों ने वीर्या की एवं केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया। अन्त्येष्टि: नायिका का नाम ब

वृत्तान्त ११ वें परिच्छेद से प्रारम्भ होता है। उससे पूर्व हस्तनापुर के सेठ धनदत्त का घटनापूर्ण वृत्तान्त, और अन्ततः श्रीदत्ता से विवाह; और उसी घटनाचक्र के बीच विधाधर चित्रवेग और कनकमाला; तथा चित्रगति और प्रियगुमंजरी के प्रेमाख्यान समाविष्ट हैं। प्रायः समस्त रचना गाथा छंद में है; किन्तु यत्र-तत्र अन्य नाना छंदों का प्रयोग भी हुआ है। कवि प्रतिभावान् है; और समस्त रचना बड़े सरस और भावपूर्ण वर्णनों से भरी हुई है। प्राकृतिक दृश्यों, पुत्रजन्म व विवाहादि उत्सवों, प्रातः व संध्या, तथा वन एवं सरोवरों आदि के वर्णन बड़े कलापूर्ण और रोचक हैं। नृत्यादि के वर्णनों में हरिभद्र की समरादित्य कथा की छाप दिखाई देती है।

महेश्वर सूरि कृत 'माणपंचमीकथा' की रचना का समय ई० सन् १०१५ से पूर्व अनुमान किया जाता है। इस रचना में स्वतंत्र १० कथाएं समाविष्ट हैं, जिनके नाम हैं--(१), जयसेन, (२) नंद, (३) भद्रा, (४) वीर, (५) कमल, (६) गुणानुराग, (७) विमल, (८) धरणा, (९) देवी, और (१०) भविष्यदत्त। प्रथम और अन्तिम कथाएं कोई पांच-पांच सौ गाथाओं में, और शेष कोई १२५ गाथाओं में समाप्त हुई हैं। इस प्रकार समस्त गाथाओं की संख्या लगभग २००० है। दसों कथाएं ज्ञानपंचमी व्रत का माहात्म्य दिखलाने के लिये लिखी गई हैं। कथाएं बड़ी सुन्दर, सरल और धारावाही रीति से वर्णित हैं। यथास्थान रसों और भावों एवं लोकोक्तियों का भी अच्छा समावेश किया गया है, जिनसे इस रचना को काव्य पद प्राप्त होता है।

हेमचन्द्रकृत 'कुमारपाल-चरित' आठ सर्गों में समाप्त हुआ है। हेमचन्द्र का जन्म वि० सं० ११४५ में और स्वर्गवास सं० १२२९ में हुआ। अतएव इसी बीच प्रस्तुत काव्य का रचना-काल आता है। कुमारपाल हेमचन्द्र के समय गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश थे; और उन्हीं के प्रोत्साहन से कवि ने अपनी अनेक रचनाओं का निर्माण किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक बहुत बड़ी विशेषता रखता है। हेमचन्द्र ने अपना एक महान् शब्दानुशासन लिखा है, जिसके प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत के, एवं अन्तिम अष्टम अध्याय में प्राकृत के व्याकरण का सूत्रों द्वारा स्वयं अपनी वृत्ति सहित निरूपण किया है। इसी व्याकरण के नियमों के उदाहरणों के लिये उन्होंने द्वयाश्रय काव्य की रचना की है, जिसमें एक और कुमारपाल नरेश के वंश का काव्य की रीति से वर्णन किया गया है; और साथ ही साथ अपने सम्पूर्ण व्याकरण के सूत्रों के उसी क्रम से उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अष्टादश सर्ग हैं, जिनमें प्रथम २० सर्गों में कुमारपाल के वंश व पूर्वजों का इतिहास, और संस्कृत व्याकरण के

उदाहरण हैं । शेष ८ सर्गों में राजा कुमारपाल का चरित्र, और प्राकृत व्याकरण के उदाहरण हैं । यही भाग कुमारपाल-चरित के नामसे प्रसिद्ध है । इसके प्रथम ६ तथा सातवें सर्ग की ६२ वीं गाथा तक प्राकृत व्याकरण के आदि से लेकर चौथे अध्याय के २५६ वें सूत्र तक प्राकृत सामान्य के उदाहरण आये हैं । फिर आठवें सर्ग की पांचवीं गाथा तक मागची, ११वीं तक वैशाची, १३ वीं तक बूलिका पैंशाची, और तत्पश्चात् सर्ग के अन्तिम ८३ वें पद्य तक अपभ्रंश के उदाहरण दिये गये हैं । कथा की दृष्टि से प्रथम सर्ग में अनहिलपुर व राजा कुमारपाल की प्रातः क्रिया का वर्णन है । द्वितीय सर्ग में राजा के व्यायाम, कुंजारोहण, जिनमंदिरगमन, पूजन व गृहागमन का वर्णन है । तीसरे सर्ग में उद्यानक्रीड़ा का व चौथे में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है । पांचवें में वर्षा, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं का, छठवें में चन्द्रोदय का, सातवें में राजा के स्वप्न व परमार्थ-चिन्तन का, तथा अष्टम सर्ग में सरस्वती देवी द्वारा उपदेश दिये जाने का वर्णन है । इस प्रकार काव्य में कथाभाग प्रायः नहीं के बराबर है; किन्तु उक्त विषयों का वर्णन विशद और सुविस्तृत है । काव्य और व्याकरण की उक्त आवश्यकताओं की एक साथ पूर्ति बड़ा दुष्कर कार्य है । इस कठिन कार्य में कुछ कृत्रिमता और बोझलपन आजाना भी अनिवार्य है; और इसे ही हेमचन्द्र ने अपनी इस कृति में बड़ी कुशलता से निवाहा है । इसकी उपमा संस्कृत साहित्य में एक भट्टीकाव्य में पाई जाती है, जिसमें कथा के साथ पाणिनीय व्याकरण के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं । किन्तु उसमें वह पूर्णता और कम-बद्धता नहीं है, जो हमें हेमचन्द्र की कृति में मिलती है । (प्रका० पूना, १९३६)

प्राकृत में एक और कुमारपाल-चरित पृथ्वीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिश्चन्द्र कृत भी पाया जाता है, जो ६५४ श्लोक प्रमाण है ।

वीरदेव गरिण कृत 'महीपाल-कहा' लगातार १८०० गाथाओं में पूर्ण हुई है । अन्त में कवि ने अपना इतना परिचय मात्र दिया है कि वे चन्द्र गच्छ के देवभद्र सूरि, उनके शिष्य सिद्धसेन सूरि, उनके शिष्य मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे । उन्होंने अपने को पंडिततिलक उपाधि से विभूषित किया है । इस आचार्य-परम्परा का पूरा परिचय तो कहीं मिलता नहीं, तथापि एक प्रतिमा-लेख में देवभद्र सूरि के शिष्य सिंहसेन सूरि का उल्लेख आता है, जिसमें सं० १२१३ का उल्लेख है (पट्टा० समु० पृ० २०५)। सम्भव है सिंहसेन और सिद्धसेन के पढ़ने में भ्रान्ति हुई हो और वे एक ही व्यक्ति के नाम हों । इस आधार पर प्रस्तुत रचना का काल ई० १२ वीं शती अनुमान किया जा सकता है । इसी ग्रन्थ का संस्कृत रूपान्तर चरित्रसुन्दर कृत संस्कृत 'महीपाल-चरित्र' में मिलता है, जिसका रचनाकाल १५ वीं शती का मध्य भाग अनुमान किया जाता है । उज्जयिनी के राजा नरसिंह

ने अपने ज्ञानी और विनोदी मित्र महीपाल को देश से इस कारण निर्वासित कर दिया कि वह अपना पूरा समय राजा की सेवा में न बिताकर, कुछ काल के लिये कलाओं की उपासना के हेतु अन्यत्र चला जाता था। निर्वासित महीपाल ने नाना द्वीपों व नगरों का परिभ्रमण किया, अपने कौशल, विज्ञान व चातुर्य से नाना राजाओं व सेठों को प्रसन्न कर बहुत सा धन प्राप्त किया व अनेक विवाह किये। लौटकर आने पर पुनः वह राजा का कृपापात्र बना; और अन्त में दोनों ने मुनि-उपदेश सुनकर वैराग्य धारण किया। सम्पूर्ण कथा गाथा छंद में वर्णित है; और महीपाल के कला व चातुर्य के उपाख्यानों से भरपूर है। कथा-प्रसंग कहीं बहुत नहीं टूटने पाया। भाषा सरल, धारावाही है। सरल अलंकारों व सूक्तियों का समुचित प्रयोग दिखाई देता है। (प्रका० अमदाबाद, वि० सं० १९६८)

देवेन्द्रसूरि कृत 'सुवंसणाचरियं' का दूसरा नाम 'शकुनिका-विहार' भी है। कर्ता ने अपने विषय में कहा है कि वे चित्रापालक गच्छ के भुवनचन्द्र गुरु, उनके शिष्य देवभद्र मुनि, उनके शिष्य जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। उनके एक गुरु-भ्राता विजयचन्द्र सूरि भी थे। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार उक्त देवभद्र आदि मुनि वस्तुपाल मंत्री के सम-सामयिक थे, एवं वि० सं० १३२३ में देवभद्र सूरि ने विद्यानंद को सूरि पद प्रदान किया था। अतएव इसी वर्ष के लगभग प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल सिद्ध है। ग्रन्थ १६ उद्देशों में समाप्त हुआ है, जिनमें स्वयं ग्रन्थकार के अनुसार समस्त गाथाओं की संख्या ४००२ है; और धनपाल, सुदर्शन, विजयकुमार, शीलवती, अश्वभावबोध, भ्राता, धात्रीसुत और धात्री, ये ८ अधिकार हैं। सुदर्शना सिंहलद्वीप में श्रीपुर नगर के राजा चन्द्रगुप्त और रानी चन्द्रलेखा की पुत्री थी। पढ़ लिखकर वह बड़ी विदुषी और कलावती निकली। एकबार उसने राजसभा में ज्ञाननिधि पुरोहित के मत का खंडन किया। धर्मभावना से प्रेरित हो वह भृगुकच्छ की यात्रा पर आई, और यहाँ उसने मुनिसुव्रत तीर्थंकर का मंदिर तथा शकुनिका विहार नामक जिनालय निर्माण कराये; और अपना शेष जीवन धर्म ध्यान में व्यतीत किया। सुदर्शना का यह चरित्र हिरण्यपुर के सेठ वनपाल ने रैवतक गिरि की बंदना से लौटकर अपनी पत्नी धनश्री को सुनाया था; जैसा कि उसने रैवतक गिरि में एक किन्नरी के मुख से सुना था। कथा में प्रसंगवश उक्त पुरुष-स्त्रियों तथा नाना अन्य घटनाओं के रोचक वृत्तान्त समाविष्ट हैं। दसवें उद्देश में ज्ञान व चरित्र के उदाहरण रूप मरुदेवी का तथा उनके पुत्र ऋषभप्रभु का चरित्र वर्णित है। उसी प्रकार नाना धार्मिक नियमों और उनके आदर्श दृष्टान्तों के वर्णन कथा के बीच भुंभे हुए हैं। यद्य-तत् कवि ने अपना रचना-चातुर्य भी

प्रदर्शित किया है। १६ वें उद्देश में वनपाल ने नेमीश्वर की स्तुति पहले संस्कृत गद्य में की है जो समास प्रचुर है; और फिर एक ऐसे अष्टक स्तोत्र द्वारा जिसके प्रत्येक पद्य का एक चरण संस्कृत में, और दूसरा चरण प्राकृत में रचा गया है। शिक्षात्मक उक्तियों व उपमाओं से तो समस्त रचना भरी हुई है। (प्रका० भ्रमदाबाद, वि० सं० १९८६)।

देवेन्द्रसूरि कृत कृष्णचरित्र ११६३ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। यथार्थतः यह रचना कर्ता के आद्यदिनकृत्य नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत दृष्टान्त रूप से आई है; और वही से उद्धृत कर स्वतंत्र रूप में प्रकाशित की गई है। (रतनपुर, मालवा, १९३८)। इसमें वसुदेव के पूर्वजों के वर्णन से प्रारम्भ कर क्रमशः वसुदेव के जन्म, भ्रमण, कृष्ण-जन्म, कंस-वध, द्वारिका-निर्माण, प्रद्युम्न-हरण, पांडव और द्रौपदी, जरासंध-युद्ध, नेमिनाथ-चरित्र, द्रौपदी-हरण, द्वारिका-दाह, बलदेव-दीक्षा, नेमिनिर्वाण और कृष्ण के भावी तीर्थंकरत्व का वर्णन किया गया है। वसुदेव-भ्रमण के वृत्तान्त में प्रसंगवश चारदत्त और वसन्तसेना का उल्लेख भी आया है। समस्त कथा का आधार वसुदेव हिंदी एवं जिनसेन कृत हरिवंशपुराण है। रचना आद्यन्त कथा-प्रधान है।

रत्नशेखर सूरि कृत श्रीपालचरित्र में १३४२ गाथाएं हैं। ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि इसका संकलन वज्रसेन गणधर के पट्ट शिष्य, व प्रभु हेमचन्द्र सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने किया; और उनके शिष्य हेमचन्द्र साधु ने वि० सं० १४२८ में इसको लिपिबद्ध किया। यह कथा सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखी गई है। उज्जैनी की राजकुमारी मदनसुंदरी ने अपने पिता की दी हुई समस्या की पूर्ति में अपना यह भाव प्रकट किया कि प्रत्येक को अपने पुण्य-पाप के अनुसार सुख-दुःख प्राप्त होता है; इसमें दूसरे व्यक्तियों का कोई हाथ नहीं। पिता ने इसे पुत्री का अपने प्रति कृतघ्नता-भाव समझा; और क्रुद्ध होकर उसका विवाह श्रीपाल नामक कुष्ठरोगी से कर दिया। मदनसुंदरी ने अपनी पति-भक्ति तथा सिद्ध-चक्र पूजा के प्रभाव से उसे अच्छा कर लिया; और श्रीपाल ने नाना देशों का भ्रमण किया, तथा खूब धन और यश कमाया। ग्रन्थ के बीच बीच में अनेक अपभ्रंश पद्य भी आये हैं, व नाना गद्य छंदों में स्तुतियां निबद्ध हैं। रचना आदि से अंत तक रोचक है।

जिनमाराण्य कृत कुम्भापुत्र-चरित्र छोटी सी कथा है जो १८५ गाथाओं में पूर्ण हुई है। कवि ने अपने गुरु का नाम हेमविमल प्रगट किया है। अतएव तपागच्छ पट्टावली के अनुसार वे १६ वीं सदी में हुए पाये जाते हैं। महावीर तीर्थंकर ने अपने उपदेश में दान, तप, शील और साधना, इन चार धर्म के भेदों में भावना धर्म का अग्रदर्श

उदाहरण कुम्भापुत्र का दिया; तथा इन्द्रभूति के पूछने पर उसका वृत्तान्त सुनाया । पूर्व जन्म में वह दुर्लभ नाम का राजपुत्र था, जिसे एक यक्षिणी अपने पूर्व जन्म का पति पहचान कर पाताल लोक में ले गई । वह अपनी शल्यायु समझकर दुर्लभ धर्मध्यान में लग गया; और दूसरे जन्म में राजगृह का राजकुमार हुआ । शास्त्र-श्रवण द्वारा उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया, और वह संसार से विरक्त हो गया । तथापि माता-पिता को शोक न हो, इस विचार से प्रवृत्ति न होकर घर में ही रहा; और भावकेवली होकर मोक्ष गया । पूर्वभव-वर्णन में मनुष्य जीवन की चिन्तामणि के समान दुर्लभता के उदाहरण रूप एक आस्थान कहा गया है, जिसमें एक रत्नपरीक्षक पुरुष ने चिन्तामणि पाकर भी अपनी असावधानी से उसे समुद्र में छो दिया । रचना सरल और सुन्दर है । (प्रका० पूना, १९३०) ।

इन प्रकाशित पद्यात्मक प्राकृत कथाओं के अतिरिक्त अन्य भी अनेक रचनाएं जैन शास्त्र भंडारों की सूचियों में उल्लिखित पाई जाती हैं, जिनमें जिनेश्वर सूरि कृत निर्वाण लीलावती का उल्लेख हमें अनेक ग्रंथों में मिलता है । विशेषतः घनेश्वर कृत 'सुरसुन्दरी चरिय' (वि० सं० १०६५) में उसे अति सुललित, प्रसन्न, श्लेषात्मक व विविधालंकार-शोभित कहा गया है । दुर्भाग्यतः इस ग्रन्थ की प्रतियां दुर्लभ हो गई हैं, किन्तु उसका संस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर ६००० श्लोकों में जिनरत्न (१३ वीं शती) कृत पाया जाता है; जबकि मूल ग्रन्थ के १८००० श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख मिलता है ।

प्राकृत कथाएं-गद्य-पद्यात्मक—

जैन कथा-साहित्य अपनी उत्कृष्ट सीमा पर उन रचनाओं में दिखाई देता है जो मुख्यतः गद्य में, व गद्य-पद्य मिश्रित रूप में लिखी गई हैं; अतएव जिन्हें हम चम्पू कह सकते हैं । इनमें प्राचीनतम ग्रन्थ है बसुबेण हिंदी, जो सौ लम्बकों में पूर्ण हुआ है । ये लम्बक दो भागों में विभक्त हैं । प्रथम खंड में २६ लम्बक हैं, और वह लगभग ११००० श्लोक-प्रमाण है । इसके कर्ता संघदासगरिण वाचक हैं । दूसरे खंड में ७१ लम्बक १७००० श्लोक प्रमाण हैं और इसके कर्ता जर्भसेन गरिण हैं । ग्रन्थ का रचना-काल निश्चित नहीं है, तथापि जिनभद्रगरिण ने अपनी विशेषणवती में इसका उल्लेख किया है; जिससे इसका रचना-काल छठवीं शती से पूर्व सिद्ध होता है । इस ग्रन्थ का अभी तक केवल प्रथम खंड ही प्रकाश में आया है । इसमें भी १६ और २० वें लम्बक अनुपलब्ध हैं तथा २८ वां अपूर्ण पाया जाता है । अंधकवृष्टि के पुत्रों में जेठे समुद्र

विजय और सबसे छोटे वसुदेव थे। समुद्रविजय के राजा होने पर वसुदेव नगर में घूसा करते थे, किन्तु इनके प्रतिशय रूप व कला-प्रावीण्य के कारण नगर में अनर्थ होते देख, राजा ने इनका बाहर जाना रोक दिया। इस पर वसुदेव गुप्त रूप से घर से निकलकर देश-विदेश भ्रमण करने लगे। इस भ्रमण में उन्हें नाना प्रकार के कष्ट भी हुए व अनेक लोमहर्षक घटनाओं का सामना करना पड़ा, जिनके वैचित्र्य के वर्णन से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है। प्रसंगवश इसमें महाभारत, रामायण एवं अन्य विविध आख्यान आये हैं। यह ग्रंथ लुप्त वृहत्कथा के आधार व आदर्श पर रचित अनुमान किया जाता है। भाषा, साहित्य, इतिहास आदि अनेक दृष्टियों से यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है।

हरिभद्र कृत समरादित्य कथा (८ वीं शती) में ६ 'भव' नामक प्रकरण हैं, जिनमें क्रमशः परम्पर विरोधी दो पुरुषों के साथ साथ चलने वाले ६ जन्मांतरों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की उत्थानिका में मंगलाचरण के पश्चात् कथावस्तु को दिव्य, दिव्य-मानुष और मानुष के भेद से तीन प्रकार का बतलाया गया है। कथा-वस्तु चार प्रकार की कथाओं द्वारा प्रस्तावित की जा सकती है- अर्थ, काम, धर्म और संकीर्ण; जिनके प्रथम, मध्यम और उत्तम, ये तीन प्रकार के श्रोता होते हैं। ग्रन्थ-कर्ता ने प्रस्तुत रचना को दिव्य-मानुष वस्तुगत धर्म-कथा कहा है, और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित आठ चरित्र-संग्रहणी गाथाएं उद्धृत की हैं, जिनमें नायक-प्रतिनायक के नौ भवांतरों के नाम, उनका परस्पर संबंध, उनकी निवास-नगरियां एवं उनके मरण के पश्चात् प्राप्त स्वर्ग-नरकों के नाम दिये गये हैं। अन्तिम भव में नायक समरादित्य मोक्षगामी हुआ और प्रतिनायक गिरिसेन अनन्त संसार-भ्रमण का भागी। प्रथम भव में ही इनके परस्पर वैर उत्पन्न होने का कारण यह बतलाया गया है कि राजपुत्र गुणसेन पुरोहित-पुत्र ब्राह्मण अग्नि-शर्मा की कुरूपता की हंसी उड़ाया करता था; जिससे विरक्त होकर अग्निशर्मा ने दीक्षा ले ली; और मासोपवास संयम का पालन किया। गुणसेन राजा ने तीन बार उसे आहार के लिये आमंत्रित किया, किन्तु तीनों बार विशेष कारणों से मुनि को बिना आहार लौटना पड़ा, जिससे क्रुद्ध होकर उसने मन में यह ठान लिया कि यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मैं जन्म-जन्मान्तर में इस राजा को क्लेश दू। इसी निदान-बंध के कारण उसकी उत्तरोत्तर अघोगति हुई, जब तक कि अन्त में उसे सम्बोधन नहीं हो गया। इन नौ ही भवों का वर्णन प्रतिभाशाली लेखक ने बड़ी उत्तम रीति से किया है, जिसमें कथा-प्रसंगों, प्राकृतिक वर्णनों व भाव-चित्रण द्वारा कथानक को श्रेष्ठ रचना का पद प्राप्त हुआ है।

उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला की रचना ग्रन्थ के उल्लेखानुसार ही शक सं० ७०० (ई० सन् ७७८) में जावालिपुर (जालौर-राजस्थान) में हुई थी। लेखक ने अपनी विरुद् दाक्षिण्यचिन्ह भी प्रगट किया है। चरित्र-मायिका कुवलयमाला के वैचित्र्यपूर्ण जीवनचरित्र में गुम्फित नाना प्रकार के उपाख्यान, घटनाएँ, सामाजिक व वैयक्तिक चित्रण, इस कृति की अपनी विशेषताएँ हैं, जिनकी समतोल अन्यत्र पाना कठिन है। प्राकृत भाषा के नाना देशी रूप व शैलियों के प्रचुर उदाहरण इस ग्रन्थ में मिलते हैं। लेखक का ध्येय अपनी कथाओं द्वारा क्रीडादि कथाओं व दुर्भावनाओं के दुष्परिणाम चित्रित करना है। घटना-वैचित्र्य व उपाख्यानों की प्रचुरता में यह बसुदेव-हिंडी के समान है। यथास्थान अपनी प्रौढ़ शैली में वह सुबंधु और बाण की संस्कृत रचनाओं की समता रखती है। समरादित्य कथा का भी रचना में बहुत प्रभाव दिखाई देता है। स्वयं कर्ता ने हरिभद्र को अपना सिद्धान्त व न्याय का गुरु माना है, तथा उनकी समरमयिका (समरादित्य) कथा का भी उल्लेख किया है।

देवेन्द्रगणि कृत रत्नचूडारायचरियं में कर्ता ने अपनी गुरु-परम्परा देवसूरि से लेकर उद्योतन सूरि द्वि० तक बतलाई है, और फिर कहा है कि वे स्वयं उद्योतन सूरि के शिष्य उपाध्याय अम्बदेव के शिष्य थे, जिनका नाम नेमिचन्द्र भी था। उन्होंने यह रचना डंडिल पदनिवेश में प्रारम्भ की थी, और चड्ढावलि पुरी में समाप्त की थी। नेमिचन्द्र, अपर नाम देवेन्द्र गणि, ने अपनी उत्तराध्ययन टीका वि० सं० ११२६ में तथा महावीर-चरियं वि० सं० ११४० में लिखे थे। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना इसी समय के लगभग की सिद्ध होती है। कथा में राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में गौतम गणाधर ने कंचनपुर के बकुल नामक मालाकार के ऋषभ भगवान को पुष्प चढ़ाने के फलस्वरूप गजपुर में कमलसेन राजा के पुत्र रत्नचूड़ की उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनाया। रत्नचूड़ ने एक मदोन्मत्त गज का दमन किया; किन्तु वह एक विधाधर निकला, और राजकुमार का अपहरण कर ले गया। रत्नचूड़ ने नाना प्रदेशों का भ्रमण किया; विचित्र अनुभव प्राप्त किये; अनेक सुन्दरियों से विवाह किया; और ऋद्धि प्राप्त की; जिसका वर्णन बड़ा रोचक है। अन्त में वे राजधानी में लौट आये; और मुनि का उपदेश पाकर धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए मरणोपरान्त स्वर्गगामी हुए। कथा में अनेक उपाख्यानों का समावेश है। यह कथा 'नायाधम्मकथा' में सूचित देव-पूजा आदि के धर्मफल के दृष्टान्त रूप रची गई है। (प्रका० अमदाबाद, १९४२)

कालकाचार्य की कथा सबसे प्राचीन निशीथचूरिण, आवश्यक चूरिण, बृहत्कल्प भाष्य आदि अर्द्धभागधी आगम की टीकाओं में पाई जाती है। इस पर स्वतंत्र रचनाएँ

भी बहुत लिखी गई हैं। जैन ग्रंथावलि में प्राकृत में विनयचन्द्र, भावदेव, जयानंदि सूरि, धर्मप्रभ देवकल्लो व महेश्वर; तथा संस्कृत में कीर्तिचन्द्र और समयसुन्दर कृत कालकाचार्य कथाओं का उल्लेख किया गया है। किन्तु इन सबसे प्राचीन, और साहित्यिक दृष्टि से अधिक सुन्दर कृति देवेन्द्रसूरि कृत कथानक-प्रकरण-वृत्ति में समाविष्ट पाई जाती है। इसका रचना काल वि० सं० ११४६ है। कालक एक राजपुत्र थे; किन्तु गुराणकर मुनि के उपदेश से वे मुनि हो गये। उनकी छोटी बहन सरस्वती भी आर्यिका हो गई। उस पर उज्जैनी का राजा गर्दभिल्ल मोहित हो गया; और उसने उसे पकड़वाकर अपने अन्तःपुर में रक्खा। राजा को समझाकर अपनी बहन को छुड़ाने के प्रयत्न में असफल होकर कालकाचार्य शक देश को गये; और गर्दभिल्ल को पकड़कर देश से निर्वासित कर दिया गया। कालकाचार्य ने सरस्वती को पुनः संयम में दीक्षित कर लिया। उज्जैन में एक राजवंश स्थापित होगया; जिसका उच्छेद राजा विक्रमादित्य ने करके अपना संवत् चलाया। कथा में आगे चलकर कालकाचार्य के भ्रुकच्छ और वहां से प्रतिष्ठान की ओर विहार करने का वृत्तान्त है। उनकी राजा सातवाहन से भेंट हुई; और उनके अनुरोध से उन्होंने भाद्रपद शुक्ला ४ से पर्युषण मनाये जाने की अनुमति प्रदान कर दी; क्योंकि भाद्रपद शुक्ला ५ को इन्द्रमहोत्सव मनाया जाता था। अपने शिष्यों का सम्बोधन करते हुए अन्त में कालकाचार्य ने संलेखना विधि से स्वर्गवास प्राप्त किया। इस कथा में शकों के आक्रमण और तत्पश्चात् उनके विक्रमादित्य द्वारा मूलोच्छेदन के वृत्तान्त में बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है। (प्रका० अमदाबाद, १९४९)

सुमतिसूरि कृत जिनदत्ताख्यान में कर्ता ने अपना इतना ही परिचय दिया कि पाण्डिच्छय गच्छ के कल्पद्रुम श्री नेमिचन्द्र सूरि हुए जिन्हें श्री सर्वदेव सूरि ने उत्तम पद पर स्थापित किया। उनके शिष्य सुमति गरिण ने यह जिनदत्त महर्षि चरित्र रचा। ग्रन्थ का रचना काल निश्चित नहीं है; तथापि एक प्राचीन प्रति में उसके अनहिलपाटन में सं० १२४६ में लिखाये जाने का उल्लेख है, जिससे ग्रन्थ की रचना उससे पूर्व होनी निश्चित है। कथानायक सेठ द्यूतक्रीड़ा में अपना सब धन छोड़कर विदेश यात्रा को निकल पड़ा। दक्षिण में राजकन्या श्रीमती को व्याधि-मुक्त करके उससे विवाह किया। समुद्र यात्रा में उसे एक अन्य व्यापारी ने समुद्र में गिरा दिया; और वह एक फलक के सहारे तट पर पहुंचा। वहां से रघूनूपुर चक्रवाल में पहुंचकर वहां की राजकन्या से विवाह किया। अन्त में वह पुनः चम्पानगर को लौट आया, और वहां की राजकन्या

रतिसुन्दरी से भी विवाह किया। तत्पश्चात् अनेक सुख भोगकर उसने दीक्षा धारण कर ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया। गद्य और पद्य दोनों में भाषा सुपरिमाजित पाई जाती है; और यत्र तत्र काव्य गुण भी दिखाई देते हैं।

एक और जिनदत्ताख्यान नामक रचना पूर्वोक्त ग्रन्थ के साथ ही प्रकशित हुई है (बम्बई, १९५३); जिसमें कर्ता का नाम नहीं मिलता। कथानक पूर्वोक्त प्रकार ही है; किन्तु उसकी अपेक्षा कुछ संक्षिप्त है। पूर्वोक्त कृति से यह प्राचीन हो, तो आश्चर्य नहीं। इसमें जिनदत्त का पूर्वभव भन्त में वर्णित है; प्रारम्भ में नहीं। इसकी हस्तलिखित प्रति में उसके चित्रकूट में मणिभद्र यति द्वारा सं० ११८६ में लिखे जाने का उल्लेख है।

रघुणसेहरीकहा के कर्ता जिनहर्षगणि ने स्वयं कहा है कि वे जयचन्द्र मुनि के शिष्य थे; और उन्होंने यह कथा चित्रकूट नगर में लिखी। ग्रन्थ की पाटन ब्रह्मर की हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१२ की है; अतएव रचना उससे पूर्व की होनी निश्चित है। यह कथा सांवत्सरिक, चातुर्मासिक एवं चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्वानुष्ठान के दृष्टान्त रूप लिखी गई है। रतनपुर का राजा किन्नरों से रत्नावती के रूप की प्रशंसा सुनकर उसपर मोहित हो गया। इस सुन्दरी का पता लगाने उनका मंत्री निकला। एक सघन वन में पहुंचकर उसकी एक यक्ष-कन्या से भेंट हुई, जिसके निर्देश से वह एक जलते हुए धूपकुंड में कूदकर पाताल में पहुंचा और उस यक्ष-कन्या को विवाहा। यक्ष ने रत्नावली का पता बतलाया कि वह सिंहल के राजा जयसिंह की कन्या है। यक्ष ने उसे अपने विद्याबल से सिंहल में पहुंचा भी दिया। वहां वह योगिनी के वेष में रत्नावली से मिला। रत्नावली ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब उसे अपना पूर्व भृगु-जन्म का पति मिलेगा, तभी वह उससे विवाह करेगी। योगिनी ने भविष्य का विचार कर बतला दिया कि उसका वही पति उसे शीघ्र ही कामदेव के मंदिर में छूतक्रीड़ा करता हुआ मिलेगा। इस प्रकार रत्नावली को तैयार कर वह उसी यक्ष-विद्या द्वारा अपने राजा के पास पहुंचा, और उसे साथ लाकर कामदेव के मंदिर में सिंहल राजकन्या से उसकी भेंट करा दी। दोनों में विवाह हो गया। एक बार जब वे दोनों गीत काव्य कथादि विनोद में आसक्त थे, तब एक सूत्रा राजा के हाथ पर आ बैठा, और एक शुकी रानी के हाथ पर। सूत्र की वाणी से राजा ने जान लिया कि वह कोई विशेष धार्मिक प्राणी है। विद्वत्तापूर्ण वार्तालाप करते हुए शुक्र और शुकी दोनों मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए। एक महाज्ञानी मुनि ने राजा को बतलाया कि वे उसके पूर्व पुरुष थे; जो अपना ब्रत खंडित करने के पाप से पक्षियों में उत्पन्न हुए थे। उस

पाप से मुक्त होकर अब वे धरणेन्द्र और पद्मावती रूप देव-देवी हुए हैं । राजा रत्नशेखर और रानी रत्नावली धर्मपालन में उत्तरोत्तर दृढ़ होते हुये अन्त में मरकर स्वर्ग में देव-देवी हुए ।

इस कथानक का विशेष महत्व यह है कि वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य जायसी कृत पद्मावत की कथा का मूलाधार सिद्ध होता है । यहां नायक रत्नशेखर है, तो वहां रतनसेन; नायिका दोनों में सिंहल की राजकुमारी है; परस्पर प्रेमासक्ति का प्रकार भी वही है । यहां भंत्री जोगिनी बनकर सिंहल जाता है, तो वहां स्वयं नायक ही जोगी बनता है । दोनों में मिलने का स्थान देवालय है । तोता भी दोनों कथाओं में आता है; यद्यपि जायसी ने इसका उपयोग कथा के आदि से ही किया है । रत्नशेखरी के कर्ता चित्रकूट (चित्तौड़) के थे; और जायसी के नायक ही चित्तौड़ के राजा थे । रत्नशेखरी में राजा द्वारा कर्लिंगराज को जीतने का उल्लेख है; पद्मावत में कर्लिंग से जोगियों का जहाज रवाना होता है । दोनों कथानकों का रूपक व रहस्यात्मक भाग बहुत कुछ मिलता है । पद्मावत का रचनाकाल शेरशाह सुलतान के समय में होने से उक्त रचना से पीछे तो सिद्ध होता ही है; क्योंकि शेरशाह का राज्य ई० सन् १५४० में प्रारम्भ हुआ था ।

जम्बूसामिचरित्त उपर्युक्त समस्त प्राकृत चरित्रों से अपनी विशेषता रखता है; क्योंकि उसकी रचना ठीक उसी प्रकार की अर्धमागधी प्राकृत में उसी गद्य-शैली से हुई है जैसी आगमों की; यहां तक कि वर्णन के संक्षेप के लिये यहा भी तदनुसार ही 'जाव', 'जहा' आदि का उपयोग किया गया है । इस पर से यह रचना बलभी वाचना काल (५वीं शती) के आसपास की प्रतीत होती है; जैसा कि सम्पादक ने अपने 'प्रवेशद्वार' में भी अनुमान किया है, (प्र० भावनगर, वि० २००४) । किन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो एक गाथा में यह कहा गया है कि इसे विजयदया सूरेश्वर के आदेश से जिनविजय ने लिखा है, उस पर से उसका रचनाकाल वि० सं० १७८५ से १८०९ के बीच अनुमान किया गया है, क्योंकि तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ६४ वें गुरु विजयादया सूरि का वही समय है । किन्तु संभव है यह उल्लेख ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने का हो, ग्रन्थ रचना का नहीं, विशेषतः जबकि ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका में पुनः अलग से उसके लिखे जाने का काल सं० १८१४ निर्दिष्ट है । यदि आगे खोजशोध द्वारा अन्य प्राचीन प्रतियों के बल से यही रचनाकाल सिद्ध हो तो समझना चाहिये कि १८वीं शती में आगम शैली से यह ग्रन्थ लिखकर उक्त लेखक ने एक असाधारण कार्य किया ।

कथानायक जम्बूस्वामी महावीर तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य थे; और उनके

निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे । जैन आगम की परम्परा में उनको महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उपलम्ब द्वादशांग का बहुभाग सुधर्म स्वामी द्वारा उन्हीं को उपदिष्ट किया गया है । प्रस्तुत रचनानुसार जम्बू का जन्म राजगृह में हुआ था । उनकी वैराग्य-वृत्ति को रोकने के लिये उनके आठ विवाह किये गये; तथापि उनकी धार्मिक प्रवृत्ति रुकी नहीं, बढ़ती ही गई । उन्होंने अपनी पत्नियों का संबोधन कर, और उनकी समस्त तकों व युक्तियों का खंडन कर दीक्षा ले ली; यहां तक कि जो प्रभव नामक बड़ा डाकू उनके घर में चोरी के लिये घुसा था, वह भी चुपचाप उनका उपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गया ।

एक और जम्बूचरियं महाराष्ट्री प्राकृत में है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ । इसके कर्ता नाइलगच्छीय गुणपाल हैं, जो संभवतः वे ही हैं जिनके प्राकृत ऋषिबला चरित्र का उल्लेख जैनग्रन्थावली में पाया जाता है, और उसका रचना काल वि० सं० १२६४ अंकित किया गया है । यह जम्बूचरित्र सोलह उद्देशों में पूर्ण हुआ है । मुख्य कथा व अवान्तर कथाएं भी प्रायः वे ही हैं जो पूर्वोक्त कृतिमें भी अपेक्षाकृत संक्षेप रूप में पाई जाती हैं । पद्मसुन्दर कृत जम्बूचरित अकबर के काल में सं० १६३२ में रचा गया मिला है ।

गुराचन्द्र सूरि कृत ऋषिबलमचरिय यथार्थतः ग्रन्थकार की पूर्वोक्त रचना 'महावीरचरिय' में से उद्धृत कर पृथक् रूप से संस्कृत छाया सहित प्रकाशित हुआ है (नेमि विज्ञान ग्र० मा० २० वि० सं० २००८) । छत्ता नगरी के जितशत्रु राजा के पुत्र नन्दन को उपदेश देते हुए पोटिल स्याविर ने विषयासक्ति में धर्मोपदेश द्वारा प्रवृज्या धारण करनेवाले राजा नरसिंह और उसके पुत्र नरवाहनदत्त का चरित्र वर्णन किया । कथा के गद्य और पद्य दोनों भाग रचना की दृष्टि से प्रौढ़ और काव्य गुराणोंसे युक्त हैं ।

इनके अतिरिक्त इसी प्रकार की अन्य अनेक प्राकृत रचयें उपलब्ध हैं, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई । इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:— विजयसिंह कृत भुवनसुन्दरी (१० वीं शती), वर्धमान कृत मनोरमाचरियं (११वीं शती), ऋषिबला चरित (१३ वीं शती) प्रद्युम्नचरित, मलयसुन्दरी कथा, नर्मदासुन्दरी कथा, धन्य सुन्दरी कथा और नरदेव कथा । (देखिये जैन ग्रन्थावली)

प्राकृत कथाकोष—

धर्मोपदेश के निमित्त लघु कथाओं का उपदेश श्रमण-परम्परा में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है । द्वादशांग आगम के एतायाधम्मकहाओ में इसका एक रूप

यह देखा जाता है कि एकाक्ष गाथा में कोई उपदेशात्मक बात कही, और उसके साथ ही उसके दृष्टान्त रूप उस नियम को अपने जीवन में चरितार्थ करने वाले व्यक्ति के जीवन का वृत्तान्त गद्य या पद्य में विस्तार से कह दिया। यही प्राणाली पालि की भातक कथाओं में भी पाई जाती है। संस्कृत के हितोपदेश, पंचतंत्रादि प्राचीन लघुकथात्मक ग्रन्थों की भी यही शैली है।

आगमों के पश्चात् इस शैली की स्वतंत्र प्राकृत रचना धर्मदास गणी कृत उपदेशमाला प्रकरण पाई जाती है। इसमें ५४४ गाथाएं हैं; जिनमें विनय, शील, अन्न, संयम, दया, ज्ञान, ध्यानादि विषयक सैंकड़ों पुरुष-स्त्रियों के दृष्टान्त दिये गये हैं, व उनके चरित्र विस्तार से टीकाओं में लिखे गये हैं। टीकाएं १० वीं शती से लेकर १८ वीं शती तक अनेक लिखी गई हैं, और वे जैन लघु कथाओं के भंडार हैं। कुछ टीकाकारों के नाम हैं—जयसिंह और सिद्धर्षि (१० वीं शती), जिनभद्र और रत्नप्रभ (१२ वीं शती) उदयप्रभ (१३ वीं शती), अभयचन्द्र (१५ वीं शती), जयशेखर, रामविजय, सर्वानन्द, धर्मनन्दन आदि। मूल गाथाओं का रचनाकाल निश्चित नहीं; किन्तु उनका मुनि-समाज में इतना आदर और प्रचार है कि उनके कर्ता तीर्थंकर महावीर के समसामयिक माने जाते हैं। तथापि गाथाओं की भाषा पर से वे ५ वीं ६ वीं शती से अधिक पूर्वकी प्रतीत नहीं होती। मूल कर्ता और उसके टीकाकारों के सम्मुख बौद्ध धम्मपद और उसकी बुद्धयोष कृत टीका का अद्भुत रूपा प्रतीत होता है, जिनमें क्रमशः ४२५ गाथाएं और ३१० कथानक पाये जाते हैं।

इसी शैली पर ८ वीं शती में हरिभद्र ने अपने उपदेशपद लिखे, जिनकी गाथा संख्या १०४० है। इस पर मुनिचन्द्रसूरि की सुखबोधनी टीका (१२ वीं शती) और वर्धमान कृत वृत्ति (१३ वीं शती) पाई जाती हैं।

कृष्णमुनि के शिष्य जयसिंह ने वि० सं० ६१५ में धर्मदास की कृति के अनुकरण पर ६८ गाथाएं लिखीं; और उनपर स्वयं विवरण भी लिखा। उनकी पूरी रचना धर्मोपदेश-माला-विवरण के नाम से प्रकाशित है (बम्बई, १९४६)। इसमें १५६ कथाएं समाविष्ट हैं, जिनमें शील, दान, आदि सद्गुणों का साहात्म्य तथा राग-द्वेषादि दुर्भावों के दुष्परिणाम से लेकर चोर, जुवाड़ी, शराबी तक सभी स्तरों के व्यक्ति हैं, जिनसे समाज का अच्छा चित्रण सामने आता है। प्राकृतिक, भावात्मक व रसात्मक वर्णन भी सुन्दर और साहित्यिक हैं।

जयसिंह सूरि के शिष्य जयकीर्तिकृत श्रीलोपदेश-माला भी इसी प्रकार की ११६ गाथाओं की रचना है, जिसपर सोमसिलक कृत टीका (१४ वीं शती) पाई

जाती है। जिनेश्वरसूरि कृत कथाकोष-प्रकरण (वि० सं० ११०८) में ३० गाथाओं के आधार से लगभग ४० कथाएँ वर्णित हैं, जिनमें सरल भाषा द्वारा जिनपूजा, सुपात्रदान आदि के सुफल बतलाये गये हैं; और साथ ही राजनीति, समाज आदि का चित्रण भी किया गया है। जिनेश्वरकृत ६० गाथात्मक उपदेशरत्नकोष और उस पर २५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति देवमद्रकृत भी मिलती है। देवेन्द्रगणिकृत आस्थान मणिकोष (११ वीं शती), मलधारी हेमचन्द्र कृत भवभावना और उपदेशमाला प्रकरण (१२ वीं शती) लघुकथाओं के इसी प्रकार के संग्रह हैं। सोमप्रभकृत कुमारपाल-प्रतिबोध (वि० सं० १२४१) में प्राकृत के अतिरिक्त कुछ आस्थान संस्कृत व अपभ्रंश में भी रचे गये हैं। इसमें कुल पाँच प्रस्ताव हैं, जिनके द्वारा ग्रन्थकार के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को जैनधर्मावलम्बी बनाया। पाँचों प्रस्तावों में सब मिलाकर ५४ कथानक हैं, जो बहुत सुन्दर और साहित्यिक हैं। मानतुंग सूरि कृत जयन्ती-प्रकरण की रचना भगवती सूत्र के १२ वें शतक के दूसरे उद्देश के आधार से हुई है। तदनुसार श्रमणोपासिका जयन्ती कौशाम्बी के राजा शतानीक की बहिन थी। उसने तीर्थंकर महावीर से धर्म सम्बन्धी नाना प्रश्न किये थे। इसी आधार पर कर्ता ने २८ गाथाएँ रची हैं, और उनके शिष्य मलयप्रभ सूरि ने वि० सं० १२६० के लगभग उस पर वृत्ति लिखी, जिसमें अनेक कथाएँ वर्णित हैं। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजा चेटक की पुत्री व राजा शतानीक की पत्नी मुगावती पर आसक्त था। इस पर तीर्थंकर महावीर ने उसे परस्त्रीत्याग का उपदेश दिया। ग्रन्थ कथाएं शील, सुपात्रदान व तप आदि गुणों का फल दिखलाने वाली हैं, जिनमें ऋषभदेव, भरत व बाहुवली का वृत्तान्त भी आया है।

गुणचन्द्र कृत कथारत्नकोष (१२ वीं शती) में पचास कथानक हैं, जिनमें कहीं कहीं अपभ्रंश का उपयोग किया गया है। ग्रन्थ कथाकोषों में चन्द्रप्रभ महत्तर कृत विजयचन्द्र केवली (११ वीं शती), जिनचन्द्रसूरि कृत संवेग-रंगशाला और भाषाढ़ कृत विवेक-मंजरी एवं उपदेश-कंवली (१२ वीं शती), मुनिसुन्दर कृत उपदेश-रत्नाकर (१३ वीं शती), सोमचन्द्र कृत कथामहोदधि और शुभवर्धनगणि कृत बर्धमान-वेशना तथा दशधावक-चरित्र (१५ वीं शती) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट अनेक लघुकथाएँ हैं, जिनमें विशेष बातों के द्वारा विशिष्ट फल प्राप्त करने वाले पुरुष स्त्रियों के चरित्र वर्णित हैं; जैसे अंजनासुन्दरी कथा, क्षीलवती, सर्वाय-सुन्दरी आदि कथाएँ। इस प्रकार की कोई २०-२५ प्राकृत कथाओं का उल्लेख जैन-ग्रन्थावली में किया गया है।

अपभ्रंश भाषा का विकास—

भारत में आर्यभाषा का विकास मुख्य तीन स्तरों में विभाजित पाया जाता है । पहले स्तर की भाषा का स्वरूप वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों व रामायण, महाभारत आदि पुराणों व काव्यों में पाया जाता है, जिसे भाषा-विकास का प्राचीन युग माना जाता है । इसवी पूर्व छठवीं शती में महावीर और बुद्ध द्वारा उन भाषाओं को अपनाया गया जो उस समय पूर्व भारत की लोक भाषायें थी; और जिनका स्वरूप हमें पालि त्रिपिटक व अर्धमागधी जैनागम में दिखाई देता है । तत्पश्चात् की जो शौरसेनी व महाराष्ट्री रचनायें मिलती हैं उनकी भाषा को मध्ययुग के द्वितीय स्तर की माना गया है, जिसका विकास-काल ईस्वी की दूसरी शती से पांचवीं शती तक पाया जाता है । तत्पश्चात् मध्ययुग का जो तीसरा स्तर पाया जाता है, उसे अपभ्रंश का नाम दिया गया है । भाषा के संबंध में सर्वप्रथम अपभ्रंश का उल्लेख पातंजल महाभाष्य (ई० पू० दूसरी शती) में मिलता है; किन्तु वहां उसका अर्थ कोई विशेष भाषा न होकर, शब्द का वह रूप है जो संस्कृत से अपभृष्ट, विकृत या विकसित हुआ है, जैसे गौ का गावी, गोरी, गोपोतलिका आदि देशी रूप । इसी मतानुसार दण्डी (छठी शती) ने अपने काव्यादर्श में कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से अन्य सभी शब्द अपभ्रंश कहलाते हैं, किन्तु काव्य में आभीरों आदि की बोलियों को अपभ्रंश माना गया है । इससे स्पष्ट है कि दण्डी के काल अर्थात् ईसा की छठी शती में अपभ्रंश काव्य-रचना प्रचलित थी । अपभ्रंश का विकास दसवी शती तक चला और उसके साथ आर्य भाषा के विकास का द्वितीय स्तर समाप्त होकर तृतीय स्तर का प्रादुर्भाव हुआ; जिसकी प्रतिनिधि हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि आधुनिक भाषायें हैं । इसप्रकार अपभ्रंश एक और प्राचीन प्राकृतों, और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी है । वस्तुतः अपभ्रंश से ही हिन्दी आदि भाषाओं का विकास हुआ है; और इस दृष्टि से इस भाषा के स्वरूप का बड़ा महत्व है । प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश का मुख्य लक्षण यह है कि जहां अकारान्त शब्दों के कर्ता कारक की विभक्ति संस्कृत में विसर्ग व प्राकृत में ओ पाई जाती है, और कर्म कारक में अम् दोनों भाषाओं में होता है, वहां अपभ्रंश में वह 'उ' के रूप में परिवर्तित हो गई; जैसे संस्कृत का 'रामः वनं गतः', प्राकृत में 'रामो वणं गमो' व अपभ्रंश में 'रामु वणु गयउ' के रूप में दिखाई देता है । इसीलिये भरत मुनि ने इस भाषा को 'उकार-बहुल' कहा है । दूसरी विशेषता यह भी है कि अपभ्रंश में कुछ-कुछ परसर्गों का उपयोग होने लगा, जिसके प्रतीक 'तण' और 'केर' बहुतायत से दिखाई देते हैं । भाषा यद्यपि अभी भी प्रवानतयायोगात्मक है, तथापि अयोगात्मकता

की ओर उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। कारक विभक्तियां तीन-चार ही रह गई हैं; और क्रियाओं का प्रयोग बन्द सा हो गया है। उनके स्थान पर क्रियाओं से सिद्ध विशेषणों का उपयोग होने लगा है। व्याकरण की इन विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य-रचना की बिल्कुल नई प्रणालियां और नये छंदों का प्रयोग पाया जाता है। दोहा और पदद्विधा छंद अपभ्रंश काव्य की अपनी वस्तु हैं; और इन्हीं से हिन्दी के दोहों व चौपाइयों का आविष्कार हुआ है। इस भाषा का प्रचुर साहित्य जैन साहित्य की अपनी विशेषता है।

अपभ्रंश पुराण—

जिसप्रकार प्राकृत में प्रथमानुयोग काव्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है; उसी प्रकार अपभ्रंश में भी। अबतक प्रकाश में आये हुए अपभ्रंश कथा-साहित्य में स्वयम्भू कृत पद्मचरित् सर्वप्रथम है। इसमें विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर, ये पांच कांड हैं, जिनके भीतर की समस्त संघियों (परिच्छेदों) की संख्या ६० है। ग्रन्थ के आदि में कवि ने अपने पूर्ववर्ती भरत, पिंगल, भामह और दंडी, एवं पांच महाकाव्य, इनका उल्लेख किया है। यह भी कहा है कि यह रामकथा रूपी नदी, वर्द्धमान के मुख कुहर से निकली; और गरुडघर देवों ने उसे बहते हुए देखी। पश्चात् वह इन्द्रभूति आचार्य, फिर सुधर्म व कीर्तिधर द्वारा प्रवाहित होती हुई, रविशेणाचार्य के प्रसाद से कविराज (स्वयम्भू) को प्राप्त हुई। अपने वैयक्तिक परिचय में कवि ने अपनी माता पद्मिनी और पिता मास्तदेव तथा अमृताम्बा और आदित्याम्बा, इन दो पत्नियों का उल्लेख किया है; और यह भी बतला दिया है कि वे शरीर से क्रुश और कुरूप थे; तथा उनकी नाक चपटी और दांत विरल थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता धनंजय का भी उल्लेख किया है। पुष्पदंत कृत महापुराण में जहां स्वयम्भू का उल्लेख आया है, वहां पर प्राचीन प्रति में 'सयम्भु पदद्विबंधकर्ता आपलीसंघीयह' ऐसा टिप्पण पाया जाता है; जिससे अनुमान होता है कि वे यापनीयसंघ के अनुयायी थे। कवि द्वारा उल्लिखित रविशेणाचार्य ने अपना पद्मचरित् बीर नि० सं० १२०३ अर्थात् ई० सन् ६७६ में पूर्ण किया था; एवं स्वयम्भूदेव का उल्लेख सन् ६५६ ई० में प्रारम्भ किये गये अपभ्रंश महापुराण में उसके कर्ता पुष्पदंत ने किया है। अतएव पद्मचरित् की रचना इन दोनों अवधियों के मध्यकाल को सिद्ध होती है। उनकी कालावधि को और भी सीमित करने का एक आधार यह भी है कि जैसा उन्होंने अपने पद्मचरित् में रविशेण का उल्लेख किया है, वैसा संस्कृत हरिवंशपुराण व उसके कर्ता जिनसेन का

महीं किया; अतएव सम्भवतः वे संस्कृत हरिवंश के रचनाकाल, अर्थात् ई० सन् ७८३ के पूर्व ही हुए होंगे। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल ई० सन् ७०० के लगभग सिद्ध होता है। स्वयम्भूदेव ने यह रचना ८२ या ८३ वीं संधि पर्यंत ही की है; और सम्भवतः वही उन्होंने अपनी रचना को पूर्ण समझा था। किन्तु उनके सुपुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू ने शेष रूप से सात-आठ और सर्ग रचकर उसे पद्मचरित में वरिष्ठ विषयों के अनुसार पूर्ण किया। समस्त ग्रन्थ का कथाभाग संस्कृत पद्मचरित के ही समान है। हां, इस रचना में वर्णन विशेषरूप से काव्यात्मक पाये जाते हैं। स्थान-स्थान पर छंदों का वैचित्र्य, अलंकारों की छटा, रसभाव-निरूपण आदि संस्कृत काव्यशैली की उत्कृष्ट रीति के अनुसार हुआ है।

स्वयम्भू की दूसरी अग्रंश कृति 'रिद्धणोमि चरित' या 'हरिवंशपुराण' है। इसकी उत्पत्तिका में कवि ने भरत, पिंगल, भामह और दंडी के अतिरिक्त व्याकरण-ज्ञान के लिये इन्द्र का, घन-घन अक्षराडम्बर के लिये बाण का, तथा पद्धतिया छंद के लिये चतुर्मुख का ऋण स्वीकार किया है। अन्तमें कथा की परम्परा को महावीर के पश्चात् गौतम, सुधर्म, विष्णु, नंदमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु से होती हुई संक्षेप में सूत्र रूप सुनकर, उन्होंने पद्धतिया बंध में मनोहरता से निबद्ध की, ऐसा कहा है। ग्रन्थ में तीन कांड हैं — यादव, कुरु और युद्ध; और उनमें कुल ११२ संधियां हैं। इसकी भी प्रथम १६ संधियां स्वयंभूकृत हैं; और शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभूकृत। इन अन्तिम संधियों में से चार की पुष्पकाओं में मुनि यशःकीर्ति का भी नाम आता है; जिससे अनुमान होता है कि उन्होंने भी इस ग्रन्थ में कुछ संशोधन, परिवर्द्धन किया होगा। ग्रन्थ का कथाभाग प्रायः वही है जो जिनसेन कृत हरिवंश में पाया जाता है। यादव कांड में कृष्ण के जन्म, बाल-क्रीड़ा, विवाह आदि संबंधी वर्णन बड़ी काव्यरीति से किया गया है। उसीप्रकार कुरु-कांड में कौरवों-पांडवों के जन्म, कुमारकाल, शिक्षण, परस्पर विरोध, सूतक्रीड़ा व बनवास का वर्णन, तथा युद्धकांड में कौरव-पांडवों के युद्धका वर्णन रोचक व महाभारत के वर्णन से तुलनीय है।

अपभ्रंश में एक और हरिवंशपुराण धवल कवि कृत मिला है, जो १२२ संधियों में समाप्त हुआ है। कवि विप्र वर्ण के थे; और उनके पिता का नाम सूर, माता का केमुल्ल और गुरु का नाम अम्बसेन था। ग्रन्थ की उत्पत्तिका में उन्होंने अनेक आचार्यों और उनकी ग्रन्थ-रचनाओं का उल्लेख किया है, जिनमें महासेन कृत सुलोचनाचरित, रविवेण कृत पद्मचरित, जिनसेन कृत हरिवंश, अटिलमुनि कृत

वरांगचरित, अलगकृत वीरचरित, जिनरक्षित श्रावक द्वारा विख्यापित जयधवल एवं चतुर्मुख और द्रोण के नाम सुपरिचित, तथा कवि के काल-निर्णय में सहायक होते हैं। उनमें काल की दृष्टि से सब से अन्तिम अलग कवि हैं, जिन्होंने अपना वीरचरित शक संवत् ६१०, अर्थात् ई० सन् ६८८ में समाप्त किया था। अतएव यही कवि के काल की पूर्वावधि है। उनकी उत्तरावधि निश्चित करने का कोई साधन प्राप्त नहीं है। सम्भवतः इस रचना का काल १० वीं, ११ वीं शती होगा। विशेष उल्लेखनीय एक बात यह है कि अपने कवि-कीर्तन में कवि ने महान् श्वेताम्बर कवि गोविन्द और उनके सनत्कुमार चरित का उल्लेख किया है (सणकुमार जें विरइउ मणहह, कइ-गोविंदु पवर सेयंबर)। अपने विषय वर्णन के लिये कवि ने जिनसेन कृत हरिवंश पुराण का आश्रय लिया है; और इस ऋण का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख कर दिया है (जह जिणसेणेण कयं, तह विरयमि किं पि उद्देस)। संधियों की संख्या संस्कृत हरिवंश से दुगुनी से कुछ कम है; किन्तु निर्दिष्ट प्रमाण ठीक ड्यौढ़ा है; क्योंकि संस्कृत हरिवंश का प्रमाण १२ हजार श्लोक और इसका १८००० आंका गया है। अधिक विस्तार वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा हुआ प्रतीत होता है। अपभ्रंश काव्य परम्परा-नुसार काव्य गुणों की भी इस ग्रन्थ में अपनी विशेषता है। छंद-वैचित्र्य भी बहुतायत से पाया जाता है।

अपभ्रंश में और भी अनेक कवियों द्वारा हरिवंश पुराण की रचना की गई है। ऊपर स्वयम्भू कृत हरिवंश पुराण के परिचय में कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ की अन्तिम संधियों में यशःकीर्ति द्वारा भी कुछ संवर्द्धन किया गया है। यशःकीर्ति कृत एक स्वतंत्र हरिवंशपुराण भी वि० संवत् १५०० या १५२० में रचित पाया जाता है। यह योगिनीपुर (दिल्ली) में अन्नवाल वंशी व गर्गगोत्री दिउडा साहू की प्रेरणा से लिखा गया था। यह ग्रन्थ १३ संधियों या सर्गों में समाप्त हुआ है। कथानक का आधार जिनसेन व स्वयम्भू तथा पुष्पदंत की कृतियां प्रतीत होती हैं। एक और हरिवंश पुराण श्रुतिकीर्ति कृत मिला है; जो वि० सं० १५५३ में पूर्ण हुआ है। इसमें ४४ संधियों द्वारा पूर्वोक्त कथा-वर्णन पाया जाता है।

जिस प्रकार प्राकृत में 'चउपन्न-महापुरुषचरित' की तथा संस्कृत में त्रैलोक्यशलाका पुरुष चरितों की रचना हुई, उसी प्रकार अपभ्रंश में महाकवि पुष्पदंत द्वारा 'तिसदिठ-महापुरिस-गुणालंकार' महापुराण की रचना पाई जाती है। इसकी रचना शक सं० ८८१ सिद्धार्थ संवत्सर से प्रारम्भ कर, ८८७ श्लेषन संवत्सर तक ६ वर्ष में पूर्ण हुई थी। उस समय मान्यछेटमें राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (तृतीय) का राज्य था। उन्हीं के मंत्री

भरत की प्रेरणा से कवि ने इस रचना में हाथ लगाया था । महापुराण की एक संधि के प्रारम्भ में कवि ने मान्यखेट पुरी को धारानाथ द्वारा जलाये जाने का उल्लेख किया है । धनपाल कृत 'पाइय-सच्छी-नाममाला' के अनुसार धारानगरी धाराधीश हर्षदेव द्वारा वि० सं० १०२६ में लूटी और जलाई गई थी । इसप्रकार इस दुर्घटना का काल महापुराण की समाप्ति के छह-सात वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है । अतएव अनुमानतः संधि के प्रारम्भ में उक्त संस्कृत श्लोक ग्रन्थ-रचना के पश्चात् निबद्ध किया गया होगा । इस ग्रन्थ में तथा अपनी अन्य रचनाओं में कवि ने बहुत कुछ अपना वैयक्तिक परिचय भी दिया है, जिसके अनुसार उनके पिता का नाम केशव और माता का मुग्धा देवी था, जो प्रारम्भ में शैव थे, किन्तु पीछे जैन धर्मावलम्बी हो गये थे । कवि कहीं अन्यत्र से भटकते हुए मान्यखेट पहुंचे, और वहां भरत ने उन्हें आश्रय देकर काव्य-रचना के लिये प्रेरित किया । वे शरीर से कृश और कुरूप थे; किन्तु उनकी कव्य-पिसल्ल (काव्य पिशाच) कवि कुल-तिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वती-निलय आदि उपधियां उनकी काव्य-प्रतिभा की परिचायक हैं, जो उनकी रचना के सौन्दर्य और सौष्ठव को देखते हुए सार्थक सिद्ध होती है । समस्त महापुराण १०२ संधियों में पूर्ण हुआ है । प्रथम ३७ संधियों का कथाभाग उत्तना ही है, जितना संस्कृत आदिपुराण का; अर्थात् प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का जीवन-चरित्र । शेष संधियों में उत्तरपुराण के समान अन्य शलाका पुरुषों का जीवनचरित्र वर्णित है । संधि ६९ से ७६ तक की ११ संधियों में राम की कथा आई है, जिसमें उत्तरपुराण में वर्णित कथा का अनुसरण किया गया है । किन्तु यहां आदि में गौतम द्वारा रामायण के विषय में वे ही शंकाएं उठाई गई हैं, जो प्राकृत पउमचरियं व संस्कृत पद्मपुराण, तथा स्वयंभूकृत पउमचरिउ में पाई जाती है । संधि ८१ से ६२ तक की १२ संधियों में कृष्ण और नेमिनाथ एवं कौरव-पांडवों का वृत्तान्त संस्कृत हरिवंश पुराण के अनुसार वर्णित है । किन्तु यह समस्त वर्णन कवि की असाधारण काव्य-प्रतिभा द्वारा बहुत ही सुन्दर, रोचक और मौलिक बन गया है । इसमें आये हुए नगरों, पर्वतों, नदियों, ऋतुओं, सूर्य चन्द्र के अस्त व उदय, मुद्गों, विवाहों, वियोग के विलापों, विवाहादि उत्सव एवं श्रृंगा-रादि रसों के वर्णन किसी भी संस्कृत व प्राकृत के उत्कृष्टतम काव्य से हीन नहीं उतरते । कवि ने स्वयं एक संस्कृत पद्य द्वारा अपनी इस रचना के गुण प्रगट किये हैं, वे कहते हैं—

अत्र प्राकृत-लक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्चन्द्रता-

मर्चालंकृतयो रसाच्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्यातयः ॥

किंचाम्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नाम्नात्र तद्विद्यते ।

द्वावेतौ भरतेशपुष्पवशनौ सिद्धं यथोरीदृशम् ॥

यहां कवि ने जो यह दावा किया है कि अन्यत्र ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो इस जैन चरित्र में न आ गई हो, वह उनके विषय और काव्य की सीमाओं को देखते हुए असिद्ध प्रतीत नहीं होता है ।

अपभ्रंश में तीर्थंकर-चरित्र—

पुण्यदंत कृत महापुराण के पश्चात् संस्कृत के समान अपभ्रंश में भी विविध तीर्थंकरों के चरित्र पर स्वतंत्र काव्य लिखे गये । 'चंदमपह-चरिउ' यशःकीर्ति द्वारा हूंमड़ कुल के सिद्धपाल की प्रार्थना से ११ संघियों में रचा गया है । ये यशःकीर्ति वे ही हैं, जिनके हरिवंशपुराण का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है । अतएव इसका रचना काल भी वही १५ वीं शती ई० है । 'सांतिनाह-चरिउ' की रचना महीचन्द्र द्वारा वि० सं० १५८७ में योगिनीपुर (दिल्ली) में बाबर बादशाह के राज्यकाल में हुई । कवि ने अपनी गुरु-परम्परा में मायुर संघ, पुष्करगण के यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रसूरि का उल्लेख किया है; तथा अग्रवाल वंश के गर्ग-गोत्रीय भोजराज के पौत्र, व ज्ञानचन्द्र के पुत्र 'साधारण' के कुल का विस्तार से वर्णन किया है । रोमिणाह चरिउ की रचना हरिभद्र ने वि० १२१६ में की । इसका अभी तक केवल एक अंश 'सनत्कुमार चरित' सुसंपादित होकर प्रकाश में आया है । एक और रोमिणाह-चरिउ लखमदेव (लक्ष्मणदेव) कृत पाया जाता है, जिसमें चार संघियां व ८३ कडवक हैं । कवि ने आरम्भ में अपने निवास-स्थान मालव देश व गोनंद नगर का वर्णन, और अपने पुरवाड वंश का उल्लेख किया है । रचनाकाल का निश्चय नहीं है, किन्तु इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१० की मिली है, जिससे उसके रचनाकाल की उत्तरावधि सुनिश्चित हो जाती है । पुष्करगण-चरिउ की रचना पद्मकीर्ति ने वि० सं० १६२ में १८ संघियों में पूर्ण की थी । कवि ने अपनी गुरु-परम्परा में सेन संघ के चन्द्रसेन, माधवसेन और जिनसेन का उल्लेख किया है । दूसरा पासणाह-चरिउ १२ संघियों में कवि श्रीधर द्वारा वि० सं० ११८६ में रचा गया है । कवि के पिता का नाम गोल्ल और माता का नाम बील्हा था । वे हरियाणा से चलकर जमना पार दिल्ली आये; और वहां अग्रवाल वंशी नटल साहू की प्रेरणा से उन्होंने यह रचना की । तीसरा पासणाह-चरिउ कवि असवाल कृत पाया जाता है, जो १३ संघियों में समाप्त हुआ है । संघ के अन्त में उल्लेख मिलता है कि यह ग्रन्थ संघाधिप सोनी (सोणिय?)

के कर्णभरणरूप अर्थात् उनकी प्रेरणा से उन्हें सुनाने के लिये रचा गया था। इसका रचनाकाल अनुमानतः १५ वीं शती या उसके आसपास होगा। अंतिम तीर्थंकर पर जयमित्र हल्ल कृत बड्डमाण-कव्वु मिलता है, जिसमें ११ संधियां हैं। यह काव्य देवराय के पुत्र संधाधिप होलिबर्म के लिये लिखा गया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५४५ की मिली है; अतएव ग्रन्थ इससे पूर्व रचा गया है। इस काव्य की अंतिम ६ संधियों में राजा श्रेणिक का चरित्र वर्णित है, जो अपने रूप में पूर्ण है; और पृथक् रूप से भी मिलता है। रघू-कृत सम्मदणाह-चरिउ दस संधियों में समाप्त हुआ है। इसमें कवि ने अपने गुरु का नाम यशःकीर्ति प्रकट किया है; अतएव इसका रचनाकाल वि० सं० १५०० के आसपास होना चाहिए। नरसेन कृत बड्डमाणकहा वि० सं० १५१२ के लगभग लिखी गई है। जैन ग्रंथावली में जिनेश्वर सूरि के शिष्य द्वारा रचित अपभ्रंश महावीर-चरित का उल्लेख है।

अपभ्रंश चरितकाव्य—

तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त अपभ्रंश में जो अन्य चरित्र काव्य की रीति से लिखे गये, वे निम्नप्रकार हैं :—

‘तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार’ के महाकवि पुष्यदन्त कृत अन्य रचनाएं हैं—
जसहर-चरिउ और णायकुमार-चरिउ। यशोधर का चरित्र जैन साहित्य में हिंसा के दोष और अहिंसा का प्रभाव दिखलाने के लिये बड़ा लोकप्रिय हुआ है, और उस पर संस्कृत में सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू से लगाकर, १७वीं शती तक लगभग ३० ग्रन्थ रचे गये पाये जाते हैं। इनमें काव्यकला की दृष्टि से संस्कृत में सोमदेव की कृति और अपभ्रंश में पुष्पदंत कृत जसहर चरिउ सर्वश्रेष्ठ हैं। ये दोनों रचनाएं १० वीं शताब्दी में पांच-सात वर्ष के अन्तर से प्रायः एक ही समय की हैं। जसहरचरिउ चार संधियों में विभाजित है। यौवेय देश की राजधानी राजपुर में मारिदत्त राजा की एक कापालिकाचार्य भैरवानंद से भेंट हुई; और उनके आदेशानुसार आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करने के लिये राजा ने नरबलि यज्ञ का आयोजन किया। इसके लिये राजा के सेवक जैन मुनि सुदत्त के शिष्य अभयशुचि और उसकी बहन अभयमती को पकड़ लाये। राजा ने उनके रूप से प्रभावित होकर उनका वृत्तान्त पूछा। इस पर अभयशुचि ने अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया:— अवन्ती देश में उज्जैनी के राजा यशोबन्धुर का पौत्र व यशोर्ह का पुत्र मैं यशोधर नामका राजा था (१ सं०)। यशोधर ने अपनी रानी अमृतमति को एक कुबड़े से व्यभिचार करते देखा,

और विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेने का विचार किया; किन्तु उसकी मां ने उसे रोका। अमृतमति ने दोनों को बिष देकर मार डाला। तत्पश्चात् मां-बेटों ने नाना पशु-योनियों में परिभ्रमण किया; जिनमें स्वयं उसके पुत्र जसवड़ व व्यभिचारिणी पत्नी ने उनका घात किया (२ सं०)। अनेक पशुयोनियों में दुःखभोग कर अन्त में वे दोनों जसवड़ के पुत्र और पुत्री रूप से उत्पन्न हुए। एक बार जसवड़ आखेट करने वन में गया था, वहाँ उसे सुदत्त मुनि के दर्शन हुए, और उसने उन पर अपने कुत्ते छोड़े। किन्तु मुनि के प्रभाव से कुत्ते उनके सम्मुख विनीतभाव से नमन करने लगे। एक सेठ ने राजा की मुनि का माहात्म्य समझाया, तब राजा को सम्बोधन हुआ। मुनि को अवधिज्ञानी जान राजा ने उनसे अपने पूर्वभूत माता-पिता व मातामही का वृत्तान्त पूछा। मुनि ने उनके भव-भ्रमण का सब वृत्तान्त सुनाकर बतला दिया कि उसका पिता और उसकी मातामही ही अब अभयरूपि और अभयमति के रूप में उसके पुत्र-पुत्री हुए हैं (३ सं०)। यह वृत्तान्त सुनकर और संसार की विचित्रता एवं भ्रसारता को समझकर जसवड़ ने दीक्षा ले ली। उसके पुत्र-पुत्रियों को भी अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया; और वे क्षुल्लक के व्रत लेकर सुदत्त मुनि के साथ विहार करते हुए मारिदत्त के राजपुरुषों द्वारा पकड़ कर वहाँ लाये गये। यह वृत्तान्त सुनकर राजा मारिदत्त, उनकी देवी चंडमारी व पुरोहित औरवानंद आदि सभी को वैराग्य हो गया; और उन्होंने सुदत्त मुनि से दीक्षा ले ली (सं० ४)। इस कथानक को पुष्पदंत ने बड़े काव्य-कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। (कारंजा, १६३२)

नायकुमार-चरित में पुष्पदंत ने श्रुत-पंचमी कथा के माहात्म्य को प्रगट करने के लिये कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र ६ संघियों में वर्णन किया है। मगधदेश के कनकपुर नगर में राजा जयधर और रानी विशालनेत्रा के श्रीधर नामक पुत्र हुआ। पश्चात् राजा ने सीराष्ट्र देश में गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वीदेवी का चित्र देख, और उस पर मोहित हो, उसे भी विवाह लिया (सं० १)। यथासमय पृथ्वीदेवी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जो शैशव में जिनमंदिर की वापिका में गिर पड़ा। वहाँ नागों ने उसकी रक्षा की; और उसीसे उसका नाम नागकुमार रखा गया (सं० २)। नागकुमार नाना विद्याएं सीखकर यौवन को प्राप्त हुआ। उस पर मनोहरी और किन्नरी नामक नर्तकियां मोहित हो गईं; और उसने उन्हें विवाह लिया। उसकी माता और विमाता में विद्वेष बढ़ा; और उसका सौतेला भाई श्रीधर भी उससे द्वेष करके उसे मरवा डालने का प्रयत्न करने लगा। इसीसमय एक मदोन्मत्त हाथी के आक्रमण से समस्त नगर व्याकुल हो उठा। श्रीधर उसे दबाने

करने में असफल रहा; किन्तु नागकुमार ने अपने पराक्रम द्वारा उसे बश में कर लिया। इससे दोनों का विद्वेष और अधिक बढ़ा (सं० ३)। नागकुमार के पराक्रम की ख्याति बढ़ी, और मथुरा का राजकुमार व्याल एक भविष्य वाणी सुनकर उसका अनुचर बन गया। श्रीघर ने अब नागकुमार को अपना परमशत्रु समझ मार डालने की चेष्टा की। पिता ने संकट-निवारणार्थ नागकुमार को कुछ काल के लिये देशान्तर गमन का आदेश दे दिया (सं० ४)। नागकुमार राजधानी से निकलकर मथुरा पहुंचा, जहां उसने कान्यकुब्ज के राजा विनयपाल की कन्या शीलवती को बंदीगृह से छुड़ाकर उसके पिता के पास भिजवा दिया। यहां से चलकर वह काश्मीर गया, जहां उसने राजा नंद की पुत्री त्रिभुवनरति को वीणावाद्य में पराजित करके विवाह। यहां से वह रम्यक वन में गया; और वहां कालगुफावासी भीमासुर ने उसका स्वागत किया (सं० ५)। अपने पथ-प्रदर्शक शबर की सहायता से वह कांचन गुफा में पहुंचा; जहां उसने नाना विद्याएं प्राप्त कीं, व काल-बैतालगुफा से राजा जितशत्रु द्वारा संचित विशाल धनराशि प्राप्त की। तत्पश्चात् उसकी भेंट गिरिशिखर के राजा वनराज से हुई, जिसकी पुत्री लक्ष्मीमति से उसने विवाह किया। यहां मुनि श्रुतिधर से उसने सुना कि वनराज किरात नहीं, किन्तु पुण्ड्रवर्द्धन के राजवंश का है; जहां से तीन पीढ़ी पूर्व उसके पूर्वजों को उनके एक दायाद ने निकाल भगाया था। नागकुमार के आदेश से व्याल पुण्ड्रवर्द्धन गया; और वनराज पुनः वहां का राजा बना दिया गया (सं० ६)। तत्पश्चात् नागकुमार ऊर्जयन्त पर्वत की ओर गया। बीच में गिरिनगर पर सिंध के राजा चंडप्रद्योत के आक्रमण का समाचार पाकर वहां गया, और वहां उसने अपने मामा की शत्रु से रक्षा की, एवं उसकी पुत्री गुणवती से विवाह किया। वहां से निकलकर उसने अलंघनगर के अत्याचारी राजा सुकंठ का वध किया, और उसकी पुत्री रुक्मिणी को विवाह। वहां से चलकर वह गजपुर आया, और वहां राजा अभिचन्द्र की पुत्री चन्द्रा से विवाह किया (सं० ७)। महा व्याल के द्वारा उज्जैन की अद्वितीय राजकन्या का समाचार पाकर नागकुमार वहाँ आया, और उस राजकन्या से विवाह किया। वहां से वह फिर किष्किन्धमलय को गया, जहां मृदंग वाद्य में राजकन्या को पराजित कर विवाह। वहां से वह तोयावली द्वीप को गया, और अपनी विद्याओं की सहायता से वहां की बंदिनी कन्याओं को छुड़ाया (सं० ८)। पांड्य देश से निकलकर नागकुमार आन्ध्रदेश के दन्तीपुर में आया और वहाँ की राजकन्या से विवाह किया। फिर उसकी भेंट मुनि पिहिताश्रव से हुई जिनके मुख से उसने अपने व अपनी प्रिय पत्नी लक्ष्मीमति के पूर्वभव की कथा तथा

श्रुतपंचमी व्रत के उपवास के फल का वर्णन सुना। इसी समय उसके पिता का मंत्री नयैश्वर उसे लेने आया। उसके भ्राता श्रीधर ने दीक्षा ले ली थी। माता-पिता भी नागकुमार को राजा बनाकर दीक्षित हो गये। नागकुमार ने दीर्घकाल तक राज्य किया। अन्त में अपने पुत्र देवकुमार को राज्य देकर उसने ब्याल आदि सुभटों सहित दिगम्बरी दीक्षा ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया (सं० ९)। पुष्पदंत ने इस जटिल कथानक को नाना वर्णनों, विविध छंद-प्रयोगों एवं रसों और भावों के चित्रणों सहित अत्यन्त रोचक बनाकर उपस्थित किया है। (कारंजा, १९३३)

भविष्यत्-कथा (भविष्यदत्त कथा) के कर्त्ता जनपाल वैश्य जाति के धक्कड़ वंश में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम माएसर (महेस्वर ?) और माता का नाम जनश्री था। इनके समय का निश्चय नहीं, किन्तु दसवीं शती अनुमान किया जाता है। यह कथा २२ संक्षियों में विभाजित है। चरित्रनायक भविष्यदत्त एक वणिक् पुत्र है। वह अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के साथ व्यापार हेतु परदेश जाता है, धन कमाता है, और विवाह भी कर लेता है। किन्तु उसका सौतेला भाई उसे बार-बार धोखा देकर दुःख पहुंचाता है; यहां तक कि उसे एक द्वीप में अकेला छोड़कर उसकी पत्नी के साथ घर लौट आता है, और उससे विवाह करना चाहता है। किन्तु इसी बीच भविष्यदत्त भी एक यक्ष की सहायता से घर लौट आता है, अपना अधिकार प्राप्त करता, और राजा को प्रसन्न कर राजकन्या से विवाह करता है। अन्त में मुनि के द्वारा धर्मोपदेश व अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर, विरक्त हो, पुत्र को राज्य दे, मुनि हो जाता है। यह कथानक भी श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रकट करने के लिये लिखा गया है। ग्रन्थ के अनेक प्रकरण बड़े सुन्दर और रोचक हैं। बालक्रीड़ा, समुद्र-यात्रा, नौका-भंग, उजाड़ नगर, विमान-यात्रा, आदि वर्णन पढ़ने योग्य हैं। कवि के समय में विमान हों या न हों, किन्तु उसने विमान का वर्णन बहुत सजीव रूप में किया है। (गायकवाड़ औरि. सीरीज, बड़ौदा)

करकंडचरिउ के कर्त्ता मुनि कनकधर ने अपना स्वयं परिचय दिया है कि वे द्विजवंशी व चन्द्रवि गोत्रीय थे। वे वैराग्य से दिगम्बर हो गये थे, उनके गुरु का नाम बुध मंगलदेव था, तथा उन्होंने आसाई नगरी में एक राजमंत्री के अनुराग से यह चरित्र लिखा। राजमंत्री के विषय में उन्होंने यह भी कहा है कि वह विजयपाल नराधिप का स्नेहभाजन, नृपभूपाल या निजभूपाल का मनमोहक व कर्णनरेन्द्र का आशयराजक था, उसके आहुल, रत्न और राहुल, ये तीन पुत्र भी मुनिके चरणोंके भक्त थे। सम्भवतः मुनि द्वारा उल्लिखित कर्ण उस नामका कलचुरि वंशीय राजा व विजयपाल

उसका सम-सामयिक चंदेल वंशीय राजा था। तदनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल १०५० ई० के लगभग सिद्ध होता है। कवि ने जो स्वयम्भू और पुष्पदंत का उल्लेख किया है, उससे उनका ई० सन् ६६५ के पश्चात् होना निश्चित है। यह रचना १० संधियों में पूर्ण हुई है। कथानायक करकंड जैन व बौद्ध परम्परा में एक प्रत्येकबुद्ध माने गये हैं। वे अंग देश में चंपानगरी के राजा घाड़ीवाहन और रानी पद्मावती के पुत्र थे, किन्तु एक दुष्ट हाथी द्वारा रानी के अपहरण के कारण उनका जन्म दंतीपुर के समीप श्मशान-भूमि में हुआ था। उसका परिपालन व शिक्षण एक मातंग के द्वारा हुआ। दन्तीपुर के राजा के मरने पर दैवयोग से वह वहाँ का राजा बनाया गया। चंपा से राजा घाड़ीवाहन ने उसके पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा, जिसे ठुकरा कर उसने चंपापुर पर आक्रमण किया। पिता-पुत्र के बीच जब घमासान युद्ध हो रहा था, तब उसकी माता पद्मावती ने प्रकट होकर युद्ध का निवारण और पिता-पुत्र की पहचान कराई। अब करकंडू चंपापुर का राजा बन गया। उसने दक्षिण के चोड़, चेर व पांड्य देशों की विजय के लिये यात्रा की। मार्ग में तेरापुर के समीप की पहाड़ी पर एक प्राचीन जैन गुफा का पता लगाया व एक दो नये लयण बनवाये। फिर उन्होंने सिंहल द्वीप तक विजय की, और नाना राजकुमारियों से विवाह किया। अंत में शीलगुप्त मुनि से धर्म श्रवण कर, तपस्या धारण की, और मोक्ष प्राप्त किया। इस कथानक में अनेक छोटी-छोटी उपकथाएं करकंडु के शिक्षण के लिये मातंग द्वारा सुनाई गई हैं। तीन अवान्तर कथाएं इतनी बड़ी बड़ी हैं कि वे पूर्ण एक एक संधि को घेरे हुए हैं। पांचवीं संधि में तेरापुर की प्राचीन गुफा बनने व पहाड़ी पर जिनमूर्ति के स्थापित किये जाने का वृत्तान्त है। छठी संधि में करकंड की प्रिय पत्नी मदनावली का एक दुष्ट हाथी द्वारा अपहरण होने पर उनकी वियोग-पीड़ा के निवारणार्थ राजा नरवाहनदत्त का आख्यान कहा गया है, एवं आठवीं संधि में करकंड की पत्नी रतिवेगा को उसके पतिवियोग में संबोधन के लिये देवी द्वारा श्रिरदमन और रत्नलेखा के वियोग और पुनिर्मिलन का आख्यान सुनाया गया है। ग्रन्थ में श्मशान का, गंगानदी का, प्राचीन जिनमूर्ति के भूमि से निकलने का एवं रतिवेगा के विलाप आदि का वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है। (कारंजा, १९३४)

पउमसिरि-चरिउ (पद्मश्री चरित) के कर्ता बाहिस ने अपने विषय में इतना बतलाया है कि उनके पिता का नाम पार्श्व व माता का महासती सूरार्ह (सूरदेवी?) था, और वे शिशुपाल काव्य के कर्ता माघ के वंश में उत्पन्न हुए थे। समय का निश्चय नहीं, किन्तु इस कृति की जो एक प्राचीन प्रति बि० सं० ११६१ की मिली है, उससे

इस रचना की उत्तरावधि भी निश्चित हो जाती है। यह रचना चार संक्षियों में पूर्ण हुई है। नायिका पदमश्री अपने पूर्व जन्म में एक सेठ की पुत्री थी, जो बाल विधवा होकर अपना जीवन अपने दो भाइयों और उनकी पत्नियों के बीच एक और ईर्ष्या और सन्ताप, तथा दूसरी ओर धर्मसाधना में बिताती रही। दूसरे जन्म में पूर्व पुण्य के फल से वह राजकुमारी हुई। किन्तु जो पापकर्म शेष रहा था, उसके फलस्वरूप उसे पति द्वारा परित्याग का दुःख भोगना पड़ा। तथापि संयम और तपस्या के बल से अन्त में उसने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया। काव्य में देशों व नगरों का वर्णन, हृदय की दाह का चित्रण, सन्ध्या व चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक वर्णन बहुत सुन्दर हैं। (सिखी जैन सीरोज, बम्बई)

सणकुमार-चरित (सन्तकुमार चरित) के कर्ता हरिभद्र श्रीचन्द्र के शिष्य व जिनचन्द्र के प्रशिष्य थे, और उन्होंने अपने रोमिणाह-चरित की रचना क्रि० सं० १२१६ में समाप्त की थी। प्रस्तुत रचना उसी के ४४३ से ७८५ तक के ३४३ रङ्गा छंदात्मक पद्यों का काव्य है, जो पृथक् रूप से सुसंपादित और प्रकाशित हुआ है। कथानायक सन्तकुमार गजपुर नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। वे एक बार मदनोत्सव के समय वेगवान् अश्व पर सवार होकर विदेश में जा भटके। राजधानी में हाहाकार मच गया। उनके मित्र खोज में निकले और मानसरोवर पर पहुंचे। वहां एक किन्नरी के मुख से अपने मित्र का गुणगान सुनकर उन्होंने उनका पता लगा लिया। इसी बीच सन्तकुमार ने अनेक सुन्दर कन्याओं से विवाह कर लिया था। मित्र के मुख से माता पिता के शोक-सन्ताप का समाचार पाकर वे गजपुर लौट आये। पिता ने उन्हें राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। सन्तकुमार ने अपने पराक्रम और विजय द्वारा चक्रवर्तीपद प्राप्त किया व अन्त में तपस्या धारण कर ली। इसी सामान्य कथानक को कर्ता ने अपनी काव्य-प्रतिभा द्वारा खूब चमकाया है। यहां ऋतुओं आदि का वर्णन बहुत अच्छा हुआ है। (डॉ. जैकोबी द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, जर्मनी)

इन प्रकाशित चरित्रों के अतिरिक्त अनेक अपभ्रंश चरित अन्य हस्तलिखित प्रतियों के रूप में नाना जैन शास्त्रभंडारों में सुरक्षित पाये जाते हैं, और संपादन प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं। इनमें कुछ विशेष रचनाएं इसप्रकार हैं। वीर कृत बंजस्वामि-चरित (वि० सं० १०७६), नयनंदि कृत 'सुदंश-चरित' (वि० सं० ११००), श्रीधर कृत सुकुमार-चरित (वि० सं० १२०८), देवसेन गरिण कृत सुलोचना-चरित, सिंह (या सिद्ध) कृत पञ्चगुण-चरित (१२वीं-१३वींशती), लक्ष्मणकृत जिनवत्त-चरित (वि० सं० १२७५), धनपाल कृत बाहुबलि-चरित (वि० सं० १४५४), रघु कृत

सुकोशल-चरित, भद्रकुमार-चरित, मेहेसर-चरित और श्रीपाल-चरित (१५ वीं शती), नरसेन कृत सिरिपाल-चरित (व० सं० १५७६) व प्लायकुमार च० (वि० सं० १५७६), तथा भगवतीदास कृत ससिलेहा या भृगांकलेखा-चरित (वि० सं० १७००) उल्लेखनीय हैं। हरिदेव कृत मयण-वराचय और जिनप्रभसूरि कृत मोहराज-विजय ऐसी कविताएं हैं, जिनमें तप, संयम आदि भावों को मूर्तिमान् पात्रों का रूप देकर मोहराज और जिनराज के बीच युद्ध का चित्रण किया गया है।

अपभ्रंश लघुकथाएं—

जैसा पहले कहा जा चुका है, ये चरित्र-काव्य किसी न किसी जैन व्रत के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखे गये हैं। इसी उद्देश्य से अनेक लघु कथाएं भी लिखी गई हैं। विशेष लघुकथा-लेखक और उनकी रचनाएं ये हैं:—नयनंदि कृत 'सकलविजिबिधानकहा' (वि० सं० ११००), श्रीचन्द्र कृत कथाकोष और रत्नकरंड-शास्त्र (वि० सं० ११२३), अमरकीर्ति कृत छक्कम्मोवएसु (वि० सं० १२४७), लक्ष्मण कृत अणुवय-रमण-पईड (वि० सं० १३१३), तथा रघू कृत पुण्यासवकहाकोसो (१५ वीं शती)। इनके अतिरिक्त अनेक व्रतकथाएं स्फुट रूप से भी मिलती हैं : जैसे बालचन्द्र कृत सुगंधदहमीकहा एवं गिहहसतमीकहा, विनयचन्द्र कृत गिणभर-पंचमी कहा, यशःकीर्ति कृत जिणरत्तिविहाणकहा व रविप्रत्तकहा, तथा अमरकीर्ति कृत पुरंदरविहाणकहा, इत्यादि। इनमें से कुछ, जैसे विनयचन्द्र कृत गिणभर-पंचमी-कहा, अपभ्रंश में गीतिकाव्य के बद्ध सरस और सुन्दर उदाहरण है।

एक अन्य प्रकार की अपभ्रंश कथाएं भी उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र ने प्राकृत में भूतारख्यान नामसे जो कथाएं लिखी हैं, उनमें अनेक पौराणिक अतिरंजित बातों पर व्यंगात्मक आख्यान लिखे हैं। इसके अनुकरण पर अपभ्रंश में हरिवेण ने बम्मपरिक्खा नामक ग्रन्थ ११ संघियों में लिखा है, जिसकी रचना वि० सं० १०४४ में हुई है। इसी के अनुसार श्रुतकीर्ति ने भी बम्मपरिक्खा नामक रचना १५ वीं शती में की।

प्रथमानुयोग-संस्कृत—

जिसप्रकार प्राकृत में कथात्मक साहित्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है, उसीप्रकार संस्कृत में भी पाया जाता है। रविवेण कृत पद्मचरित की रचना स्वयं ग्रन्थ के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण के १२०३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् ६७६ में हुई। यह ग्रन्थ विमलसूरि कृत 'पठमचरियं' को सम्मुख रखकर रचा गया प्रतीत होता

है। इसकी रचना प्रायः अनुष्टुप् श्लोकों में हुई है। विषय और वर्णन प्रायः ज्यों का त्यों अध्याय-प्रतिअध्याय और बहुतायत से पद्य-प्रतिपद्य मिलता जाता है। हां, वर्णन-विस्तार कहीं कहीं पद्मचरित में अधिक दिखाई देता है, जिससे उसका प्रमाण प्राकृत पद्मचरियं से ड्यौढ़े से भी अधिक हो गया है। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

पद्मचरित के पश्चात् संस्कृत में दूसरी पौराणिक रचना जिनसेन कृत हरिवंश पुराण है, जो शक सं० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ में समाप्त हुई थी, जबकि उत्तर भारत में इन्द्रायुध, दक्षिण में कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व में अवन्ति नृप तथा पश्चिम में वत्सराज, एवं सौरमंडल में वीरवराह राजाओं का राज्य था। इसमें ६६ सर्ग हैं, जिनका कुल प्रमाण १२००० श्लोक है। यहां भी सामान्यतः अनुष्टुप् छंद का प्रयोग हुआ है। किन्तु कुछ सर्गों के अन्त में द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, शार्दूल-विक्रीडित आदि छंदों का प्रयोग भी हुआ है। ग्रन्थ का मुख्य विषय हरिवंश में उत्पन्न हुए २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करना है। किन्तु इसके प्रस्तावना रूप से ग्रन्थमें अन्य सभी शलाका पुरुषों का कीर्तन किया गया है, तथा त्रैलोक्य व जीवादि द्रव्यों का वर्णन भी आया है। हरिवंश की एक शाखा यादवों की थी। इस वंश में शीरीपुर के एक राजा वसुदेव की रोहिणी और देवकी नामक दो पत्नियों से क्रमशः बलदेव और कृष्ण का जन्म हुआ। वसुदेव के आता समुद्रविजय की शिवा नामक भार्या ने अरिष्टनेमि को जन्म दिया। युवक होने पर इनका विवाह-सम्बन्ध राजीमती नामक कन्या से निश्चित हुआ। विवाह के समय यादवों के मास भोजन के लिये एकत्र किये गये पशुओं को देखकर करुणा से नेमिनाथ का हृदय बिह्वल और संसार से विरक्त हो गया, और बिना विवाह कराये ही उन्होंने प्रवृज्या धारण कर ली। ये ही केवलज्ञान प्राप्त करके २२ वें तीर्थंकर हुए। प्रसंगवश कौरवों और पाण्डवों का, तथा बलराम और कृष्ण के वंशजों का भी वृत्तान्त आया है। ग्रंथ में वसुदेव के भ्रमण का वृत्तान्त विस्तार से आया है, जो वसुदेव-हिंडी का स्मरण कराता है। किन्तु नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन इससे पूर्व अन्यत्र कहीं स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में दिखाई नहीं देता। उत्तराध्ययन सूत्र के 'रहनेमिज्जं' नामक २२ वें अध्यायन में अवश्य यह चरित्र वर्णित पाया जाता है, किन्तु वह अति संक्षिप्त केवल ४६ गाथाओं में है। विमलसूरि कृत पद्मचरियं के परिचय में ऊपर कहा जा चुका है कि सम्भवतः उसी ग्रंथकार की एक रचना 'हरिवंश चरित्र' भी थी, जो अब अप्राप्य है। यदि वह रही हो तो प्रस्तुत रचना उस पर आधारित अनुमान की जा सकती है। ग्रंथ में जो आरुद्ध और वसन्तसेना का

वृत्तान्त विस्तार से आया है, आश्चर्य नहीं, वही मृच्छकटिक नाटक का आधार रहा हो। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

सकलकीर्ति (वि० सं० १४५०-१५१०) कृत हरिवंश पुराण ३९ सर्गों में समाप्त हुआ है। इसके १५ से अन्त तक के सर्ग उनके शिष्य जिनदास द्वारा लिखे गये हैं। इसमें रविषेण और जिनसेन का उल्लेख है, और उन्हीं की कृतियों के आधार से यह ग्रंथ-रचना हुई प्रतीत होती है। शुभचन्द्र कृत पाण्डवपुराण (१५५१ ई०) जैन महाभारत भी कहलाता है, और उसमें जिनसेन व गुणभद्र कृत पुराणों के आधार से कथा वर्णन की गई है।

मलघारी देवप्रभसूरि कृत पाण्डव-चरित्र (ई० १२०० के लगभग) में १८ सर्ग हैं, और उनमें महाभारत के १८ पर्वों का कथानक संक्षेप में वर्णित है। छठे सर्ग में द्यूत-क्रीडा का वर्णन है, और यहां विदुर द्वारा द्यूत के दुष्परिणाम के उदाहरण रूप नल-कूबर (नल-दमयन्ती) की कथा कही गई है। कूबर नल का भाई था। १६ वें सर्ग में अरिष्टनेमि तीर्थंकर का चरित्र आया है, और १८वें में उनके व पाण्डवों के निर्वाण तथा बलदेव के स्वर्ग-गमन का वृत्तान्त है। इस पुराण का गद्यात्मक रूपान्तर राजविजय सूरि के शिष्य देवविजय गणी (१६०३ ई०) कृत पाया जाता है। इसमें यज्ञ-तज्ञ देवप्रभ की कृति से तथा अन्यत्र से कुछ पद्य भी उद्धृत किये गये हैं।

संस्कृत में तीसरी महत्वपूर्ण पौराणिक रचना महापुराण है। इसके दो भाग हैं—एक आदिपुराण और दूसरा उत्तरपुराण। आदिपुराण में ४७ पर्व या अध्याय हैं, जो समस्त १२००० श्लोक प्रमाण हैं। इनमें के ४२ पर्व और ४३ वें पर्व का कुछ भाग जिनसेन कृत है, और शेष आदि पुराण तथा उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र द्वारा की गई है। यह समस्त रचना शक संवत् ८२० से पूर्व समाप्त हो चुकी थी। आदिपुराण की उत्थानिका में पूर्वगामी सिद्धसेन, समन्तभद्र, श्रीदत्त, प्रभाचन्द्र, शिवकोटि, जटाचार्य, काणभिक्षु, देव (देवमंदि पूज्यपाद) भट्टकालंक, श्रीपाल, पात्रकेसरि, बादीभसिंह, वीरसेन, जयसेन और कवि परमेश्वर, इन आचार्यों की स्तुति की गई है। गुणादय कृत बृहत्कथा का भी उल्लेख आया है। अदिपुराण पूरा ही प्रथम तीर्थंकर आदि-नाथ के चरित्र-वर्णन में ही समाप्त हो गया है। इसमें समस्त वर्णन बड़े विस्तार से हुए हैं, तथा भाषा और शैली के सौष्ठव एवं अलंकारादि काव्य गुणों से परिपूर्ण हैं। जैनधर्म संबंधी प्रायः समस्त जानकारी यहां निबद्ध कर दी गई है, जिसके कारण ग्रंथ एक ज्ञानकोष ही बन गया है। शेष तेईस तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषों का चरित्र उत्तरपुराण में अपेक्षाकृत संक्षेप से वर्णित है। इस प्रकार सर्वप्रथम

इस ग्रंथ में त्रैलोक्यशालाका पुरुषों का चरित्र विविधत् एक साथ वर्णित पाया जाता है । उत्तर पुराण के ६८ वें पर्व में राम का चरित्र आया है, जो विमलसूरि कृत पउमचरित्र के वर्णन से बहुत बातों में भिन्न है । उत्तरपुराण के अनुसार राजा दशरथ काशी देश में वाराणसी के राजा थे, और वहीं राम का जन्म रानी सुबाला से तथा लक्ष्मण का जन्म कैंकैयी के गर्भ से हुआ था । सीता मंदोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी, किन्तु उसे अनिष्टकारिणी जान रावण ने मंजूषा में रख कर मरीचि के द्वारा मिथिला में जमीन के भीतर गड़वा दिया, जहाँ से वह जनक को प्राप्त हुई । दशरथ ने पीछे अपनी राजधानी अयोध्या में स्थापित कर ली थी । जनक ने यज्ञ में निमंत्रित करके राम के साथ सीता का विवाह कर दिया । राम के बनवास का यहाँ कोई उल्लेख नहीं । राम अपने पूर्व पुरुषों की भूमि बनारस को देखने के लिये सीता सहित वहाँ आये, और वहाँ के चित्रकूट वन से रावण ने सीता का अपहरण किया । यहाँ सीता के आठ पुत्रों का उल्लेख है, किन्तु उनमें लव-कुश का कहीं नाम नहीं । लक्ष्मण एक असाध्य रोग से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए, तब राम ने उन्हीं के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजा तथा अपने पुत्र अजितजय को युवराज बनाकर सीतासहित जिन दीक्षा धारण कर ली । इसप्रकार इस कथा का स्रोत पउमचरित्र से सर्वथा भिन्न पाया जाता है । इसकी कुछ बातें बौद्ध व वैदिक परम्परा की रामकथाओं से मेल खाती हैं; जैसे पालि की दशरथ जातक में भी दशरथ को वाराणसी का राजा कहा गया है । अद्भुत रामायण के अनुसार भी सीता का जन्म मंदोदरी के गर्भ से हुआ था । किन्तु यह गर्भ उसे रावण की अनुपस्थिति में उत्पन्न होने के कारण, छुपाने के लिये वह विमान में बैठकर कुक्षेत्र गई, और उस गर्भ को वहाँ जमीन में गड़वा दिया । वहीं से वह जनक को प्राप्त हुई । उत्तरपुराण की अन्य विशेष बातों के स्रोतों का पता लगाना कठिन है । इस रचना में संभव जितने महापुरुषों के नाम वैदिक पुराणों के अनुसार ही हैं, और नाना संस्कारों की व्यवस्था पर भी उस परम्परा की छाप स्पष्ट दिखाई देती है । जयध्वला की प्रशस्ति में जिनसेन ने अपना बड़ा सुन्दर वर्णन दिया है । उनका कर्ण-छेदन ज्ञान की शलाका से हुआ था । वे शरीर से क्रुश थे, किन्तु तप से नहीं । वे आकार से बहुत सुन्दर नहीं थे, तो भी सरस्वती उनके पीछे पड़ी थीं, जैसे उसे अन्यत्र कहीं आश्रय न मिलता हो । उनका सभय निरन्तर ज्ञान की आराधना में व्यतीत होता था, और तत्त्वदर्शी उन्हें ज्ञान का पिंड कहते थे । इत्यादि । (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, से प्रकाशित)

इसके पश्चात् हेमचन्द्र द्वारा त्रिचण्डिकाशलाका-पुरुष-चरित नामक पुराण-काव्य

की रचना हुई। यह गुजरात नरेश कुमारपाल की प्रार्थना से लिखा गया था, और ई० सन् ११६० व ११७२ के बीच पूर्ण हुआ। इसमें दस पर्व हैं, जिनमें उक्त चौबीस तीर्थंकरादि त्रैसठ महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के सातवें पर्व में राम-कथा वर्णित है, जिसमें प्राकृत 'पउमचरियं' तथा संस्कृत पद्मपुराण का अनुसरण किया गया है। दसवें पर्व में महावीर तीर्थंकर का जीवन चरित्र वर्णित है, जो स्वतंत्र प्रतियों के रूप में भी पाया जाता है। इसमें सामान्यतः आचारांग व कल्पसूत्र में वर्णित वृत्तान्त समाविष्ट किया गया है। हां, मूल घटनाओं का विस्तार व काव्यत्व हेमचन्द्र का अपना है। यहां महावीर [के मुख से वीर निर्वाण से १६६६ वर्ष पश्चात् होनेवाले आदर्श नरेश कुमारपाल के संबंध की भविष्य वाणी कराई गई है। इसमें राजा श्रेणिक, युवराज अभय एवं रोहिण्य चोर आदि की उपकथाएं भी अनेक आई हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम भाग परिशिष्ट पर्व यथार्थतः एक स्वतंत्र ही रचना है, और वह ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। इसमें महावीर के पश्चात् उनके केवली शिष्यों तथा दशपूर्वी आचार्यों की परम्परा पाई जाती है। इस भाग को 'स्थविरावली चरित' भी कहते हैं। यह केवल आचार्यों की नामावली मात्र नहीं है, किन्तु यहाँ उनसे संबद्ध नाना लम्बी लम्बी कथाएं भी कही गई हैं, जो उनसे पूर्व आगमों की निर्युक्ति, भाष्य, चरित्र आदि टीकाओं से, और कुछ सम्भवतः मौखिक परम्परा पर से संकलित की गई हैं। इनमें स्थूलभद्र और कोषा वेश्या का उपाख्यान, कुवेरसेना नामक गणिका के कुवेरदत्त और कुवेरदत्ता नामक पुत्र-पुत्रियों में परस्पर प्रेम की कथा, आर्य स्वयम्भव द्वारा अपने पुत्र मनक के लिये दशवैकालिक सूत्र की रचना का वृत्तान्त, तथा आगम के संकलन से संबंध रखनेवाले उपाख्यान, नंद राजवंश संबंधी कथानक, एवं चारणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा उस राजवंश के मूलोच्छेद का वृत्तान्त आदि अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ग्रन्थकर्ता ने अपने इस पुराण को महाकाव्य कहा है। यद्यपि रचना का बहुभाग कथात्मक है, और पुराणों की स्वाभाविक सरल शैली का अनुसरण करता है, तथापि उसमें अनेक स्थलों पर रस, भाव व अलंकारों का ऐसा समावेश है, जिससे उसका महाकाव्य पद भी प्रमाणित होता है।

तेरहवीं शती में मालवा के सुप्रसिद्ध लेखक पंडित आशाधर कृत 'त्रिषष्टि-स्मृति-शास्त्र' में भी उपर्युक्त ६३ शलाका पुरुषों का चरित्र अपेक्षाकृत संक्षेप से वर्णन किया गया है, जिसमें प्रधानतः जिनसेन और गुणभद्र कृत महापुराण का अनुसरण पाया जाता है।

वायडगच्छीय जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत चतुर्विंशति-जिनचरित

(१३ वीं शती) में १८०२ श्लोक २४ अध्यायों में विभाजित है, और उनमें क्रमशः २४ तीर्थकारों का चरित्र वर्णन किया गया है। अमरचन्द्र की एक और रचना बालभारत भी है (प्र० बम्बई, १६२६) ।

मेरुतुंग कृत महापुराण-चरित के पांच सर्गों में ऋषभ, शांति, नेमि, पाश्र्व और वर्द्धमान, इन पांच तीर्थकारों का चरित्र वर्णित है। इस पर एक टीका भी है, जो सम्भवतः स्वोपज्ञ है और उसमें उक्त कृति को 'काव्योपवेश शतक' व 'धर्मोपवेश शतक' भी कहा गया है। मेरुतुंग की एक अन्य रचना प्रबन्ध-विन्तामणि १३०६ ई० में पूर्ण हुई थी, अतएव वर्तमान रचना भी उसी समय के आसपास लिखी गई होगी। पद्मसुन्दर कृत रायमल्लाम्युदय (वि० सं० १६१५) अकबर के काल में चौधरी रायमल्ल की प्रेरणा से लिखा गया है, और उसमें २४ तीर्थकारों का चरित्र वर्णित है। एक दामनान्दि कृत पुराणसार-संग्रह भी अभी दो भागों में प्रकाशित हुआ है, जिसमें शालाका पुरुषों का चरित्र अतिसंक्षेप में संस्कृत पद्यों में कहा गया है। तीर्थकारों के जीवन-चरित संबंधी कुछ पृथक्-पृथक् संस्कृत काव्य इस प्रकार हैं :—प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ का जीवनचरित्र चतुर्विंशति-जिनचरित के कर्ता अमरचन्द्र ने अपने पद्मानंद काव्य में १६ सर्गों में लिखा है। काव्य को उक्त नाम देने का कारण यह है कि वह पद्म नामक मंत्री की प्रार्थना से लिखा गया था। काव्य में कुल ६२८१ श्लोक हैं। (प्र० बड़ौदा, १६३२) आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पर वीरनंदि, बासुपूज्य पर वर्द्धमान सूरि, और विमलनाथ पर कृष्णदास रचित काव्य मिलते हैं। १५ वें तीर्थंकर धर्मनाथ पर हरिचन्द्र कृत 'धर्मशर्मान्युदय' एक उत्कृष्ट संस्कृत काव्य है, जो सुप्रसिद्ध संस्कृत काव्य माघकृत 'शिशुपाल वध' का अनुकरण करता प्रतीत होता है, तथा उस पर प्राकृत काव्य 'गडडवहो' एवं संस्कृत 'नैषधीय चरित' का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह रचना ११ वीं-१२ वीं शती की अनुमान की जाती है। १६ वें तीर्थंकर क्षान्तिनाथ का चरित्र असग कृत (१० वीं शती), देवसूरि (१२८२ ई०) के प्रशिष्य अजितप्रभ कृत, मारिकयचंद्र कृत (१३ वीं शती) सकलकीर्ति कृत (१५ वीं शती), तथा श्रीभूषण कृत (वि० सं० १६५६) उपलब्ध हैं। विनयचन्द्र कृत मल्लिनाथ चरित ४००० से अधिक श्लोकप्रमाण पाया जाता है। २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र सूर्याचार्य कृत (११ वीं शती) और मलघारी हेमचंद्र कृत (१३ वीं शती) पाये जाते हैं। वाग्भट्ट कृत नेमि-निर्वाण काव्य (१२ वीं शती) एक उत्कृष्ट रचना है, जो १५ सर्गों में समाप्त हुई है। संगन के पुत्र विक्रम कृत नेमिभूतकाव्य एक विशेष कलाकृति है, जिसमें राजीमती के विलाप का वर्णन किया

गया है। यह एक समस्यापूर्ति काव्य है, जिसमें कालिदास कृत मेघदूत की पंक्तियाँ प्रत्येक पद्य के अन्तचरण में निबद्ध कर ली गई हैं। पार्ष्वनाथ पर प्राचीन संस्कृत काव्य जिनसेन कृत (१ वीं शती) पार्ष्वान्मुद्रण है। इसमें उत्तम काव्य रीति से समस्त मेघदूत के एक-एक या दो-दो चरण प्रत्येक पद्य में समाविष्ट कर लिये गये हैं। पार्ष्वनाथ का पूर्ण चरित्र वादिराजकृत (१०२५ ई०) पार्ष्वनाथ चरित में पाया जाता है। इसी चरित्र पर १३ वीं व १४ वीं शती में दो काव्य लिखे गये, एक माणिक्यचन्द्र द्वारा (१२१६ ई०) और दूसरा भावदेव सूरि द्वारा (१३५५ ई०)। भावदेव कृत चरित का अनुवाद अंग्रेजी में भी हुआ है। १५ वीं शती में सकलकीर्ति ने व १६ वीं शती में पद्मसुन्दर और हेमविजय ने संस्कृत में पार्ष्वनाथ चरित्र बनाये। १६ वी शती में ही श्रीभूषण के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने पार्ष्वपुराण की रचना की। विनयचन्द्र और उदयवीरगणी कृत पार्ष्वनाथ चरित्र मिलते हैं। इनमें से उदयवीर की रचना संस्कृत गद्य में हुई है। महावीर के चरित्र पर १८ सर्गों का सुन्दर संस्कृत काव्य वर्धमान चरित्र (शक ६१०) असग कृत पाया जाता है। गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में तथा हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टि शलाका पुरुष च० के दशवे पर्व में जो महावीर चरित्र वर्णित है, वह स्वतंत्र प्रतियों में भी पाया और पढ़ा जाता है। सकलकीर्ति कृत वर्धमान पुराण (वि० सं० १५१८) १६ सर्गों में है। पद्मनन्दि, केशव और वाणीवल्लभ कृत वर्धमान पुराण भी पाये जाते हैं।

जैन तीर्थंकरों के उपर्युक्त चरित्रों में से अधिकांश संस्कृत महाकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी विषयात्मक रूप-रेखा का विवरण उनके प्राकृत चरित्रों के प्रकरण में दिया जा चुका है। भाव और शैली में वे उन सब गुणों से संयुक्त पाये जाते हैं, जो कालिदास, भारवि, माघ, आदि महाकवियों की कृतियों में पाये जाते हैं, तथा जिनका निरूपण काव्यादर्श आदि साहित्य-शास्त्रों में किया गया है; जैसे, उनका सर्ग-बन्ध होना, आशीः, नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश पूर्वक उनका प्रारम्भ किया जाना, तथा उनमें नगर, वन, पर्वत, नदियों तथा ऋतुओं आदि प्राकृतिक वृत्तों के वर्णन, जन्म विवाहादि सामाजिक उत्सवों एवं रसों, शृंगारात्मक हाव, भाव, विलासों; तथा संपत्ति-विपत्ति में व्यक्ति के सुख-दुःखों के चढ़ाव-उतार का कलात्मक हृदयग्राही चित्रण का समावेश किया जाना। विशेषता इन काव्यों में इतनी और है कि उनमें यथास्थान धार्मिक उपदेश का भी समावेश किया गया है। तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त नाना ग्रन्थ सामाजिक महापुरुषों व स्त्रियों को चरित्र-चित्रण के नायक-नायिका बनाकर व यथासंभव भाषा, शैली व भावों में काव्यत्व की रक्षा करते हुए जो अनेक

रचनायें जैन साहित्य में पाई जाती हैं, वे कुछ पूर्णरूप से पद्यात्मक हैं, कुछ गद्य और पद्य दोनों के उपयोग सहित चम्पू की शैली के हैं, और कुछ बहुलता से गद्यात्मक हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

सोमदेव सूरि कृत यशस्तिलक चम्पू (शक ८८१) उत्कृष्ट संस्कृत गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसका कथानक गुरुभद्र कृत उत्तरपुराण से लिया गया है, और पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश-जसहर चरित के परिचय में दिया जा चुका है। अन्तिम तीन अध्यायों में गृहस्थ धर्म का सविस्तर निरूपण है, और उपासकाध्ययन के नाम से एक स्वतन्त्र रचना बन गई है। इसी कथानक पर वादिराज सूरि कृत यशोधर चरित (१०वीं शती) चार सर्गात्मक काव्य, तथा वासवसेन (१३वीं शती) सकलकीर्ति (१४वीं शती) सोमकीर्ति (१५वीं शती) और पद्मनाभ (१६-१७वीं शती) कृत काव्य पाये जाते हैं। मारिण्यसूरि (१४वीं शती) ने भी यशोधर-चरित संस्कृत पद्य में रचा है, और अपनी कथा का आधार हरिभद्र कृत कथा को बतलाया है। क्षमाकल्याण ने यशोधर-चरित की कथा को संस्कृत गद्य में संवत् १८३६ में लिखा और स्पष्ट कहा है कि यद्यपि इस चारित्र्य को हरिभद्र मुनीन्द्र ने प्राकृत में तथा दूसरों ने संस्कृत पद्य में लिखा है, किन्तु उनमें जो विषमत्व है, वह न रहे; इसलिये मैं यह रचना गद्य में करता हूँ। हरिभद्र कृत प्राकृत यशोधर चरित के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि कर्ता के सम्मुख वह रचना थी, किन्तु आज वह अनुपलब्ध है। हरिचन्द्र कृत जीर्णचर चम्पू (१५वीं शती) में वही कथा काव्यात्मक संस्कृत गद्य-पद्य में वर्णित है, जो गुरुभद्र कृत उत्तरपुराण (पर्व ७५), पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश पुराण (संधि ६८), तथा ओडेयदेव वादीभसिंह कृत गद्यचिन्तामणि एवं वादीभसिंह कृत क्षत्रचूडामणि में पाई जाती है। इस अन्तिम काव्य के अनेक श्लोक प्रस्तुत रचना में प्रायः ज्यों के त्यों भी पाये जाते हैं। अन्य बातों में भी इस पर उसकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि के कर्ता दोनों वादीभसिंह एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न, यह अभी तक निश्चयतः नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में कुछ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें कर्ता के नाम के साथ ओडेयदेव का व गुरुपुष्पसेन का उल्लेख नहीं है। रचनाशैली व शब्द-योजना भी दोनों ग्रंथों की भिन्न है। गद्यचिन्तामणि की भाषा भोजपुरी है; जबकि क्षत्र चूडामणि की बहुत सरल, प्रसादगुणयुक्त है; और प्रायः प्रत्येक श्लोक के अर्धभाग में कथानक और द्वितीयार्ध में नीति का उपदेश रहता है।

विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र कृत जीर्णचर-चरित्र (वि० सं० १५६६) प्रायः

जाता है। देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्रीचन्द्र सूरि कृत सनत्कुमार-चरित्र (वि० सं० १२१४) में उन्हीं चक्रवर्ती का चरित्र वर्णित है, जिनका उल्लेख उक्त नाम की प्राकृत रचना के सम्बन्ध में किया जा चुका है। इसी नाम का एक और संस्कृत काव्य जिनचन्द्र सूरि के शिष्य तथा जिनपतिसूरि के शिष्य जिनपाल कृत प्रकाश में आ चुका है। मलधारी देवप्रभ कृत मृगावती-चरित्र (१२वीं शती) संस्कृत पद्यात्मक रचना है और उसमें उदयन-वासवदत्ता का कथानक वर्णित है। मृगावती उदयन की माता, राजा चेटक की पुत्री थी, और महावीर तीर्थंकर की उपासिका थी। उसकी ननद जयन्ती ने तो महावीर से नाना प्रश्न किये थे और अन्त में प्रवृत्त्या ले ली थी। जिसका वृत्तान्त भगवती के १२ वें शतक के दूसरे उद्देश में पाया जाता है उक्त कथा के आशय से प्रस्तुत ग्रंथ में नाना उपकथाएँ वर्णित हैं। मलधारी देवप्रभ पाण्डव-चरित्र के भी कर्ता हैं। जिनपति के शिष्य पूर्णभद्र कृत धन्य-शालिभद्र चरित्र (वि० सं० १२८५) ६ परिच्छेदों व १४६० श्लोकों में समाप्त हुआ है। इस रचना में कवि की सर्वदेवसूरि ने सहायता की थी। इस काव्य में धन्य और शालिभद्र के चरित्रों का वर्णन किया गया है। धन्य-शालि चरित्र भद्रगुप्त कृत (वि० सं० १४२८), जिन-कीर्ति कृत (१५वीं शती) व दयावर्द्धन कृत (१५वी शती) भी पाये जाते हैं। धर्म-कुमार कृत शालिभद्र-चरित (१२७७ ई०) में ७ सर्ग हैं। कथानक हेमचन्द्र के महावीरचरित में से लिया गया है, और काव्य की रीति से छन्द व अलंकारों के वैशिष्ट्य सहित वर्णित है। लेखक की कृति को प्रद्युम्न सूरि ने संशोधित करके उसके काव्य-गुणों को और भी अधिक चमका दिया है। शालिभद्र महावीर तीर्थंकर के समय का राजगृह-निवासी घनी गृहस्थ था, जो प्रत्येक बुद्ध हुआ। चन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि कृत वसन्त-विलास (वि० सं० १२९६) १४ सर्गों में समाप्त हुआ है, और इसमें गुजरात नरेश बीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल का चरित्र वर्णन किया गया है (बड़ौदा, १९१७)। इसी के साथ श्रीतिलकसूरि के शिष्य राजशेखर कृत वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध भी प्रकाशित है। वस्तुपाल मन्त्री और उनके भ्राता तेजपाल ने धाबू के मन्दिर बनवा कर, तथा अन्य अनेक जैनधर्म के उत्थान सम्बन्धी कार्यों द्वारा अपना नाम जैन सम्प्रदाय में अमर बना लिया है। उक्त रचनाओं के द्वारा उनके चरित्र पर जयचन्द्र के शिष्य जिनहर्ष गणित कृत (वि० सं० १४९७, प्रका० भावनगर, १९७४) तथा वर्धमान, सिंहकवि, कीर्तिविजय आदि कृत रचनाएँ भी मिलती हैं। इनके अतिरिक्त उनकी संस्कृत प्रशस्तियाँ जयसिंह, बालचन्द्र, नरेन्द्रप्रभ आदि द्वारा रचित मिलती हैं।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य चन्द्रतिलक कृत **अमयकुमार-चरित्र** (वि० सं० १३१२) नी सर्गों में समाप्त हुआ है। कवि के उल्लेखानुसार उन्हें सूरप्रभ ने विद्यानन्द व्याकरण पढ़ाया था। (प्र० भावनगर, १९१७)।

सकलकीर्ति कृत **अमयकुमार-चरित्र** का भी उल्लेख मिलता है। धनप्रभ सूरि के शिष्य सर्वानन्द सूरि कृत **जगदु-चरित्र** (१३वीं शती) ७ सर्गों का काव्य है, जिसमें कुल ३८८ पद्य हैं। इस काव्य का विशेष महत्त्व यह है कि उसमें बीससदेव राजा का उल्लेख है, तथा वि० सं० १३१२-१५ के गुजरात के भीषण दुर्भिक्ष का वर्णन किया गया है। रचना उस काल के समीप ही निमित्त हुई प्रतीत होती है।

कृष्णहि गच्छीय महेन्द्रसूरि के शिष्य जयसिंहसूरि कृत (वि० सं० १४२२) **कुमारपाल-चरित्र** १० सर्गों में समाप्त हुआ है, और उसमें उन्हीं गुजरात के राजा कुमारपाल का चरित्र व धार्मिक कृत्यों का वर्णन किया गया है, जिन पर हेमचन्द्र ने अपना कुमारपाल चरित नामक द्वयाश्रय प्राकृत काव्य लिखा। संस्कृत में अन्य कुमारपाल चरित रत्नसिंह सूरि के शिष्य चारित्रसुन्दर गरिण कृत (वि० सं० १४८७), धनरत्नकृत (वि० सं० १५३७) तथा सोमबिमल कृत और सोमचन्द्र गरिण कृत भी पाये जाते हैं। मेरुतुंग के शिष्य मारिण्यसुन्दर कृत **महीपाल-चरित्र** (१५ वीं शती) एक १५ सर्गात्मक काव्य है जिसमें वीरदेवगरी कृत प्राकृत **महिपालकहा** के आधार पर उस ज्ञानी और कलाकुशल महीपाल का चरित्र वर्णन किया गया है, जिसने उज्जैनी से निर्वासित होकर नाना प्रदेशों में अपनी रत्न-परीक्षा, वस्त्र-परीक्षा व पुरुष-परीक्षा में निपुणता के चमत्कार दिखा कर धन और यश प्राप्त किया। वृत्तान्त रोचक और शैली सरल, सुन्दर और कलापूर्ण है।

भक्तिलाभ के शिष्य चारुचंद कृत **उत्तमकुमार-चरित्र** ६८६ पद्यों का काव्य है, जिसमें एक धार्मिक राजकुमार की नाना साहसपूर्ण घटनाओं और अनेक अवान्तर कथानकों का वर्णन है। इसके रचना-काल का निश्चय नहीं हो सका। इसी विषय की दो और पद्यात्मक रचनार्य मिलती हैं। एक सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जिनकीर्ति कृत और दुसरी सोमसुन्दर के प्रशिष्य व रत्नशेखर के शिष्य सोममंदन गरिण कृत। ये आचार्य तपागच्छ के थे। पट्टावली के अनुसार सोमसुन्दर को वि० सं० १४५७ में सूरिपद प्राप्त हुआ था। एक और इसी विषय की काव्यरचना शुभशीलगरी कृत पाई जाती है। चारुचन्द्र कृत **उत्तमकुमार-कथा** का एक गद्यात्मक रूपान्तर भी है। बेबर ने इसका सम्पादन व जर्मन भाषा में अनुवाद सन् १८८४ में किया है।

कृष्णहि गच्छ के जयसिंहसूरि की शिष्य-परम्परा के नयचन्द्रसूरि (१५ वीं

शती) कृत हम्मीर-काव्य १४ सर्गों में समाप्त हुआ है, और उसमें उस हम्मीर वीर का चरित्र वर्णन किया गया है, जो सुलतान अलाउद्दीन से युद्ध करता हुआ सन् १३०१ में वीरगति को प्राप्त हुआ। काव्य लिखने का कारण स्वयं कवि ने यह बतलाया है कि तोमर वीरम की समा में यह कहा गया था कि प्राचीन कवियों के समान काव्य-रचना की शक्ति अब किसी में नहीं है। इसी बात के खंडन के लिये कवि ने भृंगार, वीर और अद्भुत रसों से पूर्ण तथा अमरचन्द्र के सदृश लालित्य व श्रीहर्ष की चक्रिमा से युक्त यह काव्य लिखा। जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि कृत अतुलिका-जिन-चरित, पद्मानन्द-काव्य और बाल-भारत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

ब्रम्हनेमिदत्त कृत श्रीपाल-चरित (सन् १५२८ ई०) में ६ सर्गों में राजकुमारी मदनसुन्दरी के कुष्ठ व्याधि से पीड़ित श्रीपाल के साथ विवाह, और सिद्धचक्र विधान के माहात्म्य से उसके निरोग होने की कथा है, जिसका परिचय उसी नामके प्राकृत काव्य के संबंध में दिया जा चुका है। श्रीपाल का कथानक जैन समाज में इतना लोकप्रिय हुआ है कि उस पर प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत की कोई ३०-४० रचनायें मिलती हैं। (देखिये जिनरत्नकोश - डॉ. वेलंकर कृत)

नागेन्द्र गच्छीय विजयसेन सूरि के शिष्य उदयप्रभ कृत चर्माभ्युदय चौदह सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें गुजरात के राजा वीरधवल के सुप्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल के चरित्र का सुन्दरता से वर्णन किया गया है। सिद्धचि कृत उपमितिभव-प्रपंचकथा (६०६ ई०) संस्कृत गद्य की एक अनुपम रचना है, जिसमें भावात्मक संज्ञाओं को मूर्तिमान् स्वरूप देकर धर्मकथा व नाना अवान्तर कथाएं कही गई हैं। उदाहरण के लिये-यहां नगर अनन्तपुर व निर्वृतिपुर है; राजा कर्मपरिणाम; रानी काल-परिणति; साधु सदागम; व अन्य व्यक्ति संसारी निष्पुण्यक आदि। इसे पढ़ते हुए अंग्रेजी की जॉन बनयन कृत 'प्लिनिअस प्रोग्रेस' का स्मरण हो आता है, जिसमें रूपक की रीति से धर्मवृद्धि, और उसमें जानेवाली विघ्न-बाधाओं की कथा कही गई है। इस कृति का जैन संसार में बड़ा आदर व प्रचार हुआ, और उसके सार रूप अनेक रचनाएं निमित्त हुई, जैसे वर्धमानसूरि कृत उपमिति-नवप्रपंचा-सार-समुच्चय (११ वीं शती) देवेन्द्रकृत ७० सारोच्चार (१३ वीं शती), हंसरत्नसूरि कृत सारोद्धार आदि।

संस्कृत गद्यात्मक आख्यानों में चण्पास कृत तिलकमंजरी (६७० ई०) की भाषा व शैली बड़ी श्रेष्ठ है। अमरसुन्दर कृत ध्वजचरित्र बड़ी विलक्षण कथा है। कथानायक ध्वज जैनधर्मों है और मंत्र-संज्ञ के बल से गोरक्षा देवी द्वारा

निर्दिष्ट सात दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिखाता, ३२ सुन्दरियों से विवाह करता और अपार धन व राज्य पाता है। अंततः उपदेश पाकर वह जैन धर्म में दीक्षित और प्रवृजित होकर सल्लेखना विधि से मरण करता है। शंबड नाम के तांत्रिक का नाम शोवाइय उपांग में आता है, किन्तु उक्त कथानक इसी कर्ता की कल्पना है। अमरसुन्दर का नाम वि० सं० १४५७ में सूरिपद प्राप्त करनेवाले सोमसुन्दर गणी के शिष्यों में आता है, और वहां उन्हें 'संस्कृत-जल्प-पटु' कहा गया है। इस कथानक का जर्मन अनुवाद चार्लस क्राउस ने किया है। यही कथा हर्ष समुद्र वाचक (१६ वीं शती) व जयमेरु कृत भी मिलती है।

ज्ञानसागर सूरि कृत रत्नचूड कथा (१५ वीं शती) का यद्यपि देवेन्द्रसूरि कृत प्राकृत कथा से नामसाम्य है, तथापि यह कथा उससे सर्वथा भिन्न है। यहां अनीतपुर के अन्त्यायी राजा और दुर्बुद्धि मंत्री का वृत्तान्त है। उस नगरी में चोरो और धूर्तों के सिवाय कोई धार्मिक व्यक्ति नहीं रहते। कथा में नाना उपकथानक भरे हैं। रोहक अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा जैसे दुष्कर कार्य करके दिखाता है, उनसे पालि की महा-उम्मग जातक में वर्णित महोसघ नामक पुरुष के अद्भुत कारनामों का स्मरण हो आता है। रत्नचूड के विदेश के लिये प्रस्थान करते समय उसके पिता के द्वारा दिये गये उपदेशों में एक और व्यवहारिक बातुरी, और दूसरी और अन्धविश्वासों का मिश्रण है। महापुरुष के ३२ चिह्न भी इसमें गिनाये गये हैं।

अषटकुमार-कथा में जिनकीर्ति कृत चम्पक-श्रेष्ठ-कथानक के सदृश पत्र-विनिमय द्वारा नायक के मृत्यु से बचने की घटना आई है। इसका जर्मन अनुवाद चार्लस क्राउस ने किया है। इसके दो पद्यात्मक संस्करण भी मिलते हैं, किन्तु किसी के भी कर्ता का नाम नहीं मिलता, और रचना काल भी अनिश्चित है। यह अनुमानतः १५-१६ वीं शती की रचना है।

जिनकीर्ति कृत चम्पकश्रेष्ठकथानक (१५ वीं शती) का आख्यान सुप्रसिद्ध है। इसमें ठीक समय पर पत्र मिल जाने से सौभाग्यशाली नायक मृत्यु के मुख में से बच जाता है। कथा के भीतर तीन और सुन्दर उपाख्यान हैं। यह कथा मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि व अन्य कथाकोषों में भी मिलती है। इसका सम्पादन व प्रकाशन अंग्रेजी में हर्टेल द्वारा हुआ है। जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जिनकीर्ति की इसीप्रकार की दूसरी रचना बाल-गोपालकथानक है, जिसमें उक्त नाम के दो आताओं के परिभ्रमण व नानाप्रकार के साहसों व प्रलोभनों को पार कर, अन्त में धार्मिक जीवन व्यतीत करने का रोचक वृत्तान्त है। भाणिक्यसुन्दर कृत

महावल-मलयसुन्दरी कथा (१५ वीं शती) संस्कृत गद्य में लिखी गई है और उपाख्यानो का भंडार है।

जयविजय के शिष्य मानविजय कृत पापबुद्धि-वर्मेबुद्धि-कथा का दूसरा नाम कामघट कथा है। इस संस्कृत गद्यात्मक कथानक के रचयिता हीरविजय सूरि द्वारा स्थापित विजयशास्त्रा में हुए प्रतीत होते हैं, अतएव उनका काल १६-१७ वीं शती अनुमान किया जा सकता है। इसके कथानायक सिद्धषिभक्त उपमिति भव प्रपंचा कथा के अनुसार भावात्मक व कल्पित हैं। वे क्रमशः राजा और मंत्री हैं। राजा धन और ऐश्वर्य को ही सब कुछ समझता है, और मंत्री धर्म को। अन्ततः मुनि के उपदेश से वे सम्बोधित और प्रवृजित होते हैं। यह कथानक यथार्थतः कर्ता की बड़ी रचना धर्म-परीक्षा का एक खंडमात्र है। इसका सम्पादन व इटैलियन अनुवाद लोवरिनी ने किया है।

कुछ रचनाएं पृथक उल्लेखनीय है क्योंकि उनमें तीर्थ आदि स्थानों व पुरुषों के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त भी पाया जाता है जो प्राचीन इतिहास-निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऐसी कुछ कृतियां निम्नप्रकार हैं :—

1- १२वीं शती 'धनेश्वरसूरि कृत शत्रुंजय-माहात्म्य (७-८ वीं शती) स्वयं कर्ता के अनुसार सौराष्ट्र नरेश शीलादित्य के अनुरोध से वलभी में लिखा गया था। इसमें १४ सर्ग हैं, और वैदिक परम्परा के पुराणों की शैली पर शत्रुंजय तीर्थ का माहात्म्य वर्णन किया गया है। लोक-वर्णन के पश्चात् तीर्थकर ऋषभ व उनके भरत और बाहुवली पुत्रों का तथा भरत द्वारा मन्दिरों की स्थापना का वृत्तान्त है। ६ वे सर्ग में रामकथा व १० से १२ वें सर्ग तक पांडवों, कृष्ण और नेमिनाथ का चरित्र, और १४ वें में पार्श्व और महावीर का चरित्र आया है। यहां भीमसेन के संबंध का बहुत सा वृत्तान्त ऐसा है, जो महाभारत से सर्वथा भिन्न और नवीन है।

प्रभाचन्द्र कृत प्रभाषक-चरित्र (१२७७ ई०) में २२ जैन आचार्यों व कवियों के चरित्र वर्णित हैं, जिनमें हरिभद्र, सिद्धषि, बप्पभट्टि, मानतुंग, शान्तिसूरि और हेमचन्द्र भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व की पूरक रचना कही जा सकती है, और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है। इस का भी संशोधन प्रद्युम्न सूरि द्वारा किया गया था।

प्रभाचन्द्र के प्रभाषक-चरित्र की परम्परा को मेरुतुंग ने अपने प्रबन्ध-विस्तारणि (१३०६ ई०) तथा राजशेखर ने प्रबन्धकोष (१३४६ ई०) द्वारा प्रचलित रखा। इनमें बहुभाग तो काल्पनिक है, तथापि कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बातें भी पाई

जाती हैं, विशेषतः लेखकों के समीपवर्ती काल की। राजशेखर की कृति में २४ व्यक्तियों के चरित्र वर्णित हैं, जिनमें राजा श्रीहर्ष और आचार्य हेमचन्द्र भी हैं। जिसप्रकार प्रभाचन्द्र, मेरुतुंग और राजशेखर के प्रबन्धों में हमें ऐतिहासिक पुरुषों का चरित्र मिलता है, उसी प्रकार जिनप्रभसूरि कृत तीर्थकल्प या कल्पप्रदीप और रत्न-प्रासाद (लगभग १३३० ई०) में जैन तीर्थों के निर्माण, उनके निर्माता व दानदाताओं आदि का वृत्तान्त मिलता है। रचना में संस्कृत व प्राकृत का मिश्रण है।

जैन लघुकथाओं का संग्रह बहुलता से कथा-कोषों में पाया जाता है, और उनमें पद्य, गद्य या मिश्ररूप से किसी पुरुष-स्त्री का चरित्र संक्षेप से वर्णित कर, उसके सांसारिक सुख-दुखों का कारण उसके स्वयं कृत पुण्य-पापों का परिणाम सिद्ध किया गया है। ऐसे कुछ कथाकोष ये हैं :—

हरिवेण कृत कथाकोष (शक ८५३) संस्कृत पद्यों में रचा गया है, और उपलभ्य समस्त कथाकोषों में प्राचीन सिद्ध होता है। इसमें १५७ कथायें हैं जिनमें चारणक्य, शकटाल, भद्रबाहु, वररुचि, स्वामि कार्तिकेय आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी हैं। इस कथा के अनुसार भद्रबाहु उज्जैनी के समीप भाद्रपद (भदावर ?) में ही रहे थे, और उनके दीक्षित शिष्य राजा चन्द्रगुप्त, अपरनाम विशालाचार्य, संघ सहित दक्षिण के पुष्पाट देश को गये थे। कथाओं में कुछ नाम व शब्द, जैसे मेदज्ज (मेतायं), विज्जदाढ (विद्युदंष्ट्र) प्राकृत रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिससे अनुमान होता है कि रचयिता कथाओं को किसी प्राकृत कृति के आधार से लिख रहा है। उन्होंने स्वयं अपने कथाकोष को 'भाराघनोद्धत' कहा है, जिससे अनुमानतः भगवती-भाराघना का अभिप्राय हो। हरिवेण उसी पुष्पाट गच्छ के थे, जिसके आचार्य जिनसेन; और उन्होंने उसी वर्धमानपुर में अपनी ग्रंथ-रचना की थी, जहां हरिवंशपुराण की रचना जिनसेन ने शक ७०५ में की थी। इससे सिद्ध होता है कि वहा पुष्पाट संघ का आठवीं शताब्दी तक अच्छा केन्द्र रहा। यह कथाकोष बृहत्कथाकोष के नाम से प्रसिद्ध है। अनुमानतः उसके पीछे रचे जानेवाले कथाकोषों से पृथक् करने के लिये यह विशेषण जोड़ा गया है।

अमितगति कृत वर्षपरीक्षा की शैली का मूल स्रोत यद्यपि हरिभद्र कृत प्राकृत धूर्ताख्यान है, तथापि यहां अनेक छोटे-बड़े कथानक सर्वथा स्वतंत्र व मौलिक हैं। ग्रंथ का मूल उद्देश्य ग्रन्थ धर्मों की पौराणिक कथाओं की असत्यता को उनसे अधिक कृत्रिम, असंभव व ऊटपटांग आख्यान कह कर सिद्ध करके, सच्चा धार्मिक अध्ययन उत्पन्न करना है। इनमें धूर्तता और मूर्खता की कथाओं का बाहुल्य है।

५

प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष (१३ वीं शती) संस्कृत गद्य में लिखा गया है। इसमें भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त समन्तभद्र और अकलंक के चरित्र भी वर्णित हैं। नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष (१६ वीं शती) पद्यात्मक है और प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष का कुछ विस्तृत रूपान्तर है। इसी प्रकार का एक अन्य संग्रह रामचन्द्र मुमुक्षु, कृत पुण्याश्व कथाकोष है।

राजशेखर कृत अन्तर्कथा-संग्रह (१४ वीं शती) की कथाओं का संकलन आगम की टीकाओं पर से किया गया है। इसकी ८ कथाएं पुल्ले द्वारा इटालियन भाषा में अनुवादित हुई हैं। इसकी एक कथा का 'जर्मेन ऑफ सोलोमन' नाम से टेसीटोरी ने अंग्रेजी अनुवाद किया है। (इ० एन्टी० ४२)। उसके साथ नन्दिसूत्र की मलयगिरि टीका की कथा भी है, और बतलाया है कि उक्त कथा का ही यूरोप की कथाओं में रूपान्तर हुआ है।

लक्ष्मीसागर के शिष्य शुभशीलगणी (१५ वीं शती) कृत पञ्चशती प्रबोध-सम्बन्ध में लगभग ६०० धार्मिक कथाएं हैं, जिनमें नन्द, सातवाहन, भर्तृहरि, भोज, कुमारपाल, हेमसूरि आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी हैं। इसी कर्ता का एक अन्य कथाकोष 'भरतादिकथा' नामक है।

जिनकीर्ति कृत दानकल्पद्रुम (१५ वीं शती) में दान की महिमा बतलाने वाली रोचक और विनोदपूर्ण अनेक लघु कथाओं का संस्कृत पद्यों में संग्रह है। उदय धर्म कृत धर्मकल्पद्रुम (१५ वीं शती) में पद्यात्मक कथाएं हैं।

सम्यक्त्व-कौमुदी लघु कथाओं का एक कोष है। अर्हदास सेठ अपनी आठ पत्नियों को सुनाता है कि उसे किसप्रकार सम्यक्त्व प्राप्त हुआ, और वे फिर पति को अपने अनुभव सुनाती हैं। इस चौखट्टे के भीतर बहुत से कथानक गूँथे गये हैं। सम्यक्त्व-कौमुदी नामकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं, जैसे जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्ष गणी कृत (वि० सं० १४८७), गुणाकरसूरि कृत (वि० सं० १५०४) मल्लिभूषण कृत (वि० सं० १५४४ के लगभग) सिंहदत्तसूरि के शिष्य सोमदेवसूरि कृत (वि० सं० १५७३) शुभचन्द्र कृत (वि० सं० १६८० के लगभग), एवं अज्ञात समय की वत्सराज, धर्मकीर्ति, मंगरस, यशः कीर्ति व वादिभूषण कृत।

हेमविजय कृत कथा-रत्नाकर (१६०० ई०) में २५८ कथानक हैं जिनमें अधिकांश उत्तम गद्य में, और कुछ थोड़े से पद्य में वर्णित हैं। यत्रन्तत्र प्राकृत और अपभ्रंश पद्य भी पाये जाते हैं। इस रचना की विशेषता यह है कि प्रायः आदि अन्त में धार्मिक उपदेश की कड़ी जोड़नेवाले पद्यों के अतिरिक्त कथाओं में जैनत्व

का उल्लेख नहीं पाया जाता । कथाएं व नीति वाक्य पंचतंत्र के ढांचे के हैं ।

नाटक—

जैन मुनियों के लिये नाटक आदि विनोदों में भाग लेना निषिद्ध है, और यही कारण है कि जैन साहित्य में नाटक की कृतियां बहुत प्राचीन नहीं मिलती । पश्चात् जब उक्त मुनि-वर्या का बंधन उतना दृढ़ नहीं रहा, अथवा गृहस्थ भी साहित्य-रचना में भाग लेने लगे, तब १३ वीं शती से कुछ संस्कृत नाटकों का सर्जन हुआ, जिनका कुछ परिचय निम्नप्रकार है :—

रामचन्द्रसूरि (१३ वीं शती) हेमचन्द्र के शिष्य थे । कहा जाता है कि उन्होंने १०० प्रकरणों (नाटकों) की रचना की, जिनमें से निर्भय-भीम-व्यायोग, नलबिलास, और कौमुदी-मित्रानन्द प्रकाशित हो चुके हैं । रघुबिलास नाटक की प्रतियां मिली हैं, तथा रोहिणीमृगांक व बनमाला के उल्लेख कर्ता की एक अन्य रचना नाट्यदर्पण में मिलते हैं । निर्भय-भीम-व्यायोग एक ही अंक का है, और इसमें भीम द्वारा बक के वध की कथा है । नलबिलास १० अंकों का प्रकरण है, जिसमें नल-दमयन्ती का चरित्र-चित्रण किया गया है । तीसरे नाटक में नायिका कौमुदी और उसके पति मित्रानन्द सेठ के साहसपूर्ण भ्रमण का कथानक है । यह मालती-माधव के जोड़ का प्रकरण है ।

हस्तिमल्ल कृत (१३वीं शती) चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं—विक्रान्तकौरव, सुमित्रा, मैथिलीकल्याण, और अंजनायजनंजय । कवि ने प्रस्तावना में अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पिता गोविन्द, समन्तभद्र कृत देवागमस्तोत्र (प्राप्तमीमांसा) के प्रभाव से, जैनधर्मी हो गये थे । कवि ने अपने समय के पाण्ड्य राजा का उल्लेख किया है, पर नाम नहीं दिया । इतना ही कहा है कि वे कर्नाटक पर शासन करते थे । प्रथम दो नाटक महाभारत और शेष दो रामायण पर आधारित हैं, तथा कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के चरित्रानुसार है । हस्तिमल्ल के उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर, इन चार अन्य नाटकों के उल्लेख मिलते हैं ।

जिनप्रभ सूरि के शिष्य रामभद्र (१३ वीं शती) द्वारा रचित ब्रह्म-रोहिण्येव के छह अंकों में नायक की चौर-वृत्ति व उपदेश पाकर धर्म में दीक्षित होने का वृत्तान्त चित्रित किया गया है । यह नाटक चाहमान (चौहान) नरेश समरसिंह द्वारा निर्मापित ऋषभ जिनालय में उत्सव के समय खेला गया था ।

यशःपाल कृत मोहराज-पराजय (१३ वीं शती) में आत्मिक पापों के

अतिरिक्त राजा कुमारपाल भी आते हैं। राजा धर्मपरिवर्तन द्वारा जैन धर्म में दीक्षित व कृपासुन्दरी से विवाहित होकर राज्य में अहिंसा की घोषणा, तथा निस्संतान व्यक्तियों के मरने पर उनके धन के अपहरण का निषेध कर देता है। राजा का विवाह कराने-वाले पुरोहित हेमचन्द्र है। यह नाटक शाकंबरी के चौहान राजा अजयदेव के समय में रचा गया है।

बीरसूर के शिष्य जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमदमर्दन के पांच अंकों में राजा बीरधवल द्वारा भ्लेच्छ राजा हम्मीर (अमीर-शिकार-सुल्तान समसुद्दुनिया) की पराजय का, और साथ ही वस्तुपाल और तेजपाल मंत्रियों के चरित्र का वर्णन है। इसमें राजनीति का घटनाचक्र मुद्राक्षस जैसा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १२८६ की मिली है, अतः रचनाकाल इससे कुछ पूर्व का सिद्ध होता है।

पद्मचन्द्र के शिष्य यशश्चन्द्र कृत मुद्रित-कुमुदचन्द्र नाटक में पांच अंक हैं, जिनमें अराहिलपुर में जयसिंह चालुक्य की सभा में (वि० सं० ११८१) श्वेताम्बराचार्य देवसूरि व दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ कराया गया है। वाद के अन्त में कुमुदचन्द्र का मुख मुद्रित हो गया। रचनाकाल का निश्चय नहीं। संभवतः कर्ता के गुरु वे ही पद्मचन्द्र हैं, जिनका नाम लघु पट्टावली (पट्टावली-समुच्चय, पृ० २०४) में आया है, और जिनका समय अनुमानतः १४-१५ वीं शती है।

मुनिसुन्दर के शिष्य रत्नशेखर सूरि कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में भावात्मक पात्रों द्वारा चित्रण किया गया है। यह इसी नामके कृष्ण मिश्र रचित नाटक (११ वीं शती) का अनुकरण प्रतीत होता है इसमें प्रबोध, विद्या, विवेक आदि नामक पात्र उपस्थित किये गये हैं।

मेघप्रभाचार्य कृत वर्माभ्युदय स्वयं कर्ता के उल्लेखानुसार एक छाया नाट्य-प्रबन्ध है, जो पार्श्वनाथ जिनालय में महोत्सव के समय खेला गया था। इसमें दर्शनभद्र मुनि का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। इसका जर्मन भाषा में भी अनुवाद हुआ है।

हरिभद्र के शिष्य बालचन्द्र कृत करुणावज्जयायुष नाटक में वज्जयायुष नृप द्वारा श्वेन को अपने शरीर का मांस देकर कपोत की रक्षा करने की कथा चित्रित है, जैसा कि हिन्दू पुराणों में राजा शिवि की कथा में पाया जाता है।

साहित्य-शास्त्र —

साहित्य के आनुवंशिक शास्त्र हैं व्याकरण, छंद और कोश। जैन परम्परा में इन शास्त्रों पर भी महत्वपूर्ण रचनाएं पाई जाती हैं।

व्याकरण-प्राकृत —

महर्षि पतंजलि ने अपने महाभाष्य में यह प्रश्न उठाया है कि जब लोक-प्रचलित भाषा का ज्ञान लोक से स्वयं प्राप्त हो जाता है, तब उसके लिये शब्दानुशासन लिखने की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बतलाया है कि बिना शब्दानुशासन के शब्द और अपशब्द में भेद स्पष्टतः सम्भ्रम में नहीं आता, और इसके लिये शब्दानुशासन शास्त्र की आवश्यकता है। जैन साहित्य का निर्माण आदितः जन-भाषा में हुआ, और बहुत काल तक उसके अनुशासन के लिये स्वभावतः किसी व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। साहित्य में वचन-प्रयोगों के लिये इतना ही पर्याप्त था कि वैसे प्रयोग लोक में प्रचलित हों। बीरे-बीरे जब एक और बहुतसा साहित्य निर्माण हो गया, और दूसरी ओर नाना देशों में प्रचलित नाना प्रकार के प्रयोग सम्मुख आये, तथा कालानुक्रम से भी प्रयोगों में भेद पड़ता दिखाई देने लगा, तब उसके अनुशासन की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्राकृत के उपलब्ध व्याकरणों में चंड (चन्द्र) कृत प्राकृत-लक्षण सर्व-प्राचीन सिद्ध होता है। इसका सम्पादन रॉडल्फ हार्नले साहब ने करके विबलिग्रोविका-इंडिका में १८८० ई० में छपाया था, और उसे एक जैन लेखक की कृति सिद्ध किया था। तथापि कुछ लोगों ने इसके सूत्रों को बाल्मीकि कृत माना है, जो स्पष्टतः असम्भव है। ग्रन्थ के आदि में जो बीर (महावीर) तीर्थंकर को प्रणाम किया गया है, व वृत्तिगत उदाहरणों में अर्हन्त (सू० ४६ व २४), जिनवर (सू० ४८), का उल्लेख आया है; उससे यह निःसंदेह जैन कृति सिद्ध होती है। ग्रन्थ के सूत्रकार और वृत्तिकार अलग-अलग हैं, इसके कोई प्रमाण नहीं। मंगलाचरण में जो बृद्धमत के आश्रय से प्राकृत व्याकरण के निर्माण की सूचना दी गई है, उससे यह अभिप्राय निकालना कि सूत्रकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न हैं, संबंधा निराधार है। अधिक से अधिक उसका इतना ही अभिप्राय प्रतीत होता है कि प्रस्तुत रचना के समय भी सूत्रकार के सम्मुख कोई प्राकृत व्याकरण अथवा व्याकरणात्मक मतमतान्तर थे, जिनमें से कर्ता ने अपने नियमों में प्राचीनतम प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि प्राकृत-लक्षण के रचना-काल संबंधी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि ग्रंथ के अन्तःपरीक्षण से उसका कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमें कुल सूत्रों की संख्या ८६ या १०३ है, और इस प्रकार यह उपलब्ध व्याकरणों में संक्षिप्ततम है। प्राकृत सामान्य का जो निरूपण यहां पाया जाता है, वह अशोक की धर्मलिपियों की भाषा और वररुचि द्वारा 'प्राकृत-प्रकाश' में वर्णित प्राकृत के बीच का

प्रतीत होता है। वह अधिकांश अश्वघोष व अल्पांश भास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों से मिलता हुआ पाया जाता है, क्योंकि इसमें मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों की बहुलता से रक्षा की गई है, और उनमें से प्रथम वर्णों में केवल क, व तृतीय वर्णों में ग के लोप का एक सूत्र में विधान किया गया है, और इस प्रकार च ट त प वर्णों की, शब्द के मध्य में भी, रक्षा की प्रवृत्ति सूचित की गई है। इस आधार पर प्राकृतलक्षण का रचना-काल ईसा की दूसरी-तीसरी शती अनुमान करना अनुचित नहीं।

प्राकृत-लक्षण ४ पादों में विभक्त है। आदि में प्राकृत शब्दों के तीन रूप सूचित किये गये हैं तद्भव, तत्सम और देशी; तथा संस्कृतवत् तीनों लिंगों और विभक्तियों का विधान किया गया है। तत्पश्चात् इनमें क्वचिद् व्यत्यय की चौथे सूत्र में सूचना करके, प्रथम पाद के अन्तिम ३५ वें सूत्र तक संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्ति रूपों का विधान किया गया है। इनमें यद् और इदम् के षष्ठी का रूप 'से' और अहम् का कर्ता कारक 'हुँ' ध्यान देने योग्य है। जैसा कि हम जानते हैं, हुँ अपभ्रंश भाषा का विशेष रूप माना जाता है, किन्तु सूत्रकार के समय में उसका प्रयोग तो प्रचलित हो गया था, फिर भी वह अभी तक अपभ्रंश का विशेष लक्षण नहीं बना था। द्वितीय पाद के २६ सूत्रों में प्राकृत से स्वर-परिवर्तनों, शब्दादेशों व अव्ययों का वर्णन किया गया है। यहां गो का गावी आदेश व पूर्वकालिक रूपों के लिये केवल तु, ता, ज्ज, ट्ट, तु, तूण, ओ और पि विभक्तियों का विधान किया गया है। दूण, ऊण, व य का यहां निर्देश नहीं है। तीसरे पाद के ३५ सूत्रों में व्यंजनों के विपरिवर्तनों का विधान है। इनमें ध्यान देने योग्य नियम हैं—प्रथम वर्ण के स्थान में तृतीय का आदेश, जैसे एकं=एगं, पिशाची=विसाजी, कृतं=कदं, प्रतिषिद्धं=पदिसिद्धं। पाद के अन्तिम सूत्र में कह दिया गया है कि शिष्टप्रयोगाद् व्यवस्था अर्थात् शेष व्यवस्थाएं शिष्ट प्रयोगानुसार समझनी चाहिये। इस पाद के अन्त में सूत्रों की संख्या ६६ पूर्ण हो जाती है, और हर्नले साहब द्वारा निरीक्षित एक प्राचीन प्रति के आदि में ग्रन्थ में ६६ सूत्रों की ही सूचना मिलती है। सम्भव है मूल व्याकरण यही समाप्त हुआ हो। किन्तु अन्य प्रतियों में ४ सूत्रात्मक चतुर्थ पाद भी मिलता है, जिसके एक-एक सूत्र में क्रमशः अपभ्रंश का लक्षण अघोरेफ का लोप न होना, पैशाची में र् और स् के स्थान पर ल् और न् का आदेश, मागधिका में र् और स् के स्थान पर ल् और ष् आदेश, तथा शौरसैनी में त् के स्थान पर विकल्प से द् का आदेश बतलाया गया है। प्राकृत-लक्षण का पूर्वोक्त स्वरूप निश्चयतः उसके विस्तार, रचना व भाषा-स्वरूप की दृष्टि से उसे उपलब्ध समस्त प्राकृत व्याकरणों में प्राचीनतम सिद्ध

करता है। इस व्याकरण का आगामी समस्त प्राकृत व्याकरणों पर बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ा है, और रचनाशीली व विषयानुक्रम में वहाँ इसी का अनुसरण किया गया है। चंड ने प्राकृत व्याकरणकारों के लिये आगे एक आदर्श उपस्थित कर दिया। भरहणि, हेमचन्द्र आदि व्याकरणकारों ने जो संस्कृतभाषा में प्राकृत व्याकरण लिखे, आदि में प्राकृत के सामान्य लक्षण दिये, और अन्त में शौरसेनी आदि विशेष प्राकृतों के एक-एक के विशेष लक्षण बतलाये, वह सब चंड का ही अनुकरण है। हेमचन्द्र ने तो चंड के ही अनुसार अपने व्याकरण को चार पादों में ही विभक्त किया है, और चूलिका पेशाची को छोड़ शेष उन्हीं चार प्राकृतों का व्याख्यान किया है, जिनका चंड ने किया, और चंड के समान स्वयं सूत्रों की वृत्ति भी लिखी।

प्राकृत-लक्षण के पश्चात् दीर्घकाल तक का कोई जैन प्राकृत व्याकरण नहीं मिलता। समन्तभद्र कृत प्राकृत व्याकरण का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। समन्तभद्र की एक व्याकरणात्मक रचना का उल्लेख देवनांदि पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण में भी पाया जाता है, जिससे उनके किसी संस्कृत व्याकरण का अस्तित्व सिद्ध होता है। आश्चर्य नहीं जो समन्तभद्र ने ऐसा कोई व्याकरण लिखा हो, जिसमें क्रमशः संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का अनुशासन किया गया हो, जैसा कि आगे चलकर हेमचन्द्र की कृति में पाया जाता है।

हेमचन्द्र (१२ वीं शती) ने शब्दानुशासन नामक व्याकरण लिखा, जिसके प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत, तथा आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण का निरूपण किया गया है। यह व्याकरण उपलब्ध समस्त प्राकृत व्याकरणों में सबसे अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित स्वीकार किया गया है। इसके चार पाद हैं। प्रथम पाद के २७१ सूत्रों में संधि, व्यञ्जान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, विसर्ग, स्वर-व्यत्यय और व्यञ्जन-व्यत्यय; इनका क्रमसे निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद के २१८ सूत्रों में संयुक्त व्यञ्जनों के विपरिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्ण-विपर्यय, शब्दादेश तद्धित, निपात और अव्यय; एवं तृतीय पाद के १८२ सूत्रों में कारक-विभक्तियों तथा क्रिया-रचना संबंधी नियम बतलाये गये हैं। चौथे पाद में ४४८ सूत्र हैं, जिनमें से प्रथम २४६ सूत्रों में धात्वदेश और फिर शेष में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पेशाची, चूलिका पेशाची और अपभ्रंश भाषाओं के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं। अन्त के २ सूत्रों में यह भी कह दिया गया है कि प्राकृतों में उक्त लक्षणों का व्यत्यय भी पाया जाता है; तथा जो बात यहाँ नहीं बतलाई गई, वह संस्कृतवत् सिद्ध समझनी चाहिये। सूत्रों के अतिरिक्त उसकी वृत्ति भी स्वयं हेमचन्द्र कृत ही है, और इसके द्वारा उन्होंने सूत्रगत लक्षणों को

बड़ी विशदता से उदाहरण दे-देकर समझाया है। आदि के प्रास्ताविक सूत्र अथ प्राकृतम् की वृत्ति विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें ग्रन्थकार ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति यह दी है कि प्रकृति संस्कृत है, और उससे उत्पन्न व आगत प्राकृत। स्पष्टतः यहां उनका अभिप्राय यह है कि प्राकृत शब्दों का अनुशासन संस्कृत के रूपों को आदर्श मानकर किया गया है। उन्होंने यहां प्राकृत के तत्सम, तद्भव व देशी, इन तीन प्रकार के शब्दों को भी सूचित किया है, और उनमें से संस्कृत और देश्य को छोड़कर तद्भव शब्दों की सिद्धि इस व्याकरण के द्वारा बतलाने की प्रतिज्ञा की है। उन्होंने तृतीय सूत्र में व अन्य अनेक सूत्रों की वृत्ति में आर्ष प्राकृत का उल्लेख किया है और उसके उदाहरण भी दिये हैं। आर्ष से उनका अभिप्राय उस अर्द्धमागधी प्राकृत से है, जिसमें जैन आगम लिखे गये हैं।

हेमचन्द्र से पूर्वकालीन चंडकृत प्राकृत-लक्षण और वररुचि कृत प्राकृत-प्रकाश नामक व्याकरणों से हेमव्याकरण का मिलान करने पर दोनों की रचनाशैली व विषयक्रम प्रायः एकसा ही पाया जाता है। तथापि 'हेम' व्याकरण में प्रायः सभी प्रक्रियाएं अधिक विस्तार से बतलाई गई हैं, और उनमें अनेक नई विधियों का समावेश किया गया है, जो स्वाभाविक हैं; क्योंकि हेमचन्द्र के सम्मुख वररुचि की अपेक्षा लगभग पांच-छह शतियों का भाषात्मक विकास और साहित्य उपस्थित था, जिसका उन्होंने पूरा उपयोग किया है। चूलिका-पेशाची और अपभ्रंश का उल्लेख वररुचि ने नहीं किया। हेमचन्द्र ने इन प्राकृतों के भी लक्षण बतलाये हैं, तथा अपभ्रंश भाषा का निरूपण अन्तिम ११८ सूत्रों में बड़े विस्तार से किया है; और इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि इन नियमों के उदाहरणों में उन्होंने अपभ्रंश के पूरे पद्य उद्धृत किये हैं, जिनसे उस काल तक के अपभ्रंश साहित्य का भी अनुमान किया जा सकता है।

हेमचन्द्र के पश्चात् त्रिविक्रम, श्रुतसागर और शुभचन्द्र द्वारा लिखित प्राकृत व्याकरण पाये जाते हैं। किन्तु ये सब रचना, शैली व विषय की अपेक्षा हेमचन्द्र से आगे नहीं बढ़ सके। अपभ्रंश का निरूपण तो उतनी पूर्णता से कोई भी नहीं कर पाया। हां, उदाहरणों की अपेक्षा त्रिविक्रम कृत व्याकरण में कुछ मौलिकता पाई जाती है।

व्याकरण-संस्कृत—

जैन साहित्य में उपलब्ध संस्कृत व्याकरणों में सबसे अधिक प्राचीन जैनेन्द्र व्याकरण है, जिसके कर्ता देवगन्धि पूज्यपाद कदम्बवंशी राजा दुर्बिनीत के समकालीन,

अतएव ५ वीं-६ वीं शती में हुए सिद्ध होते हैं। यह व्याकरण पांच अध्यायों में विभक्त है, और इस कारण पंचाध्यायी भी कहलाता है। इसमें एकवचन प्रकरण न होने के कारण, कुछ लेखकों ने उसका अनेकशेष व्याकरण नाम से भी उल्लेख किया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि, अकलंककृत तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दि-कृत श्लोकवार्तिक में इस व्याकरण के सूत्र उल्लिखित पाये जाते हैं। प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है, जिनमें कुल मिलाकर ३००० सूत्र पाये जाते हैं। इसकी रचना-शैली और विषयक्रम पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण के ही समान है। जिस प्रकार पाणिनि ने पूर्वत्रासिद्धम् सूत्र द्वारा अपने व्याकरण को सपाद-सप्ताध्यायी और त्रिपादी, इन दो भागों में विभक्त किया है, उसी प्रकार उसी सूत्र (५-३-२७) के द्वारा यह व्याकरण भी सार्धद्विपाद-चतुराध्यायी और सार्धैकपादी में विभाजित पाई जाती है। तथापि इस व्याकरण में अपनी भी अनेक विशेषताएं हैं। इसमें वैदिकी और स्वर प्रकिया इन दो प्रकरणों को छोड़ दिया गया है। परन्तु पाणिनि के सूत्रों में जो अपूर्णता थी, और जिसकी पूर्ति कात्यायन व पतंजलि ने वार्तिकों व भाष्य द्वारा की थी उसकी यहां सूत्रपाठ में पूर्ति कर दी गई है। अनेक संज्ञाएं भी नयी प्रविष्ट की गई हैं; जैसे पाणिनीय व्याकरण की प्रथमा, द्वितीया आदि कारक-विभक्तियों के लिये यहा वा, इप् आदि; निष्ठा के लिये त, भ्रामनेपद के लिये द, प्रगृह्यके लिये दि, उत्तरपद के लिये च आदि एक ध्वन्यात्मक नाम नियत किये गये हैं। इन बीजाक्षरों द्वारा सूत्रों में अल्पाक्षरता तो अवश्य आ गई है, किन्तु साथ ही उनके समझने में कठिनाई भी बढ़ गई है।

जैनेन्द्र व्याकरण पर स्वभावतः बहुत सा टीका-साहित्य रचा गया। श्रुतकीर्ति कृत पंचवस्तु-प्रक्रिया (१३ वीं शती) के अनुसार यह व्याकरण रूपी प्रासाद सूत्ररूपी स्तंभो पर खड़ा है; न्यास इसकी रत्नमय भूमि है; वृत्ति रूप उसके कपाट हैं; भाष्य इसका शय्यातल है; और टीकायें इसके माले (मंजिलें) हैं; जिनपर चढ़ने के लिये यह पंचवस्तुक रूपी सोपन-पथ निर्मित किया जाता है। पंचवस्तु-प्रक्रिया के अतिरिक्त इस व्याकरण पर अभयनन्दि कृत महावृत्ति (८ वीं शती), प्रभचन्द कृत शब्दार्थशेखर-भास्कर न्यास (११ वीं शती), और नेमिचन्द्रकृत प्रक्रियावतार पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त और कोई टीका-ग्रंथ इस पर नहीं मिलते, किन्तु भाष्य और प्राचीन टीकाएं होना अवश्य चाहिये। महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र, वंशीधर कृत जैनेन्द्र-प्रक्रिया व पं० राजकुमार कृत जैनेन्द्रलघुवृत्ति हाल ही की कृतियां हैं। उपलब्ध टीकायों में अभय-नन्दि कृत महावृत्ति बारह हजार श्लोक-ग्रमाण है, और बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसमें

अनेक नये उदाहरण पाये जाते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इनमें शालिभद्र, समन्तभद्र, सिंहनन्दि, सिद्धसेन, अभयकुमार, श्रेणिक आदि नामों का समावेश करके ग्रन्थ में जैन वातावरण निर्माण कर दिया गया है। उन्होंने श्रीदत्त का नाम, जो सूत्र में भी आया है, बारंबार इस प्रकार लिया है जिससे वे उनसे पूर्व के कोई महान् और सुविख्यात व्याकरण प्रतीत होते हैं। विश्वानन्दि ने अपने तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक में श्रीदत्त कृत जल्पनिर्णय का उल्लेख किया है, जिसमें जल्पके दो प्रकार बतलाये गये थे। जिनसेन ने आदिपुराण में भी उन्हें 'तपःश्रीदीप्तमूर्ति' व 'बादीभकण्ठीरव' कहकर नमस्कार किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण का परिवर्धित रूप गुणनन्दि कृत शब्दार्णव में पाया जाता है, जिसमें ३७०० सूत्र अर्थात् मूल से ७०० अधिक सूत्र हैं। जैनेन्द्र सूत्रों में जो अनेक कमियाँ थी, उनकी पूर्ति अभयनन्दि ने अपनी महावृत्ति के वार्तिकों द्वारा की। गुणनन्दि ने अपने संस्करण में उन सब के भी सूत्र बनाकर जैनेन्द्र व्याकरण को अपने काल तक के लिये अपने-आप में पूर्ण कर दिया है। यहां वह एकशेष प्रकरण भी जोड़ दिया गया है, जिसके अभाव के कारण चन्द्रिका टीका के कर्ता ने मूल ग्रंथ को 'अनेकशेष व्याकरण' कहा है। यद्यपि गुणनन्दि नाम के बहुत से मुनि हुए हैं; तथापि शब्दार्णव के कर्ता वे ही गुणनन्दि प्रतीत होते हैं, जो श्रवण बेल्लोल के अनेक शिलालेखों के अनुसार बलाकपिच्छ के शिष्य, तथा गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे, एवं तर्क, व्याकरण और साहित्य के महान् विद्वान् थे। वादिराजसूरि ने अपने पार्श्व-चरित में इनका स्मरण किया है। आदिपंथ के गुरु देवेन्द्र इनके शिष्य थे। इनका समय कर्नाटक-कवि-चरित के अनुसार वि० सं० ६५७ ठीक प्रतीत होता है।

शब्दार्णव की अभी तक दो टीकायें प्राप्त हुई हैं—एक सोमदेव मुनि कृत शब्दार्णव-चन्द्रिका है जो शक सं० ११२७ में शिलाहार बंशीय राजा भोजदेव द्वि० के काल के सर्जुरिका नामक ग्राम के जिन मन्दिर में लिखी गई थी। लेखक के कथानानुसार उन्होंने इसे मेघचन्द्र के शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र पति के लिये रचा था।

दूसरी टीका शब्दार्णव-प्रक्रिया है, जो अभय-वश जैनेन्द्रप्रक्रिया के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें कर्ता ने अपना नाम प्रकट नहीं किया; किन्तु अपने को श्रुतकीर्तिदेव का शिष्य सूचित किया है। अनुमानतः ये श्रुतकीर्ति वे ही हैं, जिनकी श्रवणबेल्लोला के १०८ वें शिलालेख में बड़ी प्रशंसा की गई है, और जिनका समय वि० सं० ११८० माना गया है। अनुमानतः इनके शिष्य चारुकीर्ति पंडिताचार्य ही शब्दार्णव-प्रक्रिया के

कर्ता हैं। उपर्युक्त पंचवस्तुप्रक्रिया के कर्ता श्रुतकीर्ति भी इस कर्ता के गुण हो सकते हैं। इसमें पं० नाथूराम जी प्रेमी ने केवल यह आपत्ति प्रकट की है कि प्रस्तुत प्रक्रिया के कर्ता ने अपने गुण को कविपति बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं। किन्तु यह कोई बड़ी आपत्ति नहीं।

देवनन्दि के पश्चात् दूसरे संस्कृत के महान् जैन वैयाकरण शाकटायन हुए जिन्होंने शब्दानुशासन की रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के समय में की, और जिसका रचना-काल शक सं० ७३६ व ७८६ के बीच सिद्ध होता है। एक टीकाकार तथा पार्श्वनाथचरित के कर्ता वादिचन्द्र ने इस व्याकरण के कर्ता का पाल्यकीर्ति नाम भी सूचित किया है। यह नाम उन्होंने संभवतः इस कारण लिया जिससे पाणिनि द्वारा स्मृत प्राचीन वैयाकरण शाकटायन से भ्रान्ति न हो। इस शब्दानुशासन में कर्ता ने उन सब कमियों व त्रुटियों की पूर्ति कर दी है, जो मूल जैन-द्रव्याकरण में पाई जाती थी। अनेक बातें यहां मौलिक भी हैं। उदाहरणार्थ, आदि में ही इसके प्रत्याहार सूत्र पाणिनीय-परम्परा से कुछ भिन्न हैं। ऋलृल् के स्थान पर केवल ऋक् पाठ है, क्योंकि ऋ और लृ में अभेद स्वीकार किया गया है। ह्यवरट् और लण् को मिलाकर, व ट् को हटाकर यहां एक सूत्र बना दिया गया है, तथा उपान्त्य सूत्र श ष स र् में विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मातीय का भी समावेश कर दिया गया है, इत्यादि। जैन-सूत्र व महावृत्ति में 'प्रत्याहार' सूत्र पाणिनीय ही स्वीकार करके चला गया है; किन्तु जैन-परम्परा की शब्दार्णवचन्द्रिका में ये शाकटायन 'प्रत्याहार' सूत्र स्वीकार किये गये हैं। जैन-का टीकासाहित्य शाकटायन की कृति से बहुत उपकृत हुआ पाया जाता है; और जान पड़ता है इस अधिक पूर्ण व्याकरण के होते हुए भी उन्होंने जैन-परम्परा को अक्षुण्ण रखने के हेतु उसे इस आधार से अपने कालतक संपूर्ण बनाना आवश्यक समझा है।

शाकटायन ने स्वयं अपने सूत्रों पर वृत्ति भी लिखी है, जिसे उन्होंने अपने समकालीन अमोघवर्ष के नामसे अमोघवृत्ति कहा है। इस वृत्ति का प्रमाण १८००० श्लोक माना गया है। इसका ६००० श्लोक प्रमाण संक्षिप्त रूप भक्षवर्मा कृत चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति में मिलता है। इसके विषय में कर्ता ने स्वयं यह दावा किया है कि इन्द्र, चन्द्रादि शब्दों ने जो भी शब्द का लक्षण कहा है, वह सब इसमें है; और जो यहां नहीं है, वह कहीं भी नहीं। इसमें गणपाठ, वातुपाठ, लिखनानुशासन, उग्रादि आदि विशेष प्रकरण हैं। इस विशेष विवेचन द्वारा संभवतः उन्होंने अनेकषेध जैन-व्याकरण की अपूर्णता की ओर संकेत किया है। यशवर्मा का यह भी दावा है कि

उनकी इस वृत्ति के ग्रन्थास से बालक व शबला जन भी निश्चय से एक वर्ष में समस्त वाङ्मय के वेत्ता बन सकते हैं। इस चिन्तामणि वृत्ति पर अजितसेन कृत मसिप्रकाशिका नामक टीका है। मूल सूत्रों पर लघुकौमुदी के समान एक छोटी टीका दयापालमुनि कृत रूपसिद्धि है। कर्ता के गुरु मतिसागर पार्श्वनाथ-चरित के कर्ता वादिराज सूरि के समसामयिक होने से ११ वीं शती के सिद्ध होते हैं। एक सिद्धान्त कौमुदी के ढंग की 'प्रक्रिया-संग्रह' ग्रन्थचन्द्र कृत प्रकाश में आ चुकी है (बम्बई, १९०७)। एक और टीका है वादिपर्वतवज्र भावसेन त्रैविद्यदेवकृत शाकटायन टीका। इसके कर्ता अनुमानतः वे ही हैं जिन्होंने कातंत्र की रूपमाला नामक टीका लिखी है; तथा जिनका एक विश्वतत्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थ भी पाया जाता है। अमोघवृत्ति पर प्रभावचन्द्र कृत व्यास भी है, किन्तु अभी तक इसके केवल दो अध्याय प्राप्त हुए हैं। माधवीय धातुवृत्ति में इसके तथा सन्तभद्रकृत चिन्तामणि-विषमपद-टीका के अवतरण मिलते हैं। एक और मंगरसकृत प्रतिपद नामक टीका के भी उल्लेख मिलते हैं।

एक तीसरी व्याकरण-परम्परा सर्ववर्माकृत कातंत्र व्याकरण सूत्र से प्रारंभ हुई पाई जाती है। इसके रचनाकाल का निश्चय नहीं। किन्तु है वह अति प्राचीन और शाकटायन से भी पूर्व की है, क्योंकि इसकी टीकाओं की परम्परा दुर्गसिंह से प्रारंभ होती है, जो लगभग ८०० ई० में हुए माने जाते हैं। काच्यायन पालि-व्याकरण की रचना में कातंत्र का उपयोग किया गया है। इसकी रचना में नाना विशेषताएं हैं, और परिभाषाओं में भी यह पारिणि से बहुत कुछ स्वतंत्र है। इसकी सूत्र-संख्या १४०० से कुछ अधिक है। दुर्गसिंह की वृत्ति पर त्रिलोचनदास कृत वृत्ति-विवरण-पंजिका, और उस पर जिनेश्वर के शिष्य जिनप्रबोध कृत 'वृत्तिविवरणपंजिका-दुर्गपद-प्रबोध' (वि० सं० १३६१ से पूर्व) पाये जाते हैं। अन्य उपलब्ध टीकायें हैं वुडक के पुत्र महादेव कृत शब्दसिद्धि वृत्ति (वि० सं० १३४० से पूर्व), महेन्द्रप्रभ के शिष्य मेस्तुगसूरि कृत बालबोध (वि० सं० १४४४), वर्धमान कृत विस्तार (वि० सं० १४५८ से पूर्व), भावसेन त्रैविद्यकृत रूपमाला-वृत्ति, गाल्हाणकृत जतुष्कवृत्ति, मोक्षेश्वर कृत आस्पान-वृत्ति व पृथ्वीचन्द्रसूरि कृत वृत्ति। एक 'कालापक-विशेष-व्याख्यान' भी मिलता है, जिससे मूलग्रन्थ का नाम कालापक भी प्रतीत होता है। एक पद्यात्मक टीका ३१०० श्लोक-प्रमाण कौमार-सम्मुच्चय नाम की भी है। कातंत्र-संज्ञम और विद्यानन्दसूरिकृत कातंत्रशेखर नामक टीकायें भी पाई गई हैं; और कुछ ग्रन्थ भी, जिनमें कर्ता का नाम नहीं। इन कृतियों में कुछ के कर्ता अजैन विद्वान् भी प्रतीत होते हैं। इन सब रचनाओं से इस व्याकरण का अच्छा प्रचार रहा सिद्ध होता है। इसका

एक कारण यह भी है कि यह जैनेन्द्र व शाकटायन की अपेक्षा बहुत संक्षिप्त है ।

चौथे महान् जैन बैयाकरण हैं हेमचन्द्र, जिनका शब्दानुशासन अपनी सर्वांग परिपूर्णता व नाना विशेषताओं की दृष्टि से अद्वितीय पाया जाता है । इसकी रचना उन्होंने गुजरात के चालुक्यवंशी राजा सिद्धराज जयसिंह के प्रोत्साहन से की थी; और उसी के उपलक्ष्य में उन्होंने उसका नाम सिद्ध-हैम-शब्दानुशासन रखा । सिद्धराज का राज्यकाल वि० सं० ११५१ से ११६६ तक पाया जाता है, और यही इस रचना की कालावधि है । हैम शब्दानुशासन पाणिनि के अष्टाध्यायी के समान ४-४ पादों वाले आठ अध्यायों में लिखा गया है । आठवां अध्याय प्राकृत-व्याकरण विषयक है, जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है । प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण संबंधी ३५६६ सूत्र हैं, जिनमें क्रमशः संज्ञा, संधि, कारक, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित का प्ररूपण किया गया है । सूत्रों के साथ अपने गणपाठ, घातुपाठ, उग्रादि और लिंगानुशासन भी जुड़े हुए हैं, जिससे यह व्याकरण पंचांगपूर्ण है । सूत्र-रचना में शाकटायन का विशेष अनुकरण प्रतीत होता है । यों उसपर अपने से पूर्व की प्रायः सभी जैन व अजैन व्याकरणों की कुछ न कुछ छाप है । इस पर कर्ता ने स्वयं छह हजार श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति लिखी है, जो प्रारंभिक अध्येताओं के बड़े काम की है; और दूसरी अठारह हजार श्लोकप्रमाण बृहद्-वृत्ति भी लिखी है, जो विद्वानों के लिये है । इसमें अनेक प्राचीन बैयाकरणों के नाम लेकर उनके मतों का विवेचन भी किया है । इन पूर्व बैयाकरणों में देवनन्दि (जैनेन्द्र) शाकटायन व दुर्गासिंह (कातंत्रवृत्तिकार) भी हैं; और यास्क, गार्ग्य, पाणिनि, पतंजलि, भर्तृहरि, वामन, जयादित्य, क्षीरस्वामी भोज आदि भी । उदाहरणों में भी बहुत कुछ मौलिकता पाई जाती है । विधि-विधानों में कर्ता ने इसमें अपने काल तक के भाषात्मक विकास का समावेश करने का प्रयत्न किया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है । उग्रादि सूत्रों पर भी कर्ता का स्वोपज्ञ बिबरण है, और लिंगानुशासन की पद्यात्मक रचना पर भी । कर्ता ने स्वयं एक लघु और दूसरा बृहत् न्यास भी लिखे थे, जिनकी भी प्रतियां मिलती हैं । बृहत्-न्यास का प्रमाण नौ हजार श्लोक कहा जाता है । किन्तु वर्तमान में यह केवल भिन्न-भिन्न ८-९ पादों पर ३४०० श्लोक प्रमाण मिलता है । यह समस्त व्याकरण सवा लाख श्लोक प्रमाण आंका जाता है । बीसों अन्य महाकाय ग्रंथों के रचयिता की एक इतनी विशाल रचना को देखकर हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों की बुद्धि चकित हुए बिना नहीं रहती; और यहीं इस व्याकरण-सामग्री की समाप्ति नहीं होती । हेमचन्द्र ने अपने द्वाभ्यकाव्य के प्रथम बीस सर्गों में इस व्याकरण के क्रमबद्ध उदाहरण भी

उपस्थित किये हैं। ऐसी रचना पर अन्य लेखकों द्वारा टीका-टिप्पणी के लिये अवकाश शेष नहीं रहता। फिर भी इसपर मुनिशेखरसूरि कृत लघुवृत्ति-वृत्तिका, कनकप्रभकृत लघुन्यास पर दुर्गपदव्याख्या, विद्याकरकृत बृहद्वृत्ति-वृत्तिटीपिका, धनचन्द्र कृत लघुवृत्ति-अवधूरि, अमयचन्द्र कृत बृहद्वृत्ति-अवधूरि एवं जिनसागर कृत वीपिका आदि कोई दो दर्जन नाना प्रकरणों की टीकायें उपलब्ध हैं, जिनसे इस कृति की रचना के प्रति विद्वानों का आदर व लोकप्रचार और प्रसिद्धि का अनुमान किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक संस्कृत व्याकरण लिखे गये हैं, जैसे मलयगिरि कृत शब्दानुशासन अपर नाम भुष्टिव्याकरण स्कोपज्ञ टीका सहित; दानविजय कृत शब्दभूषण, आदि। किन्तु उनमें पूर्वोक्त ग्रन्थों का ही अनुकरण किया गया है, और कोई रचना या विषय संबंधी मौलिकता नहीं पाई जाती।

छंदःशास्त्र-प्राकृत—

जैन परम्परा में उपलब्ध छंदःशास्त्र विषयक रचनाओं में नन्दितादय कृत गाथा-लक्षण, प्राकृत व्याकरण में चण्डकृत प्राकृत-लक्षण के समान, सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। ग्रन्थ में कर्ता के नाम के अतिरिक्त समयादि संबंधी कोई सूचना नहीं पाई जाती, और न अभी तक किसी पिछले लेखकों द्वारा उनका नामोल्लेख सम्मुख आया, जिससे उनकी कालावधि का कुछ अनुमान किया जा सके। तथापि कर्ता के नाम, उनकी प्राकृत भाषा, ग्रन्थ के विषय व रचना शैली पर से वे अति प्राचीन अनुमान किये जाते हैं। आरंभ में गाथा के मात्रा, अंश आदि सामान्य गुणों का विधान किया गया है, जिसमें शर आदि संज्ञाओं का प्रयोग पिंगल, विरहाक आदि छंदःशास्त्रियों से भिन्न पाया जाता है। तत्पश्चात् गाथा के पथ्या, विपुला और चपला, तथा चपला के तीन प्रभेद और फिर उनके उदाहरण दिये गये हैं। फिर एक ग्रन्थ प्रकार से वर्णों के ह्रस्वदीर्घत्व के आधार पर गाथा के विप्रा, क्षत्रिया, वैश्या और सूद्रा, ये चार भेद और उनके उदाहरण बतलाये हैं। इसके पश्चात् अक्षर-संख्यानुसार गाथा के छब्बीस भेदों के कमला आदि नाम गिनाकर फिर उनके लक्षण दिये गये हैं, और गाथा के लघु-गुरुत्व तौल, प्रस्तार, संख्या, नक्षत्र-ग्रह आदि प्रत्यय बतलाये गये हैं। अन्त में गाथा में मात्राओं की कमीबढ़ी से उत्पन्न होने वाले उसके गाथा, विगाथा, उग्दाथा, गाथिनी और स्कंधक, इन प्रभेदों को समझाया गया है। ये प्रथम तीन नाम हेमचन्द्र आदि द्वारा प्रयुक्त उपगीति, उग्दीति और गीति नामों की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं।

ग्रन्थ का इतना विषय उसका अभिन्न और मौलिक ग्रंथ प्रतीत होता है जो लगभग ७० गाथाओं में पूरा आ गया है। किन्तु डा० वेल्कर द्वारा सम्पादित पाठ में ६६ गाथाएं हैं। अधिक गाथाओं में गाथा के कुछ उदाहरण, तथा ७५ वीं गाथा से आगे के पद्धतियाँ आदि अपभ्रंश छंदों के लक्षण और उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें विद्वान् सम्पादक ने मूल ग्रन्थ के ग्रंथ न मानकर, सकारण पीछे जोड़े गये सिद्ध किया है। किन्तु उन्होंने जिन दो गाथाओं को मौलिक मानकर उन पर कुछ आश्चर्य किया है, उनका यहां विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। ३८ वें पद्य में गाथा के दश भेद गिनाये गये हैं; किन्तु यथार्थ में उपर्युक्त भेद तो नौ ही होते हैं। दसवां मिश्र नामका भेद वहां बनता ही नहीं है। उसका जो उदाहरण दिया गया है, वह मिश्र का कोई उदाहरण नहीं, और उसे सम्पादक ने ठीक ही प्रक्षिप्त अनुमान किया है। मेरे मतानुसार दस भेदों को गिनाने वाली गाथा भी प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये। जब ऊपर नौ भेद लक्षणों और उदाहरणों द्वारा समझाये जा चुके, तब यहां उन्हें पुनः गिनाने की और उनमें भी एक अप्रासंगिक भेद जोड़ देने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। कर्ता की संक्षेप रचना-शैली में उसके लिये कोई अवकाश भी नहीं रह जाता। उक्त भेदों का मिश्र रूप भी कुछ होता ही होगा, इस भ्रान्त धारणा से किसी पाठक ने उसे जोड़ कर ग्रन्थ को पूरा कर देना उचित समझा, और उसका मनचाहा, भले ही अयुक्त, वह उदाहरण दे दिया होगा।

गाथा ३१ में कहा गया है कि जैसे वैश्याओं के स्नेह, और कामीजनों के सत्य नहीं होता; वैसे ही नन्दिताद्वय द्वारा उक्त प्राकृत में जिह, किह, तिह, नहीं हैं। स्वयं ग्रन्थकार द्वारा अपने ऊपर ही इस अनुचित उपमा पर डा० वेल्कर ने स्वभावतः आश्चर्य प्रकट किया है, तथापि उसे ग्रन्थ का मौलिक भाग मानकर अनुमान किया है कि ग्रन्थकार जैन यति होता हुआ आगमोक्त गाथा छंद का पक्षपाती था, और अपभ्रंश भाषा व छंदों की ओर तिरस्कार दृष्टि रखता था। किन्तु मेरा अनुमान है कि यह गाथा भी ग्रन्थ का मूलांश नहीं, और वह अपभ्रंश का तिरस्कार करने वाले द्वारा नहीं, किन्तु उसके किसी विशेष पक्षपाती द्वारा जोड़ी गई है, जिसे अपने काल के लोकप्रिय और वास्तविक अपभ्रंश रूपों का इस रचना में अभाव खटका, और उसने कर्ता पर यह व्यंग्य मार दिया कि उनका प्राकृत एक वेश्या व कायुक के सदृश उक्त प्रयोगों की प्रियता और सत्यता से हीन पाया जाता है। इस प्रकार उक्त पद्य का अनौचित्य दोष पुष्टार्थता गुण में परिवर्तित हो जाता है, और ग्रन्थकर्ता अपभ्रंश के प्रति अनुचित और अप्रासंगिक विद्वेष के अपराध से बच जाते हैं। इस ग्रन्थ की दो टीकाएं मिली हैं, एक

रत्नचन्द्रकृत और दूसरी अज्ञातकर्तृक अवबूरि । इन दोनों में समस्त प्रक्षिप्त अनुमान की जाने वाली गाथाएं स्वीकार की गई हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे उनसे पूर्व समाविष्ट हो गई थी । अन्य प्राचीन प्रतियों की बड़ी आवश्यकता है ।

प्राकृत में छंदःशास्त्र का कुछ सर्वांगीण निरूपण करने वाले सुप्राचीन कवि स्वयंभू पाये जाते हैं, जिनके पउमचरित और हरिवंशचरित नामक अपभ्रंश पुराणों का परिचय पहले कराया जा चुका है, और जिसके अनुसार उनका रचनाकाल ७-८ वीं शती सिद्ध होता है । स्वयंभूछंदस् का पता हाल ही में चला है, और उस एक मात्र हस्तलिखित प्रति में आदि के २२ पत्र न मिल सकने से ग्रन्थ का उतना भाग अनुपलब्ध है । यह ग्रन्थ मुख्यतः दो भागों में विभाजित है, एक प्राकृत और दूसरा अपभ्रंश विषयक । प्राकृत छंदों का निरूपण तीन परिच्छेदों में किया गया है आदिविधि, अर्धसम और विसमवृत्त; तथा अपभ्रंश का निरूपण उच्छाहादि छप्पन्नजाति, चउप्पन्न, दुवन्न, शेष द्विपदी और उत्थक्क आदि । इस प्रकार इसमें कुल १६ परिच्छेद हैं । प्राकृत छंदों में प्रथम परिच्छेद के भीतर शक्वरी आदि १३ प्रकार के ६३ छंदों का निरूपण किया गया है, जिनमें १४ अक्षरों से लेकर २६ अक्षरों तक के चार चरण होते हैं । १ से १३ अक्षरों तक के वृत्तों का स्वरूप अप्राप्त अंश में रहा होगा । इससे अधिक अक्षरों के वृत्त दण्डक कहे गये हैं । दूसरे परिच्छेद में वेगवती आदि अर्धसम वृत्तों का निरूपण किया गया है, जिनके प्रथम और द्वितीय चरण परस्परभिन्न व तीसरे और चौथे के सदृश होते हैं । तीसरे परिच्छेद में उद्गतादि विषम वृत्तों का वर्णन है, जिनके चारो चरण परस्पर भिन्न होते हैं । अपभ्रंश छंदों में पहले उत्साह, दोहा और उसके भेद, मात्रा, रड्डा आदि १२ वृत्तों का, फिर पांचवें परिच्छेद में छह पदों वाले ध्रुवक, जाति, उपजाति आदि २४ छंदों का, छठे में सौ अर्धसम और आठ सर्वसम, ऐसे १२ चतुष्पदी ध्रुवक छंदों का, सातवें में ४० प्रकार की द्विपदी का, आठवें में चार से दस मात्राओं तक की शेष दश द्विपदियों का, और अन्त में उत्थक्क, ध्रुवक, छड्डनिका और घत्ता आदि वृत्तों का निरूपण किया गया है ।

स्वयंभू-छंदस् की अपनी अनेक विशेषताएं हैं । एक तो उसकी समस्त रचना और समस्त उदाहरण प्राकृत-अपभ्रंशात्मक हैं । दूसरे, उन्होंने मात्रा गणों के लिये अपनी मौलिक संज्ञाएं जैसे द, त, च आदि प्रयुक्त की हैं । तीसरे, उन्होंने अक्षर और मात्रा गणों में कोई भेद नहीं किया; तथा संस्कृत के अक्षर-गण वृत्तों को भी प्राकृत के व मात्रा-गण के रूप में दर्शाया है । चौथे, स्वयंभू ने पाद के बीच यति के सम्बन्ध में दो परम्पराओं का उल्लेख किया है, जिनमें से मांडव्य, भरत, कश्यप, और सैतव ने यति

नहीं मानी। स्वयंभू ने अपने को इसी परम्परा का प्रकट किया है। और पांचवें, उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे उनके समय के प्राकृत लोक-साहित्य में से, बिना किसी धार्मिक व साम्प्रदायिक भेद भाव के लिये हैं, और अधिकांश के साथ उनके कर्ताओं का भी उल्लेख कर दिया है। कुल उदाहरणात्मक पद्यों की संख्या २०६ है, जिनमें से १२८ प्राकृत के, और शेष अपभ्रंश के हैं। उल्लिखित कवियों की संख्या ५८ है, जिनमें सबसे अधिक पद्यों के कर्ता सुद्धसहाव (सुद्धस्वभाव) और सुद्धसील पाये जाते हैं। आश्चर्य नहीं, वे दोनों एक ही हों। शेष में कुछ परिचित नाम हैं—कालिदास, गोविन्द, चतुर्मुख, मयूर, वेताल, हाल आदि। दो स्त्री कवियों के नाम राहा और बिज्जा ध्यान देने योग्य हैं। अपभ्रंश के उदाहरणों में गोविन्द और चतुर्मुख की कृतियों की प्रधानता है, और उन पर से उनकी क्रमशः हरिवंश और रामायण विषयक रचनाओं की संभावना होती है। उपर्युक्त प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम पद्य में स्वयंभू ने अपनी रचना को पंचसंसारभूत कहा है, जिससे उनका अभिप्राय है कि उन्होंने अपनी इस रचना में गणों का विघ्न द्विमात्रिक से लेकर छह मात्रिक तक पांच प्रकार से किया है।

कविवर्यल नामक प्राकृत छंद-शास्त्र के कर्ता का नाम अज्ञात है। इसका सम्पादन एक मात्र ताडपत्र प्रति पर से किया गया है, जिसके आदि और अन्त के पत्र अप्राप्त होने से दोनों ओर का कुछ भाग अज्ञात है। कर्ता का भी प्राप्त अंश से कोई पता नहीं चलता। साथ में संस्कृत टीका भी मिली है, किन्तु उसके भी कर्ता का कोई पता नहीं। तथापि नन्दिबेणुकृत अजित-शान्तिस्तव के टीकाकार जिनप्रभ सूरि ने इस ग्रन्थ का जो नामोल्लेख व उसके ३४ पद्य उद्धृत किये हैं, उस पर से इतना निश्चित है कि उसका रचनाकाल वि० स० १३६५ से पूर्व है। ग्रन्थ में रत्नावली के कर्ता हर्षदेव, हेमचन्द्र, सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल आदि के नाम आये हैं, जिनसे ग्रन्थ की पूर्वावधि १३ वीं शती निश्चित हो जाती है। अर्थात् यह ग्रन्थ ईस्वी सन् ११७२ और १३०८ के बीच कभी लिखा गया है। ग्रन्थ में छह उद्देश हैं। प्रथम उद्देश में मात्रा और वर्या गणों का, दूसरे में मात्रा छंदों का, तीसरे में वर्या-वृत्तों का, चौथे में २६ जातियों का, पांचवें में बैतालीय आदि ११ उभयछंदों का और छठे में छह प्रत्ययों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर २४ सम, १५ अर्धसम और १३ मिश्र अर्थात् ५२ प्राकृत छंदों का यहां निरूपण है, जो स्पष्ट ही अपूर्ण है; विशेषतः जब कि इसकी रचना स्वयंभू और हेमचन्द्र की कृतियों के पश्चात् हुई है। तथापि लेखक का उद्देश्य संपूर्ण छंदों का नहीं, किन्तु उनके कुछ सुप्रचलित रूपों मात्र का प्ररूपण करना प्रतीत होते हैं। उदाहरणों की संख्या ६६ है, जो सभी स्वयं ग्रन्थकार

के स्वनिमित्त प्रतीत होते हैं। टीका में अन्य ६१ उदाहरण पाये जाते हैं, जो अन्यत्र से उद्धृत हैं। द्वितीय उद्देश अन्तर्गत मात्रावृत्तों का निरूपण बहुत कुछ तो हेमचन्द्र के अनुसार है, किन्तु कहीं कहीं कुछ मौलिकता पाई जाती है।

छन्दःकोश के कर्ता रत्नशेखर नागपुरीय तपागच्छ के हेमतिलकसूरि के शिष्य थे, जिनका जन्म, पट्टावली के अनुसार, वि० सं० १३७२ में हुआ था, तथा जिनकी अन्य दो रचनायें श्रीपालचरित्र (वि० सं० १४२८) और गुरास्थान-कमारोह (वि० सं० १४४७) प्रकाशित हो चुकी हैं। ग्रन्थ में कुल ७४ प्राकृत व अपभ्रंश पद्य हैं और इनमें क्रमशः लघु-गुरु अक्षरों व अक्षर गणों का, आठ वर्णवृत्तों का, ३० मात्रा-वृत्तों का, और अन्त में गाथा व उसके भेदप्रभेदों का निरूपण किया गया है। प्राकृत-पिंगल मे जो ४० मात्रावृत्त पाये जाते हैं, उनसे प्रस्तुत ग्रन्थ के १५ वृत्त सर्वथा नवीन हैं। इनके लक्षण व उदाहरण सब अपभ्रंश में हैं, व एक ही पद्य में दोनों का समावेश किया गया है। गाथाओं के लक्षण आदि प्राकृत गाथाओं में हैं। अपभ्रंश छंदों के निरूपक पद्यों में बहुत से पद्य अन्यत्र से उद्धृत किये हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनके साथ उनके कर्ताओं के नाम, जैसे गुल्ह, अर्जुन, पिंगल आदि जुड़े हुए हैं। इनमें पिंगल के नाम पर से सहज ही अनुमान होता है कि छंदःकोश के कर्ता ने वे पद्य उपलब्ध प्राकृतपिंगल में से लिये होंगे, किन्तु बात ऐसी नहीं है। वे पद्य इस प्राकृत पिंगल में नहीं मिलते। कुछ पद्य ऐसे भी हैं जो यहां गुल्ह कवि कृत या बिना किसी कर्ता के नाम के पाये जाते हैं, और वे ही पद्य प्राकृत पिंगल में पिंगल के नाम-निर्देश सहित विद्यमान हैं। इससे विद्वान् सम्पादक डा० वेलनकर ने यह ठीक ही अनुमान किया है कि यथार्थतः दोनों ने ही उन्हें अन्यत्र से लिया है; किन्तु रत्न-शेखर ने उन्हें सचाई से ज्यों का त्यों रहने दिया है, और पिंगल ने पूर्वं कर्ता का नाम हटाकर अपना नाम समाविष्ट कर दिया है। पिंगल की वर्तमान रचना में से रत्न-शेखर द्वारा अवतरण लिये जाने की यों भी संभावना नहीं रहती, क्योंकि पिंगल में रत्नशेखर से पश्चात्कालीन घटनाओं का भी उल्लेख पाया जाता है। अतएव सिद्ध होता है कि पिंगल की जिस रचना का छन्दःकोश में उपयोग किया गया है, वह वर्तमान प्राकृत पिंगल से पूर्व की कोई भिन्न ही रचना होगी, जैसा कि अन्य अनेक पिंगल सम्बन्धी उल्लेखों से भी प्रमाणित होता है।

संस्कृत में रचित हेमचन्द्र कृत छंदोनुशासन (१३ वीं शती) का उल्लेख छंदःशूङ्गामणि नाम से भी आता है। यह रचना आठ अध्यायों में विभक्त है और उसपर स्वोपज्ञ टीका भी है। इस रचना में हेमचन्द्र ने, जैसा उन्होंने अपने व्याकरणादि ग्रन्थों

में किया है, यथाशक्ति अपने समय तक आविष्कृत तथा पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित समस्त संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश छंदों का समावेश कर देने का प्रयत्न किया है, भले ही वे उनके समय में प्रचार में रहे हों या नहीं। भरत और पिंगल के साथ उन्होंने स्वयंभू का भी आदर से स्मरण किया है। माण्डव्य, भरत, काश्यप, सैतव, जयदेव, आदि प्राचीन छंदःशास्त्र प्रणेताओं के उल्लेख भी किये हैं। उन्होंने छंदों के लक्षण तो संस्कृत में लिखे हैं, किन्तु उनके उदाहरण उनके प्रयोगानुसार संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में दिये हैं। उदाहरण उनके स्वनिर्मित हैं; कही से उद्धृत किये हुए नहीं। हेमचन्द्र ने अनेक ऐसे प्राकृत छंदों के नाम, लक्षण और उदाहरण भी दिये हैं, जो स्वयंभू-छंदस् में नहीं पाये जाते। स्वयंभू ने जहां १ से २६ अक्षरों तक के वृत्तों के लगभग १०० भेद किये हैं, वहां हेमचन्द्र ने उनके २८६ भेद-प्रभेद बतलाये हैं, जिनमें दण्डक सम्मिलित नहीं हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के समस्त प्रकार के छंदों के शास्त्रीय लक्षणों व उदाहरणों के लिये यह रचना एक महाकोष है।

छंदःशास्त्र-संस्कृत—

संस्कृत में अन्य भी अनेक छंद विषयक ग्रन्थ पाये जाते हैं, जैसे नेमि के पुत्र वाग्भट्ट कृत ५ अध्यायात्मक छंदोनुशासन, जिसका उल्लेख काव्यानुशासन में पाया जाता है; जयकीर्ति कृत छंदोनुशासन जो वि० सं० ११६२ की रचना है। जिनदत्त के शिष्य अमरचन्द्र कृत छंदो-रत्नावली, रत्नमंजूषा अपरनाम छंदो-विचिंति के कुल १२ अध्यायों में आठ अध्यायों पर टीका भी मिलती है, आदि। इन रचनाओं में भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, तथापि शास्त्रीय दृष्टि से उनके सम्पूर्ण विषय का प्ररूपण पूर्वोक्त ग्रंथों में समाविष्ट पाया जाता है।

कोश-प्राकृत —

प्राकृत कोषों में सर्वप्राचीन रचना धनपाल कृत पाइयलच्छी-नाममाला है, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार कर्ता ने अपनी कनिष्ठ भगिनी सुन्दरी के लिये धारा-नगरी में वि० सं० १०२६ में लिखी थी, जबकि मालव नरेन्द्र द्वारा मान्यसेट लूटा गया था। यह घटना अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध होती है। धारानरेश हर्षदेव के एक शिलालेख में उल्लेख है कि उसने राष्ट्रकूट राजा क्षोडिगदेव की लक्ष्मी का अपहरण किया था। इस कोष में अमरकोष की रीति से प्राकृत पद्यों में लगभग १००० प्राकृत शब्दों के पर्यायवाची शब्द कोई २५० गाथाओं में दिये गये हैं। प्रारंभ में कमजासनादि

१८ नाम-पर्याय एक-एक गाथा में, फिर लोकाग्र आदि १६७ तक नाम आधी-आधी गाथा में, तत्पश्चात् ५६७ तक एक-एक चरण में, और शेष छिन्न अर्थात् एक गाथा में कहीं चार, कहीं पांच और कहीं छह नाम कहे गये हैं। ग्रन्थ के ये ही चार परिच्छेद कहे जा सकते हैं। अधिकांश नाम और उनके पर्याय तद्भव है। सन्ने देशी शब्द अधिक से अधिक पंचमांश होंगे।

दूसरा प्राकृत कोष हेमचन्द्र कृत देशी-नाम-माला है। यथार्थतः इस ग्रन्थ का नाम स्वयं कर्ता ने कृति के आदि व अन्त में स्पष्टतः देशी-शब्द-संग्रह सूचित किया है, तथा अन्त की गाथा में उसे रत्नावली नाम से कहा है। किन्तु ग्रन्थ के प्रथम सम्पादक डा० पिशैल ने कुछ हस्तलिखित प्रतियों के आधार से उक्त नाम ही अधिक सार्थक समझकर स्वीकार किया है, और पीछे प्रकाशित समस्त संस्करणों में इसका यही नाम पाया जाता है। इस कोष में अपने ढंग की एक परिपूर्ण क्रम-व्यवस्था का पालन किया गया है। कुल गाथाओं की संख्या ७८३ है, जो आठ वर्गों में विभाजित हैं, और उनमें क्रमशः स्वरदि, कवर्गदि, चवर्गदि, टवर्गदि, तवर्गदि, पवर्गदि, यकारदि और सकारादि शब्दों को ग्रहण किया गया है। सातवें वर्ग के आदि में कोषकार ने कहा है कि इस प्रकार की नाम-व्यवस्था व्याकरण में प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध है; और उसी का यहां आदर किया गया है। इन वर्गों के भीतर शब्द पुनः उनकी अक्षर-संख्या अर्थात् दो, तीन, चार, व पांच अक्षरों वाले शब्दों के क्रम से रखे गये हैं, और उक्त सख्यात्मक शब्दों के भीतर भी अकारादि वर्णानुक्रम का पालन किया गया है। इस क्रम से एकार्थवाची शब्दों का आख्यान हो जाने पर फिर उन्हीं अकारादि खंडों के ही भीतर इसी क्रम से अनेकार्थवाची शब्दों का आख्यान किया गया है। इस क्रमपद्धति को पूर्णता से समझने के लिये प्रथम वर्ग का उदाहरण लीजिये। इसमें आदि की छठी गाथा तक दो, १६ तक तीन, ३७ तक चार और ४६ वीं गाथा तक पांच अक्षरों वाले अकारादि शब्द कहे गये हैं। फिर ६० तक अकारादि, शब्दों के दो अक्षरादि क्रम से उनके अनेकार्थ शब्द संग्रहीत हैं। फिर ७२ तक एकार्थवाची और ७६ तक अनेकार्थवाची आकारादि शब्द हैं। फिर इसी प्रकार ८३ तक इकारादि, ८४ में ईकारादि, १३६ तक उकारादि, १४३ में ऊकारादि, १४८ तक एकारादि, और अन्तिम १७४ वीं गाथा तक ओकारादि शब्दों के क्रम से एकार्थ व अनेकार्थवाची शब्दों का चयन किया गया है। यही क्रम शेष सब वर्गों में भी पाया जाता है। स्फुट-पत्रक प्रणाली (काडिंग सिस्टम) के बिना यह क्रम-परिपालन असंभव सा प्रतीत होता है; अतएव यह पद्धति ज्योतिष शास्त्रियों और हेमचन्द्र व उनकी प्रणाली के पालक

व्याकरणों में अवश्य प्रचलित रही होगी ।

देशीनाममाला में शब्दों का चयन भी एक विशेष सिद्धान्तानुसार किया गया है । कर्ता ने आदि में कहा है कि—

जे लक्षणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेषु ।

एण थ गउडलक्खत्तासत्तिसंभवा ते इह विबद्धा ॥३॥

अर्थात् जो शब्द न तो उनके संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के नियमों द्वारा सिद्ध होते, न संस्कृत कोषों में मिलते, और न अलंकार-शास्त्र-प्रसिद्ध गोडी लक्षणा शक्ति से अभिष्ट अर्थ देते, उन्हें ही देशी मानकर इस कोष में निबद्ध किया है । इस पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देश-देश की नाना भाषाओं में प्रचलित व उक्त श्रेणियों में न आने वाले समस्त शब्दों के संग्रह करने की यहां प्रतिज्ञा की गई है ? इसका उत्तर अगली गाथा में ग्रन्थकार ने दिया है कि—

देसविसेसपसिद्धीइ भण्णामाणा अणंतया हुंति ।

तन्हा अस्साइ-पाइय-पयट्ट-भासावित्तसओ देसी ॥४॥

अर्थात् भिन्न भिन्न देशों में प्रसिद्ध शब्दों के आख्यान में लग जायं, तब तो वे शब्द अनन्त पाये जाते हैं । अतएव यहां केवल उन्हीं शब्दों को देशी मानकर ग्रहण किया गया है जो अनादिकाल से प्रचलित व विशेषरूप से प्राकृत कहलाने वाली भाषा में पाये जाते हैं । इससे कोषकार का देशी से अभिप्राय स्पष्टतः उन शब्दों से है जो प्राकृत साहित्य की भाषा और उसकी बोलियों में प्रचलित हैं, तथापि न तो व्याकरणों से या अलंकार की रीति से सिद्ध होते, और न संस्कृत के कोषों में पाये जाते हैं । इस महान् कार्य में उद्यत होने की प्रेरणा उन्हें कहां से मिली, उसका भी कर्ता ने दूसरी गाथा और उसकी स्वोपज्ञ टीका में स्पष्टीकरण कर दिया है । जब उन्होंने उपलब्ध निःशेष देशी शास्त्रों का परिशीलन किया, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि कोई शब्द है तो साहित्य का, किन्तु उसका प्रचार में कुछ और ही अर्थ हो रहा है, किसी शब्द में वरुणों का अनुक्रम निश्चित नहीं है; किसी के प्राचीन और वर्तमान देश-प्रचलित अर्थ में विसंवाद (विरोध) है; तथा कहीं गतानुगति से कुछ का कुछ अर्थ होने लगा है । तब आचार्य को यह आकुलता उत्पन्न हुई कि धरे, ऐसे अप्रभष्ट शब्दों की कीचड़ में फंसे हुए लोगों का किस प्रकार उद्धार किया जाय ? बस, इसी कुतूहलवश वे इस देशी शब्द-संग्रह के कार्य में प्रवृत्त हो गये ।

देशी शब्दों के संबंध की इन सीमाओं का कोषकार ने बड़ी सावधानी से पालन किया है; जिसका कुछ अनुमान हमें उनकी स्वयं बनाई हुई टीका के अवलोकन

पर से होता है। उदाहरणार्थ; ग्रन्थ के प्रारंभ में ही 'अज्ज' शब्द ग्रहण किया है और उसका प्रयोग 'जिन' के अर्थ में बतलाया है। टीका में प्रश्न उठाया है कि 'अज्ज' तो स्वामी का पर्यायवाची आर्य शब्द से सिद्ध हो जाता है? इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि उसे यहां ग्रन्थ के आदि में मंगलवाची समझकर ग्रहण कर लिया है। १८ वीं गाथा में 'अविणयवर' शब्द जार के अर्थ में ग्रहण किया गया है। टीका में कहा है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अविनय-वर' से होते हुए भी संस्कृत में उसका यह अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, और इसलिये उसे यहां देशी माना गया है। ६७ वीं गाथा में 'आरणाल' का अर्थ कमल बतलाया गया है। टीका में कहा गया है कि उसका वाचिक अर्थ यहां इसलिये नहीं ग्रहण किया क्योंकि वह संस्कृतोद्भव है। 'आसियग्र' लोहे के घड़े के अर्थ में बतलाकर टीका में कहा है कि कुछ लोग इसे अयस् से उत्पन्न आर्यासिक का अपभ्रंश रूप भी मानते हैं, इत्यादि। इन टिप्पणों पर से कोषकार के अपने पूर्वोक्त सिद्धान्त के पालन करने की निरन्तर चिन्ता का आभास मिल जाता है। उनकी संस्कृत टीका में इस प्रकार से शब्दों के स्पष्टीकरण व विवेचन के अतिरिक्त गाथाओं के द्वारा उक्त देशी शब्दों के प्रयोग के उदाहरण भी दिये हैं। ऐसी कुल गाथाओं की संख्या ६३४ पाई जाती है। इनमें ७५ प्रतिशत गाथाएं शृंगारात्मक हैं। लगभग ६५ गाथाएं कुमारपाल की प्रशंसा विषयक हैं, और शेष ग्रन्थ। ये सब स्वयं हेमचन्द्र की बनाई हुई प्रतीत होती हैं। शब्द विवेचन के संबंध में अभिमानचिन्ह, अवन्तिसुन्दरी, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल, पाठोद्बल्ल, पादलिप्ताचार्य, राहुलक, शाम्ब, शीलाक और सातवाहन, इन १२ शास्त्रकारों तथा सारतरदेशी और अभिमानचिन्ह, इन दो देशी शब्दों के सूत्र-पाठों के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देशी शब्दों के अनेक कोष ग्रन्थकार के सम्मुख उपस्थित थे। आदि की दूसरी गाथा की टीका में लेखक ने बतलाया है कि पादलिप्ताचार्य आदि द्वारा विरचित देशी शास्त्रों के होते हुए भी उन्होंने किस प्रयोजन से यह ग्रन्थ लिखा। उपर्युक्त नामों में से धनपाल कृत 'पाइय-लच्छी-नाममाला' कोष तो मिलता है, किन्तु शेष का कोई पता नहीं चलता। टीका में कुछ अवतरण ऐसे भी हैं जो धनपाल कृत कहे गये हैं; किन्तु वे उनकी उपलब्ध कृति में नहीं मिलते। मृच्छकटिक के टीकाकार लाला दीक्षित ने 'देशी-प्रकाश' नामक देशी कोष का अवतरण दिया है, तथा क्रमदीश्वर ने अपने संक्षिप्त-सार में 'देशीसार' नामक देशी कोष का उल्लेख किया है। किन्तु दुर्भाग्यतः ये सब महत्वपूर्ण ग्रन्थ अब नहीं मिलते। देशी-नाममाला के प्रथम सम्पादक डा० पिपल ने इस कोष की उदाहरणात्मक गाथाओं के भ्रष्ट पाठों की बड़ी शिकायत की थी। प्रो० मुरलीधर बनर्जी ने अपने संस्करण में पाठों का

बहुत कुछ संशोधित रूप उपस्थित किया है, किन्तु अनेक गाथाओं के संशोधन की अभी भी आवश्यकता है। कोष में संग्रहीत नामों की संख्या प्रोफे० बनर्जी के अनुसार ३६७८ है, जिनमें वे यथार्थ देशी केवल १५०० मानते हैं। शेष में १०० तत्सम, १८५० तद्भव और ५२८ संशयात्मक तद्भव शब्द बतलाते हैं। उक्त देशी शब्दों में उनके मतानुसार ८०० शब्द तो भारतीय आर्य भाषाओं में किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं, किन्तु शेष ७०० के स्रोत का कोई पता नहीं चलता।

कोश-संस्कृत—

संस्कृत के प्राचीनतम जैन कोषकार धनंजय पाये जाते हैं। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं एक नाममाला और दूसरी अनेकार्थनाममाला। इनकी बनाई हुई नाममाला के अन्त में कवि ने अकलंक का प्रमाण, पूज्यपाद का लक्षण (व्याकरण) और द्विसंधान कर्ता अर्थात् स्वयं का काव्य, इस रत्नत्रय को अपूर्व कहा है। इस उल्लेख पर से कोष के रचनाकाल की पूर्वावधि आठवीं शती निश्चित हो जाती है। अनेकार्थ नाममाला का 'हेतावेवं प्रकारादि' श्लोक वीरसेन कृत धवला टीका में उद्धृत पाया जाता है, जिसका रचनाकाल शक सं० ७३८ है। इस प्रकार इन कोषों का रचनाकाल ई० सन् ७८०-८१६ के बीच सिद्ध होता है। नाममाला में २०६ श्लोक हैं, और इनमें संग्रहीत एकार्थवाची शब्दों की संख्या लगभग २००० है। कोषकार ने अपनी सरल और सुन्दर शैली द्वारा यथासम्भव अनेक शब्द-समूहों की सूचना थोड़े से शब्दों द्वारा कर दी है। उदाहरणार्थ, श्लोक ५ और ६ में भूमि आदि पृथ्वी के २७ पर्यायवाची नाम गिनाये हैं, और फिर सातवें श्लोक में कहा है—

तत्पर्यायधरः शैलः तत्पर्यायपतिर्नृपः।

तत्पर्यायइहो वृक्षः शब्दमन्यन्व योजयेत् ॥

इस प्रकार इस एक श्लोक द्वारा कोषकार ने पर्वत, राजा, और वृक्ष, इनके २७-२७ पर्यायवाची ८१ नामों की सूचना एक छोटे से श्लोक द्वारा कर दी है। इसी प्रकार १५वें श्लोक में जल के १८ पर्यायवाची नाम गिनाकर १६वें श्लोक में उक्त नामों के साथ चर जोड़कर मत्स्य, द जोड़कर धन, ज जोड़कर पद्म और घर जोड़कर समुद्र, इनके १८-१८ नाम बना लेने की सूचना कर दी है। अनेकार्थ-नाममाला में कुल ४६ श्लोक हैं, जिनमें लगभग ६० शब्दों के अनेक अर्थों का निरूपण किया गया है।

जैन साहित्य के इस संक्षिप्त परिचय से ही स्पष्ट हो जायगा कि उसके द्वारा

भारतीय साहित्य की किस प्रकार परिपुष्टि हुई है। उसका शेष भारतीय धारा से मेल भी है, और भाषा, विषय व शैली संबंधी अपना महान् वैशिष्ट्य भी है जिसको जाने बिना हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैन साहित्य अभी भी न तो पूरा-पूरा प्रकाश में आया और न अवगत हुआ। शास्त्र-ग्रंथों में सैकड़ों, आश्चर्य नहीं सहस्रों, ग्रंथ अभी भी ऐसे पड़े हैं जो प्रकाशित नहीं हुए, व जिनके नाम का भी पता नहीं है। प्रकाशित साहित्य के भी आलोचनात्मक अध्ययन, अनुवादों के क्षेत्र में विद्वानों के प्रयास के लिये पर्याप्त अवकाश है।

जिन प्राकृत भाषाओं—अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश-का उल्लेख जैन साहित्य के परिचय में यथास्थान किया व स्वरूप समझाया गया है उनके कुछ साहित्यिक अवतरण अनुवाद सहित यहां प्रस्तुत किये जाते हैं ।

अवतरण—१

अर्धमागधी प्राकृत

पुच्छिसु णं समणा माहणा य अगारिणो य परतित्थिया य ।
 से केइ नेगन्तहियं धम्ममाहु अणेलिसं साहु समिक्खयाए ॥१॥
 कहं च नाणं कह दंसणं से सीलं कहं नायसुयस्स आसि ।
 जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं अहासुयं बूहि जहा निसंतं ॥२॥
 खेयन्नए से कुसलासुपन्ने अनन्तनाणी य अनन्तदंसी ।
 जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥३॥
 उदुडं अहे य तिरियं दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा ।
 से निच्चनिच्चेहि समिक्ख पन्ने दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥४॥
 से सव्वदंसी अभिभूयनाणी निरामगंघे धिइमं ठियप्पा ।
 अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं गंधा अईए अभए अणाऊ ॥५॥
 से भूइपन्ने अणिएअचारी ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू ।
 अणुत्तरं तप्पइ सूरिए वा वइरोयणिदे व तमं पणासे ॥६॥

(सूयगडं, १, ६, १-६)

(अनुवाद)

श्रमण, ब्राह्मण, गृहस्थ तथा अन्यधर्मावलम्बियों ने (गणधर स्वामी से) पूछा— वे कौन हैं जिन्होंने सुन्दर समीक्षा पूर्वक इस सम्पूर्ण हितकारी असाधारण धर्म का उपदेश दिया है? इस धर्म के उपदेष्टा ज्ञातपुत्र (महावीर) का कैसा ज्ञान था, कैसा दर्शन और कैसा शील था? हे भिक्षु, तुम यथार्थ रूप से जानते हो। जैसा सुना हो, और जैसा धारण किया हो, वैसा कहो। इसपर गणधर स्वामी ने कहा— वे भगवान् महावीर क्षेत्रज्ञ (अर्थात् आत्मा और विश्व को जानने वाले) थे, कुशल आशुप्रज्ञ, अनंतज्ञानी व अनंत-दर्शी थे। उन यशस्वी, साक्षात् अरहत अवस्था में स्थित, भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म और धृति (संयम में रति) को देख लो और जान लो। ऊर्ध्व, अधः एवं उत्तर-दक्षिण आदि तिर्यक् दिशाओं में जो भी त्रस या स्थावर जीव हैं, उन सबके नित्य-अनित्य गुणधर्मों की समीक्षा करके उन ज्ञानी भगवान् ने सम्यक् प्रकार से दीपक के समान धर्म को प्रकट किया है। वे भगवान् सर्वदर्शी, ज्ञानी, निरामगंध (निष्पाप), धृतिमान् स्थितात्मा, सर्व जगत् में अद्वितीय विद्वान्, ग्रंथातीत (अर्थात् परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ), अभय और अनायु (पुनर्जन्म रहित) थे। वे भूतिप्रज्ञ (द्रव्य-स्वभाव को जानने वाले), अनिकेतचारी (गृहत्याग कर विहार करने वाले), संसार समुद्र के तरने वाले, धीर, अनंतचक्षु (अनंतदर्शी) असाधारण रूप से उसी प्रकार तत्पायमान व अधकार में प्रकाश वाले हैं, जैसे सूर्य, वैरोचन (अग्नि) व इन्द्र।

अवतरण—२

अर्धमागधी—प्राकृत

कम्मसंगेहि सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा ।
 अमाणसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥१॥
 कम्माणं तु पहाणाए आणुपुब्बी कयाइ उ ।
 जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं ॥२॥
 माणुस्सं विग्गहं लद्धं सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
 जं सोच्चा पडिवज्जन्ति तवं खन्तिमहिसयं ॥३॥
 आहच्च सवणं लद्धं सद्धा परमदुल्लहा ।
 सोच्चा नेआउसं मगं बहुवे परिभस्सई ॥४॥

सुइं च लद्धं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं ।

बहवे रोयमाणा वि नो य जं पडिवज्जए ॥५॥

माणुसत्तम्मि आयाउ जो धम्मं सोच्च सहहे ।

तपस्सी वीरियं लद्धं संवुडे निद्धणे रयं ॥६॥

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।

निव्वाणं परमं जाइ घयसित्ति व्व पावए ॥७॥

(उत्तराध्ययन, ३-६-१२)

(अनुवाद)

कर्मों के संसर्ग से मोहित हुए प्राणी दुखी व बहुत वेदनाओं से युक्त होते हुए अमानुषिक (पशु-पक्षी आदि तिर्यंच) योनियों में पड़ते हैं। कदाचित् अनुपूर्वी से कर्मों की क्षीणता होने पर जीव शुद्धि प्राप्त कर मनुष्यत्व ग्रहण करते हैं। मनुष्य शरीर पाकर भी ऐसा धर्म-श्रवण पाना दुर्लभ है, जिसको सुनकर (जीव) क्षमा, अहिंसा व तप का ग्रहण करते हैं। यदि किसी प्रकार धर्म-श्रवण मिल भी गया, तो उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, और इसलिए बहुत से लोग उद्धार करने वाले मार्ग (धर्म) को सुनकर भी भ्रष्ट हो जाते हैं। धर्म-श्रवण पाकर व श्रद्धा प्राप्त होने पर भी वीर्य (धर्माचरण में पुरुषार्थ) दुर्लभ है। बहुत से जीव रुचि (श्रद्धा) रखते हुए भी सदा-चरण नहीं करते। मनुष्य-योनि में आकर जो धर्म का श्रवण करता है और श्रद्धान रखता है, एवं तपस्वी हो पुरुषार्थ लाभ करके आत्म-संवृत्त होता है, वह कर्म-रज को झड़ा देता है। सरल-स्वभावी प्राणी को ही शुद्धि प्राप्त होती है और शुद्ध प्राणी के ही धर्म स्थिर होता है। वही परम निर्वाण को जाता है, जैसे घृत से सींची जाने पर अग्नि (ऊपर को जाता है)।

अवतरण—३

शौरसेनी प्राकृत

राणी रागप्पजहो सव्वदब्बेसु कम्ममज्झगदो ।

राो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दमज्झे जहा कणयं ॥१॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
 लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दमज्झे जहा लोहं ॥२॥
 णागफणीए मूलं णाइणि-तोएण गब्भणागेण ।
 णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण ॥३॥
 कम्मं हवेइ किट्ठं रागादी कालिया अह विभाओ ।
 सम्मत्ताणाचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥४॥
 ज्ञाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो ।
 जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहि ॥५॥
 भुज्जंतस्स वि दव्वे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये विविहे ।
 संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्हगो कादु ॥६॥
 तह णाणिस्स दु विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
 भुज्जंतस्स वि णाणं णवि सक्कदि रागदो(णाणदो)रोदुं ॥७॥
 (कुन्दकुन्दः समयसार २२९-२३५)

(अनुवाद)

ज्ञानी सब द्रव्यों के राग को छोड़कर कर्मों के मध्य में रहते हुए भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता, जैसे कदम के बीच सुवर्ण । किन्तु अज्ञानी समस्त द्रव्यों में रक्त हुआ कर्मों के मध्य पहुँच कर कर्म-रज से लिप्त होता है, जैसे कदम में पड़ा लोहा । नागफणी का मूल, नागिनी तोय गर्भनागसे मिश्रित कर (लोहे को) भस्त्रिका की धोंकसे अग्नि में तपाने पर शुद्ध सुवर्ण बन जाता है । कर्म कीट है, और रागादि विभाव उसकी कालिमा । इनको दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही परम औषधि जानना चाहिये । ध्यान अग्नि है, तपश्चरण धोंकनी (भस्त्रिका) कहा गया है । जीव लोहा है जो परम योगियो द्वारा धोंका जाता है, (और इस प्रकार परमात्मा रूपी सुवर्ण-बना लिया जाता है) । सचित्त, अचित्त, व मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से भी शंख की सफेदी काली नहीं की जा सकती । उसी प्रकार ज्ञानी के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप विविध द्रव्यों का उपभोग करने पर भी राग द्वारा उसके ज्ञान स्वभाव का अपहरण नहीं किया जा सकता (अर्थात् ज्ञान को अज्ञान रूप परिणत नहीं किया जा सकता) ।

अवतरण—४

शौरसेनी प्राकृत

जीवो राणसहावो जह अग्नी उण्हवो सहावेण ।
 अत्थंतर-भूदेण हि राणेण एण सो हवे राणी ॥१॥
 जदि जीवादो भिण्णं सव्व-पयारेण हवदि तं राणं ।
 गुण-गुणि-भावो य तहा दूरेण पणस्सदे दुण्हं ॥२॥
 जीवस्स वि राणस्स वि गुणि-गुण-भावेण कीरेण भेओ ।
 जं जाणदि तं राणं एव भेओ कहं होदि ॥३॥
 राणं भूय-वियारं जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो ।
 जीवेण विणा राणं किं केण वि दीसदे कत्थ ॥४॥
 सच्चेयण-पच्चक्खं जो जीवं गोव मण्णदे मूढो ।
 सो जीवं एण मुणंतो जीवाभावं कहं कुणदि ॥५॥
 जदि ए य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि ।
 इंदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥६॥
 संकप्प-मओ जीवो सुह-दुक्खमयं हवेइ संकप्पो ।
 तं चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥७॥
 देह-मिलिदो हि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा ।
 तम्हा पवट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे दोण्हं ॥८॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८-१८५)

(अनुवाद)

जीव ज्ञान स्वभावी है, जैसे अग्नि स्वभाव से ही उष्ण है । ऐसा नहीं है कि किसी पदार्थान्तर रूप ज्ञान के संयोग से जीव ज्ञानी बना हो । यदि ज्ञान सर्वप्रकार से जीव से भिन्न है, तो उन दोनों का गुणगुणी भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है (अर्थात् उनके बीच गुण और गुणी का संबंध नहीं बन सकता) । जीव और ज्ञान के बीच यदि गुणी और गुण के भाव से भेद किया जाय, तो जब जो जानता है वही ज्ञान है, यह ज्ञान का स्वरूप होने पर दोनों में भेद कैसे बनेगा ? जो ज्ञान को भूत-विकार (जड़तत्त्व का

रूपान्तर) मानता है, वह स्वयं भूत-गृहीत (पिशाच से आविष्ट) है, ऐसा समझना चाहिये। क्या किसी ने कही जीव के बिना ज्ञान को देखा है? जीव के स्वचेतन (स्वसंवेदन) प्रत्यक्ष होने पर भी जो मूर्ख उसे नहीं मानता, वह जीव नहीं है, ऐसा विचार करता हुआ, जीव का अभाव कैसे स्थापित कर सकता है? (अर्थात् वस्तु के सद्भाव या अभाव का विचार करना, यही तो जीव का स्वभाव है)। यदि जीव नहीं तो सुख और दुःख का वेदन कौन करता है, एवं समस्त इन्द्रियों के विषयों को विशेष रूप से कौन जानता है? जीव संकल्पमय है, और संकल्प सुख-दुःख मय है। उसी को सर्वत्र देह से मिला हुआ जीव वेदन करता है। क्योंकि देह से मिला हुआ जीव ही समस्त कर्म करता है, इसीकारण दोनों में प्रवर्तमान एकत्व दिखाई देता है।

अवतरण—५

महाराष्ट्री प्राकृत

एए रिबू महाजस, जिणमि अहं न एत्थ संदेहो ।
 वच्च तुम अइतुरिओ, कन्तापरिरक्खणं कुणसु ॥१॥
 एव भणिओ णियत्तो, तूरन्तो पाविओ तमुद्देसं ।
 न य पेच्छइ जणयसुयं, सहसा ओमुच्छिओ रामो ॥२॥
 पुणरवि य समासत्थो, दिट्ठी निक्खवइ तत्थ तरुगहणे ।
 घणपेम्माउलहियओ, भणइ तओ राहवो वयणं ॥३॥
 एहेहि इओ सुन्दरि, बाया मे देहि, मा चिरावेहि ।
 दिट्ठा सि रक्खगहणे, किं परिहासं चिरं कुणसि ॥४॥
 कन्ताविओगदुहिओ, तं रण्णं राहवो गवेसन्तो ।
 पेच्छइ तओ जडागि, केंकायन्तं महि पडियं ॥५॥
 पक्खिस्स कण्णजावं, देइ मरन्तस्स सुहयजोएणं ।
 मोतूण पूइदेहं, तत्थ जडाऊ सुरो जाओ ॥६॥
 पुणरवि सरिऊण पियं, मुच्छा गन्तूण तत्थ आसत्थो ।
 परिभमइ गवेसन्तो, सीयासीयाकउल्लावो ॥७॥

भो भो मत्त महागय, एत्थारण्णे तुमे भमन्तेणं ।
 महिला सोमसहावा, जइ दिट्ठा किं न साहेहि ॥८॥
 तरुवर तुम पि वच्चसि, दूरुन्नयवियडपत्तलच्छाय ।
 एत्थं अपुव्वविलया, कह ते नो लक्खिया रण्णे ॥९॥
 सोऊण चक्कवाई, वाहरमाणी सरस्स मज्झत्था ।
 महिलासकाभिमुहो, पुणो वि जाओ च्चिय निरासो ॥१०॥
 (पउमचरियं, ४४, ५०-५९)

(अनुवाद)

(रावण के सिंहनाद को लक्ष्मण का समझकर जब राम खरदूषण की युद्ध भूमि में पहुंचे, तब उन्हें देख लक्ष्मण ने कहा) — हे महायश, इन शत्रुओं को जीतने के लिये तो मैं ही पर्याप्त हूँ, इसमें संदेह नहीं; आप प्रतिशीघ्र लौट जाइये और सीता का परिरक्षण कीजिये । लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर राम वहां से लौटे, और जल्दी-जल्दी अपनी कुटी पर आये; किन्तु उन्हें वहां जनक-सुता दिखाई न दी । तब वे सहसा मूर्च्छित हो गये । फिर चेतना जागृत होने पर वे वृक्षों के वन में अपनी दृष्टि फेंकने लगे, और सघन प्रेम से व्याकुल हृदय हो कहने लगे — हे सुदरी, जल्दी यहां आओ, मुझसे बोलो, देर मत करो; मैंने तुम्हें वृक्षों की वीहड़ में देख लिया है, अब देर तक परिहास क्यों कर रही हो ? कान्ता के वियोग में दुखी राघव ने उस अरण्य में दूढ़ते-दूढ़ते जटायु को देखा, जो पृथ्वी पर पड़ा तड़फड़ा रहा था । राम ने उस मरते हुए पक्षी के कान में रामोकार मंत्र का जाप सुनाया । उस शुभयोग से जटायु अपने उस अशुचि देह को छोड़कर देव हुआ । राम फिर भी प्रिया का स्मरण कर मूर्च्छित हो गये, व आश्वस्त होने पर — हाय सीता, हाय सीता, ऐसा प्रलाप करते हुए उनकी खोज में परिभ्रमण करने लगे । हाथी को देखकर वे कहते हैं — हे मत्त महागज, तुमने इस अरण्य में भ्रमण करते हुए एक सौम्य-स्वभाव महिला को यदि देखा है, तो मुझे बतलाते क्यों नहीं ? हे तरुवर, तुम तो खूब उन्नत हो, बिकट हो और पत्रों की छाया युक्त हो; तुमने यहां कहीं एक अपूर्व स्त्री को देखा हो तो मुझे कहो ? राम ने सरोवर के मध्य से चकवी की ध्वनि सुनी, वे वहां अपनी पत्नी की शंका (आत्ता) से उस ओर बढ़े, किन्तु फिर भी वे निराश ही हुए ।

अवतरण—६

महाराष्ट्री प्राकृत

जत्थ चुलुक्क--निवाणं परिमल-जम्मो जसो कुसुम-दामं ।
 नहमिव सव्व-गम्भो दिस-रमणीण सिराईं सुरहेइ ॥१॥
 सव्व-वयाणं मज्झिम-वयं व सुमणाण जाइ-सुमणं व ।
 सम्माण मुत्ति-सम्मं व पुहइ-नयराण जं सेयं ॥२॥
 चम्मं जाण न अच्छी णाणं अच्छीईं तारा वि मुणीण ।
 विअसन्ति जत्थ नयणा किं पुण अन्नाण नयणाइं ॥३॥
 गुरुणो वयणा वयणाइं ताव माहप्पमवि य माहप्पो ।
 ताव गुणाइ पि गुणा जाव न जस्सिं बुहे निअइ ॥४॥
 हरि-हर-विहिणो देवा जत्थन्नाईं वसन्ति देवाइं ।
 एयाए महिमाए हरिओ महिमा सुर-पुरीए ॥५॥
 जत्थञ्जलिणा कणायं रयणाईं वि अञ्जलीइ देइ जणो ।
 कणाय-निही अक्खीणो रयण-निही अक्खया तह वि ॥६॥
 तत्थ सिरि-कुमारवालो बाहाए सव्वओ वि धरिअ-धरो ।
 सुपरिट्ठ-परीवारो सुपइट्ठो आसि राइन्दो ॥७॥
 (कुमारपाल-चरित, १, २२-२८)

(अनुवाद)

उस अणहिलपुर नगर में चालुक्य-वंशी राजाओं का यश आकाश की समस्त दिशाओं में ऐसा फैल रहा था, जैसे मानों दिशा रूपी रमणियों के मस्तकों को उनके जूड़े की पुष्पमाला का परिमल सुगंधित कर रहा हो । जैसे सब बयो में मध्यम-वय (यौवन), पुष्पों में चमेली का पुष्प व सुखों में मोक्ष का सुख श्रेष्ठ माना गया, उसी प्रकार पृथ्वी भर के नगरों में अणहिलपुर श्रेष्ठ था । जिनके चर्म चक्षु नहीं हैं, केवल ज्ञान रूपी आँखें हैं, ऐसे मुनियों के नेत्र भी उस नगर को देखने के लिये विकसित हो उठते थे, दूसरों के नेत्रों की तो बात ही क्या ? गुरु (बृहस्पति) के वचन तभी तक वचन थे, माहात्म्य भी तभीतक माहात्म्य था, और गुण भी तभी तक गुण थे, जब तक किसी ने इस नगरी के विद्वानों को नहीं देखा । यहां विष्णु, महादेव, ब्रम्हा एवं

अन्य भी अनेक देवता निवास करते थे, जिससे इसकी महिमा ने (एकमात्र इन्द्रदेव वाली) सुर-पुरी की महिमा को तिरस्कृत किया था। यहां लोग अंजलि भरभर कर सुवर्ण और रत्न दान करते थे, तो भी उनके सुवर्ण और रत्नों की निधियां अक्षय बनी हुई थीं। ऐसे उस अनहिलपुर नगर में अपने बाहु पर समस्त धरा को धारण किये हुए सुप्रतिष्ठ परिवार सहित राजेन्द्र श्री कुमारपाल सुप्रतिष्ठित थे।

अवतरण—७

अपभ्रंश

सहुं दोहिं मि गेहगिहिं तुरंगें सहुं वीरेण तेण मायंगें ।
 गउ असचिधु एावर कस्सीरहो कस्सीरय-परिमिलियसमीरहो ।
 कस्सीरउ पट्ठणु संपाइउ चामरछत्तभिच्चरह - राइउ ।
 एांदु राउ सवडंमुहुं आइउ एारिहे पेम्मजरुल्लउ लाइउ ।
 का वि कंत झूरवइ दुचित्ती का वि अरांगपलोयणे रत्ती ।
 पाएं पडइ मूढ जामायहो धोयइ पाय घएं घर आयहो ।
 चिवइ तेल्लु पाणिउ मण्णेप्पिणु कुट्ठु देइ छूडु दारु भणेप्पिणु ।
 अइ अण्णामणा डिंभु चित्तेप्पिणु गय मज्जारयपिल्लउ लेप्पिणु ।
 धूवइ खीरु का वि जलु मंथइ का वि असुत्तउ मालउ गुंथइ ।
 ढोयइ सुहयहो सुहइ जगोरी भासइ हउं पिय दासि तुहारी ।
 (गायकुमारचरित-५, ८, ६-१५)

(अनुवाद)

नागकुमार अपनी दोनों गृहिणियों, छोड़े, और उस ब्याल नामक बीर के साथ उस काश्मीर देश को गया जहां का पवन केशर की गंध से मिश्रित था। काश्मीर-पट्टण में पहुंचने पर वहां का राजा नंद चंवर, छत्र, सेवक व रथादि से विराजमान स्वागत के लिए सम्मुख आया। उधर नगर-नारियों को प्रेम का ज्वर चढ़ा। कोई कान्ता दुविधा में पड़ी भूरने लगी, और कोई उस कामदेव के अवतार नागकुमार के दर्शन में तल्लीन हो गई। कोई मूढ़ अवस्था में अपने घर भाये हुए जामता के पांव पढ़कर उन्हें धृत से बोने लगी। पानी के बोखे पीने के लिये तेल ले आई, और पान में कत्थे

की जगह लकड़ी का बुरादा ढाल दिया । कोई अति अन्यमनरका बालक समझकर बिल्ली के पिल्ले को उठाकर ले खली । कोई मट्टा समझकर दूध को ही घूमायित करती थी । कोई जल को ही दूध समझकर मथने लगी, और कोई बिना सूत के माला गूथने लगी । कोई सुभग नागकुमार के पास जाकर सुख की इच्छा से कहने लगी—हे प्रिय, मैं तुम्हारी दासी हूँ ।

अवतरण—८

अपभ्रंश

तं तेहउ घणकंचरणपउरु दिट्ठु कुमारि वरणयर ।
 सियवतु वियणु विच्छायच्छवि णं विणु णीरि कमलसरु ॥
 त पुर पविस्समाणएण तेण दिट्ठयं ।
 त ण तित्थु कि पि ज ण लोयणएण इट्ठयं ॥१॥
 बाविकूवसुप्पहवसुप्पसणएणणयं ।
 मढविहारदेहुरेहि सुट्ठु तं रवणणयं ॥२॥
 देवमदिरेसु तेसु अतर णियच्छए ।
 सो ण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए ॥३॥
 सुरहिगंधपरिमल पसूअएहि फंसए ।
 सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए ॥४॥
 पिक्कसालिघणणयं पणट्ठयम्मि तारए ।
 सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि त परारए ॥५॥
 सरवरम्मि पंकयाइं भमिरभमरकंदिरे ।
 सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइं मंदिरे ॥६॥
 हत्थगिज्जवरफलाइं विभएण पिक्खए ।
 केण कारणेण को वि तोडिउं ण भक्खए ॥७॥
 पिच्छिऊण परघणाइं खुब्भए ण लुब्भए ।
 अप्पणम्मि अप्पए वियप्पए सुचितए ॥८॥
 (भविसयत्तकहा-४, ७,)

(अनुवाद)

भविष्यदत्त कुमार ने उस धनकंचन से पूर्ण समुद्र नगर को निर्जन होने के कारण ऐसा शोभाहीन देखा, जैसे मानों जलरहित कमल-सरोवर हो । कुमार ने नगर में प्रवेश किया, और देखा कि वहां ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो लोचनों को इष्ट न हो । वापी और कूप वहां खूब स्वच्छ जल से पूर्ण थे । मठों, विहारों व देवगृहों से नगर खूब रमणीक था । उसने देवालयों में प्रवेश किया, किन्तु वहां उसे ऐसा कोई नहीं दिखाई दिया जो पूजा करना चाहता हो । फूलों की खूब सुगंध आ रही थी; किन्तु वहां ऐसा कोई नहीं था, जो उन्हें हाथसे तोड़कर सूघना चाहे । पकाहुआ शालिधान्य खेतोंमेंही नष्ट हो रहा था, कोई उन्हें बचाकर घर ले जाने वाला वहां नहीं था । सरोवर में भौंरों के भ्रमण और गुजार से युक्त कमल विद्यमान थे, किन्तु वहां कोई ऐसा नहीं था, जो उन्हें तोड़कर मंदिर में ले जावे । उसने विस्मय से देखा कि वहां उत्तम फल लगे हैं, जो हाथ से ही तोड़े जा सकते हैं; किन्तु न जाने किस कारण से कोई उन्हें तोड़कर नहीं खाता । वहां पराये धन को देखकर क्षुब्ध या लुब्ध होने वाला कोई नहीं था । नगर की ऐसी निर्जन अवस्था देखकर कुमार अपने आप में विकल्प और चिन्तन करने लगा ।

व्याख्यान - ३
जैन दर्शन

व्याख्यान—३

जैन दर्शन

तत्त्व-ज्ञान—

समस्त जैनदर्शन का परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है। विश्व के मूल में जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्त्व हैं। इनका परस्पर संपर्क पाया जाता है, और इस संपर्क के द्वारा ऐसे बन्धनों या शक्तियों का निर्माण होता है, जिनके कारण जीव को नाना प्रकार की दशाओं का अनुभव होता है। यदि यह संपर्क की धारा रोक दी जाय, और उत्पन्न हुए बन्धनों को जर्जरित या विनष्ट कर दिया जाय, तो जीव अपनी शुद्ध, बुद्ध व मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। ये ही जैन दर्शन के सात तत्त्व हैं, जिनके नाम हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव, इन दो प्रकार के तत्त्वों का निरूपण जैन तत्त्वज्ञान का विषय है। आस्रव और बंध का विवेचन जैन कर्म-सिद्धान्त में आता है, और वही उसका मनोविज्ञान-शास्त्र है। संवर और निर्जरा चारित्र्य विषयक हैं, और यही जैन धर्म गत आचार-शास्त्र कहा जा सकता है, तथा मोक्ष जैन-धर्मानुसार जीवन की वह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है जिसे प्राप्त करना समस्त धार्मिक क्रिया व आचरण का अन्तिम ध्येय है। यहाँ जैन दर्शन को इन्हीं मुख्य शाखाओं का क्रमशः परिचय व विवेचन करने का प्रयत्न किया जाता है।

जीव तत्त्व—

संसार में नाना प्रकार की वस्तुओं और उनकी अगणित अवस्थाओं का दर्शन होता है। दृश्यमान समस्त पदार्थों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता

है—चेतन और अचेतन। पदार्थों की चेतनता का कारण उनमें व्याप्त, किन्तु इन्द्रियों के अगोचर, वह तत्व है, जिसे जीव या आत्मा कहा गया है। प्राणियों के अचेतन तत्व से निर्मित शरीर के भीतर, उससे स्वतंत्र इस आत्मतत्व के अस्तित्व की मान्यता यथार्थतः भारतीय तत्वज्ञान की अत्यन्त प्राचीन और मौलिक शोध है, जो प्रायः समस्त वैदिक व अवैदिक दर्शनों में स्वीकार की गई है, और यह मान्यता समस्त भारतीय संस्कृति में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सुप्रतिष्ठित पाई जाती है। केवल एकमात्र चार्वाक या बार्हस्पत्य दर्शन ऐसा मिलता है जिसमें जीव या आत्मा की शरीरात्मक भौतिक तत्वों से पृथक् सत्ता नहीं मानी गई। इस दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, जैसे जड़ पदार्थों के संयोग-विशेष से ही वह शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे चैतन्य कहा जाता है। यथार्थतः प्राणियों में इन जड़ तत्वों के सिवाय और कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कोई अपनी पृथक् सत्ता रखती हो, प्राणियों की उत्पत्ति के समय कहीं अन्यत्र से आती हो, अथवा शरीरात्मक भौतिक संतुलन के बिगड़ने से उत्पन्न होनेवाली अचेतनात्मक मरणावस्था के समय शरीर से निकलकर कहीं अन्यत्र जाती हो। इस दर्शन के अनुसार जगत् में केवल एकमात्र अजीव तत्व ही है। किन्तु भारतवर्ष में इस जड़वाद की परम्परा कभी पनप नहीं सकी। इसका पूर्णरूप से प्रतिपादन करनेवाला कोई प्राचीन ग्रन्थ भी प्राप्त नहीं हुआ। केवल उसके नाना अवतरण व उल्लेख हमें आत्मवादी दार्शनिकों की कृतियों में खंडन के लिये ग्रहण किये गये प्राप्त होते हैं; तथा तत्वोपप्लवसिंह जैसे कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें इस अनात्मदर्शन की पुष्टि की गई है।

बौद्धदर्शन आत्मवादी है या अनात्मवादी, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। बुद्ध के वचनों से लेकर पिछले बौद्धाचार्यों की रचनाओं तक में दोनों प्रकार की विचार-धाराओं के पोषक विचार प्राप्त होते हैं। इसमें एक ओर आत्मवाद अर्थात् जीव की सत्ता की स्वीकृति को मिश्रयादृष्टि कहा गया है; जीवन की प्रधारा को नदी की धारा के समान घटना-प्रवाह रूप बतलाया गया है; एवं निर्वाण की अवस्था को दीपक की उस लौ की अवस्था द्वारा समझाया गया है, जो आकाश या पाताल तथा किसी दिशा-विदिशा में न जाकर केवल बुझकर समाप्त हो जाती है।

यथा—वीपो यथा निर्बुत्तिमभ्युपेतो नैवावर्त्ति गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

जीवो तथा निर्बुत्तिमभ्युपेतो नैवावर्त्ति गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया पाया जाता है कि जीवन में ऐसा भी कोई तत्व है जो जन्म-जन्मान्तरों में से होता हुआ चला आता है; जो शरीररूपी घर का निर्माण करता है; शरीर-धारण को दुःखमय पाता है, और उससे छूटने का उपाय सोचता और प्रयत्न करता है; चित्त को संस्कार रहित बनाता और तुष्टा का अग्र कर निर्वाण प्राप्त करता है; यथा—

अनेक-जाति-संसारं संघाबिस्सं अनिब्बिसं ।

गहकारकं गवेसंतो दुक्खा जाति पुनप्युनं ॥

गहकारकं बिट्ठोसि पुन गेहं न काहिसि ।

सब्बा ते फसुका भग्गा गहकूटं विसंखितं ।

विसंसारगतं चित्तं तप्पहा मे लयमवभग्गा ॥ (धम्मपद, १५३-५४)

यहां स्पष्टतः भौतिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा जैसे किसी अन्य अनादि अनन्त तत्व की स्वीकृति का प्रमाण मिलता है ।

जैन दर्शन में जीव तत्त्व—

जैन सिद्धान्त में जीव का मुख्य लक्षण उपयोग माना गया है । उपयोग के दो भेद हैं—दर्शन और ज्ञान । दर्शन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है । सामान्य भाषा में दर्शन का अर्थ होता है—किसी पदार्थ को नेत्रों द्वारा देखने की क्रिया । शास्त्रीय दृष्टि से दर्शन का अर्थ है—जीवन व प्रकृति सम्बन्धी व्यवस्थित ज्ञान, जैसे सांख्य, वेदान्त या जैन व बौद्ध दर्शन । किन्तु जैन सिद्धान्त में जीव के दर्शन रूप गुण का अर्थ होता है—आत्म-चेतना । प्रत्येक जीव में अपनी सत्ता के अनुभवन की शक्ति का नाम दर्शन है, व बाह्य पदार्थों को जानने समझने की शक्ति का नाम है ज्ञान । जीव के इन्हीं दो अर्थात् दर्शन और ज्ञान, अथवा स्वसंवेदन व पर-संवेदन रूप गुणों को उपयोग कहा गया है । जिन पदार्थों में यह उपयोग-शक्ति है, वहां जीव व आत्मा विद्यमान हैं; और जहां इस उपयोग गुण का सर्वथा अभाव है, वहां जीव का अस्तित्व नहीं माना गया । इस प्रकार जीव का निश्चित लक्षण चैतन्य है । इस चैतन्य-युक्त जीव की पहचान व्यवहार में पांच इन्द्रियों, मन, वचन व काय रूप तीन बलों, तथा स्वासोच्छ्वास और आयु, इन दस प्राण रूप लक्षणों की हीनाधिक सत्ता के द्वारा की जा सकती है—

पंच वि ईदियपाणा मनवचकायेसु तिण्णि बलपाणा ।

आसप्पासप्पासा आउगपासेण होंति वस पाणा ॥ (मो० जी० १२६)

जीव के और भी अनेक गुण हैं। उसमें कर्तृत्व-शक्ति है, और उपभोग का सामर्थ्य भी। वह अमूर्त है; और जिस शरीर में वह रहता है उसके समस्त अंग-प्रत्यंगों को व्याप्त किये रहता है—

जीवो उवभोगमग्नो धमुत्ति कत्ता सवेह-परिमाणो ।

भोत्ता संसारत्यो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई ॥

(द्रव्यसंग्रह, गा०-२)

संसार में इसप्रकार के जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में विद्यमान जीव अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, और उस अस्तित्व का कभी संसार में या मोक्ष में विनाश नहीं होता। इस प्रकार जीव के संबंध में जैन विचारधारा वेदान्त दर्शन से भिन्न है, जिसके अनुसार ब्रह्म एक है, और उसका दृश्यमान अनेकत्व सत्य नहीं, माया-जाल है।

जैन दर्शन में संसारवर्ती अनन्त जीवों को दो भागों में विभाजित किया गया है—साधारण और प्रत्येक। प्रत्येक जीव वे हैं, जो एक-एक शरीर में एक-एक रहते हैं, और वे इन्द्रियों के भेदानुसार पांच प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय जीव वे हैं जिनके एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है। इनके पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। स्पर्श और रसना जिन जीवों के होता है, वे द्वीन्द्रिय हैं, जैसे लट आदि। इसी प्रकार चीटी वर्ग के स्पर्श, रसना और घ्राण युक्त प्राणी त्रीन्द्रिय, भ्रमरवर्ग के नेत्र सहित चतुरिन्द्रिय, एवं शेष पशु, पक्षी व मनुष्य वर्गों के श्रोत्रेन्द्रिय सहित जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर और द्वीन्द्रियादि इतर सब जीवों को असंज्ञा दी गई है। इन एक-एक शरीर-धारी वृक्षादि समस्त प्राणियों के शरीरों में ऐसे साधारण जीवों की सत्ता मानी गई है, जिनकी आहार, श्वासोच्छ्वास आदि जीवन-क्रियाएं सामान्य अर्थात् एक साथ होती है। उन के इस सामान्य शरीर को निगोद कहते हैं, और प्रत्येक निगोद में एक साथ जीने व मरने वाले जीवों की संख्या अनन्त मानी गई है—

एग-निगोद-सरीरे जीवा दव्वप्पमाणवो दिट्ठा ।

सिद्धोह अनन्तगुणा, सम्बेण बिबीदकालेण ॥

(गो० जी० १६४)

इन निगोदवती जीवों का आयु-प्रमाण अत्यल्प माना गया है; यहां तक कि एक श्वासोच्छ्वास काल में उनका अठारह बार जीवन व मरण हो जाता है। यही वह जीवों की अनन्त राशि है जिसमें से क्रमशः जीव ऊपर की योनियों में आते रहते

व मुक्त जीवों के संसार से निकलते जाने पर भी संसारी जीवनधारा को अनन्त बनाये रखते हैं। इस प्रकार के साधारण जीवों की मान्यता जैन सिद्धान्त की अपनी विशेषता है। अन्य दर्शनों में इस प्रकार की कोई मान्यता नहीं पाई जाती। वर्तमान वैज्ञानिक मान्यतानुसार एक मिलीमीटर ($\frac{1}{1000}$) प्रमाण रक्त में कोई ५० लाख जीवकोष (सेल्स) गिने जा चुके हैं। आश्चर्य नहीं जो जैन दृष्टाओं ने इसी प्रकार के कुछ ज्ञान के आधार पर उक्त निगोद जीवों का प्ररूपण किया हो। उक्त समस्त जीवों के शरीरों को भी दो प्रकार का माना गया है—सूक्ष्म और बाह्य। सूक्ष्म शरीर वह है जो अन्य किसी भी द्रव्य से बाधित नहीं होता, और जो बाधित होता है, वह बादर (स्थूल) शरीर कहा गया है। पूर्वोक्त पंचेन्द्रिय जीवों के पुनः दो भेद किये गये हैं—एक संज्ञी अर्थात् मन सहित, और दूसरे असंज्ञी अर्थात् मनरहित।

इन समस्त संसारी जीवों की दृश्यमान दो गतियां मानी गई हैं—एक मनुष्यगति और दूसरी पशु-पक्षि आदि सब इतर प्राणियों की तिर्यचगति। इनके अतिरिक्त दो और गतियां मानी गयीं हैं—एक देवगति और दूसरी नरकगति। मनुष्य और तिर्यच गति-वाले पुण्यवान् जीव अपने सत्कर्मों का सुफल भोगने के लिये देवगति प्राप्त करते हैं, और पापी जीव अपने दुष्कर्मों का दंड भोगने के लिये नरक गति में जाते हैं। जो जीव पुण्य और पाप दोनों से रहित होकर वीतराग भाव और केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे संसार की इन चारों गतियों से निकल कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। संसारी जीवों की शरीर-रचना में भी विशेषता है। मनुष्य और तिर्यचो का शरीर औदारिक अर्थात् स्थूल होता है, जिसमें उसी जीवन के भीतर कोई विपरिवर्तन संभव नहीं। किन्तु देवों और नरकवासी जीवों का शरीर बैक्रियिक होता है, अर्थात् उसमें नाना प्रकार की विक्रिया या विपरिवर्तन संभव है। इन शरीरों के अतिरिक्त संसारी जीवों के दो और शरीर माने गये हैं—तैजस और कर्मण। ये दोनों शरीर समस्त प्राणियों के सदैव विद्यमान रहते हैं। मरण के पश्चात् दूसरी गति में जाते समय भी जीव से इनका संग नहीं छूटता। तैजस शरीर जीव और पुद्गल प्रदेशोंमें संयोग स्थापित किये रहता है, तथा कर्मण शरीर उन पुद्गल परमाणुओं का पुज होता है, जिन्हें जीव निरन्तर अपने मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा संचित करता रहता है। इन दो शरीरों को हम जीव का सूक्ष्म शरीर कह सकते हैं। इन चार शरीरों के अतिरिक्त एक और विशेष प्रकार का शरीर माना गया है, जिसे आहारक शरीर कहते हैं। इसका निर्माण ऋद्धिधारी मुनि अपनी शंकाओं के निवारणार्थ दुर्गम प्रदेशों में विशेष ज्ञानियों के पास जाने के लिये अथवा तीर्थवन्दना के हेतु करते हैं।

शरीरधारी संसारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न लिंगधारी होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यञ्च एवं नारकी जीव नियम से नपुंसक होते हैं। पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यञ्च पुरुष-वेदी, स्त्रीवेदी न नपुंसकवेदी तीनों प्रकार के होते हैं। देवों में नपुंसक नहीं होते। उनके केवल देव और देवियां, ये दो ही भेद हैं।

जीवों का शरीरधारण रूप जन्म भी नानाप्रकार से होता है। मनुष्य व तिर्यञ्च जीवों का जन्म दो प्रकार से होता है—गर्भ से या सम्मूर्च्छन से। जो प्राणी माता के गर्भ से जरायु-युक्त अथवा अंडे या पोत (जरायु रहित अवस्था) रूप में उत्पन्न होते हैं, वे गर्भज हैं, और जो गर्भ के बिना बाह्य संयोगो द्वारा शीत उष्ण आदि अवस्थाओं में जीवों की उत्पत्ति होती है, उसे सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं। देव और नारकी जीवों की उत्पत्ति उक्त दोनों प्रकारों से भिन्न उपपाद रूप बतलाई गई है।

अजीव तत्त्व—

अजीव द्रव्यों के पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें रूपवान् द्रव्य पुद्गल है, और शेष सब अरूपी हैं। जितने भी मूर्तिमान् पदार्थ विश्व में दिखाई देते हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य के ही नाना रूप हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चारों तत्त्व, तथा वृक्षों, पशु-पक्षी आदि जीवों व मनुष्यों के शरीर, ये सब पुद्गल के ही रूप हैं। पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप परमाणु है, जो अत्यन्त लघु होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता। अनेक परमाणुओं के संयोग से उनमें परिमाण उत्पन्न होता है; और उनमें स्पर्श, रस, गंध व वर्ण—ये चार गुण प्रकट होते हैं, तभी वह पुद्गल-स्कन्ध (समूह) इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, अन्धकार, छाया, व प्रकाश, ये सब पुद्गल द्रव्य के ही विकार माने गये हैं। पुद्गलों का स्थूलतम रूप महान् पर्वतों व पृथिवियों के रूप में दिखाई देता है। इनसे लेकर सूक्ष्मतम कर्म-परमाणुओं तक पुद्गल द्रव्य के असंख्यात भेद और रूप पाये जाते हैं। पुद्गल स्कन्धों का भेद और संघात निरन्तर होता रहता है। और इसी पूरण व गलन के कारण इनका पुद्गल नाम सार्थक होता है। पुद्गल शब्द का उपयोग जैन सिद्धान्त के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ उसका अर्थ केवल शरीरी जीवों से है। अचेतन जड़ पदार्थों के लिये वहाँ पुद्गल शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता।

धर्म-द्रव्य—

दूसरा अजीवद्रव्य धर्म है। यह अरूपी है, और समस्त लोक में व्याप्त है। इसी

द्रव्य की व्याप्ति के कारण जीवों व पुद्गलों का एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन सम्भव होता है, जिसप्रकार कि जल मछली के गमनागमन का माध्यम बनता है। इस प्रकार 'धर्म' शब्द का यह प्रयोग शास्त्रीय है, और उसकी नैतिक आचरण आदि अर्थवाचक 'धर्म' से भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये।

अधर्म-द्रव्य—

जिसप्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलों के स्थानान्तरण रूप गमनागमन का माध्यम है, उसीप्रकार अधर्म-द्रव्य चलायमान पदार्थ के रुकने में सहायक होता है, जिसप्रकार कि वृक्ष की छाया श्रान्त पथिक को रुकने में निमित्त होती है।

आकाश-द्रव्य—

चौथा अजीबद्रव्य आकाश है, और उसका गुण है—जीवादि अन्य सब द्रव्यों को अवकाश प्रदान करना। आकाश अनन्त है; किन्तु जितने आकाश में जीवादि अन्य द्रव्यों की सत्ता पाई जाती है वह लोकाकाश कहलाता है, और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे अलोकाकाश कहा गया है। उसमें अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व न है, और न हो सकता; क्योंकि वहां गमनागमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है। आकाश द्रव्य का अस्तित्व सभी दर्शनों तथा आधुनिक विज्ञान को भी मान्य है। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्यों की कल्पना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। द्रव्य की आकाश में स्थिति होती है, गमन होता है और रुकावट भी होती है। सामान्यतः ये तीनों अर्थक्रियाएं आकाश गुण द्वारा ही सम्भव मानी जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म विचारानुसार एक द्रव्य द्वारा अपने शुद्ध रूप में एक ही प्रकार की क्रिया सम्भव मानी जा सकती है। विशेषतः जब वे क्रियाएं परस्पर कुछ विभिन्नता को लिये हुए हों, तब हमें यह मानना ही पड़ेगा कि उनके कारण व साधनभूत द्रव्य भिन्न भिन्न होंगे। इसी विचारधारानुसार लोकाकाश में उक्त तीन अर्थ-क्रियाओं के साधनरूप तीन पृथक्-पृथक् द्रव्य अर्थात् आकाश, धर्म और अधर्म की कल्पना की गई है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों का एक ऐसा भी मत है कि आकाश में जहांतक भौतिक तत्वों की सत्ता पाई जाती है, उसके परे उनके गमन में वह आकाश रुकावट उत्पन्न करता है। जैन सिद्धान्तानुसार यह परिस्थिति इस कारण उत्पन्न होती है, क्योंकि उक्त अलोकाकाश में गमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है।

काल-द्रव्य—

पांचवां अजीव द्रव्य काल है, जिसका स्वरूप दो प्रकार से निरूपण किया गया है—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहारकाल। निश्चयकाल अपनी द्रव्यात्मक सत्ता रखता है, और वह धर्म और अधर्म द्रव्यों के समान समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। तथापि उक्त समस्त द्रव्यों से उसकी अपनी एक विशेषता यह है कि वह उनके समान अस्तिकाय अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं है, उसके एक-एक प्रदेश एकत्र रहते हुए भी अपने-अपने रूप में पृथक् है; जिसप्रकार कि एक रत्नों की राशि, अथवा बालुकापुज, जिसका एक-एक कण पृथक्-पृथक् ही रहता है, और जल या वायु के समान एक काय निर्माण नहीं करता। ये एक-एक काल-प्रदेश समस्त पदार्थों में व्याप्त है, और उनमें परिणामन अर्थात् पर्याय-परिवर्तन किया करते हैं। पदार्थों में कालकृत सूक्ष्मतम विपरिवर्तन होने में अथवा पुद्गल के एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने के लिये जितना अश्वान या श्वकाश लगता है, वह व्यवहार काल का एक समय है। ऐसे असंख्यात समयों की एक आवलि, संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास, सात उच्छ्वासों का एक स्तोत्र, सात स्तोत्रों का एक लव, ३८६ लवों की एक नाली, २ नालियों का एक मूर्हत और ३० मूर्हत का एक अहोरात्र होता है। अहोरात्र को २४ घंटे का मानकर उक्त क्रम से १ उच्छ्वास का प्रमाण एक सेकंड का २८८०/३७७३ वां अंश अर्थात् लगभग ३/४ सेकंड होता है। इसके अनुसार एक मिनट में उच्छ्वासों की संख्या ७८६ आती है, जो आधुनिक वैज्ञानिक व प्रायोगिक मान्यता के अनुसार ही है। आवलि व समय का प्रमाण सेकंड से बहुत अधिक सूक्ष्म सिद्ध होता है। अहोरात्र से अधिक की कालगणना पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पूर्वांग, पूर्व, नयुतांग, नयुत आदि क्रम से अक्षप्रल तक की गई है जो ८४ को ८४ से ३१ बार गुणा करने के बराबर आती है। ये सब संख्यात-काल के भेद हैं, जिसका उत्कृष्ट प्रमाण इससे कई गुणा बड़ा है। तत्पश्चात् असंख्यात-काल प्रारम्भ होता है, और उसके भी जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट भेद बतलाये गये हैं। उसके ऊपर अनन्तकाल का प्ररूपण किया गया है, और उसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद बतलाये गये हैं। जिसप्रकार यह व्यवहार-काल का प्रमाण उत्कृष्ट अनन्त (अनन्तानन्त) तक कहा गया है, उसी प्रकार आकाश के प्रदेशों का, समस्त द्रव्यों के अविभागी प्रतिच्छेदों का, एवं केवल ज्ञानी के ज्ञान का प्रमाण भी अनन्तानन्त कहा गया है।

द्रव्यों के सामान्य लक्षण—

जैन दर्शनानुसार ये ही जीव, पुद्गल, धर्म, अचर्म आकाश और काल नामक छह मूलद्रव्य हैं, जिनसे विश्व के समस्त सत्तात्मक पदार्थों का निर्माण हुआ है। इस निर्माण में जो वैचित्र्य दिखलाई देता है वह द्रव्य की अपनी एक विशेषता के कारण सम्भव है। द्रव्य वह है जो अपनी सत्ता रखता है (सद् द्रव्य-लक्षणम्)। किन्तु जैन सिद्धान्त में सत् का लक्षण वेदान्त के समान कूटस्थ-नित्यता नहीं माना गया। यहां सत्का स्वरूप यह बतलाया गया है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीनों लक्षणों से युक्त हो (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्)। तदनुसार उक्त सत्तात्मक द्रव्यों में प्रतिक्षण कुछ न कुछ नवीनता आती रहती है, कुछ न कुछ क्षीणता होती रहती है, और इस पर भी एक ऐसी स्थिरता भी बनी रहती है जिसके कारण वह द्रव्य अपने द्रव्य-स्वरूप से व्युत् नही हो पाता। द्रव्य की यह विशेषता उसके दो प्रकार के धर्मों के कारण सम्भव है। प्रत्येक द्रव्य गुणों और पर्यायों से युक्त है (गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्) गुण वस्तु का वह धर्म है, जो उससे कभी पृथक् नहीं होता, और उसकी ध्रुवता को सुरक्षित रखता है। किन्तु पर्याय द्रव्य का एक ऐसा धर्म है जो निरन्तर बदलता है, और जिसके कारण उसके स्वरूप में सदैव कुछ नवीनता और कुछ क्षीणता रूप परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ—सुवर्ण धातु के जो विशेष गुरुत्व आदि गुण हैं, वे कभी उससे पृथक् नहीं होते। किन्तु उसके मुद्रा, कुंडल, कंकण आदि आकार व संस्थान रूप पर्याय बदलते रहते हैं। इसप्रकार दृश्यमान जगत् के समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का परिपूर्ण निरूपण जैन दर्शन में पाया जाता है; और उसमें अन्य दर्शनों में निरूपित द्रव्य के आंशिक स्वरूप का भी समावेश हो जाता है। जैसे, बौद्ध दर्शन में समस्त वस्तुओं को क्षणध्वंसी माना गया है, जो जैन दर्शनानुसार द्रव्य में निरन्तर होनेवाले उत्पाद-व्यय रूप धर्मों के कारण है; तथा वेदान्त में जो सत् को कूटस्थ नित्य माना गया है, वह द्रव्य की ध्रौव्य गुणात्मकता के कारण है।

आस्रव-तत्त्व—

जैन सिद्धान्त के सात तत्त्वों में प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। अब यहां तीसरे और चौथे आस्रव व बंध नामक तत्त्वों की व्याख्या की जाती है। यह विषय जैन कर्म-सिद्धान्त का है, जिसे हम आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में जैन मनोविज्ञान (साइकोलोजी) कह सकते हैं। सचेतन

जीव संसार में किसी न किसी प्रकार का शरीर धारण किये हुए पाया जाता है। इस शरीर के दो प्रकार के भंग-उपांग हैं, एक हाथ पैर आदि; और दूसरे जिह्वा, नासिका नेत्रादि। इन्हें क्रमशः कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां कहा गया है, और इन्हीं के द्वारा जीव नानाप्रकार की क्रियाएं करता रहता है। विकसित प्राणियों में इन क्रियाओं का संचालन भीतर से एक अन्य शक्ति द्वारा होता है जिसे मन कहते हैं; और जिसे मो-इन्द्रिय नाम दिया गया है। जिह्वा द्वारा, रसना के अतिरिक्त, शब्द या वाणी के उच्चारण का काम भी लिया जाता है। इस प्रकार जीव की क्रियाओं में काय, वाक् और मन, ये विशेषरूप से प्रबल साधन सिद्ध होते हैं, और इनकी ही क्रिया को जैन सिद्धान्त में ज्ञेय कहा गया है। इनके अर्थात् काययोग, वाग्योग और मनोयोग के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में एक परित्स्पंदन होता है, जिसके कारण आत्मा में एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमें उसके आसपास भरे हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल परमाणु आत्मा से आचिपटते हैं। इसी आत्मा और पुद्गल परमाणुओं के संपर्क का नाम आश्रय है; एवं संपर्क में आनेवाले परमाणु ही कर्म कहलाते हैं; क्योंकि उनका आगमन उपर्युक्त काय, वाक् व मन के कर्म द्वारा होता है। इसप्रकार आत्मा के संसर्ग में आनेवाले उन पुद्गल परमाणुओं की कर्म संज्ञा लाक्षणिक है।

काय आदि योगों रूप आत्म-प्रदेशों में उत्पन्न होने वाला उपर्युक्त परित्स्पंदन दो प्रकार का हो सकता है—एक तो किसी क्रोध, मान आदि तीव्र मानसिक विकार से रहित साधारण क्रियाओं के रूप में; और दूसरा क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार तीव्र मनोविकार रूप कषायों के वेग से प्रेरित। प्रथम प्रकार का कर्माश्रय ईर्ष्या-पक्षिक अर्थात् मार्गगामी कहा गया है, क्योंकि उसके द्वारा आत्म और कर्मप्रदेशों का कोई स्थिर बंध उत्पन्न नहीं होता। वह आया और चला गया; जिस प्रकार कि किसी विशुद्ध सूखे वस्त्र पर बैठी घूल शीघ्र ही भड़ जाती है; देर तक वस्त्र से चिपटी नहीं रहती। इस प्रकार का कर्माश्रय समस्त संसारी जीवों में निरन्तर हुआ करता है, क्योंकि उनके किसी न किसी प्रकार की मानसिक, शारीरिक या वाचिक क्रिया सदैव हुआ ही करती है। किन्तु उसका कोई विशेष परिणाम आत्मा पर नहीं पड़ता। परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएं कषायों से युक्त होती हैं, तब आत्म-प्रदेशों में एक ऐसी परपदाश्रयाहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसके संपर्क में आने वाले कर्मपरमाणु उससे शीघ्र पृथक् नहीं होते। यथार्थतः क्रोधादि विकारों की इसी शक्ति के कारण उन्हें कषाय कहा गया है। सामान्यतः वटवृक्ष के दूध के समान चेष-वाले द्रव पदार्थों को कषाय कहते हैं, क्योंकि उनमें चिपकाने की शक्ति होती है। उसी

प्रकार क्रोध, मान आदि मनोविकार जीव में कर्मपरमाणुओं का आश्लेष कराने में कारणीभूत होने के कारण कषाय कहलाते हैं। इस सकषाय अवस्था में उत्पन्न हुआ कर्माश्रय साम्प्रदायिक कहलाता है, क्योंकि उसकी आत्मा में सम्प्रदाय चलती है, और वह अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखलाये बिना आत्मा से पृथक् नहीं होता।

बन्ध तत्त्व—

उक्त प्रकार जीव की सकषाय अवस्था में आये हुए कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों के साथ संबंध हो जाने को ही कर्मबंध कहा जाता है। यह बंध चार प्रकार का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रवेश। प्रकृति वस्तु के शील या स्वभाव को कहते हैं; अतएव कर्म परमाणुओं में जिस प्रकार की परिणाम-उत्पादक शक्तियाँ आती हैं, उन्हें कर्मप्रकृति कहते हैं। कर्मों में जितने काल तक जीव के साथ रहने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे कर्म-स्थिति कहते हैं। उनकी तीव्र या मन्द फलदायिनी शक्तिका नाम अनुभाग है, तथा आत्मप्रदेशों के साथ कितने कर्म-परमाणुओं का बंध हुआ, इसे प्रवेश बंध कहते हैं। इस चार प्रकार की बंध-व्यवस्था के अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त में कर्मों के सत्व, उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, निश्चिन्ता और निकाचना का भी विचार किया जाता है। बंधादि ये ही दश कर्मों के कारण अर्थात् अवस्थाएं कहलाती हैं। बंध के चार प्रकारों का उल्लेख किया ही जा चुका है। बंध होने के पश्चात् कर्म किस अवस्था में आत्मा के साथ रहते हैं, इसका विचार सत्व के भीतर किया जाता है। अपनी सत्ता में विद्यमान कर्म जब अपनी स्थिति को पूरा कर फल देने लगता है, तब उसे कर्मों का उदय कहते हैं। कभी कभी आत्मा अपने भावों की तीव्रता के द्वारा कर्मों की स्थिति पूरी होने से पूर्व ही उन्हें फलोन्मुख बना देता है, इसे उदीरणा कहते हैं। जिस प्रकार कच्चे फलों को विशेष ताप द्वारा उनके पकने के समय से पूर्व ही पका लिया जाता है, उसी प्रकार यह कर्मों की उदीरणा होती है। कर्मों के स्थिति-काल व अनुभाग (फलदायिनी शक्ति) में विशेष भावों द्वारा वृद्धि करने का नाम उत्कर्षण है। उसी प्रकार उसके स्थिति-काल व अनुभाग को घटाने का नाम अपकर्षण है। कर्मप्रकृतियों के उपभेदों का एक से दूसरे रूप परिवर्तन किये जाने का नाम संक्रमण है। कर्मों को उदय में आने से रोक देना उपशम है। कर्मों को उदय में आने से, तथा अन्य प्रकृति रूप संक्रमण होने से भी रोक देना निश्चिन्तकरण है; और कर्मों की ऐसी अवस्था में ले जाना कि जिससे उनका उदय, उदीरण, संक्रमण, उत्कर्षण या अपकर्षण, ये कोई विपरिवर्तन न हो सकें, उसे निकाचना कहते हैं।

कर्मों के इन दश करणों के स्वरूप से स्पष्ट है कि जैन कर्म-सिद्धान्त नियति-वादी नहीं है, और सर्वथा स्वच्छन्दवादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो अपनी कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती; और साथ ही जीव का स्वातन्त्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं में सुधार-वधार करने में सर्वथा असमर्थ हो जाय। इस प्रकार जैन सिद्धान्त में मनुष्य के अपने कर्मों के उत्तरदायित्व तथा पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थितियों को बदल डालने की शक्ति, इन दोनों का भली-भांति समन्वय स्थापित किया गया है।

कर्म-प्रकृतियां—

(ज्ञानावरणकर्म)

बंधे हुए कर्मों में उत्पन्न होनेवाली प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—मूल और उत्तर। मूल प्रकृतियां आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, बेदनीय, प्रायु, नाम और शोत्र। इन आठ मूल प्रकृतियों की अपनी-अपनी भेदरूप विविध उत्तर प्रकृतियां बतलाई गई हैं। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है जिसके कारण संसारावस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता; जिस प्रकार कि वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसकी ज्ञानो के भेदानुसार पांच उत्तर प्रकृतियां हैं, जिससे क्रमशः जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान व केवलज्ञान आवृत होता है।

दर्शनावरणकर्म—

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। इस कर्म की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्थानगृद्धि; तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल दर्शनावरणीय, ये नौ उत्तर प्रकृतियां हैं। निद्रा कर्मोदय से जीव को निद्रा आती है। उसकी गाढ़तर अवस्था अथवा पुनः पुनः वृत्ति को निद्रा-निद्रा कहते हैं। प्रचला कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निद्रा आती है कि वह सोते-सोते चलने-फिरने अथवा नाना इन्द्रिय व्यापार करने लगता है। प्रचला-प्रचला इसी का गाढ़तर रूप है, जिसमें उक्त क्रियाएं बार-बार व अधिक तीव्रता से होती हैं। स्थानगृद्धि कर्मोदय के कारण जीव स्वप्नावस्था में ही उन्मत्त होकर नाना रौद्र कर्म कर डालता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के कारण

नेत्रेन्द्रिय की दर्शनशक्ति क्षीण होती है। अथवा दर्शनावरणीय से शेष इन्द्रियों की शक्ति मन्द पड़ती है; तथा अवधि व केवल दर्शनावरणीयों द्वारा उन-उन दर्शनों के विकास में बाधा उपस्थित होती है। उक्त भिन्न-भिन्न ज्ञानों व दर्शनों के स्वरूप का वर्णन आगे किया जायगा।

मोहनीय कर्म—

मोहनीय कर्म जीव के मोह अर्थात् उसकी रूचि व चारित्र में अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—एक दर्शन-मोहनीय और दूसरा चारित्र-मोहनीय, जो क्रमशः दर्शन व चारित्र में उक्त प्रकार दूषण उत्पन्न करते हैं। दर्शन मोहनीय की उत्तरप्रकृतियां तीन हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। चारित्र-मोहनीय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों ही प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेदानुसार चार-चार प्रकार के होते हैं, जिनकी कुल मिलाकर सोलह उत्तरप्रकृतियां होती हैं। इनमें हास्य, रति, अरति, खेद, भय, ग्लानि एवं पुरुष, स्त्री व नपुंसक भेद—ये ६ नोकषाय मिलाने से मोहनीय कर्म की समस्त उत्तर-प्रकृतियों की संख्या अट्ठाइस हो जाती है। मोहनीय कर्म सब से अधिक प्रबल व प्रभावशाली पाया जाता है, और प्रत्येक प्राणी के मानसिक जीवन में अत्यन्त व्यापक व उसके लोक-चारित्र के निर्माण में समर्थ सिद्ध होता है। जीवन की क्रियाओं का आदि स्रोत जीव की मनोवृत्ति है। विशुद्ध मनोवृत्ति व दृष्टि का नाम ही सम्यग्दर्शन है। इस दर्शन की, विकार की तरतमतानुसार, अग्रणीत अवस्थाएं होती हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया गया है। एक सर्वथा वह मूल अवस्था जिसमें वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा नहीं होती, एवं वस्तु को विपरीत भाव से ग्रहण करने की संभावना होती है; यह दर्शन-मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति है। दूसरे, जहां इस मिथ्यात्व प्रकृति की जटिलता क्षीण होकर, उसमें सम्यग्दृष्टि का भी प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसे दर्शन-मोहनीय की मिश्र वा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहा जाता है। और तीसरी, जहां मिथ्यात्व क्षीण होकर दृष्टि शुद्ध हो जाती है, यद्यपि उसमें कुछ चाचल्य, मालिन्य व अगाढ़त्व बना रहता है, तब उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहा जाता है। धार्मिक जीवन को समझने के लिये इन तीन मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान बड़ा आवश्यक है, क्योंकि मूलतः ये ही अवस्थाएं चारित्र को सदोष व निर्दोष बनाती हैं। चारित्र में स्पष्ट विकार उत्पन्न करने वाले मानसिक भाव अनन्त हैं। किन्तु उन्हें हम दो सुस्पष्ट वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक राग

जो पर पदार्थ की ओर मनको आकर्षित व आसक्त करता है। इसे शास्त्र में मेरुज्ज (सं० प्रेयस्) कहा गया है; और दूसरा द्वेष जो भिन्न पदार्थों से घृणा उत्पन्न करता है। यथार्थतः ये ही दो मूलकषाय या कषाय-भाव हैं, और इन्हीं के प्रभेद रूप क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय माने गये हैं। इनमें से प्रत्येक की तीव्रता और मन्दतानुसार अग्रणिता भेद हो सकते हैं, किन्तु सुविधा के लिये चार भेद माने गये हैं, जो भौतिक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट समझे जा सकते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध पाषाण की रेखा के समान बहुत स्थायी होता है। उसका अप्रत्याख्यान रूप पृथ्वी की रेखा के सदृश, प्रत्याख्यान रूप धूल की रेखा के समान; और संज्वलन, जल की रेखा के समान क्रमशः तीव्रतम से लेकर मन्दतम होता है। इसीप्रकार मान की चार अवस्थाएं, उसकी कठोरता व लचीलेपन के अनुसार, पाषाण, अस्थि, काष्ठ और वेत्र के समान; माया की, उसकी वक्रता की जटिलता व हीनता के अनुसार, बांस की जड़, भेड़ के सींग, गोमूत्र तथा खुरपे के सदृश; एवं लोभ कषाय की कृमिराग, कीट (श्रोगन), शरीमल और हलदी के समान तीव्रता से मन्दता की ओर उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार चार अवस्थाएं होती हैं।

‘नो’ का अर्थ होता है—ईषत् या अल्प। तदनुसार नोकषाय वे मानसिक विकार कहे गये हैं, जो उक्त कषायों के प्रभेद रूप होते हुए भी अपनी विशेषता व जीवन में स्पष्ट पृथक् स्वरूप के कारण अलग से गिनाये गये हैं। इन नोकषायों का स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है। इसप्रकार मोहनीय कर्म की उन अट्ठाइस उत्तर प्रकृतियों के भीतर अपनी एक विशेष व्यवस्थानुसार उन सब मानसिक अवस्थाओं का अन्तर्भाव हो जाता है, जो अन्यत्र रस व भावों के नाम से संक्षेप या विस्तार से वर्णित पाई जाती हैं। इन्हीं मोहनीय कर्मों की तीव्र व मन्द अवस्थाओं के अनुसार वे आध्यात्मिक भूमिकाएं विकसित होती हैं जिन्हें गुणस्थान कहते हैं जिनका वर्णन आगे किया जावेगा।

अन्तरायकर्म—

जो कर्म जीव के बाह्य पदार्थों के आदान-प्रदान और भोगोपभोग तथा स्वकीय पराक्रम के विकास में विघ्न-बाधा उत्पन्न करता है, वह अन्तराय कर्म कहा गया है। उसकी पांच उत्तर प्रकृतियां हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। ये क्रमशः जीव के दान करने, लाभ लेने, भोग्य व भोग्य पदार्थों का एक बार में, अथवा अनेक बार में, सुख लेने, एवं किसी भी परिस्थिति का सामना करने योग्य सामर्थ्य रूप गुणों के विकास में बाधक होते हैं।

वेदनीय कर्म—

जो कर्म जीव को सुख या दुःख रूप वेदन उत्पन्न करता है, उसे वेदनीय कहते हैं। इसकी उत्तर प्रकृतियां दो हैं—साता वेदनीय, जो जीव को सुख का अनुभव कराता है; और असाता वेदनीय, जो दुःख का अनुभव कराता है। यहां अन्तराय कर्म की भोग और उपभोग प्रकृतियां, तथा वेदनीय की साता-असाता प्रकृतियों के फलोदय में भेद करना आवश्यक है। किसी मनुष्य को भोजन, वस्त्र, गृह आदि की प्राप्ति नहीं हो रही; इसे उसके लाभान्तराय कर्म का उदय कहा जायेगा। इनका लाभ होने पर भी यदि किसी परिस्थितिबश वह उनका भोग या उपभोग नहीं कर पाता, तो वह उसके भोग-उपभोगान्तराय कर्म का उदय माना जायेगा; और यदि उक्त वस्तुओं की प्राप्ति और उनका उपयोग होने पर भी उसे सुख का अनुभव न होकर, दुःख ही होता है, तो यह उसके असाता वेदनीय कर्म का फल है। सम्भव है किसी व्यक्ति के लाभान्तराय कर्म के उपशमन से उसे भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति हो गई हो, पर वह उनका सुख तभी पा सकेगा जब साथ ही उससे साता-वेदनीय कर्म का उदय हो। यदि असाता-वेदनीय कर्म का उदय है, तो उन वस्तुओं से भी उसे दुःख ही होगा।

आयु कर्म—

जिस कर्म के उदय से जीव की देव, नरक, मनुष्य या तिर्यच गति में आयु का निर्धारण होता है, वह आयु कर्म है; और उसकी ये ही चार अर्थात् देवायु, नरकायु, मनुष्यायु व तिर्यचायु, उत्तर प्रकृतियां हैं।

गोत्र कर्म—

लोकव्यवहार संबंधी आचरण को गोत्र माना गया है। जिस कुल में लोकपूजित आचरण की परम्परा है, उसे उच्चगोत्र, और जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे नीचगोत्र नाम दिया गया है। इन कुलों में जन्म दिलानेवाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है, और उसकी तदनुसार उच्चगोत्र व नीचगोत्र, ये दो ही उत्तर प्रकृतियां हैं। यद्यपि गोत्र शब्द का वैदिक परम्परा में भी प्रयोग पाया जाता है, तथापि जैन कर्म सिद्धान्त में उसकी उच्चता और नीचता में आचरण की प्रधानता स्वीकार की गई है।

नाम कर्म—

जिसप्रकार मोहनीय कर्म के द्वारा विशेषरूप से प्राणियों के मानसिक गुणों व

विकारों का निर्माण होता है; उसीप्रकार उसके शारीरिक गुणों के निर्माण में नामकर्म विशेष समर्थ कहा गया है। नामकर्म के मुख्यभेद ४२, तथा उनके उपभेदों की अपेक्षा ६३ उत्तर प्रकृतियाँ मानी गई हैं, जो इसप्रकार हैं :—

(१) चार गति (नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव), (२) पांच जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय), (३) पांच शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कामरग), (४-५) औदारिकादि पांचों शरीरों के पांच बन्धन व उन्हीं के पांच संघात, (६) छह शरीर संस्थान (समचतुरस्त्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्ज, वामन और हुण्ड), (७) तीन शरीरागोपाग (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक), (८) छह सहनन (वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलित, और असंप्राप्तास्रपाटिका), (९) पांच वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, हरित और शुक्ल), (१०) दो गंध (सुगन्ध और दुर्गन्ध), (११) पांच रस (निक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर), (१२) आठ स्पर्श (कठोर, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत और उष्ण), (१३) चार आनुपूर्वी (नरकगतियोग्य, तिर्यग्गतियोग्य, मनुष्यगतियोग्य और देवगतियोग्य), (१४) अगुरुलघु, (१५) उपघात, (१६) परघात, (१७) उच्छ्वास, (१८) आतप, (१९) उद्योत, (२०) दो विहायोगति (प्रशस्त और अप्रशस्त), (२१) त्रस, (२२) स्थावर, (२३) बादर, (२४) सूक्ष्म, (२५) पर्याप्त, (२६) अपर्याप्त, (२७) प्रत्येक शरीर, (२८) साधारण शरीर, (२९) स्थिर, (३०) अस्थिर, (३१) शुभ, (३२) अशुभ, (३३) सुभग, (३४) दुर्भग, (३५) सुस्वर, (३६) दुःस्वर, (३७) आदेय, (३८) अनादेय, (३९) यशःकीर्ति, (४०) अयशःकीर्ति, (४१) निर्माण और (४२) तीर्थकर।

उपर्युक्त कर्म प्रकृतियों में से अधिकांश का स्वरूप उनके नामों पर से अथवा पूर्वोक्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है। शेष का स्वरूप इस प्रकार है—पांच प्रकार के शरीरों के जो पांच प्रकार के बन्धन बतलाये गये हैं, उनका कर्त्तव्य यह है कि वे शरीर नामकर्म के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल परमाणुओं में परस्पर बन्धन व संश्लेष उत्पन्न करते हैं, जिसके अभाव में वह परमाणुपुंज रत्नराशिवत् विरल (पृथक्) रह जायगा। बन्धन प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए संश्लिष्ट शरीर में संघात अर्थात् निश्चिद्र ठोसपन लाना संघात प्रकृति का कार्य है। संस्थान नामकर्म का कार्य शरीर की आकृति का निर्माण करना है। जिस शरीर के समस्त भाग उचित प्रमाण से निर्माण होते हैं, वह समचतुरस्त्र कहलाता है। जिस शरीर का नाभि से ऊपर का भाग अति स्थूल, और नीचे का भाग अति लघु हो, उसे न्यग्रोधपरिमण्डल (अर्थात् बटवृक्षाकार) संस्थान कहा

जाता है। इससे विपरीत, अर्थात् ऊपर का भाग अत्यन्त लघु और नीचे का अत्यन्त विशाल हो, वह स्वाति (अर्थात् वल्मीक के आकार का) संस्थान कहलाता है। कुबड़े शरीर को कुब्ज, सर्वांग ह्रस्व शरीर को वामन, तथा सर्व अंगोपांगों में विषमाकार (टेढ़ेमेढ़े) शरीर को वृण्ड संस्थान कहते हैं। इन्हीं छह भिन्न शरीर-आकृतियों का निर्माण कराने वाली छह संस्थान प्रकृतियां मानी गई हैं। उपर्युक्त औदारिकादि पांच शरीर-प्रकृतियों में से तैजस और कर्मण, इन दो प्रकृतियों द्वारा किन्हीं भिन्न शरीरों व अंगोपांगों का निर्माण नहीं होता। इसलिये उन दो को छोड़कर अंगोपांग नामकर्म की शेष तीन ही प्रकृतियां कही गई हैं। वृषभ का अर्थ अस्थि, और नाराच का अर्थ कील होता है। अतएव जिस शरीर की अस्थिया व उन्हें जोड़नेवाली कीलें वज्र के समान दृढ़ होती हैं, वह शरीर वज्र-वृषभ-नाराच संहनन कहलाता है। जिस शरीर की केवल नाराच अर्थात् कीले वज्रवत् होती हैं, उसे वज्र-नाराच संहनन कहा जाता है। नागच संहनन में कीले तो होती हैं, किन्तु वज्र समान दृढ़ नहीं। अर्द्धनाराच संहनन वाले शरीर में कील पूरी नहीं, किन्तु आधी रहती है। जिस शरीर में अस्थियों के जोड़ों के स्थानों में दोनों ओर अल्प कीले लगी हों, वह कीलक संहनन है, और जहां अस्थियों का बन्ध कीलों से नहीं, किन्तु स्नायु, मांस आदि से लपेट कर संघटित हो, वह असंप्राप्ताल्पपाटिका संहनन कहा गया है। इन्हीं छह प्रकार के शरीर-संहननों के निर्माण के लिये उक्त छह प्रकृतियां ग्रहण की गई हैं। मृत्युकाल में जीव के पूर्व शरीराकार का विनाश हुए बिना उसकी नवीन गति की ओर ले जाने वाली शक्ति को देने वाली प्रकृति का नाम आतुपूर्वी है, जिसके गतियों के अनुसार चार भेद हैं। शरीर के अंग-प्रत्यंगों की ऐसी रचना जो स्वयं उसी देहधारी जीव को क्लेशदायक हो, उसे उपघात; और जिससे दूसरों को क्लेश पहुंचाया जा सके, उसे परघात कहते हैं। इन प्रवृत्तियों को उत्पन्न करनेवाली प्रकृतियों के नाम भी क्रमशः उपघात और परघात हैं। बड़े सींग, लम्बे स्तन, विशाल तोड़ एवं वात, पित्त, कफ आदि दूषण उपघात कर्मोदय के; तथा सर्प की डाढ़ व बिच्छू के डंक का विष, सिंह व्याघ्रादि के नख और दंत आदि परघात कर्मोदय के उदाहरण हैं। आतप का अर्थ है उष्णता सहित, तथा उद्योत का अर्थ है उष्णता रहित प्रकाश, जैसा कि सूर्य और चन्द्र में पाया जाता है। जीव-शरीरों में इन धर्मों को प्रकट करने वाली प्रकृतियों को आतप व उपघात कहा है, जैसा कि क्रमशः सूर्यमण्डलवर्ती पृथ्वीकायिक शरीर व खद्योत। स्थानान्तरण का नाम गति है, जो विहायस् अर्थात् आकाश-अवकाश में होती है। किन्हीं जीवों की गति प्रशस्त अर्थात् सुन्दर व उत्तम मानी गई है, जैसे हाथी, हंस आदि की; और कितनों की अप्रशस्त,

जैसे गधा, ऊंट आदि की। इन्हीं दो प्रकार की गतियों की विधायक प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति नामक कर्म-प्रकृतियां मानी गई हैं। पर्याप्त शरीर वह है जिसकी इन्द्रिय आदि पुद्गल-रचना पूर्ण हो गई है या होनेवाली है। अपर्याप्त शरीर वह है जिसकी पुद्गल-रचना पूर्ण होने के पूर्व ही उसका मरण अवश्यम्भावी है। इन्हीं दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की विधायक पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो प्रकृतियां मानी गई हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में रस, रुधिर, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि और शुक्र, इन धातुओं में स्थिरता उत्पन्न होती है उसे स्थिर; और जिसके द्वारा उन्हीं धातुओं का क्रमशः विपरिवर्तन होता है उसका नाम अस्थिर प्रकृति है। रक्त व प्राण वायु का जो शरीर में निरन्तर संचालन होता रहता है उसे अस्थिर प्रकृति का, तथा अस्थि आदि धातुओं में जो स्थिरता पाई जाती है उसे स्थिर प्रकृति का, कार्य कहा जा सकता है। शरीर के अंगोपागों के शुभ-लक्षण, शुभ-प्रकृति एवं अशुभ-लक्षण, अशुभप्रकृति के कारण होते हैं। उसी प्रकार उनके सौन्दर्य व कुरूपता के कारण शुभ व दुर्भग प्रकृतियां हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के आदेयता अर्थात् बहुमान्यता उत्पन्न होती है वह आदेय; और उससे विपरीत भाव प्रकृति अनादेय कही गई है। जिस कर्म के उदय से लोक में जीव के गुणों की ख्याति होती है वह यशःकीर्ति; और जिससे कुख्याति होती है वह अयशःकीर्ति प्रकृति है। जिस कर्म के द्वारा शरीर के अंगोपागों के प्रमाण व यथोचित स्थान का नियंत्रण होता है, उसे निर्माण नाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को त्रिलोक-पूज्य तीर्थंकर पर्याय प्राप्त होती है, वह तीर्थंकर प्रकृति है। इस प्रकार नामकर्म की इन विविध प्रकृतियों द्वारा जीवों के शरीर, अंगोपागों व धातु-उप-धातुओं की रचना और उनके कार्य-वैचित्र्य का निर्धारण व नियमन किया गया है।

प्रकृतिबन्ध के कारण—

ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मबन्ध का कारण सामान्य रूप से जीव की कषायात्मक मन-वर्चन-काय की प्रवृत्तियां हैं। कौन सी कषायात्मक प्रवृत्तियां किन कर्म-प्रकृतियों को जन्म देती हैं, इसका भी सूक्ष्म विचार किया गया है, जो संक्षेप में इसप्रकार हैः— तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है। इस साधना की बाधक प्रवृत्तियां हैं—इस तत्त्वज्ञान को दूसरों से छुपाना, या जानबूझकर उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करना; ज्ञान के विषय में किसी से मात्सर्य भाव रखना; उनके ज्ञानार्जन में बाधा उपस्थित करना, या उसे अर्जन से रोकना; व सच्चे ज्ञान में दूषण उत्पन्न करना। ये कुटिल वृत्तियां जब सम्यग्दर्शन के संबंध में उपस्थित होती हैं, तब दर्शनावरण; व ज्ञान के संबंध में उत्पन्न होने पर ज्ञानावरण

बंध के कारण

कर्म-प्रकृति का बंध कराती हैं, व भाव-वैचित्र्य के अनुसार इन कर्मों की उत्तर प्रकृतियां बंधती हैं। उसी प्रकार परम ज्ञानियों, उत्तम शास्त्र, सच्चे धर्मनिष्ठ व्यक्तियों, धर्माचरणां व सच्चे देव के संबंध में निंदा और अपमान फैलाना, दर्शन-मोहनीय कर्म के कारण हैं; तथा क्रोधादि कषायों से जो भावों की तीव्रता उत्पन्न होती है, उससे चारित्र-मोहनीय कर्म बंधता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग व शक्ति (वीर्य) उपार्जन जीवन को सुखी बनाने की सामान्य प्रवृत्तियां हैं। इनमें कुटिलभाव से विघ्न उपस्थित करने के कारण अन्तराय कर्म की विविध प्रकृतियों का बंध होता है। ये चारों कर्म जीव के गुणों के विकास में बाधक होते हैं, अर्थात् उनकी सत्ता विद्यमान रहने पर जीव अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणों को पूर्ण रूप से विकसित नहीं कर पाता, इसकारण इन कर्मों को घाति एवं पाप-कर्म कहा गया है। शेष जो चार वेदनीय, आयु, गोत्र व नाम कर्म हैं, उनका अस्तित्व रहते हुए भी जीव के केवलज्ञान की प्राप्ति रूप पूर्ण आध्यात्मिक विकास में बाधा नहीं पड़ती। इसलिये इन कर्मों को अधाति कर्म माना गया है। स्वयं को या दूसरों को दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध आदि रूप पीड़ा देने से असाता-वेदनीय कर्म का बंध होता है; तथा जीवों के प्रति दयाभाव, वैत्रती व संयमी पुरुषों के प्रति अनुकम्पा व दान, तथा संसार से छूटने की इच्छा से स्वयं व्रत-संयम के अभ्यास से साता-वेदनीय कर्म का बंध होता है। इसप्रकार वेदनीय कर्म दो प्रकार का सिद्ध हुआ—एक दुःखदायी, दूसरा सुखदायी; और इसलिये एक को पाप व दूसरे को पुण्य कहा गया है।

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पुण्य और पाप, ये दोनों ही प्रवृत्तियां कर्मबंध उत्पन्न करती हैं। हां, उनमें से प्रथम प्रकार का कर्मबंध जीव के अनुभवन में अनुकूल व सुखदायी; और दूसरा प्रतिकूल व दुःखदायी सिद्ध होता है। इसीलिये पुण्य और पाप दोनों को शरीर को बांधने वाली बेड़ियों की उपमा दी गई है। पाप रूप बेड़ियां लोहे की हैं; और पुण्य रूप बेड़ियां सुवर्ण की, जो अलंकारों का रूप धारणकर प्रिय लगती हैं। जीव के इन पुण्य और पाप रूप परिणामों को शुभ व अशुभ भी कहा गया है। ये दोनों ही संसार-भ्रमण के कारणीभूत हैं; भले ही पुण्य जीव को स्वर्गादि शुभ गतियों में ले जाकर सुखानुभव कराये; अथवा पाप नरकादि व पशु योनियों में ले जाकर दुःखदायी हो। इन दोनों शुभाशुभ परिणामों से पृथक् जो जीव की श्रद्धावस्था मानी गई है, वही कर्मबंध से छुड़ाकर मोक्ष गति को प्राप्त कराने वाली है।

सांसारिक कार्यों में अति आसक्ति व अति परिग्रह नरकायु बंध का कारण कहा गया है। मायाचार तिर्यंच आयु का; अल्पारंभ, अल्प परिग्रह, व स्वभाव की मृदुता

मनुष्य आयु का; तथा संयम व तप देवायु का बंध कराते हैं। इनमें देव और मनुष्य आयु का बंध शुभ, व नरक और तिर्यच आयु का बंध अशुभ कहा गया है। पर-निंदा, आत्म-प्रशंसा, सद्भूतगुणों का आच्छादन तथा असद्भूत गुणों का उद्भावन, ये नीचगोत्र; तथा इनसे विपरीत प्रवृत्ति, एवं मान का अभाव और विनय, ये उच्चगोत्र बंध के कारण है। यहां पर स्पष्टतः उच्चगोत्र का बंध शुभ व नीच गोत्र का बंध अशुभ होता है। नामकर्म की जितनी उत्तर प्रकृतियां बतलाई गई है, वे उनके स्वरूप से ही स्पष्टतः दो प्रकार की है—शुभ व अशुभ। इनमें अशुभ नामकर्म-बंध का कारण सामान्य से मन-वचन-काय योगों की वक्रता व कुन्मित क्रियाएं, और साथ-साथ मिथ्याभाव, पैशुन्य, चित्त की चंचलता, भूठे नाप-तौल रखकर दूसरो को ठगने की वृत्ति आदि रूप बुरा आचरण है; और इनसे विपरीत सदाचरण शुभ नाम कर्म के बंध का कारण है। नामकर्म के भीतर तीर्थंकर प्रकृति बतलाई गई है, जो जीव के शुभतम परिणामो से उत्पन्न होती है। ऐसे १६ उत्तम परिणाम विशेष रूप से तीर्थंकर गोत्र के कारण बतलाये गये हैं; जो इसप्रकार है—

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, विनय-संपन्नता, शीलो और व्रतों का निर्दोष परिपालन, निरन्तर ज्ञान-साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति, शक्ति अनुसार त्याग और तप, भले प्रकार समाधि, साधु जनों का सेवा-सत्कार, पूज्य आचार्य विशेष विद्वान व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्मकार्यों का निरन्तर परिपालन; धार्मिक-प्रोत्साहन व धर्मीजनों के प्रति वात्सल्य-भाव।

स्थितिबन्ध—

ये कर्म-प्रकृतियां जब बंध को प्राप्त होती हैं, तभी उनमें जीव के कषायों की मंदता व तीव्रता के अनुसार यह गुण भी उत्पन्न हो जाता है कि वे कितने काल तक सत्ता में रहेगे, और फिर अपना फल देकर भड़ जायेंगे। इसे ही कर्मों का स्थितिबंध कहते हैं। यह स्थिति जीव के परिणामानुसार तीन प्रकार की होती है जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, व अन्तराय, इन तीन कर्मों की जघन्य अर्थात् कम कम से स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की होती है। वेदनीय की जघन्यस्थिति बारह मूहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की। मोहनीय कर्म की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त, और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की। आयुर्कर्म की क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और ३३ सागर की; तथा नाम और गोत्र इन दोनों की आठ अन्तर्मुहूर्त

और २० कोड़ाकोड़ी सागर की कही गई है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की समस्त स्थितियां मध्यम कहलाती हैं। एक मुहूर्तकाल का प्रमाण आधुनिक कालगणनानुसार ४८ मिनट होता है। एक मुहूर्त में एक समय हीन काल को भिन्नमुहूर्त और भिन्नमुहूर्त से एक समय हीन काल से लेकर एक आवलि तक के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। १ आवलि १ सेकेन्ड के अल्पाश के बराबर होता है। सागर अथवा सागरोपम एक उपमा प्रमाण है, जिसकी संख्या नहीं की जा सकती, अर्थात् संख्यातीत वर्षों के काल को सागर कहते हैं। कोड़ाकोड़ी का अर्थ है १ करोड़ का वर्ग (१ करोड़ \times १ करोड़)। इस प्रकार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति जो २०,३०,३३ या ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की बतलाई गई है, वह हमें केवल उनकी परस्पर दीर्घता वा अल्पता का बोध मात्र कराती है। सामान्यतः सभी कर्मों की उत्कृष्ट स्थितियां अप्रशस्त मानी गई हैं, क्योंकि उनका बंध संक्लेश रूप परिणामो से होता है। संक्लेश में जितनी मात्रा में हीनता और विशुद्धि की वृद्धि होगी, उसी अनुपात से स्थिति-बंध हीन होता जाता है; और जघन्यस्थिति का बंध उत्कृष्ट विशुद्धि की अवस्था में होता है। विशुद्धि और संक्लेश का लक्षण ध्वलाकार ने बतलाया है कि साता-वेदनीय कर्म के बंध योग्य परिणाम को विशुद्धि, और असाता-वेदनीय के बंध योग्य परिणाम को संक्लेश मानना चाहिये।

अनुभाग बंध—

कर्मप्रकृतियों में स्थिति-बंध के साथ-साथ जो उनमें तीव्र या मन्द रसदायिनी शक्ति भी उत्पन्न होती है, उसी शक्ति का नाम अनुभाग बंध है; जिसप्रकार कि किसी फल में उसके मिठास व खटास की तीव्रता व मन्दता भी पाई जाती है। यह अनुभाग बंध भी बन्धक जीवों के भावानुसार उत्पन्न होता है। विशुद्ध परिणामों द्वारा साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है; और असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियों का जघन्य। तथा संक्लिष्ट परिणामों से असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है, व साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का जघन्य। इसप्रकार स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का परस्पर यह संबंध पाया जाता है कि जहां स्थिति बन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता क्रमशः संक्लेश और विशुद्धि के अधीन है, वहां अनुभाग बन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता, प्रशस्त व अप्रशस्त प्रकृतियों में भिन्न प्रकार से उत्पन्न होती है। प्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग विशुद्धि के अधीन है, और अप्रशस्त का संक्लेश के; एवं जघन्यता इसके विपरीत।

कर्मों की यह अनुभाग रूप फलदायिनी शक्ति उदाहरणों द्वारा समझायी जा सकती है। जिस प्रकार लता, काष्ठ, अस्थि और पाषाण में कोमलता से कठोरता की ओर उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाती है, उसी प्रकार घातिया कर्मों का अनुभाग मन्दता से तीव्रता की ओर बढ़ता जाता है। लता भाग से लेकर काष्ठ के कुछ अंश तक घातिया कर्मों की शक्ति बेशघाती कहलाती है, क्योंकि इस अवस्था में वह जीव के गुणों का आंशिक रूप से घात या आवरण करती है। और काष्ठ से आगे पाषाण तक की शक्ति सर्वघाति होती है—अर्थात् उस अनुभाग के उदय में आने पर आत्मा के गुण पूर्णता से ढक जाते हैं। अघातिया कर्मों में से प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग गुड़, खांड, मिश्री और भ्रमृत के समान; तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का नीम, कांजी, बिष और हालाहल के समान कहा गया है, जिसका बंध उपर्युक्त विशुद्धि व संक्लेश की व्यवस्था-नुसार उत्तरोत्तर तीव्र व मंद होता है।

प्रदेशबन्ध—

पहले कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा जीव आत्म-प्रदेशों के संपर्क में कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं को ले आता है, और उनमें विविध प्रकार की कर्मशक्तिया उत्पन्न करता है। इसप्रकार पुद्गल परमाणुओं का जीव-प्रदेशों के साथ संबंध होना ही प्रदेश-बन्ध है। जिन पुद्गल परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, वे अत्यन्त सूक्ष्म माने गये हैं; और प्रतिसमय बंधनेवाले परमाणुओं की संख्या अनन्त मानी गयी है। जितना कर्मद्रव्य बंध को प्राप्त होती है उसका बदबारा जीव के परिणामानुसार आठ मूल प्रकृतियों में हो जाता है। इनमें आयु कर्म का भाग सब से अल्प, उससे अधिक नाम और गोत्र का परस्पर समान; उससे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, इन तीन घातिया कर्मों का परस्पर में समान; उससे अधिक मोहनीय का, और उससे अधिक वेदनीयका भाग होता है। इस अनुपात का कारण इस प्रकार प्रतीत होता है—आयुर्कर्म जीवन में केवल एक बार बधता है, और सामान्यतः उसमें घटा-बढ़ी न होकर जीवन भर क्रमशः क्षरण होता रहता है, इस-लिये उसका द्रव्यपुंज सब से अल्प माना गया है। नाम और गोत्र कर्मों की घटा-बढ़ी जीवन में आयुर्कर्म की अपेक्षा कुछ अधिक होती है; किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय की अपेक्षा उस द्रव्य का हानिलाभ कम ही होता है। मोहनीयकर्म संबंधी कषायों का उदय, उत्कर्ष और अपकर्ष उक्त कर्मों की अपेक्षा अधिक होता है; और उससे भी अधिक सुख-दुःख अनुभवन रूप वेदनीय कर्म का कार्य पाया जाता है। इसी

कारण इन कर्मों के भाग का द्रव्य उक्त क्रम से हीनाधिक कहा गया है। जिसप्रकार प्रतिसमय अनन्त परमाणुओं का पुद्गल-पुंज बंध को प्राप्त होता है, उसीप्रकार पूर्व संबन्धित कर्म-द्रव्य अपनी-अपनी स्थिति पूरी कर उदय में आता रहता है, और अपनी अपनी प्रकृति अनुसार जीव को नानाप्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल अनुभव कराता रहता है। इसप्रकार इस कर्म-सिद्धान्तानुसार जीव की नानादशाओं का मूल कारण उसका अपने द्वारा उत्पादित पूर्व कर्म-बन्ध है। तात्कालिक भिन्न-भिन्न द्रव्यात्मक व भावात्मक परिस्थितियां कर्मों को फलदायिनी शक्ति में कुछ उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि विशेषताएं अवश्य उत्पन्न किया करती हैं; किन्तु सामान्य रूप से कर्मफल-भोग की धारा अविच्छिन्न रूप से चला करती है; और यह गीतानुसार भगवान् कृष्ण के शब्दों में पुकार कर कहती रहती है कि —

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसावयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ॥ (भ०गी० ६, ५)

कर्मसिद्धान्त की विशेषता—

यह है संक्षेप में जैन दर्शन का कर्म-सिद्धान्त। 'जैसी करनी, तैसी भरनी' 'जो जस करहि तो तस फल चाखी' (As you sow, so you reap) एक अति प्राचीन कहावत है। प्रायः सभ्यता के विकास के आदिकाल में ही मानव ने प्रकृति के कार्य-कारण संबंध को जान लिया था; क्योंकि वह देखता था कि प्रायः प्रत्येक कार्य किसी कारण के आधार से ही उत्पन्न होता है; और वह कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता है। जहां उसे किसी घटना के लिये कोई स्पष्ट कारण दिखाई नहीं दिया, वहां उसने किसी अदृष्ट कारण की कल्पना की; और घटना जितनी अद्भुत व असाधारण सी दिखाई दी, उतना ही अद्भुत व असाधारण उसका कारण कल्पित करना पड़ा। इसी छुपे हुए रहस्यमय कारण ने कहीं भूत-प्रेत का रूप धारण किया; कहीं ईश्वर या ईश्वरेच्छा का, कहीं प्रकृति का; और कहीं, यदि वह घटना मनुष्य से सम्बद्ध हुई तो, उसके भाग्य अथवा पूर्वकृत अदृष्ट कर्मों का। जैन दर्शन में इस अन्तिम कारण को आधारभूत मानकर अपने कर्म-सिद्धान्त में उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्य अधिकांश धर्मों में ईश्वर को यह कर्तृत्व सौंपा गया है; जिसके कारण उनमें कर्म-सिद्धान्त जैसी मान्यता या तो उत्पन्न ही नहीं हुई, या उत्पन्न होकर भी विशेष विकसित नहीं हो पाई। वेदान्त दर्शन में ईश्वर को मानकर भी उसके कर्तृत्व के संबंध में कुछ दोष उत्पन्न होते हुए दिखाई दिये। बादरायण के सूत्रों में और उनके संकराचार्य कृत भाष्य (२, १, ३४) में स्पष्ट कहा

गया है कि यदि ईश्वर को मनुष्य के सुख-दुःखों का कर्ता माना जाय तो वह पक्षपात और क्रूरता का दोषी ठहरता है; क्योंकि वह कुछ मनुष्यों को अत्यन्त सुखी बनाता है, और दूसरों को अत्यन्त दुःखी। इस बात का विवेचन कर अन्ततः इसी मत पर पहुँचा गया है कि ईश्वर मनुष्य के विषय में जो कुछ करता है, वह उस-उस व्यक्ति के पूर्व कर्मानुसार ही करता है। किन्तु ऐसी परिस्थिति में ईश्वर का कोई कर्तृत्व-स्वातंत्र्य नहीं ठहरता। जैन कर्म सिद्धान्त में मनुष्य के कर्मों को फलदायक बनाने के लिये किसी एक पृथक् शक्ति की आवश्यकता नहीं समझी गई; और उसने अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व, उसके गुण, आचरण व सुख-दुःखात्मक अनुभवन को उत्पन्न करनेवाली कर्मशक्तियों का एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इसके द्वारा जैनदार्शनिकों ने अपने परमात्मा या ईश्वर को, उसके कर्तृत्व में उपस्थित होनेवाले दोषों से मुक्त रखा है, और दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण के संबंध में पूर्णतः उत्तरदायी बनाया है। जैन कर्म-सिद्धान्त की यह बात भगवद्गीता के उन वाक्यों में ध्वनि हुई पाई जाती है, जहाँ कहा गया है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य स्रजति प्रभुः ।

न कर्म-फल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

नादत्ते कस्यचित् पापं न पुण्यं कस्यचित् विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ (भ०गी० ५, १४-१५)

जीव और कर्मबंध सादि है या अनादि ?

कर्म सिद्धान्त के विवेचन में देखा जा चुका है कि जीव किसप्रकार अपने मन-वचन-काय की क्रियाओं एवं रागद्वेषात्मक भावनाओं के द्वारा अपने अन्तरंग में ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न करता है जिनके कारण उसे नानाप्रकार के सुखदुःख रूप अनुभवन हुआ करते हैं; और उसका संसारचक्र में परिभ्रमण चलता रहता है। प्रश्न यह है कि क्या जीव का यह संसार-परिभ्रमण, जिसप्रकार वह अनादि है, उन्मी प्रकार उसका अन्त तक चलते रहना अनिवार्य है ? यदि यह अनिवार्य नहीं है, तो क्या उसका अन्त किया जाना वाछनीय है ? और यदि वाछनीय है, तो उसका उपाय क्या है ? इन विषयों पर भिन्न-भिन्न धर्मों व दर्शनों के नाना मतमतान्तर पाये जाते हैं। विज्ञान ने जहाँ प्रकृति के अन्य गुणधर्मों की जानकारी में अपना असाधारण सामर्थ्य बढ़ा लिया है, वहाँ वह जीव के भूत व भविष्य के संबंध में कुछ भी निश्चय-पूर्वक कह सकने में अपने को असमर्थ पाता है। अतएव इस विषय पर विचार हमें धार्मिक दर्शनों की सीमाओं के

भीतर ही करना पड़ता है। जो दर्शन जीवन की धारा को सादि अर्थात् अनादि न होकर किसी एक काल में प्रारम्भ हुई मानते हैं, उनके सम्मुख यह प्रश्न खड़ा होता है कि जीवन का प्रारम्भ कब और क्यों हुआ ? कब का तो कोई उत्तर नहीं दे पाता; किन्तु क्यों का एक यह उत्तर दिया गया है कि ईश्वर की इच्छा से जीव की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह कि जीव जैसे चेतन द्रव्य की उत्पत्ति के लिये एक और ईश्वर जैसे महान् चेतन द्रव्य की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है; और इस महान् चेतन द्रव्य की सत्ता को अनादि मानना भी अनिवार्य होता है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, जैन धर्म में इस दोहरी कल्पना के स्थान पर सीधे जीव के अनादि काल से संसार में विद्यमान होने की मान्यता को उचित समझा गया है। किन्तु अधिकांश जीवों के लिये इस संसार-भ्रमण का अन्त कर, अपने शुद्ध रूप में आनन्द प्राप्त करना सम्भव माना है। इस प्रकार जिन जीवों में संसार से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है, वे जीव भव्य अर्थात् होने योग्य (होनहार) माने गये हैं; और जिनमें यह सामर्थ्य नहीं है, उन्हें अभव्य कहा गया है।

चार पुरुषार्थ—

जीव के द्वारा अपने संसारानुभवन का अन्त किया जाना वांछनीय है या नहीं; इस सम्बन्ध में भी स्वभावतः बहुत मतभेद पाया जाता है। इस विषय में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीवन का अन्तिम ध्येय क्या है ? भारतीय परम्परा में जीवन का ध्येय व पुरुषार्थ चार प्रकार का माना गया है—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। इन पर समुचित विचार करने से स्पष्ट दिखाई दे जाता है कि ये चार पुरुषार्थ यथार्थतः दो भागों में विभाजित करने योग्य हैं—एक ओर धर्म और अर्थ; व दूसरी ओर काम और मोक्ष। इनमें यथार्थतः पुरुषार्थ अन्तिम दो ही हैं—काम और मोक्ष। काम का अर्थ है—सासारिक सुख; और मोक्ष का अर्थ है—सासारिक सुख, दुःख व बंधनों से मुक्ति। इन दो परस्पर विरोधी पुरुषार्थों के साधन हैं—अर्थ और धर्म। अर्थ से धन-दौलत आदि सासारिक परिग्रह का तात्पर्य है जिसके द्वारा भौतिक सुख सिद्ध होते हैं; और धर्म से तात्पर्य है उन शारीरिक और आध्यात्मिक साधनाओं का जिनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। भारतीय दर्शनों में केवल एक चार्वाक मत ही ऐसा माना गया है, जिसने अर्थ द्वारा काम पुरुषार्थ की सिद्धि को ही जीवन का अन्तिम ध्येय माना है; क्योंकि उस मत के अनुसार शरीर से भिन्न जीव जैसा कोई पृथक् तत्व ही नहीं है जो शरीर के भस्म होने पर अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हो। इसलिये

इस मत को नास्तिक कहा गया है। शेष वेदान्तादि वैदिक व जैन, बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों ने किसी न किसी रूप में जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्व स्वीकार किया है; और इसीलिये ये मत आस्तिक कहे गये हैं; तथा इन मतों के अनुसार जीव का अन्तिम पुरुषार्थ काम न होकर मोक्ष है, जिसका साधन धर्म स्वीकार किया गया है। धर्म की इसी श्रेष्ठता के उपलक्ष्य में उसे चार पुरुषार्थों में प्रथम स्थान दिया गया है, और मोक्ष की चरम पुरुषार्थता को सूचित करने के लिये उसे अन्त में रखा गया है। अर्थ और काम ये दोनों साधन, साध्य-जीवन के मध्य की अवस्थाएं हैं; इसीलिये इनका स्थान पुरुषार्थों के मध्य में पाया जाता है।

मोक्ष सच्चा सुख—

इस प्रकार जैनधर्मानुसार जीवन का अन्तिम ध्येय काम अर्थात् सासारिक सुख को न मानकर मोक्ष को माना गया है। स्वभावतः प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष सुखदायी पदार्थों व प्रवृत्तियों को महत्व न देकर मोक्ष रूप परोक्ष सुख पर इतना भार दिये जाने का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि तत्वज्ञानियों को सासारिक सुख सच्चा सुख नहीं, किन्तु सुखाभास मात्र प्रतीत हुआ है। वह चिरस्थायी न होकर अल्पकालीन होता है; और बहुधा एक सुख की तृप्ति उत्तरोत्तर अनेक नई लालसाओं को जन्म देनेवाली पाई जाती है। और जब हम इन सुखों के साधनों अर्थात् सांसारिक सुख-सामग्री के प्रमाण पर विचार करते हैं, तो वह असंख्य प्राणियों की लालसाओं को तृप्त करने के लिये पर्याप्त तो क्या होगी, एक जीवकी अभिलाषा को तृप्त करने के योग्य भी नहीं। इसीलिये एक आचार्य ने कहा है कि—

आशागतं: प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमनूपमम् ।

कस्य किं कियदायाति कृथा को विषयैषता ॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणी का अभिलाषा रूपी गर्त इतना बड़ा है कि उसमें विश्वभर की सम्पदा एक अणु के समान न कुछ के बराबर है। तब फिर सबकी आशाओं की पूर्ति कैसे, किसे, कितना देकर, की जा सकती है। अतएव सांसारिक विषयों की वासना सर्वथा व्यर्थ है। वह बाह्य वस्तुओं के अधीन होने के कारण भी उसकी प्राप्ति अनिश्चित है; और उसके लिये प्रयत्न भी आक्रुलता और विपत्ति से परिपूर्ण पाया जाता है। उस ओर प्रवृत्ति के द्वारा किसी की कभी प्यास नहीं बुझ सकती, और न उसे स्थायी सुख-शान्ति मिल सकती। इसीलिये सच्चे स्थायी सुख के लिये मनुष्य को अर्थसंचय रूप प्रवृत्ति-परायणता से मुड़कर धर्मसाधन रूप विरक्ति-परायणता का

अभ्यास करना चाहिये, जिसके द्वारा सांसारिक तृष्णा से मुक्ति रूप आत्माधीन मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। आचार्यों ने दुःख और सुख की परिभाषा भी यही की है कि—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥ (मनु. ४, १६०)

जो कुछ पराधीन है वह सब अन्ततः दुःखदायी है; और जो कुछ स्वाधीन है वही सच्चा सुखदायी सिद्ध होता है।

मोक्ष का मार्ग—

जैनधर्म में मोक्ष की प्राप्ति का उपाय शुद्ध दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य को बतलाया गया है। तत्त्वार्थशास्त्र का प्रथम सूत्र है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः। इन्हीं तीन को रत्नत्रय माना गया है; और धर्म का स्वरूप इसी रत्नत्रय के भीतर गभित है। धर्म के ये तीन अंग अन्ततः वैदिक परम्परा में भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। मनुस्मृति में वही धर्म प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा की गई है जिसका सेवन व अनुज्ञापन सच्चे (सम्यग्दृष्टि) विद्वान् (ज्ञानी) राग-द्वेष-रहित (सच्चारित्रवान्) महापुरुषों ने किया है। भगवद्गीता में भी स्वीकार किया गया है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता और तत्पश्चात् ही वह संयमी बनता है। यथा—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तस्मिन्बोधत ॥ (मनु २, १)

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः (भ. गी. ४, ३६)

दर्शन के अनेक अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये जो पहला पग सम्यग्दर्शन कहा गया है, उसका अर्थ है ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा शास्त्रोक्त तत्त्वों के स्वरूप में सच्चा श्रद्धान् उत्पन्न हो। इस सच्ची धार्मिक दृष्टि का मूल है अपनी आत्मा की शरीर से पृथक् सत्ता का भान। जब तक यह भान नहीं होता, तब तक जीव मिथ्यात्वी है। इस मिथ्यात्व से छूटकर आत्मबोध रूप सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव, जीव का अन्वि-भेद कहा गया है, जो सांसारिक प्रवाह में कभी किसी समय विविध कारणों से सिद्ध हो जाता है। किन्हीं जीवों को यह अकस्मात् धर्षण-खोलन-न्याय से प्राप्त हो जाता है; जिस प्रकार कि प्रवाह-पतित पाषाण खंडों को परस्पर घिसते-घिसते रहने से नाना विशेष आकार, यहां तक कि देवभूति का स्वरूप भी, प्राप्त हो जाता है। किन्हीं जीवों को किसी विशेष

अवस्था में पूर्व जन्म का स्मरण हो आता है; और उससे उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। कभी तीव्र-दुःख-बेबन के कारण, और कही धर्मोपदेश सुनकर अथवा धर्मोत्सव के दर्शन से सम्यक्त्व जागृत हो जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर उसमें दृढ़ता तब आती है जब वह कुछ दोषों से मुक्त, और गुणों से संयुक्त हो जाय। धार्मिक श्रद्धान के संबंध में शंकाओं का बना रहना या उसकी साधना से अपनी सांसारिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने की भावना रखना, धर्मोपदेश या धार्मिक प्रवृत्तियों के संबंध में सन्देह या घृणा का भाव रखना, एवं कुत्सित देव, शास्त्र व गुरुओं में आस्था रखना, ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष हैं। इन चारों को दूर कर धर्म की निंदा से रक्षा करना, धर्मिजनों को सत्प्रवृत्ति में दृढ़ करना, उनसे सद्भावपूर्ण व्यवहार करना, और धर्म का माहात्म्य स्पष्ट करने का प्रयत्न करना, इन चार गुणों के जागृत होने से अष्टांग सम्यक्त्व की पूर्णता होती है।

सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि पुरुष—

प्रश्न हो सकता है कि मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी मनुष्य के चारित्र्य में दृश्यमान भेद क्या है? मिथ्यात्व के पांच लक्षण बतलाये गये हैं—विपरीत, एकान्त, संशय, विनय और अज्ञान। मिथ्यात्वी मनुष्य की विपरीतता यह है कि वह असत् को सत्, बुराई को अच्छाई व पाप को पुण्य मानकर चलता है। उसमें हठप्राहिता पाई जाती है, अर्थात् उसका दृष्टिकोण ऐसा संकुचित होता है कि वह अपनी धारणा बदलने व दूसरों के विचारों से उसका मेल बैठाने में सर्वथा असमर्थ होता है। उसमें उदार दृष्टि का अभाव रहता है, यही उसकी एकान्तता है। संशयशील वृत्ति भी मिथ्यात्व का लक्षण है। अच्छी से अच्छी बात में मिथ्यात्वी को पूर्ण विश्वास नहीं होता; एवं प्रबलतम तर्क और प्रमाण उसके संशय को दूर नहीं कर पाते। विनय का अर्थ है नियम-परिपालन, किन्तु यदि बिना विवेक के किसी भी प्रकार के अच्छे-बुरे नियम का पालन करना ही कोई श्रेष्ठ धर्म समझ बैठे तो वह विनय मिथ्यात्व का दोषी है। जब तक किसी क्रिया रूप साधन का सम्बन्ध उसके आत्मशुद्धि आदि साध्य के साथ स्पष्टता से दृष्टि में न रखा जाय, तबतक विनयात्मक क्रिया फलहीन व कभी-कभी अनर्थकारी भी होती है। तत्त्व और अतत्त्व के सम्बन्ध में जानकारी या सूक्ष्म-बुद्ध के अभाव का नाम अज्ञान है। इन पांच दोषों के कारण मनुष्य के मानसिक व्यापार, वचनालाप तथा आचार-विचार में सच्चाई, यथार्थता व स्व-पर की भलाई नहीं होती। इस कारण वह मिथ्यात्वी कहा गया है। इसके विपरीत उपर्युक्त आत्म-अज्ञान रूप सम्यक्त्व

का उद्देश्य होने से अनुष्य के चारित्र्य में जो सद्भाव उत्पन्न होता है उसके मुख्य चार लक्षण हैं—प्रशम, संबन्ध, अनुकंपा और आस्तिक्य । सम्यक्त्वी की चित्तवृत्ति रागद्वेषात्मक भावों से विशेष विचलित नहीं होती; और उसकी प्रवृत्ति में शांत भाव दिखाई देता है । शारीरिक व मानसिक आकुलताओं को उत्पन्न करनेवाली सांसारिक वृत्तियों को सम्यक्त्वी अहितकर समझकर उनसे विरक्त व बन्ध-मुक्त होने का इच्छुक हो जाता है; यही सम्यक्त्व का संबन्ध गुण है । वह जीवमात्र में आत्मतत्त्व की सत्ता में विश्वास करता हुआ उनके दुःख से दुःखी, और सुख से सुखी होता हुआ, उनके दुःखों का निवारण करने की ओर प्रयत्नशील होता है; यह सम्यक्त्व का अनुकम्पा गुण है । सम्यक्त्व का अन्तिम लक्षण है आस्तिक्य । वह इस लोक के परे भी आत्मा के शाश्वतपने में विश्वास करता है व परमात्मत्व की ओर बढ़ने में भरोसा रखता हुआ, सच्चे देवशास्त्र व सच्चे गुरु के प्रति श्रद्धा करता है । इस प्रकार मिथ्यात्व को छोड़ सम्यक्त्व के ग्रहण का अर्थ है अधार्मिकता से धार्मिकता में आना; अथवा असम्यता के क्षेत्र से निकलकर सम्यता व सामाजिकता के क्षेत्र में प्रवेश करना । सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीवन के परिष्कार व उसमें क्रान्ति का दिग्दर्शन मनुस्मृति (६, ७४) में भी उत्तमता से किया गया है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥

सम्यग्ज्ञान—

उपर्युक्त प्रकार से सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध दृष्टि की साधना हो जाने पर मोक्ष मार्ग पर बढ़ने के लिये दूसरी साधना ज्ञानोपासना है । सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन जीवादि तत्वों में श्रद्धान् उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ज्ञान है । दर्शन और ज्ञान में सूक्ष्म भेद की रेखा यह है कि दर्शन का क्षेत्र है अन्तरंग, और ज्ञान का क्षेत्र है बहिरंग । दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है, और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है । दोनों में परस्पर सम्बन्ध कारण और कार्य का है । जबतक आत्मावधान नहीं होगा, तबतक बाह्य पदार्थों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर भी बोध नहीं हो सकता । अतएव दर्शन की जो सामान्यग्रहण रूप परिभाषा की गई है उसका तात्पर्य आत्म-चैतन्य की उस अवस्था से है, जिसके होने पर मन के द्वारा वस्तुओं का ज्ञान रूप ग्रहण सम्भव है । यह चैतन्य व अवधान पर-पदार्थ-ग्रहण के लिये जिन विशेष इन्द्रियों, मानसिक व आध्यात्मिक वृत्तियों को जागृत करता है,

उनके अनुसार इसके चार भेद हैं—चक्षु-दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल-दर्शन। चक्षु इन्द्रिय पर-पदार्थ के साक्षात् स्पर्श किये बिना निर्दिष्ट दूरी से पदार्थ को ग्रहण करती है। अतएव इस इन्द्रिय-ग्रहण को जागृत करने वाली चक्षुदर्शन रूप वृत्ति उन शेष अचक्षुदर्शन से उद्बुद्ध होनेवाली इन्द्रिय-वृत्तियों से भिन्न है, जो वस्तुओं का श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा व स्पर्श इन्द्रियों से अविरल सन्निकर्ष होने पर होता है। इन्द्रियों के अगोचर, सूक्ष्म, तिरोहित या दूरस्थ पदार्थों का बोध कराने वाले अवधि ज्ञान के उद्भावक आत्म-चैतन्य का नाम अवधिदर्शन है; और जिस आत्मावधान के द्वारा समस्त ज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति जागृत होती है, उस स्वावधान का नाम केवल दर्शन है।

मतिज्ञान—

इसप्रकार आत्मावधान रूप दर्शन के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के पांच भेद हैं—मति, भुल, अवधि, मनः पर्यय और केवल। ज्ञेय पदार्थ और इन्द्रिय-विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। पदार्थ और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर मन की सचेत अवस्था में जो आदिभ्रम 'कुछ है' ऐसा बोध होता है, वह अवग्रह कहलाता है। उस अस्पष्ट वस्तुबोध के सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा का नाम ईहा है। उसके फलस्वरूप वस्तु का जो विशेष बोध होता है वह अवयय; और उसके कालान्तर में स्मरण करने रूप संस्कार का नाम चारणा है। इसप्रकार मतिज्ञान के ये चार भेद हैं। ज्ञेय पदार्थ संख्या में एक भी हो सकता है, या एक ही प्रकार के अनेक। प्रकार की अपेक्षा से वे बहुत अर्थात् विविध प्रकार के एक-एक हों, या बहुविध; अर्थात् अनेक प्रकार के अनेक। उनका आदि-ग्रहण क्षीप्र भी हो सकता है या वेर से। वस्तु का सर्वांग-ग्रहण भी हो सकता है, या एकांग। उक्त का ग्रहण हो या अनुक्त का; एवं ग्रहण ध्रुव रूप भी हो सकता है, व हीनाधिक अध्रुव रूप भी। इसप्रकार गृहीत पदार्थ की अपेक्षा से अवग्रहादि चारों भेदों के १२-१२ भेद होने से मतिज्ञान के ४८ भेद हो जाते हैं। ग्रहण करने वाली पांचों इन्द्रियों और एक मन, इन छह की अपेक्षा से उक्त ४८ भेद ६ गुणित होकर २८८ (४८ × ६) हो जाते हैं। ये भेद ज्ञेय-पदार्थ और ग्राहक-इन्द्रियों की अपेक्षा से हैं। किन्तु जब पदार्थ का ग्रहण अव्यक्त प्रणाली से क्रमशः होता है, तब जिसप्रकार कि मिट्टी का कोरा पात्र जलकणों से सिकत होकर पूर्ण रूप से गीला क्रमशः हो पाता है, तब उस प्रक्रिया को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। इसके ईहादि तीन भेद न होकर, तथा चक्षु

और मन की अपेक्षा सम्भव न होने से उसके केवल $१ \times १२ \times ४ = ४८$ भेद होते हैं। इन्हें पूर्वोक्त २८८ भेदों में मिलाकर मतिज्ञान ३३६ प्रकार का बतलाया गया है। इसप्रकार जैन सिद्धान्त में यहाँ इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का बड़ा सूक्ष्म चिन्तन और विवेचन पाया जाता है; जिसे पूर्णतः समझने के लिये पदार्थभेद, इन्द्रिय-व्यापार व मनोविज्ञान के गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

श्रुतज्ञान—

मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क, अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह श्रुतज्ञान है। इसप्रकार घुएँ को देखकर अग्नि के अस्तित्व की; हाथ को देखकर या शब्द को सुनकर मनुष्य की; यात्री के मुख से यात्रा का वर्णन सुनकर विदेश की जानकारी, व शास्त्र को पढ़कर तत्वों की, इस लोक-परलोक की, व आत्मा-परमात्मा आदि की जानकारी; यह सब श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के इन सब प्रकारों में सब से अधिक विशाल, प्रभावशाली और हितकारी वह लिखित साहित्य है, जिसमें हमारे पूर्वजों के चिन्तन और अनुभव का वर्णन व विवेचन संगृहीत है; इसीकारण इसे ही विशेष रूप से श्रुतज्ञान माना गया है। जैनधर्म की दृष्टि से उस श्रुतज्ञान को प्रधानता दी गई है जिसमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के धर्मोपदेशों का संग्रह किया गया है। इस श्रुतसाहित्य के मुख्य दो भेद हैं— अंगप्रविष्ट और अंग-बाह्य। अंग प्रविष्ट में उन आचारागादि १२ श्रुतांगों का समावेश होता है, जो भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यों द्वारा रचे गये थे; व जिनके विषयादिक परिचय इससे पूर्व साहित्य के व्याख्यान में कराया जा चुका है। अंग बाह्य में वे दश-वैकालिक, उत्तराध्ययनादि उत्तरकालीन आचार्यों की रचनाएं आती हैं, जो श्रुतांगों के आश्रय से समय समय पर विशेष प्रकार के श्रोताओं के हित की दृष्टि से विशेष विशेष विषयों पर प्रयोजनानुसार संक्षेप व बिस्तार से रची गई हैं; और जिनका परिचय भी साहित्य-खंड में कराया जा चुका है। ये दोनों अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष माने गये हैं; क्योंकि वे आत्मा के द्वारा साक्षात् रूप से न होकर, इन्द्रियों व मन के माध्यम द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। तथापि पश्चात्कालीन जैन न्याय की परम्परामें मतिज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होनेकी अपेक्षा सांख्यबह्यारिक प्रत्यक्ष माना गया है।

अवधिज्ञान—

आत्मा में एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियों के अगोचर

अतिसूक्ष्म, तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है; क्योंकि यह देश की मर्यादा को लिये हुए होता है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—एक भव-प्रत्यय और दूसरा गुण-प्रत्यय। देवों और नारकी जीवों में स्वभावतः ही इस ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है, अतएव वह भव-प्रत्यय है। मनुष्यों और पशुओं में यह ज्ञान विशेष गुण या ऋद्धि के प्रभाव से ही प्रकट होता है, और इस कारण इसे गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है। इसके ६ भेद हैं—अनुगामी, अननुगामी, बद्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित। अनुगामी अवधिज्ञान जहां भी जाता जाय, वही उसके साथ जाता है; किन्तु अननुगामी अवधिज्ञान स्थान-विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है। बद्धमान अवधि एक बार उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ता जाता है, और इसके विपरीत हीयमान घटता जाता है। सदैव एकरूप रहनेवाला ज्ञान अवस्थित, एवं अक्रम से कभी घटने व कभी बढ़ने वाला अनवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है। विस्तार की अपेक्षा अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनमें ज्ञेय-क्षेत्र व पदार्थों की पर्यायों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार व विशुद्धि पाई जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इसकारण वह प्रतिपाती है। किन्तु परमावधि व सर्वावधि अवधिज्ञान उत्पन्न होकर फिर कभी छूटते नहीं, जबतक कि उनका केवलज्ञान में लय न हो जाय।

मनःपर्ययज्ञान—

मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा दूसरेके मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है; किन्तु विपुलमति ज्ञान अप्रतिपाती है; अर्थात् एक बार होकर फिर कभी छूटता नहीं।

केवलज्ञान—

केवलज्ञान के द्वारा विश्वमात्र के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यों और उनकी त्रिकाल-वर्ती पर्यायों का ज्ञान युगपत् होता है। ये अवधि आदि तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष माने गये हैं; क्योंकि वे साक्षात् आत्मा द्वारा बिना इन्द्रिय व मन की सहायता के उत्पन्न होते हैं। मति और श्रुतज्ञान से रहित जीव कभी नहीं होता, क्योंकि यदि जीव इनके सूक्ष्मतमांश से भी वंचित हो जाय, तो वह जीवत्व से ही च्युत हो जावेगा, और जड़

पदार्थ का रूप धारण कर लेगा। किन्तु यह होना असम्भव है; क्योंकि कोई भी मूल द्रव्य द्रव्यान्तर में परिणत नहीं हो सकता। मति और श्रुतज्ञान का अनुभव सभी मनुष्यों को होता है। अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के भी कहीं कुछ उदाहरण देखने सुनने में आते हैं; किन्तु वे हैं ऋद्धि-विशेष के परिणाम। केवलज्ञान योगि-गम्य है; और जैन मान्यतानुसार इस काल व इस क्षेत्र में किसी को उसका उत्पन्न होना असम्भव है। मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्यात्व अवस्था में भी हो सकते हैं; और तब उन ज्ञानों को कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहा गया है, क्योंकि उस अवस्था में अर्थ-बोध ठीक होने पर भी वह ज्ञान धार्मिक दृष्टि से स्व-पर हितकारी नहीं होता; उससे हित की अपेक्षा अहित की ही सम्भावना अधिक रहती है। इसप्रकार ज्ञान के कुल आठ भेद कहे गये हैं।

ज्ञान के साधन—

न्याय दर्शन में प्रमाण चार प्रकार का माना गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ये भेद उत्तरकालीन जैन न्याय में भी स्वीकार किये गये हैं; किन्तु इनका उपर्युक्त पांच प्रकार के ज्ञानों से कोई विरोध या वैषम्य उपस्थित नहीं होता। यहाँ प्रत्यक्ष से तात्पर्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से है; जिसे उपर्युक्त प्रमाण-भेदों में परोक्ष कहा गया है; तथापि उसे जैन नैयायिकों ने सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी है। इसप्रकार वह मतिज्ञान का भेद सिद्ध हो जाता है। शेष जो अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं, उनका समावेश श्रुतज्ञान में होता है।

प्रमाण व नय—

पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—प्रमाणों से और नयों से (प्रमाणनयैरधिगमः। त० सू० १, ६) अभी जो पांच प्रकार के ज्ञानों का वर्णन किया गया वह सब प्रमाण की अपेक्षा से। इन प्रमाणभूत ज्ञानों के द्वारा द्रव्यों का उनके समग्ररूप में बोध होता है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी एकात्मक सत्ता रखता हुआ भी अनन्तगुणात्मक और अनन्तपर्यायात्मक हुआ करता है। इन अनन्त गुण-पर्यायों में से व्यवहार में प्रायः किसी एक विशेष गुणधर्म के उल्लेख की आवश्यकता होती है। जब हम कहते हैं उस मोटी पुस्तक को ले आओ, तो इससे हमारा काम चल जाता है, और हमारी अभीष्ट पुस्तक हमारे सम्मुख आ जाती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस पुस्तक में मोटाई के अतिरिक्त अन्य कोई गुण-धर्म नहीं है। अतएव ज्ञान की

दृष्टि से यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि हमारा वचनालाप, जिसके द्वारा हम दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं, ऐसा न हो कि जिससे दूसरे के हृदय में वस्तु की अनेक-गुणात्मकता के स्थान पर एकान्तिकता की छाप बैठ जाय। इसीलिये एकान्त को मिथ्यात्व कहा गया है, और सिद्धान्त के प्रतिपादन में ऐसी वचनशैली के उपयोग का प्रतिपादन किया गया है, जिससे वक्ता का एक-गुणोल्लेखात्मक अभिप्राय भी प्रगट हो जाय; और साथ ही यह भी स्पष्ट बना रहे कि वह गुण अन्य-गुण-सापेक्ष है। जैन दर्शन की यही विचार और वचनशैली अनेकान्त व स्याद्वाद कहलाती है। वक्ता के अभिप्रायानुसार एक ही वस्तु है भी कही जा सकती है; और नहीं भी। दोनों अभिप्रायों के मेल से हां-ना एक मिश्रित वचनभंग भी हो सकता है; और इसी कारण उसे अवक्तव्य भी कह सकते हैं। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तुस्वरूप है भी और फिर भी अवक्तव्य है; नहीं है, और फिर भी अवक्तव्य है; अथवा है भी, नहीं भी है, और फिर भी अवक्तव्य है। इन्हीं सात सम्भावनात्मक विचारों के अनुसार सात प्रमाणभंगियां मानी गयी हैं—स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अवक्तव्यम्, स्याद् अस्ति-अवक्तव्यम्, स्याद्-नास्ति-अवक्तव्यम् और स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यम्। सम्भवतः एक उदाहरण के द्वारा इस स्याद्वाद शैली की सार्थकता अधिक स्पष्ट की जा सकती है। किसी ने पूछा क्या आप जानी है? इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो अवश्य जानता ही हूँ—मैं कह सकता हूँ कि “मैं स्याद् जानी हूँ।” सम्भव है मुझे अपने ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का भान अधिक हो और उस अपेक्षा से मैं कहूँ कि “मैं स्याद् अजानी हूँ।” कितनी बातों का ज्ञान है, और कितनी का नहीं है; अतएव यदि मैं कहूँ कि “मैं स्याद् जानी हूँ भी और नहीं भी;” तो भी अनुचित न होगा; और यदि इसी दुविधा के कारण इतना ही कहूँ कि “मैं कह नहीं सकता कि मैं जानी हूँ या नहीं” तो भी मेरा वचन असत्य न होगा। इन्हीं अधारों पर मैं सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूँ कि “मुझे कुछ ज्ञान है तो, फिर भी कह नहीं सकता कि आप जो बात मुझसे जानना चाहते हैं, उस पर मैं प्रकाश डाल सकता हूँ या नहीं।” इसी बात को दूसरे प्रकार से यों भी कह सकता हूँ कि “मैं जानी तो नहीं हूँ, फिर भी सम्भव है कि आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकूँ; अथवा इस प्रकार भी कह सकता हूँ कि “मैं कुछ जानी हूँ भी, कुछ नहीं भी हूँ; अतएव कहा नहीं जा सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं।” ये समस्त वचन-प्रणालियां अपनी-अपनी सार्थकता रखती हैं, तथापि पृथक्-पृथक् रूप में वस्तु-स्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती हैं; उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं। इसीलिये जैन

न्याय इस बात पर जोर देता है कि पूर्वोक्त में से अपने अभिप्रायानुसार वक्ता चाहे जिस वचन-प्रणाली का उपयोग करे, किन्तु उसके साथ स्यात् पद अवश्य जोड़ दे, जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता रहे कि वस्तुस्थिति में अन्य सम्भावनाएं भी हैं; अतः उसकी बात सापेक्ष रूप से ही समझी जाय। इस प्रकार यह स्याद्वाद प्रणाली कोई द्वितीय वस्तु नहीं है, क्योंकि व्यवहार में हम बिना स्यात् शब्द का प्रयोग किये भी कुछ उस सापेक्ष-भाव का ध्यान रखते ही हैं। तथापि शास्त्रार्थ में कभी-कभी किसी बात की सापेक्षता की ओर ध्यान न दिये जाने से बड़े-बड़े विरोध और मतभेद उपस्थित हो जाते हैं, जिनमें सांभंजस्य बैठाना कठिन प्रतीत होने लगता है। जैन स्याद्वाद प्रणाली द्वारा ऐसे विरोधों और मतभेदों को अवकाश न देने का प्रयत्न किया गया है, और जहां विरोध दिखाई दे जाय, वहां इस स्यात् पद में उसे सुलझाने और सांभंजस्य बैठाने की कुंजी भी साथ ही लगा दी गई है। व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुसार स्यात् अस् धातु का विधिलिग अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है; जिसका अर्थ होता है 'ऐसा हो' 'एक सम्भावना यह भी है'। जैन न्याय में इस पद को सापेक्ष-विधान का वाचक अव्यय बनाकर अपनी अनेकान्त विचारशैली को प्रकट करने का साधन बनाया गया है। इसे अनिश्चय-बोधक समझना कदापि युक्तिसंगत नहीं है।

नय—

पदार्थों के अनन्त गुण और पर्यायों में से प्रयोजनानुसार किसी एक गुण-धर्म सम्बन्धी ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है; और नयों द्वारा ही वस्तु के नाना गुणांशों का विवेचन सम्भव है। वाणी में भी एक समय में किसी एक ही गुण-धर्म का उल्लेख सम्भव है, जिसका यथोचित प्रसंग नयविचार के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि जितने प्रकार के वचन सम्भव है, उतने ही प्रकार के नय कहे जा सकते हैं। तथापि वर्गीकरण की सुविधा के लिये नयों की संख्या सात स्थिर की गयी है, जिनके नाम हैं—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। नैगम का अर्थ है—न एकः गमः अर्थात् एक ही बात नहीं। जब सामान्यतः किसी वस्तु की भूत, भविष्यत्, वर्तमान पर्यायों को भिंलाजुलाकर बात कही जाती है, तब वक्ता का अभिप्राय नैगम-नयात्मक होता है। जो व्यक्ति आग जला रहा है, वह यदि पूछने पर उत्तर दे कि मैं रोटी बना रहा हूं, तो उसकी बात नैगम नयकी अपेक्षा सच मानी जा सकती है; क्योंकि उसका अभिप्राय यह है कि आग का जलाना उसे प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी, उसके पूछने का अभिप्राय यही था कि अग्नि किसलिये जलाई जा रही है।

यहां यदि नैगम नय के आश्रय से प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता के अभिप्राय को न समझा जाय, तो प्रश्न और उत्तर में हमें कोई संगति प्रतीत नहीं होगी। इसी प्रकार जब चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को कहा जाता है कि आज महावीर तीर्थंकर का जन्म-दिवस है, तब उस हजारों वर्ष पुरानी भूतकाल की घटना की आज के इस दिन से संगति नैगम नय के द्वारा ही बैठकर बतलाई जा सकती है। संग्रहनय के द्वारा हम उत्तरोत्तर वस्तुओं को विशाल दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं। जब हम कहते हैं कि यहा के सभी प्रदेशों के वासी, सभी जातियों के, और सभी पंथों के चालीस करोड़ मनुष्य भारतवासी होने की अपेक्षा एक है, अथवा भारतवासी और चीनी दोनों एशियाई होने के कारण एक हैं, अथवा सभी देशों के समस्त संसारवासी जन एक ही मनुष्य जाति के हैं, तब ये सभी बातें संग्रहनय की अपेक्षा सत्य हैं। इसके विपरीत जब हम मनुष्य जाति को महाद्वीपों की अपेक्षा एशियाई, यूरोपीय, अमेरिकन आदि भेदों में विभाजित करते हैं, तथा इनका पुनः अन्तर् प्रदेशों एवं प्रान्तीय, राजनैतिक, धार्मिक, जातीय आदि उत्तरोत्तर अल्प-अल्पतर वर्गों में विभाजन करते हैं, तब हमारा अभिप्राय व्यवहार नयात्मक होता है। इस प्रकार संग्रह और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष है, और विस्तार व संकोचात्मक दृष्टियों को प्रकट करनेवाले है। दोनों सत्य है, और दोनों अपनी-अपनी सार्थकता रखते हैं। उनमें परस्पर विरोध नहीं, किन्तु वे एक दूसरे के परिपूरक हैं, क्योंकि हमें अभेददृष्टि से संग्रह नय का, व भेद दृष्टि से व्यवहार नय का आश्रय लेना पड़ता है। ये नैगमादि तीनों नय द्रव्याधिक माने गये हैं; क्योंकि इनमें प्रतिपाद्य वस्तु की द्रव्यात्मकता का ग्रहण कर विचार किया जाता है, और उसकी पर्याय गौण रहता है। ऋजुसूत्रादि अगले चार नय पर्यायाधिक कहे गये हैं, क्योंकि उनमें पदार्थों की पर्याय-विशेष का ही विचार किया जाता है।

यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम कौन हो, और मैं उत्तर दू कि मैं प्रवक्ता हूँ, तो यह उत्तर ऋजुसूत्र नय से सत्य ठहरेगा; क्योंकि मैं उस उत्तर द्वारा अपनी एक पर्याय या अवस्था-विशेष को प्रकट कर रहा हूँ, जो एक काल-मर्यादा के लिये निश्चित हो गई है। इस प्रकार वर्तमान पर्यायमात्र को विषय करनेवाला नय ऋजुसूत्र कहलाता है। अगले शब्दादि तीन नय विशेषरूप से सम्बन्ध शब्द-प्रयोग से रखते हैं। जो एक शब्द का एक वाच्यार्थ मान लिया गया है, उसका लिंग या वचन भी निश्चित है, वह शब्दनय से यथोचित माना जाता है। जब हम संस्कृत में स्त्री के लिये कलत्र शब्द का नपुंसक लिंग में, अथवा दारा शब्द का पुलिग और बहुवचन में प्रयोग करते हैं, एवं देव और देवी शब्द का इनके वाच्यार्थ स्वर्गलोक के प्राणियों के लिये ही करते हैं, तब यह सब

शब्दनय की अपेक्षा से उपयुक्त सिद्ध होता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्नार्थक शब्दों की जब हम रूढ़ि द्वारा एकार्थवाची बनाकर प्रयोग करते हैं, तब यह बात समभिरूढ़ नय की अपेक्षा उचित सिद्ध होती है। जैसे—देवराज के लिये इन्द्र, पुरन्दर या शक्र; अथवा घोड़े के लिये अश्व, अर्ब, गन्धर्व, सैन्धव आदि शब्दों का प्रयोग। इन शब्दों का अपना-अपना पृथक् अर्थ है; तथापि रूढ़िवशात् वे पर्यायवाची बन गये हैं। यही समभिरूढ़ नय है। एवम्भूतनय की अपेक्षा वस्तु की जिस समय जो पर्याय हो, उस समय उसी पर्याय के वाची शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे किसी मनुष्य को पढ़ाते समय पाठक, पूजा करते समय पुजारी, एवं युद्ध करते समय योद्धा कहना।

द्रव्याधिक-पर्यायाधिक नय—

इन नयों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार जैन सिद्धान्त में इन नयों के द्वारा किसी भी वक्ता के वचन को सुनकर उसके अभिप्राय की सुसंगति यथोचित वस्तुस्थिति के साथ दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उपर्युक्त सात नय तो यथार्थतः प्रमुख रूप से दृष्टान्त मात्र हैं; किन्तु नयों की संख्या तो अपरिमित है; क्योंकि द्रव्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में जितने प्रकार के विचार व वचन हो सकते हैं, उतने ही उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करनेवाले नय कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, जैन तत्त्वज्ञान में छह द्रव्य माने गये हैं; किन्तु यदि कोई कहे कि द्रव्य तो यथार्थतः एक ही है, तब नयवाद के अनुसार इसे सत्तामात्र-प्राही शुद्धद्रव्याधिक नय की अपेक्षा से सत्य स्वीकार किया जा सकता है। सिद्धि व मुक्ति जीव की परमात्मावस्था को माना गया है; किन्तु यदि कोई कहे कि जीव तो सर्वत्र और सर्वदा सिद्ध-मुक्त है, तो इसे भी जैनी यह समझकर स्वीकार कर लेगा कि यह बात कर्मोपाधि-निरपेक्ष शुद्धद्रव्याधिक नय से कही गई है। गुण और गुणी, द्रव्य और पर्याय, इनमें यथार्थतः भावात्मक भेद है; तथापि यदि कोई कहे कि ज्ञान ही आत्मा है; मनुष्य अमर है; कंकण ही सुवर्ण है; तो इसे भेदविकल्प-निरपेक्ष शुद्धद्रव्याधिक नय से सच माना जा सकता है। सिद्धान्तानुसार ज्ञान-दर्शन ही आत्मा के गुण हैं; और रागद्वेष आदि उसके कर्मजन्य विभाव हैं; तथापि यदि कोई कहे कि जीव रागी-द्वेषी है, तो यह बात कर्मोपाधि साक्षेप अशुद्ध-द्रव्याधिक नय से मानी जाने योग्य है। चींटी से लेकर मनुष्य तक संसारी जीवों की जातियाँ हैं; और जीव परमात्मा तब बनता है, जब वह विशुद्ध होकर इन समस्त सांसारिक गतियों से मुक्त हो जाय; तथापि यदि कोई कहे कि चींटी भी परमात्मा है, तो इस बात को भी परमभावप्राप्त द्रव्याधिक

नय से ठीक समझना चाहिये। सभी द्रव्य अपने द्रव्यत्व की अपेक्षा चिरस्थायी हैं; किन्तु जब कोई कहता है कि संसार की समस्त वस्तुएं क्षणभंगुर हैं, तब समझना चाहिये कि यह बात वस्तुओं की सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय गुणात्मक अनित्य शुद्धपर्यायाधिक नय से कही गई है। किसी वस्तु का दृश्य या मनुष्य का चित्र उस वस्तु आदि से सर्वथा पृथक् है; तथापि जब कोई चित्र देखकर कहता है—यह नारंगी है, यह हिमालय है, ये रामचन्द्र हैं, तब जैन न्याय की दृष्टि अनुसार उक्त बात स्व-जाति असद्भूत-उपनय से ठीक है। यद्यपि कोई भी व्यक्ति अपने पुत्र कलत्रादि बन्धुवर्ग से, व घरद्वारादि सम्पत्ति से सर्वथा पृथक् है; तथापि जब कोई कहता है कि मैं और ये एक हैं; ये मेरे हैं, और मैं इनका हूँ, तो यह बात असद्भूत उपचार नय से यथार्थ मानी जा सकती है।

इस प्रकार नयों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें इस न्याय के प्रतिपादक आचार्यों का यह प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है कि मनुष्य के जब, जहां, जिस प्रकार के अनुभव व विचार उत्पन्न हुए, और उन्होंने उन्हें वचनबद्ध किया, उन सब में कुछ न कुछ सत्यांश अवश्य विद्यमान है; और प्रत्येक ज्ञानी का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह उस बात को सुनकर, उसमें अपने निर्धारित मत से कुछ विरोध दिखाई देने पर, उसके खंडन में प्रवृत्त न हो जाय, किन्तु यह जानने का प्रयत्न करे कि वह बात किस अपेक्षा से कहा तक सत्य हो सकती है; तथा उसका अपने निश्चित मत से किस प्रकार सामंजस्य बैठाया जा सकता है। जैन स्याद्वाद, अनेकान्त या नयवाद का दावा तो यह है कि वह अपनी न्यायशैली द्वारा समस्त विरुद्ध दिखाई देनेवाले मतों और विचारों में वक्त्याओं के दृष्टिकोण का पता लगाकर उनके विरोध का परिहार कर सकता है, तथा विरोधी को अपने स्पष्टीकरण द्वारा उसके मत की सीमाओं का बोध कराकर, उन्हें अपने ज्ञान का अंग बना ले सकता है।

चार-निक्षेप—

जैन न्याय की इस अनेकान्त-प्रणाली से प्रेरित होकर ही जैनाचार्यों ने प्रकृति के तत्वों की खोज और प्रतिपादन में यह सावधानी रखने का प्रयत्न किया है कि उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न न होने पावे। इसी सावधानी के परिणामस्वरूप हमें चार प्रकार के निक्षेपों और उनके नाना भेद-प्रभेदों का व्याख्यान मिलता है। द्रव्य का स्वरूप नाना प्रकार का है, और उसको समझने-समझाने के लिये हम जिन पद्धतियों का उपयोग करते हैं, वे निक्षेप कहलाती हैं। व्याख्यान में हम वस्तुओं का

उल्लेख विविध नामों व संज्ञाओं के द्वारा करते हैं, जो कहीं अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा, व कहीं रुढ़ि के द्वारा उनकी वाच्य वस्तु को प्रगट करते हैं। इस प्रकार पुस्तक, घोड़ा व मनुष्य, ये ध्वनियां स्वयं वे-वे वस्तुएं नहीं हैं, किन्तु उन वस्तुओं के नाम निक्षेप हैं, जिनके द्वारा लोक-व्यवहार चलता है। इसी प्रकार यह स्पष्ट समझ कर चलना चाहिये कि मन्दिरों में जो मूर्तियां स्थापित है वे देवता नहीं, किन्तु उन देवों की साकार स्थापना रूप हैं; जिस प्रकार कि शतरंज के मोहरे, हाथी नहीं, किन्तु उनकी साकार या निराकार स्थापना मात्र हैं; भले ही हम उनमें पूज्य या अपूज्य बुद्धि स्थापित कर लें। यह स्थापना निक्षेप का स्वरूप है। इसी प्रकार द्रव्य-निक्षेप द्वारा हम वस्तु की भूत व भविष्यकालीन पर्यायों या अवस्थाओं को प्रकट किया करते हैं। जैसे, जो पहले कभी राजा थे, उन्हें उनके राजा न रहने पर अब भी, राजा कहते हैं; या डाक्टरों पढ़नेवाले विद्यार्थी को भी डाक्टर कहने लगते हैं। इनके विपरीत जब हम जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में है, उसे, उस समय, उसी अर्थबोधक शब्द द्वारा प्रकट करते हैं, तब यह भावनिक्षेप कहलाता है; जैसे व्याख्यान देते समय ही व्यक्ति को व्याख्याता कहना, और ध्यान करते समय ध्यानी। इसी प्रकार वस्तुविवेचन में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सम्बन्ध में सतर्कता रखने का; वस्तु को उसकी सत्ता, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प-बहुत्व के अनुसार समझने; तथा उनके निर्देश स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान की ओर भी ध्यान देते रहने का आदेश दिया गया है; और इस प्रकार जैन शास्त्र के अध्येता को एकान्त दृष्टि से बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

सम्यक् चारित्र—

सम्यक्त्व और ज्ञान की साधना के अतिरिक्त कर्मों के संवर व निर्जरा द्वारा मोक्ष सिद्धि के लिये चारित्र की आवश्यकता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन में धार्मिकता किसप्रकार उत्पन्न होती है। अधार्मिकता के क्षेत्र से निकाल कर धार्मिक क्षेत्र में लानेवाली वस्तु है सम्यक्त्व जिससे व्यक्ति को एक नई चेतना मिलती है कि मैं केवल अपने शरीर के साथ जीने-मरनेवाला नहीं हूँ; किन्तु एक अविनाशी तत्व हूँ। यही नहीं, किन्तु इस चेतना के साथ क्रमशः उसे संसार के अन्य तत्वों का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे उसका अपने जीवन की ओर तथा अपने आसपास के जीवजगत् की ओर दृष्टिकोण बदल जाता है। जहां मिथ्यात्व की अवस्था में अपना स्वार्थ, अपना पोषण व दूसरों के प्रति द्वेष और

ईर्ष्या भाव प्रधान था, वहाँ अब सम्यक्त्वी को अपने आसपास के जीवों में भी अपने समान आत्मतत्त्व के दर्शन होने से, उनके प्रति स्नेह, कारुण्य व सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो जाती है; और जिन वृत्तियों के कारण जीवों में संघर्ष पाया जाता है, उनसे उसे विरक्ति होने लगती है। उसकी दृष्टि में अब एक और जीवन का अनुपम माहात्म्य, और दूसरी ओर जीवों की घोर दुःख उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः सम्मुख आ जाती हैं। इस नई दृष्टि के फलस्वरूप उसकी अपनी वृत्ति में जो सम्यक्त्व के उपर्युक्त चार लक्षण-प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य प्रगट होते हैं, उससे उसकी जीवनधारा में एक नया मोड़ आ जाता है; और वह दुराचरण छोड़कर सदाचारी बन जाता है। इस सदाचार की मूल प्रेरक भावना होती है—अपना और पराया हित व कल्याण। आत्महित से परहित का मेल बैठाने में जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह है विचारों की विषमता और क्रिया-स्वातंत्र्य। विचारों की विषमता दूर करने में सम्यग्ज्ञानी को सहायता मिलती है स्याद्वाद व अनेकान्त की सामंजस्यकारी विचार-शैली के द्वारा; और आचरण की शुद्धि के लिये जो सिद्धान्त उसके हाथ आता है, वह है अपने समान दूसरे की रक्षा का विचार अर्थात् अहिंसा।

अहिंसा—

जीव-जगत् में एक मर्यादा तक अहिंसा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। पशु-पक्षी और उनसे भी निम्न स्तर के जीव-जन्तुओं में अपनी जाति के जीवों को मारने व खाने की प्रवृत्ति प्रायः नहीं पाई जाती। सिंह, व्याघ्रादि हिंस्र प्राणी भी अपनी सन्तति की तो रक्षा ही करते हैं; और अन्य जाति के जीवों को भी केवल तभी मारते हैं, जब उन्हें भ्रूख की वेदना सताती है। प्राणिमात्र में प्रकृति की अहिंसोन्मुख वृत्ति की परिचायक कुछ स्वाभाविक चेतनाएं पाई जाती हैं, जिनमें मैथुन, संतानपालन, सामूहिक जीवन आदि प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं। प्रकृति में यह भी देखा जाता है कि जो प्राणी जितनी मात्रा में अहिंसकवृत्ति का होता है, वह उतना ही अधिक शिक्षा के योग्य व उपयोगी सिद्ध हुआ है। बकरी, गाय, भैंस, घोड़ा, ऊंट, हाथी आदि पशु मांसभक्षी नहीं हैं, और इसीलिये वे मनुष्य के व्यापारों में उपयोगी सिद्ध हो सके हैं। यथार्थतः उन्हीं में प्रकृति की शीतोष्ण आदि द्वन्द्वात्मक शक्तियों को सहने और परिश्रम करने की शक्ति विशेष रूप में पाई जाती है। वे हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिये दल बांध कर सामूहिक शक्ति का उपयोग भी करते हुए पाये जाते हैं। मनुष्य तो सामाजिक प्राणी ही है; और समाज तबतक बन ही नहीं सकता जबतक व्यक्तियों में

हिंसात्मक वृत्ति का परित्याग न हो। यही नहीं, समाज बनने के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियों में परस्पर रक्षा और सहायता करने की भावना भी हो। यही कारण है कि मनुष्य-समाज में जितने धर्म स्थापित हुए हैं, उनमें, कुछ मर्यादाओं के भीतर, अहिंसा का उपदेश पाया ही जाता है; भले ही वह कुटुंब, जाति, धर्म या मनुष्य मात्र तक ही सीमित हो। भारतीय सामाजिक जीवन में आदितः जो श्रमण-परम्परा का वैदिक परम्परा से विरोध रहा, वह इस अहिंसा की नीति को लेकर। धार्मिक विधियों में नरबलि का प्रचार तो बहुत पहिले उत्तरोत्तर मन्द पड़ गया था; किन्तु पशुबलि यज्ञक्रियाओं का एक सामान्य अंग बना रहा। इसका श्रमण साधु सदैव विरोध करते रहे। आगे चलकर श्रमणों के जो दो विभाग हुए, जैन और बौद्ध, उन दोनों में अहिंसा के सिद्धान्त पर जोर दिया गया जो अभी तक चला आता है। तथापि बौद्धधर्म में अहिंसा का चिन्तन, विवेचन व पालन बहुत कुछ परिमित रहा। परन्तु यह सिद्धान्त जैनधर्म में समस्त सदाचार की नींव ही नहीं, किन्तु धर्म का सर्वोत्कृष्ट अंग बन गया। अहिंसा परमो धर्मः वाक्य को हम दो प्रकार से पढ़ सकते हैं—तीनों शब्दों को यदि पृथक्-पृथक् पढ़ें तो उसका अर्थ होता है कि अहिंसा ही परम धर्म है; और यदि अहिंसा-परमो को एक समास पद मानें तो वह वाक्य धर्म की परिभाषा बन जाता है, जिसका अर्थ होता है कि धर्म वही है जिसमें अहिंसा को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो। समस्त जनाचार इसी अहिंसा के सिद्धान्त पर अवलम्बित है; और जितने भी आचार सम्बन्धी व्रत-नियमादि निर्दिष्ट किये गये हैं, वे सब अहिंसा के ही सर्वांग परिपालन के लिये हैं। इसी तथ्य को मनुस्मृति (२, १५६) की इस एक ही पंक्ति में भले प्रकार स्वीकार किया गया है—अहिंसयंब भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।

श्रावक-धर्म—

मुख्य व्रत पांच हैं—अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह। इसका अर्थ है हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, और परिग्रह मत रखो। इन व्रतों के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन व्रतों के द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियों का नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज में मुख्य रूप से वैर-विरोध की जनक हुआ करती हैं। दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से कुछ निषेधात्मक नियमों के द्वारा ही किया जा सकता है। व्यक्ति जो क्रियाएं करता है, वे मूलतः उसके स्वार्थ से प्रेरित होती हैं। उन क्रियाओं में कौन अच्छी है, और कौन

बुरी, यह किसी मापदंड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है। हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह, ये सामाजिक पाप ही तो हैं। जितने ही अंश में व्यक्ति इनका परित्याग करेगा, उतना ही वह सभ्य और समाज-हितैषी माना जायगा; और जितने व्यक्ति इन व्रतों का पालन करें, उतना ही समाज शुद्ध, सुखी और प्रगतिशील बनेगा। इन व्रतों पर जैन शास्त्रों में बहुत अधिक भार दिया गया है, और उनका सूक्ष्म एवं सुविस्तृत विवेचन किया गया है; जिससे जैन शास्त्रकारों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के शोधन के प्रयत्न का पता चलता है। उन्होंने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सब के लिये सब अवस्थाओं में इन व्रतों का एकसा परिपालन सम्भव नहीं है; अतएव उन्होंने इन व्रतों के दो स्तर स्थापित किये—अणु और महत् अर्थात् एकांश और सर्वांश। गृहस्थों की आवश्यकता और अनिवार्यता का ध्यान रखकर उन्हें इनका आंशिक अणुव्रत रूप से पालन करने का उपदेश किया, और त्यागी मुनियों को परिपूर्ण महाव्रत रूप से। इन व्रतों के द्वारा जिस प्रकार पापों के निराकरण का उपदेश दिया गया है, उसका स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार है।

अहिंसाणुव्रत—

प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना हिंसा है। प्रमाद का अर्थ है—मन को रागद्वेषात्मक कषायों से अछूता रखने में शिथिलता; और प्राण-घात से तात्पर्य है, न केवल दूसरे जीवों को मार डालना, किन्तु उन्हें किसी प्रकार की भी पीड़ा पहुंचाना। इस हिंसा से दो भेद हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। अपनी शारीरिक-क्रिया द्वारा किसी जीव के शरीर को प्राणहीन कर डालना, या वध-बन्धन आदि द्वारा उसे पीड़ा पहुंचाना द्रव्यहिंसा है; और अपने मन में किसी जीव की हिंसा का विचार करना भावहिंसा है। यथार्थः पाप मुख्यतः इस भाव हिंसा में ही है, क्योंकि उसके द्वारा दूसरे प्राणी की हिंसा हो या न हो चिन्तक के स्वयं विशुद्ध अंतरंग का घात तो होता ही है। इसीलिये कहा हैः—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।

पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा ना वधः ॥ (सर्वार्थसिद्धि सू० ७, १३)

अर्थात् प्रमादी मनुष्य अपने हिंसात्मक भाव के द्वारा आप ही अपने की हिंसा पहले ही कर डालता है; तत्पश्चात् दूसरे प्राणियों का उसके द्वारा वध हो या न हो। इसके विपरीत यदि व्यक्ति अपनी भावना शुद्ध रखता हुआ शक्ति भर जीव-रक्षा का प्रयत्न करता है, तो द्रव्यहिंसा हो जाने पर भी वह पाप का भागी नहीं होता। इस

सम्बन्ध में दो प्राचीन गाथाएं उल्लेखनीय हैं—

उक्तालिदम्नि पादे इरिषत्समिदस्स सिग्गमद्वाणे ।

आवावेज्ज कुलिणो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१॥

य हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये ।

जम्हा सो अपमत्तो सा उ यसाउ त्ति रिषिट्ठठा ॥२॥

अर्थात् मयन सम्बन्धी नियमों का सावधानी से पालन करनेवाले संयमी ने जब अपना पैर उठाकर रखा, तभी उसके नीचे कोई जीव-जन्तु चपेट में आकर मर गया। किन्तु इससे शास्त्रानुसार उस संयमी को लेशमात्र भी कर्मबन्धन नहीं हुआ, क्योंकि संयमी ने प्रमाद नहीं किया; और हिंसा तो प्रमाद से ही होती है। आवहिंसा कितनी बुरी मानी गयी है, यह इस गाथा से प्रकट है—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स रिण्छिद्धा हिंसा ।

ययदस्स एत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे, जो अपने आचरण में यत्नशील नहीं हैं, वह भाव-मात्र से हिंसा का दोषी अवश्य होता है; और इसके विपरीत, यदि कोई संयमी अपने आचरण में सतर्क है, तो ब्रह्महिंसा मात्र से वह कर्मबन्ध का भागी नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा के उपदेश में भार यथार्थतः मनुष्य की मानसिक शुद्धि पर है।

गृहस्थ और मुनि को जो अहिंसा व्रत क्रमशः अणु व महत् रूप में पालन करने का उपदेश दिया गया है वह जैन व्यवहार दृष्टि का परिणाम है। मुनि तो सूक्ष्म से सूक्ष्म एकेन्द्री से लगाकर किसी भी जीव की जानबूझकर कभी हिंसा नहीं करेगा, चाहे उसे जीवरक्षा के लिये स्वयं कितना ही क्लेश क्यों न भोगना पड़े। किन्तु गृहस्थ की सीमाओं का ध्यान रखकर उसकी सुविधा के लिये वनस्पति आदि स्थावर हिंसा के त्याग पर उतना भार नहीं दिया गया। द्वीन्द्रियादि त्रस जीवों के सम्बन्ध में हिंसा के चार भेद किये गये हैं—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी हिंसा। चलने-फिरने से लेकर भाड़ना बुहारना व चूल्हा-चक्की आदि गृहस्थी संबंधी क्रियाएं आरम्भ कहलाती हैं; जिसमें अनिवार्यतः होनेवाली हिंसा आरम्भी है। कृषि, दुकानदारी, व्यापार, वाणिज्य, उद्योगधन्वे आदि में होनेवाली हिंसा उद्योगी हिंसा है। अपने स्वजनों व परिजनों के, तथा धर्म, देश व समाज की रक्षा के निमित्त जो हिंसा अपरिहार्य हो वह विरोधी हिंसा है; एवं विनोद मात्र के लिये, वैर का बदला चुकाने के लिये, अपना पौष्ट्य दिखाने के लिये, अथवा अन्य किसी कुत्सित स्वार्थभाव से जान-बूझकर जो हिंसा की जाती है, वह संकल्पी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से गृहस्थ, व्रतरूप

से तो केवल संकल्पी हिंसा का ही त्यागी हो सकता है। शेष तीन प्रकार की हिंसाओं में उसे स्वयं अपनी परिस्थिति और विवेकानुसार संयम रखने का उपदेश दिया गया है।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार—

प्राणघात के अतिरिक्त अन्यप्रकार पीड़ा देकर हिंसा करने के अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनसे बचते रहने की व्रती को आवश्यकता है। विशेषतः परिजनों व पशुओं के साथ पाँच प्रकार की क्रूरता को अतिचार (अतिक्रमण) कहकर उनका निषेध किया गया है—उन्हें बांधकर रखना, दंडों, कोड़ों आदि से पीटना, नाक-कान आदि छेदना-काटना, उनकी शक्ति से अधिक बोझा लादना, व समय पर अन्न-पान न देना। इन अतिचारों से बचने के अतिरिक्त, अहिंसा के भाव को दृढ़ करने के लिये पाँच भावनाओं का उपदेश दिया गया है—अपने मन के विचारों, वचन-प्रयोगों, गमनागमन, वस्तुओं को उठाने रखने तथा भोजन-पान की क्रियाओं में जागरूक रहना। इस प्रकार जैन-शास्त्र-प्रणीत हिंसा के स्वरूप तथा अहिंसा व्रत के विवेचन से स्पष्ट है कि इस व्रत का विधान व्यक्ति को सुशील, सुसम्य व समाजहितैषी बनाने, और उसे अनिष्टकारी प्रवृत्तियों से रोकने के लिये किया है, और इस संयम की आज भी संसार में अत्यधिक आवश्यकता है। जिस प्रकार यह व्रत व्यक्ति के आचरण का शोधन करता है, उसी प्रकार वह देश और समाज की नीति का अंग बनकर संसार में सुख और शान्ति की स्थापना कराने में भी सहायक हो सकता है। अहिंसा के इसी सद्गुण के कारण ही यह सिद्धान्त जैन व बौद्ध धर्मों तक ही सीमित नहीं रहा, किन्तु वह वैदिक परम्परा में भी आज से शताब्दियों पूर्व प्रविष्ट हो चुका है, तथा एक प्रकार से समस्त देश पर छा गया है; और इसीलिये हमारे देश ने अपनी राजनीति के लिये अहिंसा को आधारभूत सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है।

सत्याणुव्रत व उसके अतिचार—

असद् वचन बोलना—अनृत, असत्य, मृषा या झूठ कहलाता है। असत् का अर्थ है जो सत् अर्थात् वस्तुस्थिति के अनुकूल एवं हितकारी नहीं है। इसीलिये शास्त्र में कहा गया है कि सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, सत्य को इस प्रकार मत बोलो कि वह दूसरे को अप्रिय हो जाय। इस प्रकार सत्य-माधुर्य व्रत की मूल भावना आत्म-परिणामों की शुद्धि तथा स्व व परकीय पीड़ा व अहित रूप हिंसा का निवहरण ही है। इसके पालन में गृहस्थ के

अणुव्रत की सीमा यह है कि यदि स्नेह या मोहवश तथा स्व-पर-रक्षा निमित्त असत्य भाषण करने का अवसर आ जाय, तो वह उससे विशेष पाप का भागी नहीं होता, क्योंकि उसकी भावना मूलतः दूषित नहीं है; और पाप-पुण्य विचार में द्रव्यक्रिया से भावक्रिया का महत्व अधिक है। किन्तु झूठा उपदेश देना, किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना, झूठे लेख तैयार करना, किसी की धरोहर को रखकर भूल जाना या उसे कम बतलाना, अथवा किसी की अंग-चेष्टाओं व इशारों आदि से समझकर उसके मन्त्र के भेद को खोल देना, ये पांच इस व्रत के अतिचार हैं, जो स्पष्टतः सामाजिक जीवन में बहुत हानिकर हैं। सत्यव्रत के परिपालन के लिये जिन पांच भावनाओं का विधान किया गया है वे हैं—क्रोध, लोभ, भीस्ता, और हंसी-मजाक इन चार का परित्याग, तथा भाषण में औचित्य रखने का अभ्यास।

अस्तेयाणुव्रत व उसके अतिचार—

बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ले लेना अवस्तावान रूप स्तेय या चोरी है। अणुव्रती गृहस्थ के लिये आवश्यक मात्रा में जल-मृत्तिका जैसी उन वस्तुओं को लेने का निषेध नहीं, जिन पर किसी दूसरे का स्पष्ट अधिकार व रोक न हो। महाव्रती मुनि को तिल-नुष मात्र भी बिना दिये लेने का निषेध है। स्वयं चोरी न कर दूसरे के द्वारा चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, राज्य द्वारा नियत सीमाओं के बाहर वस्तुओं का आयात-निर्यात करना, माप-तौल के बांट नियत परिमाण से हीनाधिक रखना, और नकली वस्तुओं को असली के बदले में चलाना—ये पांच अचौर्य अणुव्रत के अतिचार हैं, जिनका गृहस्थ को परित्याग करना चाहिये। मुनि के लिये तो यहां तक विधान किया गया है कि उन्हें केवल पर्वतों की गुफाओं में व वृक्षकोटर या परित्यक्त घरों में ही निवास करना चाहिये। ऐसे स्थान का ग्रहण भी न करना चाहिये जिससे किसी दूसरे के निस्तार में बाधा पड़वे। भिक्षा द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न में यहां तक शुद्धि का विचार रखना चाहिये कि वह आवश्यक मात्रा से अधिक न हो। मुनि अपने सहधर्मी साधुओं के साथ मेरे-तेरे के विवाद में न पड़े। इस प्रकार इस व्रत द्वारा व्यापार में सचाई और ईमानदारी तथा साधु-समाज में पूर्ण निस्पृहता की स्थापना का प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत व उसके अतिचार—

स्त्री-अनुराग व कामक्रीड़ा के परित्याग का नाम अभ्यभिचार या ब्रह्मचर्य व्रत

है। अणुव्रती श्रावक या श्राविका अपने पति-पत्नी के अतिरिक्त शेष सबस्त स्त्री-पुरुषों से माता, बहन, पुत्री अथवा पिता, भाई व पुत्र सदृश शुद्ध व्यवहार रखें और महाव्रती तो सर्वथा ही काम-क्रीड़ा का परित्याग करें। दूसरे का विवाह करना, गृहीत या वेश्या गणिका के साथ समन, अप्राकृतिक रूप से काम-क्रीड़ा करना, और काम की तीव्र अभिलाषा होना, ये पांच इस व्रत के अस्तिचार हैं। शृंगारात्मक कथावार्ता सुनना, स्त्री-पुरुष के मनोहर धर्मों का निरीक्षण, पहले की काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण, काम-पोषक रस औषधि आदि का सेवन, तथा शरीर-शृंगार, इन पांचों प्रवृत्तियों का परित्याग करना इस व्रत को दृढ़ करनेवाली पांच भावनाएँ हैं। इस प्रकार इस व्रत के द्वारा व्यक्ति की काम-वासना को मर्यादित तथा समाज से तत्सम्बन्धी दोषों का परिहार करने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

अपरिग्रहाणुव्रत व उसके अतिचार—

पशु, परिजन आदि सजीव, एवं घर-द्वार, धन-धान्य आदि निर्जीव वस्तुओं में ममत्व बुद्धि रखना परिग्रह है। इस परिग्रह रूप लोभ का पारावार नहीं, और इसी लोभ के कारण समाज में बड़ी आर्थिक विषमताएँ तथा वैर-विरोध व सघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसलिये इस वृत्ति के निवारण व नियंत्रण पर विशेष जोर दिया गया है। राज्य-नियमों के द्वारा परिग्रहवृत्ति को सीमित करने के प्रयत्न सर्वथा असफल होते हैं; क्योंकि उनसे जनता की मनोवृत्ति तो शुद्ध होती नहीं, और इसलिये बाह्य नियमन से उनकी मानसिक वृत्ति छल-कपट अनाचार की ओर बढ़ने लगती है। इसीलिये धर्म में परिग्रहवृत्ति को मनुष्य की आत्मन्तर चेतना द्वारा नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। महाव्रती मुनियों को तो तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखने का निषेध है। किन्तु गृहस्थों के कुटुम्ब-परिपालनादि कर्तव्यों का विचार कर उनसे स्वयं अपने लिये परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेने का अनुरोध किया गया है। एक तो उन्हें उस सीमा से बाहर धन-धान्य का संचय करना ही नहीं चाहिये; और यदि अनायास ही उसकी आमद हो जाये, तो उसे औषधि, शास्त्र, अभय और साह्य, अर्थात् औषधि-वितरण व औषध-शालाओं की स्थापना, शास्त्रदान या विद्यालयों की स्थापना, जीव-रक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओं में, तथा अन्न-वस्त्रादि दान में उस द्रव्य का उपयोग कर देना चाहिये। नियत किये हुए भूमि, घरद्वार, सोना-चाँदी, धन-धान्य, दास-दासी तथा बर्तन-भाँड़ों के प्रमाण का अतिक्रमण करना इस व्रत के अस्तिचार हैं। इस परिग्रह-परिमाण व्रत को दृढ़ करने वाली पाँच भावनाएँ हैं—पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी मनोवस्तुओं के प्रति

राग व भ्रमनोज के प्रति द्वेष-भाव का परित्याग, क्योंकि इसके बिना मानसिक परिग्रह-त्याग नहीं हो सकता ।

मैत्री आदि चार भावनाएं—

उपर्युक्त व्रतों के परिपालन योग्य मानसिक शुद्धि के लिये ऐसी भावनाओं का भी विधान किया गया है, जिनसे उक्त पापों के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि उत्पन्न हो । व्रती को बारम्बार यह विचार करते रहना चाहिये कि हिंसाधिक पाप इस लोक और परलोक में दुःखदायी हैं; और उनसे जीवन में बड़े अनर्थ उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण अन्ततः वे सब सुख की अपेक्षा दुःख का ही अधिक निर्माण करते हैं । उक्त पापों के प्रलीमन का निवारण करने के लिये संसार के व शरीर के गुणधर्मों की लक्षणभंगुरता की ओर भी ध्यान देते रहना चाहिये, जिससे विषयों के प्रति आसक्ति न हो और सदाञ्जारी जीवन की ओर आकर्षण उत्पन्न हो । जीवमात्र के प्रति मैत्री भावना, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दीन-दुखियों के प्रति कारुण्य, तथा विरोधियों के प्रति रागद्वेष व पक्षपात के भाव से रहित माध्यस्थ्य-भाव, इन चार वृत्तियों का मन को अभ्यास कराते रहना चाहिये, जिससे तीव्र रागद्वेषात्मक अनर्थकारी दुर्भावनाएं जागृत न होने पावें । इन समस्त व्रतों का मन से, वचन से, काय से परिपालन करने का अनुरोध किया गया है और उनके द्वारा त्यागे जाने वाले पापों को केवल स्वयं न करने की प्रतिज्ञा मात्र नहीं, किन्तु अन्य किसी से उन्हें कराने व किये जाने पर उस कुकृत्य का अनुमोदन करने के विरुद्ध भी प्रतिज्ञा अर्थात् उनका कृत, कागित व अनुमोदित तीनों रूपों में परित्याग करने पर जोर दिया गया है । इस प्रकार इस नैतिक सदाचार द्वारा जीवन को शुद्ध और समाज को सुसंस्कृत बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है ।

तीन गुणव्रत—

उक्त पांच मूलव्रतों के अतिरिक्त गृहस्थ के लिये कुछ अन्य ऐसे व्रतों का विधान भी किया गया है कि जिनसे उसकी तृष्णा व संचयवृत्ति का नियंत्रण हो, इन्द्रिय-लिप्सा का दमन हो, और दानशीलता जागृत हो । उसे चारों दिशाओं में गमनागमन, आयात-निर्यातादि की सीमा बांध लेनी चाहिये—यह दिग्व्रत कहा गया है । अल्पकाल मर्यादा सहित दिग्व्रत के भीतर समुद्र, नदी, पर्वत, पहाड़ी, ग्राम व दूरी प्रमाण के अनुसार सीमाएं बांधकर अपना व्यापार चलाना चाहिये, यह उसका देशव्रत होगा । पापात्मक चिन्तन व उपदेश, तथा दूसरों को अस्त्र-शस्त्र, विष, बन्धन आदि ऐसी वस्तुओं का

दान, जिनका वह स्वयं उपयोग नहीं करना चाहता, अन्नर्षदण्ड कहा गया है, जिनका गृहस्थ को त्याग करना चाहिये। इन तीन व्रतों के अभ्यास से मूलव्रतों के गुणों की वृद्धि होती है; और इसीलिये इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

चार शिक्षाव्रत—

गृहस्थ को सामायिक का भी अभ्यास करना चाहिये। सामायिक का अर्थ है—समताभाव का ग्रहण। मनकी साम्यावस्था वह है जिसमें हिंसादि समस्त पाप-वृत्तियों का शमन हो जाय। इसीलिये सामायिक की अपेक्षा समस्त व्रत एक ही कहे गये हैं, और इसी पर महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों द्वारा जोर दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। इस भावना के अभ्यास के लिये गृहस्थ को प्रतिदिन प्रभात, मध्याह्न सायंकाल आदि किसी भी समय कम से कम एक बार एकान्त में शान्त और शुद्ध वातावरण में बैठकर, अपने मन को सांसारिक चिन्तन से निवृत्त करके, शुद्ध ध्यान अथवा धर्म-चिन्तन में लगाने का आदेश दिया गया है। इसे ही व्यवहार में जैन लोग सन्ध्या कहते हैं। खान-पान व गृह-व्यापारादि का त्यागकर देव-वन्दन पूजन तथा जप व शास्त्र-स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना प्रोषोपवास कहलाता है। इसे गृहस्थ यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी-चतुर्दशी को करे, जिससे उसे भूख प्यास की वेदना पर विजय प्राप्त हो। प्रतिदिन के आहार में से विशेष प्रकार खट्टे-मीठे रसों का, फल-फल्लादि वस्तुओं का तथा वस्त्राभूषण शयनासन व वाहनादि के उपयोग का त्याग करना व सीमा बांधना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि साधुजनों को सत्कार पूर्वक आहार औषधि आदि दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है। ये चारों शिक्षाव्रत कहलाते हैं; क्योंकि इनसे गृहस्थ को धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। सामान्य रूप से ये सातों व्रत सप्तशील या सप्त शिक्षापद भी कहे गये हैं। इन समस्त व्रतों के द्वारा जीवन का परिशोधन करके गृहस्थ को मरण भी धार्मिक रीति से करना सिखाया गया है।

सल्लेखना—

महान् संकट, दुर्मिक्ष, असाध्य रोग, व वृद्धत्व की अवस्था में जब साधक को यह प्रतीत हो कि वह उस विपत्ति से बच नहीं सकता, तब उसे कराह-कराह कर व्याकुलता पूर्वक मरने की अपेक्षा यह श्रेयस्कर है कि वह क्रमशः अपना आहारपान इस विधि से घटाता जावे जिससे उसके चित्त में क्लेश व व्याकुलता उत्पन्न न हो;

और वह शान्तभाव से अपने शरीर का उसी प्रकार त्याग कर सके; जैसे कोई धनी पुरुष अपने गृह को सुख का साधन समझता हुआ भी उसमें आग जगने पर स्वयं सुरक्षित निकल आने में ही अपना कल्याण समझता है। इसे सल्लेखना या समाधिमरण कहा गया है। इसे आत्मघात नहीं समझना चाहिये; क्योंकि आत्मघात तीव्र रागद्वेष-वृत्ति का परिणाम है; और वह शस्त्र व विषके प्रयोग, भृगुपात आदि घातक क्रियाओं द्वारा किया जाता है, जिनका कि सल्लेखना में संबंधी अभाव है। इस प्रकार यह योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण, जीवन संबंधी सुयोजना का एक अंग है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं—

पूर्वोक्त गृहस्थ धर्म के व्रतों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दिखाई देगा कि वह धर्म सब व्यक्तियों के लिये, सब काल में, पूर्णतः पालन करना सम्भव नहीं है। इसीलिये परिस्थितियों, सुविधाओं तथा व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक वृत्तियों के अनुसार श्रावकधर्म के ग्यारह दर्जे नियत किये गये हैं जिन्हें श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं कहते हैं। गृहस्थ की प्रथम प्रतिमा उस सम्यग्दृष्टि (दर्शन) की प्राप्ति के साथ प्रारम्भ होती है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक किसी भी व्रत का विधिवत् पालन नहीं करता। सम्भव है वह चाण्डाल कर्म करता हो, तथापि आत्म और परकी सत्ता का भान हो जाने से उसकी दृष्टि शुद्ध हुई मानी गई है, जिसके प्रभाव से वह पशु व नरक योनि में जाने से बच जाता है। तात्पर्य यह है कि भले ही परिस्थिति वश वह अहिंसादि व्रतों का पालन न कर सके; किन्तु जब दृष्टि सुधर गई, तब वह भव्य सिद्ध हो चुका; और कभी न कभी चारित्र-शुद्धि प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी हुए बिना नहीं रह सकता।

श्रावक की दूसरी प्रतिमा उसके अहिंसादि पूर्वोक्त व्रतों के विधिवत् ग्रहण करने से प्रारम्भ होती है; और वह क्रमशः पांच अणुव्रतों व सातों शिक्षापदों का निरतिचार पालन करने का अभ्यास करता जाता है। तीसरी प्रतिमा सामायिक है। यद्यपि सामायिक का अभ्यास पूर्वोक्त शिक्षाव्रतों के भीतर दूसरी प्रतिमा में ही प्रारम्भ हो जाता है, तथापि इस तीसरी प्रतिमा में ही उसकी वह साधना ऐसी पूर्णता को प्राप्त होती है जिससे उसे अपने क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त हो जाती है, और सामान्यतः सांसारिक उत्तेजनाओं से उसकी शान्ति अंग नहीं होती; तथा वह अपने मन को कुछ काल आत्मध्यान में निराकुलतापूर्वक लगाने में समर्थ हो जाता है।

चौथी प्रोषणोपवास प्रतिमा में वह उस उपवासविधि का पूर्णतः पालन करने

में समर्थ होता है जिसका अभ्यास वह दूसरी प्रतिमा में प्रारम्भ कर चुका है; और जिसका स्वरूप ऊपर वर्णित किया जा चुका है। पाँचवीं लचिल-त्याग प्रतिमा में श्रावक अपनी स्थावर जीवों सम्बन्धी हिंसावृत्ति को विशेषरूप से नियंत्रित करता है और हरे शाक, फल, कन्द-मूल तथा अप्राशुक अर्थात् बिना उबाले जल के आहार का त्याग कर देता है। छठी प्रतिमा में वह रात्रि भोजन करना छोड़ देता है, क्योंकि रात्रि में कीट पतंगादि क्षुद्र जन्तुओं द्वारा आहार के दूषित हो जाने की सम्भावना रहती है। सातवीं प्रतिमा में श्रावक पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है, और अपनी स्त्री से भी काम-क्रीड़ा करना छोड़ देता है, यहां तक कि रागात्मक कथा-कहानी पढ़ना-सुनना भी छोड़ देता है, व तत्सम्बन्धी वार्तालाप भी नहीं करता। आठवीं प्रतिमा प्रारम्भ-त्याग की है, जिसमें श्रावक की सांसारिक आसक्ति इतनी घट जाती है कि वह घर-गृहस्थी सम्बन्धी काम-धंधे व व्यापार में रुचि न रख, उसका भार अपने पुत्रादि पर छोड़ देता है।

नौवीं प्रतिमा परिग्रह-त्याग की है। श्रावक ने जो अणुव्रतों में परिग्रह-परिमाण का अभ्यास प्रारम्भ किया था, वह इस प्रतिमा में आने तक ऐसे उत्कर्ष को पहुँच जाता है कि गृहस्थ को अपने घर-सम्पत्ति व धन-दौलत से कोई मोह नहीं रहता। वह अब इस सब को भी अपने पुत्रादि को सौंप देता है, और अपने लिये भोजन-वस्त्र मात्र का परिग्रह रखता है। दसवीं प्रतिमा में उसकी विरक्ति एक दर्जे आगे बढ़ती है, और वह अब अपने पुत्रादि को कामधंधों सम्बन्धी अनुमति देना भी छोड़ देता है। प्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्ट-त्याग की है, जहां पर श्रावक धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इस प्रतिमा के दो अवान्तर भेद हैं—एक 'भुल्लक' और दूसरा 'ऐलक'। प्रथम प्रकार का उद्दिष्टत्यागी एक वस्त्र धारण करता है; कँची, छुरे से अपने बाल बनवा लेता है, तथा पात्र में भोजन कर लेता है। किन्तु दूसरा उद्दिष्ट-त्यागी वस्त्र के नाम पर केवल कोपीन मात्र धारण करता है, स्वयं केशलौच करता है, पीछी-कमंडल रखता है, और भोजन केवल अपने हाथ में लेकर ही करता है, थाली आदि पात्र से नहीं। इस उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा का सार्थक लक्षण यह है कि इसमें श्रावक अपने निमित्त बनाया गया भोजन नहीं करता। वह भिक्षावृत्ति स्वीकार कर लेता है।

इन प्रतिमाओं में दिखाई देगा कि जिन व्रतों का समावेश बारह-व्रतों के भीतर हो चुका है; और जिनके पालन का विधान दूसरी प्रतिमा में ही किया जा चुका है, उन्हीं की प्रायः अन्य प्रतिमाओं में भी पुनरावृत्ति हुई है। किन्तु उनमें भेद यह है कि जिन-जिन व्रतों का विधान ऊपर की प्रतिमाओं में किया गया है, उनकी परिपूर्णता वहीं पर होती है। अभ्यास के लिये भले ही निचली प्रतिमाओं में भी

उनका ग्रहण किया गया हो। यों व्यवहार में प्रथम प्रतिमा से ही निशि-भोजन त्याग पर जोर दिया जाता है, जिसका प्रतिमानुसार विधान छठवें दर्जे पर आता है। तात्पर्य यह है कि वह त्याग गुरुजनों के सम्मुख प्रतिज्ञा लेकर उसी प्रतिमा में किया जाता है, और फिर उस व्रत का उल्लंघन करता बड़ा दूषण समझा जाता है। यह व्यवस्था एक उदाहरण द्वारा समझाई जा सकती है। प्रथम वर्ग में पढ़नेवाले विद्यार्थी की एक पाठ्य-पुस्तक नियत है, जिसका यथोचित ज्ञान हुए बिना वह दूसरी कक्षा में जाने योग्य नहीं माना जाता। किन्तु उस वर्ग में होते हुए भी द्वितीयादि वर्गों की पुस्तकों का पढ़ना उसके लिये वर्ज्य नहीं, अपितु एक प्रकार से वांछनीय ही है। तथापि वह प्रथम वर्ग में उसके पूर्ण ज्ञान व परीक्षा का विषय नहीं माना जाता। इसीप्रकार व्रतों की साधना यथाशक्ति पहली या दूसरी प्रतिमा से ही प्रारम्भ होती जाती है, किन्तु उनका विधिवत् पूर्ण परिपालन उत्तरोत्तर ऊपर की प्रतिमाओं में होता है। यह व्यवस्था जैन-अनेकान्त दृष्टि के अनुकूल है।

मुनिधर्म—

उपर्युक्त श्रावक की सर्वोत्कृष्ट ग्यारहवीं प्रतिमा के पश्चात् मुनिधर्म का प्रारम्भ होता है, जिसमें आदितः परिग्रह का पूर्णरूप से परित्याग कर नग्न-वृत्ति धारण की जाती है, और अहिंसादि पाच व्रत महाव्रतों से रूप में पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। मुनि को अपने चलने फिरने में विशेष सावधानी रखना पड़ती है। अपने आगे पाच-हाथ पृथ्वी देख-देख कर चलना पड़ता है, और अन्धकार में गमन नहीं किया जाता; इसी का नाम ईर्या समिति है। निन्दा व चापलूसी, हंसी, कटु आदि दूषित भाषा का परित्याग कर मुनि को सदैव संयत, नपीतुली, सत्य, प्रिय और कल्याणकारी वाणी का ही प्रयोग करना चाहिये। यह मुनि की भाषा समिति है। भिक्षा द्वारा केवल शुद्ध निराभिष आहार का निर्लोभ भाव से ग्रहण करना मुनि की एषणा समिति है। जो कुछ थोड़ी बहुत वस्तुएं निग्रन्थ मुनि अपने पास रख सकता है, वे ज्ञान व चरित्र के परिपालन-निमित्त ही हुम्ना करती हैं; जैसे ज्ञानार्जन के लिये शास्त्र, जीव रक्षा-निमित्त पिच्छिका एवं शौच-निमित्त कमंडल। ये क्रमशः ज्ञानोपधि, संयमोपधि और शौचोपधि कहलाती हैं। इनके रखने व ग्रहण करने में भी जीव-रक्षा निमित्त सावधानी रखनी आशाननिक्षेप समिति है। मल-मूत्रादि का त्याग किसी दूर, एकान्त, सूखे व जीव-जन्तु रहित ऐसे स्थान पर करना जिससे किसी को कोई आपत्ति न हो, यह मुनि की प्रतिस्थापन समिति है।

चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियों का नियंत्रण करना, उन्हें अपने-अपने विषयों की ओर लोलुपता से आकर्षित न होने देना, ये मुनियों के पाँच इन्द्रिय-निग्रह हैं। जीव मात्र में, मित्र-शत्रु में, दुःख-सुख में, लाभ-अलाभ में, रोष-तोष भाव का परित्याग कर समताभाव रखना, तीर्थकरों की गुणानुकीर्तन रूप स्तुति करना, अर्हन्त व सिद्ध की प्रतिमाओं व आचार्यादि की मन-वचन-काय से प्रदक्षिणा-प्रणाम आदि रूप बन्दना करना; नियमितरूप से आत्मशोधन-निमित्त अपने अपराधों की निन्दा-मर्हा रूप प्रति-~~कर्मण~~ करना; समस्त अयोग्य आचरण का परिवर्जन, अर्थात् अनुचित नाम नहीं लेना, अनुचित स्थापना नहीं करना, एवं अनुचित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परित्याग रूप प्रत्याख्यान; तथा अपने शरीर से भी समत्व छोड़ने रूप विसर्गभाव रखना, ये छह मुनियों की आवश्यक क्रियाएँ हैं। समय-समय पर अपने हाथों से केशलौं, अचेलकवृत्ति, स्नानत्याग, दन्तधावन-त्याग, क्षितिशयन, स्थितिभोजन अर्थात् खड़े रह कर आहार करना, और मध्याह्न काल में केवल एक बार भोजन करना, ये मुनि की अन्य सात विशेष साधनाएँ हैं। इसप्रकार मुनियों के कुल अट्ठाइस मूलगुण नियत किये गये हैं।

२२ परीषह—

उपर्युक्त नियमों से यह स्पष्ट है कि साधु की मुख्य साधना है समत्व, जिसे भगवद्गीता में भी योग का मुख्य लक्षण कहा है (समत्वं योग उच्यते)। इस समताभाव को भग्न करने वाली अनेक परिस्थितियों का मुनि को सामना करना पड़ता है, और वे ही स्थितियाँ मुनि के समत्व की परीक्षा के विशेष स्थल हैं। ऐसी परिस्थितियाँ तो अगणित हो सकती हैं किन्तु उनमें से वाईस का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिये तत्सम्बन्धी क्लेशों पर विजय प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। साधु अपने पास न खाने-पीने का सामान रखता, और न स्वयं पकाकर खा सकता। उसे इसके लिये भिक्षा वृत्ति पर अवलंबित रहना पड़ता है; सो भी दिन में केवल एक बार। उसे समय-समय पर एक व अनेक दिनों के लिये उपवास भी करना पड़ता है। अतएव बीच-बीच में उसे भूख-प्यास सतावेंगे ही। इसी-लिये श्रुषा (१) और तृषा (२) परीषह उसे आदि में ही जीतना चाहिये। वस्त्रों के अभाव में उसे क्षीत, उष्ण (३-४), डांस-अच्छर (५) व जगन्ता (६) के क्लेश होना अनिवार्य है, जिन्हें भी उसे शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। एकान्त में रहने, उक्त भूख-प्यास आदि की बाधाएँ सहने तथा इन्द्रिय-विषयों के अभाव से उसे मुनि

अवस्था से कभी अरुचि भी उत्पन्न हो सकती है। इस अरति परीषह को भी उसे जीतना चाहिये (७)। मुनि को जब-तब और विशेषतः भिक्षा के समय नगर व ग्राम में परिभ्रमण करते हुए व गृहस्थों के घरों में सुन्दर व युवती स्त्रियों का एवं उनके हाव-भाव-विलासों का दर्शन होना अनिवार्य है। इससे उसके मन में चंचलता उत्पन्न हो सकती है, जिसे जीतना स्त्री-परीषह-जय कहलाता है (८)। मुनि को वर्षाऋतु के चार माह छोड़कर शेष-काल में एक स्थान पर अधिक न रह कर देश-परिभ्रमण करते रहना चाहिये। इस निरंतर यात्रा से उसे मार्ग की अनेक कठिनाइयां सहनी पड़ती हैं; यही मुनि का चर्या परीषह है (९)। ठहरने के लिये मुनि को श्मशान, वन, ऊँड़ घर, पर्वत-गुफाओं आदि का विधान किया गया है, जहाँ उन्हें नाना-प्रकार की, यहाँ तक कि सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं द्वारा आक्रमण की, बाधाएं सहनी पड़ती हैं; यही साधु का निषद्या परीषह-विजय है (१०)। मुनि को किंचित् काल शयन के लिये खर विषम, शिलातल आदि ही मिलेंगे; इसका क्लेश सहन करना शय्या-परीषह-जय है (११)। विरोधी जन मुनि को बहुधा गाली-गलौच भी कर बैठते हैं, इसे सहन करना आक्रोश परीषह-जय है (१२)। यदि कोई इससे भी आगे बढ़कर मार-पीट कर बैठे, तो उसे भी सहन करना वध-परीषह-जय है (१३)। मुनि को अपने आहार, वसति, औषध आदि के लिये गृहस्थों से याचना ही करनी पड़ती है (१४)। किन्तु इस कार्य में अपने में दीनता भाव न आने देने को याचना-परीषह-जय; तथा याचित वस्तु का लाभ न होने पर रुष्ट न होकर अलाभ से उसे अपनी तपस्या की वृद्धि में लाभ ही हुआ, ऐसा समझकर सन्तोष भाव रखने को अलाभ-विजय कहते हैं (१५)। यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीड़ा के वशीभूत हो जाय तो उसे शान्तिपूर्वक सहने का नाम रोग-विजय है (१६)। चर्या, शैया व निषद्यादि के समय जो कुछ तृण, कांटा ककड़ आदि चुभने की पीड़ा हो, उसे सहना तृणस्पर्श-विजय है (१७)। साधु को अपने शरीर से मोह छोड़ने के लिये जो स्नान न करने, दन्तादि अंग-प्रत्यंगों को साफ न करने तथा शरीर का अन्य किसी प्रकार भी संस्कार न करने के कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनता से घृणा व खेद का भाव उत्पन्न न होने देने को मल परीषह-विजय कहते हैं (१८)। सामान्यतया व्यक्ति को विशेष सत्कार-पुरस्कार मिलने से हर्ष, और न मिलने से रोष व खेद का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु मुनि को उक्त दोनों अवस्थाओं में रोष-तोष की भावना से विचलित नहीं होना चाहिये। यह उसका सत्कार-पुरस्कार विजय है (१९)। विशेष ज्ञान का मद होना भी बहुत सामान्य है। साधु इस मद से मुक्त रहे, यह उसका प्रज्ञा-विजय (२०)। एवं ज्ञान न

होने पर उद्विग्न न हो, यह उसका अज्ञान-विजय है (२१) । दीर्घ काल तक तप करके रहने पर भी अवधि वा मनः पर्ययज्ञानादि की प्राप्ति रूप ऋद्धि-सिद्धि उपलब्ध न होने पर मुनि का अज्ञान विचलित हो सकता है कि ये सब सिद्धियां प्राप्य हैं या नहीं, केवलज्ञानी ऋषि, मुनि, तीर्थकरादि हुए हैं या नहीं, यह सब तपस्या निरर्थक ही है, ऐसी अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना अवर्शन-विजय है (२२) । ये बाईस परीषह-जय मुनियों की विशेष साधनाएं हैं, जिनके द्वारा वह अपने को पूर्ण इन्द्रिय-विजयी व योगी बना लेता है ।

१० धर्म—

उपर्युक्त बाईस परीषहों में मन को उभाड़ कर विचलित करके, रागद्वेष रूप दुर्भावों से दूषित करनेवाली जो मानसिक अवस्थाएं हैं उनके उपशमन के लिये दश-धर्मों और बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का विधान किया गया है । धर्मों के द्वारा मन को कषायों को जीतने के लिये उनके विरोधी गुणों का अभ्यास कराया जाता है; तथा अनुप्रेक्षाओं से तत्व-चिन्तन के द्वारा सांसारिक वृत्तियों से अनासक्ति उत्पन्न कर वैराग्य की साधना में विशेष प्रवृत्ति कराई जाती है । दश धर्म हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आर्किचन्य और ब्रह्मचर्य । क्रोधोत्पादक गाली-गलौच, मारपीट, अपमान आदि परिस्थितियों में भी मन को कलुषित न होने देना क्षमा धर्म है । (१) कुल, जाति, रूप, ज्ञान, तप, वैभव, प्रभुत्व एवं शील आदि संबंधी अभिमान करना मद कहलाता है । इस मान कषाय को जीतकर मन में सदैव मुहुता भाव रखना मार्दव धर्म है । (२) मन में एक बात सोचना, वचन से कुछ और कहना तथा शरीर से करना कुछ और, यह कुटिलता या मायाचारी कहलाती है । इस माया कषाय को जीतकर मन-वचन-काय की क्रिया में एकरूपता (ऋजुता) रखना आर्जव धर्म है । (३) मन को मलिन बनाने वाली जितनी दुर्भावनाएं हैं उनमें लोभ सबसे प्रबल अनिष्टकारी है । इस लोभ कषाय को जीतकर मन को पवित्र बनाना शौच धर्म है । (४) असत्य वचन की प्रवृत्ति को रोककर सदैव यथार्थ हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्य धर्म है । (५) इन्द्रियों के विषयों की ओर से मन की प्रवृत्ति को रोककर उसे सत्यप्रवृत्तियों में लगाना संयम धर्म है । (६) विषयों व कषायों का निग्रह करके आगे कहे जानेवाले बारह प्रकार के तप में चित्त की लगाना तप धर्म है । (७) बिना किसी प्रत्युपकार व स्वार्थ भावना के दूसरों के हित व कल्याण के लिये विद्या आदि का दान देना त्याग धर्म है । (८) घर-द्वार, धन-दौलत, बन्धु-बाणध्व, शत्रु-मित्र सबसे ममत्व

छोड़ना, ये मेरे नहीं हैं, यहाँ तक कि शरीर भी सदा मेरे साथ रहनेवाला नहीं है, ऐसा अनासक्ति भाव उत्पन्न करना अकिंचन धर्म है, (६) तथा रागोत्पादक परिस्थितियों में भी मन को काम वेदना से विचलित न होने देना व उसे आत्म चिन्तन में लगाये रहना ब्रह्मचर्य धर्म है (१०) ।

इन दश धर्मों के भीतर सामान्यतः चार कषायों तथा अणुव्रत व महाव्रतों द्वारा निर्धारित पांच पापों के अभाव का समावेश प्रतीत होता है । किन्तु धर्मों की व्यवस्था की विशेषता यह है कि उनमें कषायों और पापों के अभाव मात्र पर नहीं, किन्तु उनके उपशामक विधानात्मक क्षमादि गुणों पर जोर दिया गया है । चार कषायों के उपशामक प्रथम चार धर्म हैं, तथा हिंसा, असत्य, चौर्य, अन्नह्य व परिग्रह के उपशामक क्रमशः संयम, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य और अकिंचन धर्म हैं । इन नौ के प्रतिरिक्त तप का विधान मुनिचर्या को विशेष रूप से गृहस्थ धर्म से आगे बढ़ाने वाला है ।

१२ अनुप्रेक्षाएं—

अनासक्ति योग के अभ्यास के लिये जो बारह अनुप्रेक्षाएं या भावनाएं बतलाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—आराधक यह चिन्तन करे कि संसार का स्वभाव बड़ा क्षण-भंगुर है, यहाँ मेरा-तेरा कहा जानेवाला जो कुछ है, सब अनित्य है, अतएव उसमें आसक्ति निष्फल है; यह अनित्य भावना है (१) । जन्म-मरण-मृत्यु रूप भयों से कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता; इन भयों से छूटने का उपाय आत्मा में ही है, अन्यत्र नहीं; यह अक्षरण भावना है (२) । संसार में जीव जिस प्रकार चारों गतियों में घूमता है, और मोहवश दुःख पाता रहता है; इसका विचार करना संसार भावना है (३) । जीव तो अकेला ही जन्मता व बाल्य, यौवन व बुद्धत्व का अनुभव करता हुआ अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है; यह विचार एकत्व भावना है (४), देहादि समस्त इन्द्रिय-ब्राह्म पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, इनसे आत्मा का कोई सच्चा नाता नहीं है, यह अन्वित्य भावना है (५) । यह शरीर रुधिर, मांस व अस्थि का पिंड है; और मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है, इनसे अनुराग करना व उसे सजाना-धजाना निष्फल है, यह अशुचित्व भावना है (६) । कोषादि कषायों से तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों से किस प्रकार कर्मों का अस्खल होता है, इसका विचार करना आत्मव भावना है (७) । व्रतों तथा सन्धिसि, मुक्ति, धर्म, परीक्षहृत्त्रय व प्रस्तुत अनुप्रेक्षाओं द्वारा किस प्रकार कर्मात्म्य को रोका जा सकता है, यह चिन्तन कर्मव भावना है (८) ।

व्रतों आदि के द्वारा तथा विशेष रूप से बारह प्रकार के तपों द्वारा बंधे हुए कर्मों का किस प्रकार क्षय किया जा सकता है, यह चिन्तन निर्जरा भावना है (९)। इस अनस्त आकाश, उसके लोक व अलोक विभाग, उनके अनादित्व व अकर्तृत्व तथा लोक में विद्यमान समस्त जीवादि द्रव्यों का विचार करना लोक भावना है (१०)। इस अनादि संसार में यह जीव किस प्रकार अज्ञान और मोह के कारण नाना योनियों में भ्रमण के दुःख पाता रहा है, कितने पुण्य के प्रभाव से इसे यह मनुष्य योनि मिली है, तथा इस मनुष्य जन्म को सार्थक करने वाले दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप तीन रत्न कितने दुर्लभ है, यह चिन्तन बोधिदुर्लभ भावना है (११)। सच्चे धर्म का स्वरूप क्या है, और उसे प्राप्त कर किस प्रकार सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, यह चिन्तन धर्म भावना है (१२)। इस प्रकार इन बारह भावनाओं से साधक को अपनी धार्मिक प्रवृत्ति में दृढ़ता व स्थिरता प्राप्त होती है।

३ गुप्तियां—

ऊपर अनेक बार कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया रूप योग के द्वारा कर्माश्रय होता है, और कर्मबन्ध को रोकने, तथा बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करने में इस त्रियोग की साधना विशेषरूप से आवश्यक है। यथार्थतः समस्त धार्मिक साधना के मूल में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति-निवृत्ति ही तो प्रधान है। अतएव इनकी सदसत् प्रवृत्ति का विशेष रूप से स्वरूप बतलाकर साधक को उनके सम्बन्ध में विशेष सावधानी रखने का आदेश दिया गया है। मन और वचन इन दोनों की प्रवृत्ति चार प्रकार की कही गयी है—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय। सत्य में यथार्थता और हित, इन दोनों बातों का समावेश माना गया है। इसी सत्य के अनुचिन्तन में प्रवृत्त मन की अवस्था को सत्य मन, उससे विपरीत असत्यमन, मिश्रित भाव को उभय मन, और सत्यासत्य दोनों से हीन मानसिक अवस्था को अनुभय रूप मन कहा गया है। इन अवस्थाओं में से सत्य मनोयोग की ही साधना को मनोगुप्ति कहा गया है। शब्दात्मक वचन यथार्थतः मन की अवस्था को व्यक्त करनेवाला प्रतीक मात्र है। अतएव उक्त चारों मनोदशाओं के अनुकूल वचन-पद्धति भी चार प्रकार की हुई। तथापि लोक व्यवहार में सत्य-वचन भी दश प्रकार का रूप धारण कर लेता है। कहीं शब्द अपने मूल वाच्यार्थ से च्युत होकर भी जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, अपेक्षा, व्यवहार, संभावना, भाव व उपमा सम्बन्धी रूढ़ियों द्वारा सत्य को प्रगट करता है। बारीकी के अन्य प्रकार से भी नौ भेद किये गये हैं, जैसे—आमंत्रणी, आज्ञापनी,

याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोमनी और अनक्षर-यता । इनका सत्य-असत्य से कोई संबंध नहीं । अतएव इन्हें अनुमय वचनरूप कहा गया है । साधक को इस प्रकार मन और वचन के सत्यासत्य स्वरूप का विचारकर, अपनी मन-वचन की प्रवृत्ति को संभालना चाहिये; और तदनुसार ही कायिक क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिये; यही मुनि का त्रिगुप्ति रूप आचरण है ।

६ प्रकार का बाह्य तप—

उक्त समस्त व्रतों आदि की साधना कर्मास्त्र के निरोध रूप संवर व बंधे हुए कर्मों के क्षय रूप निर्जंग करानेवाली है । कर्म-निर्जरा के लिये विशेषरूप से उपयोगी तप साधना मानी गई है, जिसके मुख्य दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर । अनशन, अवमोदय, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन एवं कायक्लेश, ये बाह्य तप के छह प्रकार हैं । सब प्रकार के आहार का परित्याग अनशन; तथा अल्प आहार मात्र ग्रहण करना अवमोदय या ऊनोदर तप है । एक ही घर से भिक्षा लूंगा, इस प्रकार दिये हुए आहार मात्र को ग्रहण करूंगा; इत्यादि रूप से आहार सम्बन्धी परिस्थितियों का नियन्त्रण करना वृत्ति-परिसंख्यान; तथा धृतादि विशेष पौष्टिक एवं विकारी वस्तुओं का त्याग, तथा मिष्टादि रसों का नियमन करना रस-परित्याग है । शून्य गृहादि एकान्त स्थान में वास करना विविक्तशय्यासन है; तथा धूप, शीत, वर्षा आदि बाधाओं को विशेष रूप से सहने का एवं आसन-विशेष से लम्बे समय तक स्थिर रहने आदि का अभ्यास करना कायक्लेश तप है ।

६ प्रकार का आभ्यन्तर तप—

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान । प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषों के परिहार के लिये आलम्बन, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओं में प्रवृत्त होना प्रायश्चित्त तप है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य व उपचार की साधना में विशेष रूप से प्रवृत्त होना विनय तप है । ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य का स्वरूप बताया ही जा चुका है । आचार्यादि गुरुजनों व शास्त्रों व प्रतिभाओं आदि पूज्य पात्रों का प्रत्यक्ष में व परोक्ष में मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा आदर-सत्कार व गुणानुवाद आदि करना उपचार विनय है । आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षाक्षीप्त, रोगी, गण, कुल, संघ, साधु तथा लोक-सम्मत अन्य योग्यजनों की पीड़ा-बाधाओं को दूर करने के लिये सेवा में प्रवृत्त होना वैयावृत्य तप है । धर्म शास्त्रों की वाचना,

पृच्छना, अनुचिन्तन, बार-बार आवृत्ति व धर्मोपदेश, यह सब स्वाध्याय तप है। गृह, घन-धान्यादि बाह्योपाधियों तथा क्रोधादि अन्तरंगोपाधियों का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान—(आर्त व रौद्र)—

छठा अन्तिम अन्तरंग तप ध्यान है, जिसके चार भेद माने गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। अनिष्ट के संयोग, इष्ट के वियोग, दुःख की वेदना तथा भोगों की अभिलाषा से जो संक्लेश भाव होते हैं, तथा इस अनिष्ट परिस्थिति को बदलने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वह सब आर्त ध्यान है। भूठ बोलने, चोरी करने, घन-सम्पत्ति की रक्षा करने तथा जीवों के घात करने में जो क्रूर परिणाम उत्पन्न होते होते हैं, वह रौद्र ध्यान है। ये दोनों ध्यान व्यक्ति को स्वयं दुःख देते हैं, समाज में भी अशान्ति उत्पन्न करने के कारण होते हैं, एवं इनसे अशुभकर्मों का बन्ध होता है; इसलिये ये ध्यान अशुभ और त्याज्य माने गये हैं। शेष दो ध्यान जीव के लिये कल्याणकारी होने से शुभ हैं।

धर्म ध्यान—

इन्द्रियों तथा राग-द्वेष भावों से मन का निरोध करके उसे धार्मिक चिन्तन में लगाना धर्मध्यान है। इस चिन्तन का विषय चार प्रकार का हो सकता है—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय। जब ध्याता शास्त्रोक्त तत्त्वों के स्वरूप, कर्मबन्ध आदि ज्ञान की व्यवस्था व चरित्र के नियम आदि के सूक्ष्म चिन्तन में ध्यान लगाता है, तब आज्ञाविचय नामक ध्यान होता है। आज्ञा का अर्थ है—शास्त्रादेश; और विचय का अर्थ है—खोज या गवेषण। इस प्रकार शास्त्रादेश का गवेषण, अर्थात् धर्म के सिद्धान्तों को तर्क, न्याय, प्रमाण, दृष्टान्त आदि की योजना द्वारा समझने का मानसिक प्रयत्न धर्म-ध्यान है। अपाय का अर्थ है विघ्न-बाधा, अतएव धर्म के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएं उपस्थित हों, उन्हें दूरकर धर्म की प्रभावना बढ़ाने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वह अपाय-विचय धर्मध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्म किस प्रकार अपना फल देते हैं; तथा जीवन के नाना अनुभवन किस-किस कर्मोदय से प्राप्त हुए; इस प्रकार कर्मफल सम्बन्धी चिन्तन विपाक-विचय धर्मध्यान है; और लोक का स्वरूप कैसा है, उसके ऊर्ध्व अधः तिर्यक् लोकों की रचना किस प्रकार की है, और उनमें जीवों की कैसी-क्या दशाएं पाई जाती हैं, इत्यादि चिन्तन संस्थान-विचय

नामक धर्मध्यान है। इन चार प्रकार के धर्मध्यानों से ध्याता की दृष्टि शुद्ध होती है, श्रद्धा नष्ट, बुद्धि निर्मल, तथा चारित्र्य-मालन विशुद्ध व स्थिर होता है। इसलिये धर्म-ध्यान का आत्म-कल्याण के लिये बड़ा माहात्म्य है।

शुक्ल ध्यान—

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं—पृथक्त्व-वितर्क-बीचार, एकत्व-वितर्क-अबीचार, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति। अनेक जीवादि द्रव्यों व उनकी पर्यायों का अपने मन-वचन-काय इन तीनों योगों द्वारा चिन्तन पृथक्त्व कहलाता है। वितर्क का अर्थ है श्रुत या शास्त्र, और बीचार का अर्थ है—विचरण या विपरिवर्तन। अतः द्रव्य से पर्याय व पर्याय से द्रव्य, एक शास्त्रवचन से दूसरे शास्त्रवचन, तथा एक योग से दूसरे योग के आलम्बन से ध्यान की धारा चलना पृथक्त्व-वितर्क-बीचार ध्यान कहलाता है। जब आलम्बनभूत द्रव्य व उसकी पर्याय का व योग का संक्रमण न होकर, एक ही द्रव्य या द्रव्यपर्याय का किसी एक ही योग के द्वारा, ध्यान किया जाता है, तब एकत्व-वितर्क-अबीचार ध्यान होता है। जब ध्यान में न तो वितर्क अर्थात् श्रुत-वचन का आश्रय रहता, और न बीचार अर्थात् योग-संक्रमण होता, किन्तु केवल सूक्ष्म काययोग मात्र का अवलम्बन रहता है, तब सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है; तथा जब न वितर्क रहे, न बीचार और न योग का अवलम्बन; तब व्युपरतक्रियानिर्वृत्ति नामक सर्वोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान होता है। यह ध्यान केवलज्ञान की चरम अवस्था में ही होता है; और आत्मा द्वारा शरीर का परित्याग होने पर सिद्धों के आत्मज्ञान का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार शुक्ल-ध्यान द्वारा ही योगी क्रमशः आत्मा को उत्तरोत्तर कर्म-मल से रहित बनाकर अन्ततः मोक्ष पद प्राप्त करता है।

१४ गुणस्थान व मोक्ष—

ऊपर मोक्ष-प्राप्ति के हेतु सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य का प्रवर्णन किया गया है। मिथ्यात्व से लेकर मोक्षप्राप्ति तक जिन आध्यात्मिक दशाओं में से जीव निकलता है, वे गुणस्थान कहलाते हैं। सामान्यतः इन दशाओं में परिवर्तन करनेवाले वे कर्म हैं जिनकी नाना प्रकृतियों का स्वरूप भी पहले बतलाया जा चुका है। इन कर्मों की परिस्थितियों के अनुसार जीव के जो भाव होते हैं, वे चार प्रकार हैं—औद्यमिक, औपधमिक, क्षायिक व आयोपधमिक। कर्मों के उदय से उत्पन्न होनेवाले भाव औद्यमिक

कहलाते हैं; जैसे उसके रस, रेष, अज्ञान, असंभोग, रति आदि भाव । कर्मों की उपस्थिति अव्यवहित अवस्था में होनेवाले भाव शैवशक्तिक कहें गये हैं; जैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति, सदाचार, व्रत-नियम-पालन आदि । कर्मों के उपशम काल में जीव की उसी प्रकार शुद्ध अवस्था हो जाती है, जैसे जल में फिटकरी आदि शोधक वस्तुओं के प्रभाव से उसका सब मल नीचे बैठ जाता है और ऊपर का समस्त जल निर्मल हो जाता है । किन्तु आत्म-परिरक्षाओं की यह विशुद्धि विरस्थायी नहीं होती; क्योंकि जिसप्रकार उपशान्त हुआ मल पानी में छोड़ी भी हलचल उत्पन्न होने से पुनः ऊपर उठकर समस्त जल को मलिन कर देता है, उसी प्रकार उपशान्त हुए कर्म शीघ्र ही पुनः कषायोदय द्वारा उभर उठते हैं, और जीव के परिणामों को पुनः मलिन बना देते हैं । किन्तु यदि एकत्र हुए मल को छानकर जल से पृथक् कर दिया जाय, तो फिर वह जल स्थायी रूप से शुद्ध हो जाता है । उसी प्रकार कर्मों के क्षय से जो शुद्ध आत्म-परिणाम होते हैं, उन्हें जीव के क्षाणिक भाव कहा जाता है; जैसे केवलज्ञान-दर्शन आदि । कर्मों के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय-क्षय व सत्तागत सर्वघाती स्पर्द्धकों का उपशम, तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने से जीव के जो परिणाम होते हैं, वे क्षायोपशमिकभाव कहलाते हैं । ये परिणाम क्षायिक व अप्रशमिक भावों की अपेक्षा कुछ मलिनता लिये हुए रहते हैं; जिस प्रकार कि बंदले पानी को छान लेने से उसका बहुत कुछ मल तो उससे पृथक् हो जाता है; शेष में से कुछ माग पात्र की तली में बैठ जाता है, और कुछ उसी में मिला रह जाता है, जिसके कारण उस जल में अल्प मलिनता बनी रहती है । सामान्य मति-श्रुत ज्ञान, अणुव्रतपालन आदि क्षायोपशमिक भावों के उदाहरण हैं । इन बार भावों के अतिरिक्त जीव के जीवत्व, मव्यत्व, द्रव्यत्व आदि स्वभाविक गुण पारिस्थानिक भाव कहलाते हैं ।

इन जीवगत भावों का सामान्यतः समस्त कर्मों से, किन्तु विशेषतः मोहनीय कर्म की प्रकृतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है; और उसी की नाना अवस्थाओं के अनुसार जीव की वे चोदह आध्यात्मिक भूमिकाएं उत्पन्न होती हैं, जिन्हें गुणस्थान कहा गया है । मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व श्रुति के उदय से जीव के वे समस्त मिथ्याभाव उत्पन्न होते हैं, जिनमें अधिकांश जीव अनादि काल से विद्यमान हैं । यह जीव का मिथ्यात्व नामक अल्प गुणस्थान है । निमित्त धारक जब जीव को अप्रशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भावरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब वह जीवोपशमिक गुणस्थान में पहुँच जाता है । इनमें से क्षायिक सम्यक्त्व दो स्थायी होता है; और अप्रशमिक सम्यक्त्व, अविनाशितः अत्यन्तजीव । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व क्षीयकस्वीय-शीघ्रो

सकता है, अल्पकालीन भी । यद्यपि इनमें से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त होने पर एक नियत काल-पर्याप्त के भीतर वह जीव निरुपगतः मोक्ष का अधिकारी ही प्राप्त है; तथापि उसके लिये उसे कभी न कभी क्षांतिक सम्यक्त्व प्राप्त करना अनिवार्य है । जब तक उसे इसकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक वह परिणामों के अनुसार ऊपर-नीचे के गुणस्थानों में चढ़ता-उतरता रहेगा । यदि वह सम्यक्त्व से च्युत हुआ तो उसे तीसरा गुणस्थान भी प्राप्त होसकता है, जो, उसमें होनेवाले मिश्र भावों के कारण, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहलाता है; अथवा दूसरा गुणस्थान भी, जो सासादन कहलता है; क्योंकि इसमें जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर भी पूर्णतः मिथ्यात्व भाव को प्राप्त नहीं हो पाता, और उसमें सम्यक्त्व का कुछ आस्वादन (अनुभवन) बना रहता है । यह यथार्थतः चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर प्रथम स्थान में पहुंचने से पूर्व की मध्यवर्ती अवस्था है, जिसका काल स्वभावतः अत्यल्प होता है, और जीव उस भाव से निकल कर शीघ्र ही प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ गिरता है ।

सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान में आत्म-चेतना रूप धार्मिक दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, क्योंकि कषायों की अनन्तानुबन्धी चार प्रकृतियों का, उपशम, क्षय, आश्रयोपशम हो जाता है; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय बना रहता है; और इसीलिये यह गुणस्थान अविरत-सम्यक्त्व कहलाता है । जब इन प्रकृतियों का भी उपशमादि हो जाता है, तो जीव के अणुव्रत धारण करने योग्य परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं और वह देशविरत व संयतासंयत नामक पांचवा गुणस्थान प्राप्त कर लेता है । इस गुणस्थान की सीमा अणुव्रत तक ही है; क्योंकि यहां प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय बना रहता है । जब इन कषायों का भी उपशमादि हो जाता है, तब जीव के परिणाम और भी विशुद्ध होकर वह महाव्रत धारण कर लेता है । यह छठा व इससे ऊपर के समस्त गुणस्थान सामान्यतः संयत कहलाते हैं । किन्तु उनमें भी विशुद्धि का तरलमभाव पाया जाता है, जिसके अनुसार छठा गुणस्थान प्रवृत्तिविरत कहलाता है; क्योंकि यहां संयमभाव पूर्ण होते हुए भी प्रमाद रूप बन्ध कषायों का उदय रहता है, जिसके कारण उसकी परिणति स्त्रीकथा, चोरकथा, राजकथा आदि विकथाओं व इन्द्रिय-विषयों आदि की ओर भुक्त जाती है, क्योंकि उसके संज्वलन कषाय क्रम उदय रहता है । जब संज्वलन कषायों का भी उपशमादि हो जाता है, तब उसे अश्रवण संयत नामक सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है । जहां से लेकर आगे की सामस्त्य अवस्थाएँ ध्यान की हैं; क्योंकि आनामिका के निरास्य अप्रपदों का अभाव अश्रवण कहीं । इस अवस्था में अब आत्मीय अन्नप्रवृत्तकरण कर्णार्थ सिद्धि की पूर्णप्राप्ति को

चलाता हुआ और प्रतिकूल शुद्धतर होता हुआ ऐसी असाधारण आध्यात्मिक विशुद्धि को प्राप्त हो जाता है, जैसी पहले कभी नहीं हुई थी, तब वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में आ जाता है। इस गुणस्थान में किंचित् काल रहने पर जब ध्याता के प्रतिसमय के एक-एक परिणाम अपनी अपनी विशेष विशुद्धि को लिये हुए भिन्न रूप होने लगते हैं, तब अनिबृत्तिकरण नामक नौवां गुणस्थान आरम्भ हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती समस्त साधकों का उस समयवर्ती परिणाम एकसा ही होता है; अर्थात् प्रथमसमयवर्ती समस्त ध्याताओं का परिणाम एकसा ही होगा; दूसरे समय का परिणाम प्रथम समय से भिन्न होगा; और वह भी सब का एकसा ही होगा। इसप्रकार इस गुणस्थान में रहने के काल के जितने समय होंगे, उतने ही भिन्न परिणाम होंगे; और वे सभी साधकों के उसी समय में एकसे होंगे, अन्य समय में नहीं। इस गुणस्थान सम्बन्धी विशेष विशुद्धि के द्वारा जब कर्मों का इतना उपशमन व क्षय हो जाता है कि लोभ कषाय के अतिसूक्ष्मांश को छोड़कर शेष समस्त कषाय क्षीण या उपशान्त हो जाते हैं, तब जीव को सूक्ष्म साम्प्रदाय नामक दशवां गुणस्थान प्राप्त हो जाता है, जहाँ आत्मविशुद्धि का स्वरूप ऐसा बतलाया गया है कि जिस प्रकार केशर से रंगे हुए वस्त्र को धो डालने पर भी उसमें केशरी रंग का अतिसूक्ष्म आभास रह जाता है, उसी प्रकार इस गुणस्थान वर्ती के लोभ संज्वलन कषाय का सद्भाव रह जाता है।

उपशम व क्षपक श्रेणियां—

सातवें गुणस्थान से आगे जीव उपशम व क्षपक, इन दो श्रेणियों द्वारा ऊपर के गुणस्थानों में बढ़ते हैं। यदि वे कर्मों का उपशम करते हुए दसवें गुणस्थान तक आये हैं, तब तो उस अवशिष्ट लोभ संज्वलन कषाय का भी उपशमन करके उपशान्त-मोह नामक ग्यारहवां गुणस्थान प्राप्त करेंगे; और उसमें किंचित् काल रहकर नियम-मतः नीचे के गुणस्थानों में गिरेंगे। इस प्रकार उपशमश्रेणी की यही चरमसीमा है। किन्तु जो जीव सातवें गुणस्थान से क्षापकश्रेणी द्वारा अर्थात् कर्मों का क्षय करते हुए ऊपर बढ़ते हैं, वे दसवें गुणस्थान के पश्चात् उसी शेष लोभ संज्वलन कषाय का क्षय करके, ग्यारहवें गुणस्थान में न जाकर, सीधे क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार ग्यारहवें व बारहवें दोनों गुणस्थानों में मोहनीय कर्म के अभाष से उत्पन्न आत्मविशुद्धि की मात्रा एक सी ही होती है, और जीव पूरितः तवीराम हो जाते हैं; किन्तु ज्ञानावरणीयादि कर्मों के सद्भाव के कारण केवलज्ञान प्राप्त

नहीं होता; इसीलिए छद्मस्थ बीतराग कहलाते हैं। इन दोनों गुणस्थानों में भेद यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म उपशान्त अवस्था में अभी भी शेष रहता है, जो अन्तर्मुहूर्त के भीतर पुनः उभरकर जीव को नीचे के गुणस्थान में ठकेल देता है; किन्तु बारहवें गुणस्थान में मोह के सर्वथा क्षीण हो जाने के कारण इस पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसे अब केवल अपने ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मों की शेष प्रकृतियों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करना रह जाता है। यह कार्य सम्पन्न होने पर जीव को सयोग केवली नामक तेरहवां गुणस्थान प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीवों को वह केवलज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा उन्हें विश्व की समस्त वस्तुओं का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इन केवलियों के दो भेद हैं—एक सामान्य, और दूसरे वे जो तीर्थंकर नामकर्म के उदय से धर्म की व्यवस्था करने वाले तीर्थंकर बनते हैं। इस गुणस्थान को सयोगी कहने की सार्थकता यह है कि इन जीवों के अभी भी शरीर का सम्बन्ध बना हुआ है; व नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का उदय विद्यमान है। जब केवली की आयु स्वल्प मात्र शेष रहती है, तब यदि उसके नाम, गोत्र और वेदनीय, इन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो तो वह उसे समुद्घात-क्रिया द्वारा आयुप्रमाण कर लेता है। इस क्रिया में पहले आत्म-प्रदेशों को बंड रूप से लोकाग्र तक फैलाया जाता है; फिर दोनों पार्श्वों में फैलाकर कषाटरूप चौड़ा कर लिया जाता है, तत्पश्चात् आगे पीछे की ओर शेष दो दिशाओं में फैलाकर उसे प्रतर रूप किया जाता है; और अन्ततः लोक के अवशिष्ट कोण रूप भागों में फैलाकर समस्त लोक को भर दिया जाता है। ये क्रियाएं एक-एक समय में पूर्ण होती हैं; और वे क्रमशः दंड, कषाट, प्रतर व लोकपूरण समुद्घात कहलाती हैं। अन्य चार समयों में विपरीत क्रम से आत्म प्रदेशों को पुनः समेट कर शरीर प्रमाण कर लिया जाता है। इस क्रिया से जिसप्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आद्रता शीघ्र निकल जाती है, उसीप्रकार आत्मप्रदेशों के फैलने से उनमें संसक्त कर्म-प्रदेशों का स्थिति व अनुभागांश क्षीण होकर आयुप्रमाण हो जाता है। इसके पश्चात् केवली काययोग से भी मुक्त होकर, अयोग केवली नामक चौदहवां गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस अष्टकर्म-विमुक्त सर्वोत्कृष्ट सांसारिक अवस्था का काल अतिस्वल्प कुछ समय मात्र ही है, जिसे पूर्णकर जीव अपनी शुद्ध, शाश्वत, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य से युक्त परम अवस्था को प्राप्तकर सिद्ध बन जाता है।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण प्रविदित-निखिलज्ञेयसत्त्वप्रपञ्चाः
 प्रोद्भूय ध्यानवार्तः सकलमथ रजः प्राप्तकैवल्यरूपाः ।
 कृत्वा सत्स्वीपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रीत्सवा ये
 ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥



व्याख्यान - ४

जैन कला

व्याख्यान—४

जैन कला

जीवन और कला—

जैन तत्त्वज्ञान के संबंध में कहा जा चुका है कि जीव का लक्षण उपयोग है, और वह उपयोग दो प्रकार का होता है—एक तो जीव को अपनी सत्ता का भान होता है कि मैं हूँ; और दूसरे उसे यह भी प्रतीत होता है कि मेरे आसपास अन्य पदार्थ भी हैं। प्रकृति के ये अन्य पदार्थ उसे नाना प्रकार से उपयोगी सिद्ध होते हैं। कितने ही पदार्थ भोज्य बनकर उसके शरीर का पोषण करते हैं; तथा अन्य कितने ही पदार्थ, जैसे वृक्ष, पर्वत, गुफा आदि उसे प्रकृति की विपरीत शक्तियों—तूफान, वर्षा, ताप आदि से रक्षा करते व आश्रय देते हैं। अन्य जीव, जैसे पशु-पक्षी आदि, तो प्रकृति के पदार्थों का इतना ही उपयोग लेते हुए जीवन-यापन करते हैं, किन्तु मनुष्य अपनी ज्ञान-शक्ति के कारण इनसे कुछ विशेषता रखता है। मनुष्य में जिज्ञासा होती है। वह प्रकृति को विशेष रूप से समझना चाहता है। इसी ज्ञान-गुण के कारण उसने प्रकृति पर विशेष अधिकार प्राप्त किया है; तथा विज्ञान और दर्शन शास्त्रों का विकास किया है। मनुष्य का दूसरा गुण है—अच्छे और बुरे का विवेक। इसी गुण की प्रेरणा से उसने धर्म, नीति व सदाचार के नियम और आदर्श स्थापित किये हैं, और उन्हीं आदर्शों के अनुसार ही जीवन को परिभाजित और सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण मानव-समाज उत्तरोत्तर सम्य बनता गया है, और संसार में नाना मानव संस्कृतियों का आविष्कार हुआ है। मनुष्य का तीसरा विशेष गुण है—सौन्दर्य की उपासना। अपने पोषण व रक्षण के लिये मनुष्य जिन पदार्थों का ग्रहण व रक्षण करता है, उन्हें वह उत्तरोत्तर सुन्दर बनाने का भी प्रयत्न करता है। वह अपने स्नायु पदार्थों को सजाकर खाने में अधिक सन्तुष्टि का अनुभव करता है। आदि में उसने शीत, जूप आदि से रक्षा के लिये जिन वस्त्र,

मृगछाला आदि शरीराच्छादनो को ग्रहण किया, उनमें क्रमशः परिष्कार करते करते नाना प्रकार के सूती, ऊनी व रेशमी वस्त्रों का अविष्कार किया, और उन्हें नाना रीतियों से काटछाटकर व सीकर सुन्दर वेष-भूषा का निर्माण किया है। किन्तु जिन बातों में मनुष्य की सौन्दर्योपासना चरम सीमा को पहुँची है, और मनवीय सम्यता के विकास में विशेष सहायक हुई है, वे हैं—गृहनिर्माण, मूर्तिनिर्माण, चित्रनिर्माण तथा संगीत और काव्य कृतियाँ। इन पाँचों कलाओं का प्रारम्भ उनके जीवन के लिये उपयोग की दृष्टि से ही हुआ। मनुष्य ने प्राकृतिक गुफाओं आदि में रहते-रहते क्रमशः अपने आश्रय के लिये लकड़ी, मिट्टी, व पत्थर के घर बनाये; अपने पूर्वजों की स्मृति रखने के लिये प्रारम्भ में निराकार और फिर साकार पाषाण आदि की स्थापना की; अपने अनुभवों की स्मृति के लिये रेखाचित्र खींचे; अपने बच्चों को सुनाने व उनका मन बहलाने के लिये गीत गाये व किस्से कहानी सुनाये। किन्तु इन प्रवृत्तियों में उसने उत्तरोत्तर ऐसा परिष्कार किया कि कालान्तर में उनके भौतिक उपयोग की अपेक्षा, उनका सौन्दर्यपक्ष अधिक प्रबल और प्रधान हो गया, और इस प्रकार उन उपयोगी कलाओं ने जलित कलाओं का रूप धारण कर लिया, और किसी भी देश व समाज की सम्मता व संस्कृति के ये ही अनिवार्य प्रतीक माने जाने लगे। भिन्न-भिन्न देशों, समाजों, व धर्मों के इतिहास की पूर्णता से समझने के लिये उनके आश्रय में इन कलाओं के विकास का इतिहास जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो जाता है कि कला की भौतिक प्रेरणा, मनुष्य की जिज्ञासा के समान, सौन्दर्य की इच्छारूप उसकी स्वामाविक वृत्ति से ही मिलती है। इसलिये कहा जा सकता है कि कला का ध्येय कला ही है। तथापि उक्त प्राकृतिक सौन्दर्य-वृत्ति ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये जिन आसम्बन्धों को ग्रहण किया है, उनके प्रकाश में यह भी कहा जा सकता है कि कला का ध्येय जीवन का उत्कर्ष है। यह बात सामान्यतः भारतीय, और विशेष रूप से जैन कला-कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। यहाँ का कलाकार कभी प्रकृति के जैसे के तैसे प्रतिबिम्ब मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसका सदैव यह प्रयत्न रहा है कि उसकी कलाकृति के द्वारा मनुष्य की भावना का परिष्कार व उत्कर्षण हो। उसकी कृति में कुछ न कुछ व कहीं न कहीं धर्म व नीति का उपदेश छुपा या प्रकट रहता ही है। यही कारण है कि यहां की प्रायः समस्त कलाकृतियाँ धर्म के अंचल में पली और पुष्ट हुई हैं। यूनान के कलाकार ने प्रकृति के यथार्थ प्रतिबिम्बन में ही अपनी कला की सफलता मानी है, इस कारण उस कला को हम पूर्णतः आधिभौतिक व धर्म

निरूपण कह सकते हैं। किन्तु कारखीब कलाकारों ने प्रकृति के इस भौतिक (फोटो-ग्राफिक) चित्रण मात्र को अपने कला के आवर्ण की दृष्टि से पर्याप्त नहीं समझा। उनके मत से उनकी कलाकृति द्वारा यदि दर्शक ने कुछ सीखा नहीं, समझ नहीं, कुछ धार्मिक, नैतिक व भावात्मक उपदेश पाया नहीं, तो उस कृति से लाभ ही क्या हुआ ? इसी जैन-कलाकार की भावना के फलस्वरूप हमारी कलाकृतियों में नैसर्गिकता के प्रतिरिक्त कुछ और भी पाया जाता है, जिसे हम कलात्मक प्रतिरूपण कह सकते हैं। स्थापत्य की कृतियों में हमारा कलाकार अपनी दिव्य विमान की कल्पना को सार्थक करना चाहता है। देवों की मूर्तियों में तो वह दिव्यता भरता ही है, मानवीय मूर्तियों व चित्रों में भी उसने प्राध्यात्मिक उत्कर्ष के आरोप का प्रयत्न किया है। पशु-पक्षी व वृक्षादि का चित्रण यथावत् होते हुए भी उसे ऐसी भूमिका देने का प्रयत्न किया है कि जिससे कुछ न कुछ बढ़ा, भाव-शुद्धि व नैतिक परिष्कार-उत्पन्न हो। इस प्रकार जैन कला का उद्देश्य जीवन का उत्कर्षण रहा है, उसकी समस्त प्रेरणा धार्मिक रही है, और उसके द्वारा जैन तत्त्वज्ञान व आचार के आदर्शों को मूर्तिमान् रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

जैन धर्म और कला—

बहुधा कहा जाता है कि जैन धर्म ने जीवन के विधान-पक्ष को पुष्ट न कर निषेधात्मक कृतियों पर ही विशेष भार दिया है। किन्तु यह दोषारोपण यथार्थतः जैन धर्म की अपूर्ण जानकारी का परिणाम है। जैन धर्म में अपनी अनेकान्त दृष्टि के अनुसार जीवन के समस्त पक्षों पर यथोचित ध्यान दिया गया है। अच्छे और बुरे के विवेक से रहित मानव व्यवहार के परिष्कार के लिये कुछ आदर्श स्थापित करना और उनके अनुसार जीवन की कुलित कृतियों का निषेध करना संयम की स्थापना के लिये सर्वप्रथम आवश्यक होता है। जैन धर्म ने आत्मा को परमात्मा बनाने का चरम आदर्श उपास्थित किया; उस और गतिशील होने के लिये अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतः उत्तरदायी बनाया और प्रेरित किया; तथा कृत-नियम प्रावि धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा नैतिक, सामाजिक व प्राध्यात्मिक अहित करने वाली प्रवृत्तियों से उसे रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका विधान-पक्ष सर्वथा अशुद्ध रहा हो, सो बात नहीं। इस बात की स्पष्टता: जैनधर्म के लिये जैनधर्म ने मानव जीवन की जो धाराएं व्यवस्थित की हैं, उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। मुनिधर्म के द्वारा एक ऐसे धर्म की स्थापना का प्रयत्न किया गया है जो सर्वथा निःस्वार्थ, निःस्पृह और

निरीह होकर वीतराग भाव से अपने व दूसरों के कल्याण में ही अपना समस्त समय व शक्ति लगावे। साथ ही गृहस्थ धर्म की व्यवस्थाओं द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य सम्य और शिष्ट बनकर अपनी, अपने कुटुम्ब की, तथा समाज व देश की सेवा करता हुआ उन्हें उन्नत बना सके। दया, दान व परोपकार के श्रावकधर्म में यथोचित स्थान का निरूपण जैन-चारित्र के प्रकरण में किया जा चुका है। जैन परम्परा में कला की उपासना को जो स्थान दिया गया है, उससे उसका यह विधान पक्ष और भी स्पष्ट हो जाता है।

कला के भेद-प्रभेद—

प्राचीनतम जैन आगम में बालकों को उनके शिक्षण-काल में शिल्पों और कलाओं की शिक्षा पर जोर दिया गया है, और इन्हें सिखाने वाले कलाचार्यों व शिल्पाचार्यों का अलग-अलग उल्लेख मिलता है। गृहस्थों के लिये जो षट्कर्म बतलाये गये हैं उनमें असि, मसि, कृषि, विद्या व वाणिज्य के अतिरिक्त शिल्प का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। जैन साहित्य में स्थान-स्थान पर बहत्तर कलाओं का उल्लेख पाया जाता है। समवायांग सूत्र के अनुसार ७२ कलाओं के नाम ये हैं—१ लेख, २ गणित, ३ रूप, ४ नृत्य, ५ गीत, ६ वाद्य, ७ स्वरगत, ८ पुष्करगत, ९ समताल, १० इत, ११ जनवाद, १२ पोक्खच्चं, १३ अष्टापद, १४ दगमट्टिय (उदकमृत्तिका), १५ अन्नविधि, १६ पानविधि, १७ वस्त्रविधि, १८ शयनविधि, १९ अज्जं (आर्या), २० प्रहेलिका, २१ मागधिका, २२ गाथा, २३ श्लोक, २४ गंधयुक्ति, २५ मधुसिक्ख, २६ आभरणविधि, २७ तरुणी-प्रतिकर्म, २८ स्त्रीलक्षण, २९ पुरुषलक्षण, ३० ह्यलक्षण, ३१ गजलक्षण, ३२ गोरा (वृषभ लक्षण), ३३ कुक्कुटलक्षण, ३४ मेंढालक्षण, ३५ चक्रलक्षण, ३६ छत्रलक्षण, ३७ दंडलक्षण, ३८ असिलक्षण, ३९ मणिलक्षण, ४० काकनिलक्षण, ४१ चर्मलक्षण, ४२ चंद्रलक्षण, ४३ सूर्यचरित, ४४ राहुचरित, ४५ ग्रहचरित, ४६ सौभाग्यकर, ४७ दुर्भाग्यकर, ४८ विद्यागत, ४९ मन्त्रगत, ५० रहस्यगत, ५१ सभास, ५२ चार, ५३ प्रतिचार, ५४ व्यूह, ५५ प्रतिव्यूह, ५६ स्कंधावारमान, ५७ नगरमान, ५८ वास्तुमान, ५९ स्कंधावारनिवेश, ६० वास्तुनिवेश, ६१ नगरनिवेश, ६२ ईसत्थं (इष्वस्त्रं) ६३ छरूप्यवायं (त्सरप्रवाद), ६४ अश्वशिक्षा, ६५ हस्तिशिक्षा, ६६ अनुर्वेद, ६७ हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, जालुपाक, ६८ बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, निर्युद्ध, जुद्धाहंजुद्ध, ६९ सूत्रक्रीड़ा, नालिकाक्रीड़ा, वृत्तक्रीड़ा, धर्मक्रीड़ा, धर्मक्रीड़ा, ७० पत्रलेख, कटकलेख, ७१ सजीव-

निर्जीव, ७२ सकुनस्त ।

१. लेख का अर्थ है अक्षर-विन्यास । इस कला में दो बातों का विचार किया गया है—लिपि और लेख का विषय । लिपि देशभेदानुसार १८ प्रकार की बतलाई गई है । उनके नाम ये हैं :—१ ब्राह्मी, २ जवरणालिया, ३ बोसाऊरिया, ४ खरोष्ठीका, ५ खरसाविया, ६ पहराडिया, ७ उच्चत्तरिया, ८ अक्षरमुष्टिका, ९ भोगवडिया, १० बेणतिया, ११ निन्हडिया, ११ अंकलिपि, १२ गणितलिपि, १३ गन्धर्वलिपि १४ भूतलिपि, १५ आबशलिपि, १६ माहेश्वरीलिपि, १७ बामिलिलिपि, और (१८) बोलिदि (पोलिदि-आन्ध्र) लिपि । इन लिपि-नामों में से ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दो लिपियों के लेख प्रचुरता से मिले हैं । खरोष्ठी का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती के मौर्य सम्राट् अशोक के लेखों से लेकर दूसरी-तीसरी शती ई० तक के पंजाब व पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर चीनीतुर्किस्तान तक मिले हैं । ब्राह्मी लिपि की परम्परा देश में आज तक प्रचलित है, व भारत की प्रायः समस्त प्रचलित लिपियाँ उसीसे विकसित हुई हैं । इसका सबसे प्राचीन लेख संभवतः बारली (अजमेर) से प्राप्त वह छोटा सा लेख है जिसमें बीर (महावीर) ८४, सम्भवतः निर्वाण से ८४ वां वर्ष, तथा मध्यमिक स्थान का उल्लेख है । अशोक के शिलालेखों में इसका प्रचुरता से प्रयोग पाया जाता है, और तब से आज तक भिन्न-भिन्न काल व भिन्न-भिन्न प्रदेश के लेखों में इसका अनुक्रम से प्रयोग व विकास मिलता है । ब्राह्मी लिपि के विषय में जैन आगमों व पुराणों में बतलाया गया है कि इसका आविष्कार आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ ने किया और उसे अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखाया । इसी से इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा । समवायांग सूत्र में ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरों (स्वरो व व्यंजनों) का उल्लेख है । पाँचवें जैनगम भगवती वियाहपण्णत्ति सूत्र के आदि में अरहंतादि पंचपरमेष्ठी नमस्कार के साथ 'नमो बंभीए लिबीए । नमो सुयस्स' इस प्रकार ब्राह्मी लिपि व श्रुत को नमस्कार किया गया है । अन्य उल्लिखित लिपियों के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं । सम्भव है जवरणालिया से यवनानी या यूनानी लिपि का तात्पर्य हो । अक्षरमुष्टिका कथन को वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में ६४ कलाओं के भीतर गिनाया है, और उनके टीकाकार यशोधर ने अक्षरमुष्टिका के सामासा व निराभासा इन दो भेदों का उल्लेख कर कहा है कि सामासा का प्रकरण आचार्य रविगुप्त ने 'चन्द्रप्रभा विजय' काव्य में पृथक् कहा है । उनके उदाहरणों से प्रतीत होता है कि आदि अक्षर मात्र से पूरे शब्द का संकेत करना सामासा तथा अंगुलीआदि के संकेतों द्वारा शब्दकी अभिव्यक्त को निराभासा अक्षरमुष्टिका कहते थे । इनका समावेश सम्भवतः प्रस्तुत ७२ कलाओं में ५० और

५१ वीं रहस्यगत व सभास नामक कलाओं में होता है। अंकलिपि से १, २ आदि संख्या-वाचक चिन्हों का, गणितलिपि से जोड़ (+), बाकी (—), गुणा (×), भाग (÷) आदि चिन्हों का, तथा मन्थर्वलिपि से संगीत शास्त्र के स्वरों के चिन्हों का तात्पर्य प्रतीत होता है। आदर्शलिपि अनुमानतः उल्टे अक्षरों के लिखने से बनती है, जो दर्पण (आदर्श) में प्रतिबिम्बित होने पर सीधी पढ़ी जा सकती है। आश्चर्य नहीं जो भूतलिपि से भोट (तिब्बत) देश की, माहेश्वरी से महेश्वर (ओंकारभांघाता-मन्थप्रदेश) की, तथा दामिलिलिपि से द्रविड़ (दमिल-तामिल) देश की विशेष लिपियों से तात्पर्य हो। इसी प्रकार भोगवइया से अभिप्राय नागों की प्राचीन राजधानी भोगवती में प्रचलित किसी लिपि-विशेष से हो तो आश्चर्य नहीं।

१८ लिपियों की एक अन्य सूची विशेष आवश्यक सूत्र (गा० ४६४) की टीका में इस प्रकार दी है :—१ हंसलिपि, २ भूतलिपि, ३ यक्षलिपि, ४ राक्षसलिपि ५ ओड (उड़िया) लिपि, ६ यवनी, ७ तुलुकी, ८ कोरी, ९ द्राविडी, १० सैबवी, ११ मालविनी, १२ नडी, १३ नागरी, १४ लाटी, १५ पारसी, १६ अनिमित्ती, १७ चारणक्यी, और (१८) मूलदेवी। यह नामावली समवायांग की लिपिसूची से बहुत भिन्न है। इनमें समान तो केवल तीन हैं—भूतलिपि, यवनी और द्राविडी। शेष नामों में अधिकांश स्पष्टतः भिन्न-भिन्न जाति व देशवाची है। प्रथम चार हंस, भूत, यक्ष, और राक्षस, उन उन अनार्य जातियों की लिपियां व भाषाएं प्रतीत होती हैं। उड़िया से लेकर पारसी तक की ११ भाषाएं स्पष्टतः देशवाची हैं। शेष तीन में से चारणक्यी और मूलदेवी की परम्परा बहुत कालतक चलती आई है, और उनका स्वरूप कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने कौटिलीय या दुर्बोध, तथा मूलदेवीय इन नामों से बतलाया है। यशोधर ने एक तीसरी भी गूढ़लेख्य नामक लिपि का व्याख्यान किया है, जिसका स्वरूप स्पष्ट समझ में नहीं आता। सम्भवतः वह कोई अंकलिपि थी। आश्चर्य नहीं जो आनिमित्ती से उसी लिपि का तात्पर्य हो। यशोधर के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में क्ष अक्षर जोड़ने तथा ह्रस्व और दीर्घ व अनुस्वार और विसर्ग की बदला-बदली कर देने से कौटिलीय लिपि बन जाती है, एवं अ और क, ख और ग, घ और ङ, चवर्ग और टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग तथा य और श, इनका परस्पर व्यत्यय कर देने से मूलदेवी बन जाती है। मूलदेव प्राचीन जैन कथाओं के बहुत प्रसिद्ध चतुर व बूर्स नायक पाये जाते हैं। (देखी मूलदेव कथा उ० सू० टीका)।

लेख के आधार पत्र, बल्कल, काष्ठ, रत्त, लोह, ताँब्र, रजत आदि बतलाये गये हैं, और उनपर लिखने की क्रिया उत्कीर्णन (अक्षर खोदकर) स्फुट (सीकर), व्यूत

(धुनकर), छिन्न (छेदकर), भिन्न (वेककर), दम्ब (जसाकर), और संकलित (ठप्पा लेकर) इन पद्धतियों से की जाती थी। लिपि के अनेक दोष भी बतलाये गये हैं। जैसे, अतिरुक्ष, अतिस्थूल, विषम, टेढ़ी पंक्ति, और भिन्न वर्णों को एक जैसा लिखना (जैसे ब और घ, भ और म, म और य, आदि); व पदच्छेद न करना, आदि। विषय के अनुसार भी लेखों का विभाजन किया गया था। तथा स्वामि-मृत्य, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी शत्रु-मित्र, इत्यादि को पत्र लिखने की भिन्न-भिन्न शैलियां स्थिर की गई थीं।

जैन समाज में लेखन प्रणाली का प्रयोग बहुत प्राचीन पाया जाता है। तथापि षेड़-दो हजार वर्ष से पूर्व के लिखित ग्रन्थों के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त न होने का एक बड़ा कारण यह हुआ कि विद्याप्रचार का कार्य प्राचीन काल में मुनियों द्वारा विशेष रूप से होता था; और जैन मुनि सर्वथा अपरिग्रही होने के कारण अपने साथ ग्रन्थ न रखकर स्मृति के सहारे ही चलते थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को उनके साक्षात् गणधरों ने तत्काल ग्रन्थ-रचना का रूप दे दिया था। किन्तु मौर्यकाल में उनके एक ग्रंथ का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था, और पाटलिपुत्र की वाचन में बारहवें भ्रंग दृष्टिवाद का संकलन नहीं किया जा सका, क्योंकि उसके एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु उस मुनिसंघ में सम्मिलित नहीं हो सके। वीरनिर्वाण की दसवीं शती में आकर पुनः आगमों की अस्त-व्यस्त अवस्था हो गई थी। अतएव मथुरा में स्कंदिल आचार्य और उसके कुछ पश्चात् बलभी में देवद्विगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में आगमों की वाचनाएं की गईं। पाटलिपुत्रीय व माथुरीय वाचनाओं के ग्रन्थ तो अब नहीं मिलते, किन्तु बलभी वाचना द्वारा संकलित आगमों की प्रतियां तब से निरन्तर ताड़पत्र और तत्पश्चात् कागजों पर उत्तरोत्तर सुन्दर कलापूर्ण रीति से लिखित मिलती हैं, और वे जैन लिपिकला के इतिहास के लिये बड़ी महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त तीनों वाचनाओं का नाम ही यह सूचित करता है कि उनमें ग्रन्थ बाँचे या पढ़े गये थे। इससे लिखित ग्रन्थों की परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। दशवैकालिक सूत्र की हरिमद्वीय टीका में पांच प्रकार की पुस्तकों का वर्णन मिलता है—गंडी, कच्छपी, मुष्टि, संमुष्ट-फलक और छेदपाटी। तंबाई-चौड़ाई में समान अर्थात् चौकोर पुस्तक को बंडी, जो पुस्तक बीच में चौड़ी व दोनों बाजुओं में संकरी हो वह कच्छपी, जो केवल चार भ्रंगुल की मोलाकार व चौकोर होने से मुट्ठी में रखी जा सके वह मुष्टि, लकड़ी के चट्टे पर लिखी हुई पुस्तक संमुष्ट-फलक, तथा छोटे छोटे पत्रों वाली मोटी व लम्बे किन्तु संकरी साक्ष्यन जैसे कालेखी पुस्तक छेदपाटी कही गई है।

(२) गणित शास्त्र का विकास जैन परम्परा में करणानुयोग के अन्तर्गत खूब हुआ है। जहाँ इन ७२ कलाओं का संक्षेप से उल्लेख है, वहाँ प्रायः उन्हें लेखादिक व गणित-प्रधान कहकर सूचित किया गया है। इससे गणित की महत्ता सिद्ध होती है। (३) रूपगत से तात्पर्य मूर्तिकला व चित्रकला से है, जिनका निरूपण आगे किया जायगा। (४-६) नृत्य, गीत, वाद्य, स्वरगत, पुष्करगत और समताल का विषय संगीत है। इन कलाओं के संबंध में जैन शास्त्रों व पुराणों में बहुत कुछ वर्णन किया गया है, और उन्हें बालक-बालिकाओं की शिक्षा का आवश्यक अंग बतलाया गया है। कथा-कहानियों में प्रायः बीणावाद्य में प्रवीणता के आधार पर ही युवक-युवतियों के विवाह-संबंध के उल्लेख मिलते हैं। (१०-१३) छूत, जनबाद, पोक्सत्त व अष्टापद ये छूतक्रीड़ा के प्रकार हैं। (१४) दगमट्टिया-उबकमूर्त्तिका पानी से मिट्टी को सानकर घर, मूर्ति आदि के आकार कीड़ा, सजावट व निर्माण हेतु बनाने की कला है। (१५-१६) अन्नविधि व पानविधि भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय पदार्थ बनाने की कलाएँ हैं। (१७) वस्त्रविधि नाना प्रकार के वस्त्र बुनने व सीने की एवं (१८) शयनविधि अनेक प्रकार के खाट-पलंग बुनने व शैया की साज-सजावट करने की कला है। (१९-२३) आर्या, प्रहेलिका, मागधिका व गाथा और श्लोक इन्हीं नामों के छंदों व काव्य-रीतियों में रचना करने की कलाएँ हैं। (२४) गंधयुक्ति नाना प्रकार के सुगंधी द्रव्यों के रासायनिक संयोगों से नये-नये सुगंधी द्रव्य निर्माण करने की कला है। (२५) मधुसिक्थ अलक्तक, लाक्षारस या माहुर (महावर) को कहते हैं। इस द्रव्य से पैर रंगने की कला का नाम ही मधुसिक्थ है। (२६-२७) आभरणाविधि व तरुणी प्रतिकर्म भूषण व अलंकार धारण करने व स्त्रियों की साज-सज्जा की कलाएँ हैं।

त्रि प्र० (४, ३६१-६४) में पुरुष के १६ व स्त्री के १४ आभरणों की विकल्प रूप में दो सूचियाँ पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं :-

प्रथम सूची :

१ कुंडल, २ अंगद, ३ हार, ४ मुकुट, ५ केयूर, ६ भालपट्ट, ७ कटक, ८ प्रालम्ब, ९ सूत्र, १० नूपुर, ११ मुद्रिका-युगल, १२ मेखला, १३ अवेयक (कंठा), १४ कर्णपूर, १५ खड्ग, और १६ छुरी।

दूसरी वैकल्पिक सूची में १३ आभरणों के नाम समान हैं, किन्तु केयूर, भाल-पट्ट, कर्णपूर, ये तीन नाम नहीं हैं, तथा किरिट, अर्द्धाहार व चूडागणि, ये तीन नाम नये हैं। संभव है केयूर और अंगद ये आभूषण एक ही या एक समान ही रहे हों,

और उसी प्रकार भालपट्ट व चूहामणि भी । अर्द्धाहार का समावेश हारों में ही किया जा सकता है । किरीट एक प्रकार का मुकुट ही है । इस प्रकार दूसरी सूची में कोई नया आभरण-विशेष नहीं रहता किन्तु प्रथम सूची के कर्णपूर नामक आभरण का समावेश नहीं पाया जाता । उक्त १६ अलंकारों में सङ्ग और छुरी को छोड़कर शेष १४ स्त्रियों के आभूषण माने गये हैं । भूषण, आभरण व अलंकारों की एक विशाल सूची हमें अंगविज्जा (पृ० ३५५-५७) में मिलती है, जिसमें ३५० नाम पाये जाते हैं । यह सूची केवल आभरणों की ही नहीं है, किन्तु उसमें एक तो धातुओं की अपेक्षा भी अलग अलग नाम गिनाये गये हैं, जैसे सुवर्णमय, रूप्यमय, ताम्रमय आदि; अथवा शंखमय, दंतमय, बालमय, काष्ठमय, पुष्पमय, पत्रमय आदि । दूसरे उसमें भिन्न-भिन्न अंगों की अपेक्षा आभरण-नामों की पुनरावृत्ति हुई है, जैसे शिराभरण, कर्णाभरण, अंगुल्याभरण, कटिआभरण, चरणाभरण आदि । और तीसरे उसमें अंजन, चूर्ण, अलक्तक, गंधवर्ण आदि तथा नाना प्रकार के सुगंधी चूर्ण व तैल, परिधान, उत्तरासंग आदि वस्त्रों, व छत्र पताकादि शोभा-सामग्री का भी संग्रह किया गया है । तथापि शुद्ध अलंकारों की संख्या कोई १०० से अधिक ही पाई जाती है । इस ग्रन्थ में नाना प्रकार के पात्रों, भोज्य व पेय पदार्थों, वस्त्रों व आच्छादनो एवं शयनासनों की सुविस्तृत सूचियां अलग-अलग भी पाई जाती हैं, जिनसे उपर्युक्त नाना कलाओं और विशेषतः अन्नविधि (१५), पानविधि (१६), वस्त्रविधि (१७), शयनविधि (१८), गंधयुक्ति (२४), मधुसिक्थ (२५), आभरणविधि (२६), तरुणीप्रतिकर्म (२७), पत्रछेद्य तथा कटकछेद्य (७०) इन कलाओं के स्वरूप व उपयोग पर बहुत प्रकाश पड़ता है ।

स्त्री-लक्षण से चर्म-लक्षण (२८-४१) तक की कलाएं उन-उन स्त्री, मनुष्यों, पशुओं व वस्तुओं के लक्षणों को जानने व गुण-दोष पहचानने की कलाएं हैं । स्त्री पुरुषों के लक्षण सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी नाना ग्रन्थों तथा हाथी, घोड़ों व बैलों के लक्षण भिन्न-भिन्न तत्त्वद्विषयक जीवशास्त्रों में विस्तार से वर्णित पाये जाते हैं । चंद्रलक्षण से ग्रहचरित (४२-४५) तक की कलाएं ज्योतिषशास्त्र विषयक हैं और उनमें उन-उन ज्योतिष मंडलों के ज्ञान की साधना की जाती थी । सौभाग्यकरं से मंत्रगतं (४६-४९) तक की कलाएं मंत्र-तन्त्र विद्याओं से संबंध रखती हैं, जिनके द्वारा अपना व अपने इष्टजनों का इष्टसाधन व शत्रु का अनिष्टसाधन किया जा सकता है । रहस्यगत और सभास (५०-५१) के विषय में ऊपर कहा ही जा चुका है कि वे संभवतः वात्स्यानिकोक्त अक्षरमुष्टिका के प्रकार हैं । चार, प्रतिचार व्यूह व प्रतिव्यूह

(५२-५५) ये युद्ध संबंधी विद्याएं प्रतीत होती हैं, जिनके द्वारा क्रमशः सेना के आगे बढ़ाने, शत्रुसेना की चाल को विफल करने के लिये सेना का संचार करने, चक्रव्यूह आदि रूप से सेना का विन्यास करने व शत्रु की व्यूह-रचना को तोड़ने योग्य सेना विन्यास किया जाता था। स्कंधावार-मान से नगरनिवेश (५६-६१) तक की कलाओं का विषय शिविर आदि को बसाने व उसके योग्य भूमि, गृह आदि का मान-प्रमाण निश्चित करना है। ईसत्थ (इषु-अस्त्र) अर्थात् बाणविद्या (६२) और छरूपवाय (त्सरूपवाद) (६३) छुरी, कटार, खड्ग आदि चलाने की विद्याएं हैं। अश्वशिक्षा आदि से यष्टि-युद्ध (६४-६८) तक की कलाएं उनके नाम से ही स्पष्ट हैं। युद्ध निर्युद्ध एवं जुद्धांजुद्ध (६८) ये भी नाना प्रकार से युद्ध करने की कलाएं हैं। सूत्र-क्रीड़ा डोरी को अंगुलियों द्वारा नाना प्रकार से रचकर चमत्कार दिखाना व धागे के द्वारा पुतलियों को नचाने की कला है। नालिका क्रीड़ा एक प्रकार की दूतक्रीड़ा है। वृत्तक्रीड़ा, धर्मक्रीड़ा व चर्मक्रीड़ा, ये क्रमशः मंडल बांधकर, वायु फूँकर जिससे श्वास न टूटे व चर्म के आभ्रय से क्रीड़ा (खेलने) के प्रकार है (६९)। पत्रछेद व कटक छेद (७०) क्रमशः पत्तों व तृणों को नाना प्रकार से काट-छांटकर सुन्दर आकार की वस्तुएं बनाने की कला है। सजीव-निर्जीव (७१) वही कला प्रतीत होती है जिसका उल्लेख वात्स्यायन ने यंत्रमात्रिका नाम से किया है, व जिसके संबंध में टीकाकार यशोधर ने कहा है कि वह गमनागमन व संग्राम के लिये सजीव व निर्जीव यंत्रों की रचना की कला है जिसका स्वयं विद्वक्कर्मा ने स्वरूप बतलाया है। शकुनिरुत (७२) पक्षियों की बोली को पहचानने की कला है।

बहतर कलाओं की एक सूची औपपातिक सूत्र (१०७) में भी पाई जाती है। वह समवायान्तर्गत सूची से मिलती है; केवल कुछ नामों में हेर-फेर पाया जाता है। उसमें उपर्युक्त नामावली में से मधुसिक्थ (२५) मेंढालक्षण, दंडलक्षण, चन्द्रलक्षण से लगाकर समास पर्यन्त (४२-५१) दंडयुद्ध, यष्टियुद्ध, और धर्मक्रीड़ा ये नाम नहीं हैं, तथा पाशक (पांसा से जुआ खेलना), गीतिका (गेय छंद रचना), हिरण्ययुक्ति लुघर्ययुक्ति, चूर्णयुक्ति (चांदी, सोना व मोतियों आदि रत्नों से मिला-जुलाकर भिन्न-भिन्न आभूषण बनाना), गरुडव्यूह, शकटव्यूह, लतायुद्ध एवं मुक्ताक्रीड़ा, ये नाम सबीन हैं। औपपातिक सूत्र में गिनाई गई कलाएं यद्यपि ७२ कही गई हैं, तथापि पृथक् रूप से गिनने से उनकी कुल संख्या ८० होती है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न जैन पुराणों व काव्यों में जहां भी शिक्षण का प्रसंग आया है, वहां प्रायः कलाएं भी गिनाई गई हैं जिनके नामों व संख्या में भेद दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, दसवीं शताब्दी में पुष्पदंत

कृत अथर्वण काव्य नामकुमार-चरित (३, १) में कव्यानामक की एक नाग द्वारा शिला के प्रसंग में कहा गया है कि उसने उन्हें सिद्धों को नमस्कार कहकर निम्न कलाएं सिखाईं—(१) अष्टारह छिपियां, (२) कालाक्षर, (३) गणित, (४) गंधर्व, (५) व्याकरण, (६) छंद, (७) अलंकार, (८) निबंध, (९) ज्योतिष (ग्रहगमन-प्रवृत्तियां), (१०) काव्य, (११) नाटकशास्त्र, (१२) प्रहरण, (१३) पट्ट, (१४) शंख, (१५) तंत्री, (१६) ताल आदि वाद्य, (१७) पत्रछेद्य, (१८) पुष्पछेद्य, (१९) फल छेद्य, (२०) अश्वारोहण, (२१) गजारोहण, (२२) चन्द्रबल, (२३) स्वरोदय, (२४) सप्तभौमप्रासाद-प्रमाण, (२५) तंत्र, (२६) मंत्र, (२७) वशीकरण, (२८) व्यूह-विरचन, (२९) प्रहारहरण, (३०) नानाशिल्प, (३१) चित्रलेखन, (३२) चित्राभास, (३३) इन्द्रजाल, (३४) स्तम्भन, (३५) मोहन, (३६) विद्या-साधन, (३७) जनसंशोभन, (३८) नर-नारीलक्षण, (३९) भूषण-विधि, (४०) कामविधि, (४१) सेवाविधि, (४२) गंधयुक्ति, (४३) मणियुक्ति, (४४) औषध-युक्ति प्रौढ (४५) नरेन्द-वृत्ति (राजनीति) ।

उपर्युक्त समवायंग की कला-सूची में कहीं कहीं एक संख्या के भीतर अनेक कलाओं के नाम पाये जाते हैं, जिनको यदि पृथक् रूप से गिना जाय तो कुल कलाओं की संख्या ८६ हो जाती है । महायान बौद्ध परम्परा के ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में गिनाई गई कलाओं की संख्या भी ८६ पाई जाती है, यद्यपि वहां अनेक कलाओं के नाम प्रस्तुत सूची से भिन्न हैं, जैसे अक्षुण्ण-वेधित्व, मर्मवेधित्व शब्दवेधित्व, वैषिक आदि ।

कलाओं की अन्य सूची वात्स्यायन कृत कामसूत्र में मिलती है । यही कुछ हेर-फेर के साथ भागवत पुराण की टीकाओं में भी पाई जाती है । इसमें कलाओं की संख्या ६४ है, और उनमें प्रस्तुत कलासूची से अनेक भिन्नताएं पाई जाती हैं । ऐसी कुछ कलाएं हैं—विशेषक छेद्य (ललाट पर चन्दन आदि लगाने की कला), तंडुल कुसुम बलिविकार (पूजानिमित्त तंडुलों व फूलों की नाना प्रकार से सुन्दर रज्ज्वा), चित्रयोग (नाना प्रकार के आश्चर्य), हस्तलाघव (हाथ की सफाई), तप्त कर्म (कृष्ण-छांटकर यथेष्ट वस्तु बनाना), उत्सादन, संवाहन, केशमर्दन, पुष्पशकटिका आदि । कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने अपनी एक स्वतंत्र सूची दी है, और उन्हें सांख्यशास्त्रियों से प्राप्त ६४ मूल कलाएं कहा है; और यह भी कहा है कि इन्हीं ६४ मूल कलाओं के भेदीपक्ष ५१८ होते हैं । उन्होंने उक्त मूलकलाओं का वर्गीकरण भी किया है, जिसके अनुसार शीत आदि २४ कर्मश्रव; आयुप्रार्थि आदि १५ निर्वाण, शूराश्रय; अक्षुण्ण

विधि आदि ५ सजीव आश्रय, पुरुष भावग्रहण आदि १६ शयनोपचारिक; तथा साश्रु-पात, पातशापन आदि चार उत्तर कलाएं कही गयी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक पुराणों व काव्य ग्रन्थों में भी कलाओं के नाम मिलते हैं; जो संख्या व नामों में भी भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं; जैसे कादम्बरी में ४८ कलाएं गिनाई गई हैं, जिनमें प्रमाण, धर्मशास्त्र, पुस्तक-व्यापार, आयुर्वेद, सुहृगोपभेद आदि विशेष है।

वास्तु कला

जैन निर्मितियों के आदर्श—

उपर्युक्त कलासूची में वास्तुकला का भी नाम तथा स्कन्धावार, नगर और बास्तु इनके मान व निवेश का पृथक् पृथक् निर्देश भी पाया जाता है। वास्तु-निवेश व मानोन्मान संबंधी अपनी परम्पराओं में जैनकला जैनधर्म की त्रैलोक्य संबंधी मान्यताओं से प्रभावित हुई पाई जाती है। अतएव यहां उसका सामान्यरूप से स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। जैन साहित्य के करणानुयोग प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि अनन्त आकाश के मध्य में स्थित लोकाकाश ऊर्चाई में चौदह राज् प्रमाण है, और उसका सात राज् प्रमाण ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहा जाता है, जिसमें १६ स्वर्ग आदि स्थित हैं। सात राज् प्रमाण नीचेका भाग अधोलोक कहलाता है, और उसमें सात नरक स्थित हैं। इनके मध्य में भल्लरी के आकार का मध्यलोक है, जिसमें गोलाकार व बलयाकार जंबू द्वीप, लवणसमुद्र आदि उत्तरोत्तर दुगुने प्रमाण वाले असंख्य द्वीप-समुद्र स्थित हैं। इनका विस्तार से वर्णन हमें यतिवृषभ कृत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में मिलता है। इनमें वास्तु-मान व विन्यास संबंधी जो प्रकरण उपयोगी है उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

तिलोय पण्णत्ति के तृतीय अधिकार की गाथा २२ से ६२ तक अमुरकुमार अदि भवनवासी वेदों के भवनों, वेदिकाओं, कूटो, जिन मन्दिरों व प्रासादों का वर्णन है। भवनों का आकार समचतुष्कोण होता है। प्रत्येक भवन की चारों दिशाओं में चार वेदियां होती हैं, जिनके बाह्य भाग में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, इन वृक्षों के उपवन रहते हैं। इन उपवनों में चैत्यवृक्ष स्थित हैं, जिनकी चारों दिशाओं में तोरण, आठ महामंगल द्रव्य और मानस्तम्भ सहित जिन-प्रतिमाएं विराजमान हैं। वेदियों के मध्य में वेत्रासन के आकार वाले महाकूट होते हैं, और प्रत्येक कूट के ऊपर भी एक-एक जिनमन्दिर स्थित होता है। प्रत्येक जिनालय क्रमशः तीन कोटों से घिरा हुआ होता है, और प्रत्येक कोट में चार-चार गोपुर होते हैं। इन कोटों के बीच

की बीचियों में एक-एक मानस्तम्भ, व नौ-नौ स्तूप, तथा वन एवं ध्वजाएं और चैत्य स्थित हैं। जिनालयों के चारों ओर के उपवनों में तीन-तीन मेखलाओं से युक्त वापिकाएं हैं। ध्वजाएं दो प्रकार की हैं, महाध्वजा और क्षुद्रध्वजा। महाध्वजाओं में सिंह गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म व चक्र के चिन्ह अंकित हैं। जिनालयों में वन्दन, अभिषेक, नृत्य, संगीत और आलोक, इनके लिये अलग-अलग मंडप हैं, व क्रीडागृह, गुणनगृह (स्वाध्यायशाला) तथा पट्टशालाएं (चित्रशाला) भी हैं। मन्दिरों में जिनेन्द्र की मूर्तियों के अतिरिक्त देवच्छंद के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी, तथा यक्षों की मूर्तियां एवं अष्टमंगल द्रव्य भी स्थापित होते हैं। ये आठ मंगल द्रव्य हैं—झारी, कलश, दर्पण, ध्वज, चमर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ। जिनप्रतिमाओं के आसपास नागों व यक्षों के युगल अपने हाथों में चमर लिये हुए स्थित रहते हैं। असुरों के भवन सात, आठ, नौ, दस आदि भूमियों (मंजिलों) से युक्त होते हैं, जिनमें जन्म, अभिषेक, शयन, परिचर्या और मन्त्रणा, इनके लिये अलग-अलग शालाएं होती हैं। उनमें सामान्य गृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह व लतागृह आदि विशेष गृह होते हैं; तथा तोरण, प्राकार, पुष्करणी, वापी और कूप, मत्त-वारण (प्रोटे) और गवाक्ष ध्वजा-पताकाओं व नाना प्रकार की पुतलियों से सुसज्जित होते हैं।

मेरु की रचना—

जिनेन्द्र मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समय उनका पंच-कल्याण महोत्सव मनाया जाता है, जिनका संबन्ध तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, और निर्वाण, इन पांच महत्त्वपूर्ण घटनाओं से है। जन्म महोत्सव के लिये मन्दर मेरु की रचना की जाती है, क्योंकि तीर्थंकर का जन्म होने पर उसी महान् पर्वत पर स्थित पांडुक शिलापर इन्द्र उनका अभिषेक करते हैं। मन्दर मेरु का वर्णन त्रिलोक-प्रज्ञप्ति (४, १७८०) आदि में पाया जाता है। मन्दर मेरु जंबूद्वीप के व महाविदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित है। यह महापर्वत गोलाकार है उसकी कुल ऊंचाई एक लाख योजन, व मूल आयाम १००६० योजन से कुछ अधिक है। इसका १००० योजन निचला भाग नीव के रूप में पृथ्वीतल के भीतर व शेष पृथ्वीतल से ऊपर आकाशतल की ओर है। उसका विस्तार ऊपर की ओर उत्तरोत्तर कम होता गया है, जिससे वह पृथ्वीतल पर १०००० योजन तथा शिखरभूमि पर १००० योजन मात्र विस्तार युक्त है। पृथ्वी से ५०० योजन ऊपर ५०० योजन का संकोच हो गया है, तत्पश्चात् वह ११०००

योजन तक समान विस्तार से ऊपर उठकर व वहां से क्रमशः सिकुड़ता हुआ ५१५०० योजन पर सब ओर से पुनः ५०० योजन संकीर्ण हो गया है । तत्पश्चात् ११००० योजन तक समान विस्तार रखकर पुनः क्रम-हानि से २५००० योजन ऊपर जाकर वह ४६४ योजन प्रमाण सिकुड़ गया है । $(१००० + ५०० + ११००० + ५१५०० + ११००० + २५००० = १०००००)$ योजन । १००० योजन विस्तार वाले शिखर के मध्य भाग में बारह योजन विस्तार वाली चालीस योजन ऊंची चूलिका है, जो क्रमशः सिकुड़ती हुई ऊपर चार योजन प्रमाण रह गई है । मेरु के शिखर पर व चूलिका के तलभाग में उसे चारों ओर से घेरने वाला पांडु नामक वन है, जिसके भीतर चारों ओर मार्गों, अट्टालिकाओं, गोपुरों व ध्वजापताकाओं से रमणीक तटवेदी है । उस वेदी के मध्यभाग में पर्वत की चूलिका को चारों ओर से घेरे हुए पांडु वन-खंड की उत्तरदिशा में अर्द्धचन्द्रमा के आकार की पांडुक शिला है, जो पूर्व-पश्चिम १०० योजन लम्बी व उत्तर-दक्षिण ५० योजन चौड़ी एवं ८ योजन ऊंची है । इस पांडुशिला के मध्य में एक सिंहासन है, जिसके दोनों ओर दो भद्रासन विद्यमान हैं । अभिषेक के समय जिनेन्द्र भगवान् को मध्य सिंहासन पर विराजमान कर सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठपर तथा ईशानेन्द्र उत्तर पीठ पर स्थित हो अभिषेक करते हैं ।

नंदीश्वर द्वीप की रचना—

मध्यलोक का जो मध्यवर्ती एक लाख योजन विस्तार वाला जंबूद्वीप है, उसको क्रमशः वेष्टित किये हुए उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तार वाले लवणसमुद्र व धातकी-खंडद्वीप, कालोदसमुद्र व पुष्करवरद्वीप, पुष्करवर समुद्र व वाहणीवर द्वीप, एवं वाहणी-वर समुद्र, तथा उसी प्रकार एक ही नामवाले क्षीरवर, घृतवर व क्षौद्रवर नामक द्वीप-समुद्र हैं । तत्पश्चात् जम्बूद्वीप से आठवां द्वीप नंदीश्वर नामक है, जिसका जैन-धर्म में व जैन वास्तु एवं मूर्तिकला की परम्परा में विशेष माहात्म्य पाया जाता है । इस वलयाकार द्वीप की पूर्वादि चारों दिशाओं में वलयसीमाओं के मध्यभाग में स्थित चार अंजनगिरि नामक पर्वत हैं । प्रत्येक अंजनगिरि की चारों दिशाओं में एक-एक चौकोण ब्रह्म (वापिका) है, जिनके नाम क्रमशः नंदा, नंदवती, नंदोत्तरा व नंदीघोषा हैं । इनके चारों ओर अशोक, सप्तच्छद, चम्पक व आम्र, इन वृक्षों के चार-चार वन हैं । चारों वापियों के मध्य में एक-एक पर्वत है जो दधि के समान श्वेतवर्ण होने के कारण दधिमुख कहलाता है । वह गोलाकार है, व उसके ऊपरी भाग में तटवेदियाँ और वन हैं । नंदादि चारों वापियों के दोनों बाहरी कोनों पर एक-एक सुवर्णमय

गोलाकार रतिकर नामक पर्वत है। इस प्रकार एक-एक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख व आठ रतिकर, इस प्रकार कुल मिलाकर तेरह पर्वत हुए। इसी प्रकार के १३-१३ पर्वत चारों दिशाओं में होने से कुल पर्वतों की संख्या ५२ हो जाती है। इनपर एक-एक जिनमंदिर स्थापित है, और ये ही नंदीश्वर द्वीप के ५२ मंदिर या चैत्यालय प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार पूर्व दिशा की चार वापियों के पूर्वोक्त नंदादिक चार नाम हैं, उसी प्रकार दक्षिण दिशा की चार वापिकाओं के नाम भरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका; पश्चिम दिशा के विजया, वैजयन्ती, जयन्ती व अपराजिता; तथा उत्तर दिशा के रम्या, रमणीया, सुप्रभा व सर्वतोभद्रा ये नाम हैं। प्रत्येक वापिका के चारों ओर जो अशोकादि वृक्षों के चार-चार वन हैं, उनकी चारों दिशाओं की संख्या ६४ होती है। इन वनों में प्रत्येक के बीच एक-एक प्रासाद स्थित है, जो आकार में चौकोर तथा ऊंचाई में लंबाई से दुगुना कहा गया है। इन प्रासादों में व्यन्तर देव अपने परिवार सहित रहते हैं। (त्रि० प्र० ५, ५२-८२)। वर्तमान जैन मंदिरों में कहीं-कहीं नंदीश्वर पर्वत के ५२ जिनालयों की रचना भूतिमातृ अथवा चित्रित की हुई पाई जाती है। हाल ही में सम्मेशिखर (पारसनाथ) की पहाड़ी के समीप पूर्वोक्त प्रकार से ५२ जिन मंदिरों युक्त नन्दीश्वर की रचना की गई है।

समवसरण रचना—

तीर्थंकर को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुवेर उनके सम-वसरण अर्थात् सभाभवन की रचना करता है, जहां तीर्थंकर का धर्मोपदेश होता है। समवसरण की रचना का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है, और उसी के आधार से जैन वास्तुकला के नाना रूप प्रभावित हुए पाये जाते हैं। त्रि० प्र० (४, ७११-९४२) में समवसरण संबंधी सामान्य भूमि, सोपान, नीधि, धूलिशाल, चैत्य प्रासाद, नृत्यशाला, मानस्तंभ, स्तूप, मंडप, गंधकुटी आदि के विन्यास, प्रमाण, आकार आदि का बहुत कुछ वर्णन पाया जाता है। वही वर्णन जिनसेन कृत आदिपुराण (पर्व २३) में भी आया है। समवसरण की रचना लगभग बारह योजन आयाम में सूर्यमण्डल के सदृश गोलाकार होती है। उसका षीठ इतना ऊंचा होता है कि वहां तक पहुंचने के लिये समवसरण भूमि की चारों दिशाओं में एक-एक हाथ ऊंची २००० सीढ़ियां होती हैं। वहां से आगे नीधियां होती हैं, जिनके दोनों ओर वेविकाएं बनी रहती हैं। तत्पश्चात् बाहिरी धूलिशाल नामक कोट बना रहता है, जिसकी पूर्वादिक चारों दिशाओं में विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक गोपुरद्वार होते हैं। ये गोपुर तीन भूमियों वाले व अट्टा-

लिकाओं से रमणीक होते हैं, और उनके बाह्य, मध्य व आन्त्यन्तर पार्श्व भागों में मंगल द्रव्य, निधि, व धूपघटों से युक्त बड़ी-बड़ी पुतलियां बनी रहती हैं। अष्ट मंगलद्रव्य भवनों के प्रकरण में (पृ० २६२) गिनाये जा चुके हैं। नव निधियों के नाम हैं—काल, महा-काल, पांडु, मारुवक, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल, और नाना रत्न, जो क्रमशः ऋतुओं के अनुकूल मात्स्यादिक नाना द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, महल, आभरण और रत्न प्रदान करने की शक्ति रखती हैं। गोपुरों के बाह्य भाग में मकर-तोरण तथा आन्त्यन्तर भाग में रत्न-तोरणों की रचना होती है, और मध्य के दोनों पार्श्वों में एक-एक नाट्यशाला। इन गोपुरों का द्वारपाल ज्योतिष्क देव होता है, जो अपने हाथ में रत्नदंड धारण किये रहता है। कोट के भीतर जाने पर एक-एक जिनभवन के अन्तराल से पांच-पांच चैत्य-प्रासाद मिलते हैं, जो उपवन और वापिकाओं से शोभायमान हैं, तथा वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो नाट्यशालाएं शरीराकृति से १२ गुनी ऊंची होती हैं। एक-एक नाट्यशाला में ३२ रंगभूमियां ऐसी होती हैं जिनमें प्रत्येक पर ३२ भवनवासी कन्याएं अभिनय व नृत्य कर सकें।

मानस्तंभ—

वीथियों के बीचोबीच एक-एक मानस्तंभ स्थापित होता है। यह आकार में गोल, और चार गोपुरद्वारों तथा ध्वजापताकाओं से युक्त एक कोट से घिरा होता है। इसके चारों ओर सुन्दर वनखंड होते हैं, जिनमें पूर्वादिक दिशाक्रम से सोम, यम, वरुण और कुवेर, इन लोकपालों के रमणीक क्रीडानगर होते हैं। मानस्तंभ क्रमशः छोटे होते हुए तीन गोलाकार पीठों पर स्थापित होता है। मानस्तंभ की ऊंचाई तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी बतलाई गई है। मानस्तंभ तीन खंडों में विभाजित होता है। इसका मूल भाग वज्रद्वारों से युक्त, मध्यम भाग स्फटिक मणिमय वृत्ताकार, तथा उपरि भाग वैडूर्य मणिमय होता है; और उसके चारों ओर चंवर, घंटा, किंकिणी, रत्नहार व ध्वजाओं की शोभा होती है। मानस्तंभ के शिखर पर चारों दिशाओं में आठ-आठ प्रातिहार्यों से युक्त एक-एक जिनेन्द्र-प्रतिमा विराजमान होती है। प्रातिहार्यों के नाम हैं—अशोकवृक्ष, दिव्य पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, आसन, आमंडल, दुन्दुभि और आतपत्र। प्रत्येक मानस्तंभ की पूर्वादिक चारों दिशाओं में एक-एक वापिका होती है। पूर्वादिक दिशावर्ती मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं—नंदोत्तरा, नंदा, नंदीमती और नंदीघोषा। दक्षिण मानस्तंभ की वापिकाएं हैं—विजया, वैजयन्ता, जयन्ता और अपराजिता। पश्चिम मानस्तंभ संबंधी वापिकाएं हैं—अशोका, सुप्रतियुद्धा, कुमुदा, और

पुंडरीका; तथा उत्तर मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं—हृदयानंदा, महानंदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभंकरा । ये वापिकाएं चौकोर वेदिकाओं व तोरणों से युक्त तथा जल-क्रीड़ा के योग्य दिव्य द्रव्यों व सोपानों से युक्त होती हैं । मानस्तंभ का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि उसके दर्शनमात्र से दर्शकों का मद दूर हो जाता है, और उनके मनमें धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है ।

चैत्यवृक्ष व स्तूप—

समवशरणा की आगे की वन भूमियों में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, ये चार चैत्यवृक्ष होते हैं, जिनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर के मान से १२ गुनी होती है, और प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आश्रित चारों दिशाओं में आठ प्रातिहायों से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाएं होती हैं । वनभूमि में देवभवन व भवन भूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य नौ-नौ स्तूप होते हैं । ये स्तूप तीर्थंकरों और सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्त तथा छत्र के ऊपर छत्र एवं आठ मंगल द्रव्यों व ध्वजाओं से शोभित होते हैं । इन स्तूपों की ऊंचाई भी चैत्यवृक्षों के समान तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी होती है ।

श्रीमंडप—

समवशरणा के ठीक मध्य में गंधकुटी और उसके आसपास गोलाकार बारह श्रीमंडप अर्थात् कोठे होते हैं । ये श्रीमंडप प्रत्येक दिशा में वीथीपथ को छोड़कर ४-४ भित्तियों के अन्तराल से तीन तीन होते हैं, और उनकी ऊंचाई भी तीर्थंकर के शरीर से १२ गुनी होती है । घर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमशः पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से (१) गणधरों, (२) कल्पवासिनी देवियों, (३) आर्यिका व आर्यिकाओं, (४) ज्योतिषी देवियों, (५) व्यंतर देवियों, (६) भवनवासिनी देवियों, (७) भवनवासी देवों, (८) व्यंतर देवों, (९) ज्योतिषी देवों, (१०) कल्पवासी देवों व इन्द्रों, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यों व (१२) हाथी, सिंहादि समस्त तिवंच जीवों के बैठने के लिये नियत होते हैं ।

गंधकुटी—

श्रीमंडप के बीचोंबीच तीन पीठिकाओं के ऊपर गंधकुटी की रचना होती है, जिसका आकार चौकोर होता है । अंतिम तीर्थंकर महावीर की गंधकुटी की ऊंचाई ७५

घनुष अर्थात् लगभग ५०० फुट बतलाई गई है। गंधकुटी के मध्य में उत्तम सिंहासन होता है, जिसपर विराजमान होकर तीर्थंकर धर्मोपदेश देते हैं।

नगर विन्यास—

जैनागमों में देश के अनेक महान् नगरों, जैसे चंपा, राजगृह, श्रावस्ती, कौशांबी, मिथिला आदि का बार-बार उल्लेख आया है; किन्तु उनका वर्णन एकसा ही पाया जाता है। यहाँ तक कि पूरा वर्णन तो केवल एकाग्र सूत्र में ही दिया गया है, और अन्यत्र 'वर्णणो' (वर्णन) कहकर उसका संकेत मात्र कर दिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल के उन नगरों की रचना प्रायः एक ही प्रकार की होती थी। उस नगर की रचना व स्वरूप को पूर्णतः समझने के लिये यहाँ उक्तवाक्य सूत्र (१) से चंपा नगरी का पूरा वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

“चंपानगरी घन-संपत्ति से समृद्ध थी, और नगरवासी खूब प्रमुदित रहते थे। वह जनता से भरी रहती थी। उसके आसपास के क्षेत्रों में हजारों हल चलते थे, और मुर्गों के झुंड के झुंड चरते थे। वह गन्ने, जौ व धान से भरपूर थी। वहाँ गाय, भैंस व भेड़-बकरियाँ प्रचुरता से विद्यमान थी। वहाँ सुन्दर आकार के बहुत से चैत्य बने हुए थे, और सुन्दरी शीलवती युवतियाँ भी बहुत थी। वह घूसखोर, बटमार, गंठमार, दुःसाहसी, तस्कर, दुराचारी व राक्षसों से रहित होने से क्षेम व निरुपद्रव थी। वहाँ भिक्षा सुख से मिलती थी, और लोग निश्चिन्त होकर सुख से निवास करते थे। करोड़ों कुटुंब वहाँ सुख से रहते थे। वहाँ नटों, नर्तकों, रस्से पर खेल करने वाले नट, मल्ल, मुष्टियुद्ध करने वाले (बोक्सर्स), नकलची (विदूषक), कथक, कूदने वाले, लास्यनृत्य करने वाले, आख्यायक, मंख (चित्रदर्शक), लंख (बड़े बांस के ऊपर नाचने वाले), तानपूरा, तुबी व वीण बजाने वाले तथा नाना प्रकार के वादित्र बजाने वाले आते-जाते रहते थे। वहाँ आराम, उद्यान, कूप, तालाब, दीर्घिका व वापियाँ भी खूब थीं, जिनसे वह नंदनवन के समान रमणीक थी। वह विपुल और गंभीर खाई से घिरी हुई थी। चक्र, गदा, मुसुठि (भूठ), अवरोध, शतघ्नी तथा दृढ़सघन कपाटों के कारण उसमें प्रवेश करना कठिन था। वह घनुष के समान गोलाकार प्राकार से घिरी हुई थी, जिसपर कपिशीर्षक (कंगूरे) और गोल गुम्मत बने हुए थे। वहाँ ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ, चरियापथ, द्वार, गोपुर, तोरण तथा सुन्दर रीतिसे विभाजित राजमार्ग थे। प्राकार तथा गृहों के परिष व इन्द्रखील (लंगर व बटकनी) कुशल कारीगरों द्वारा निर्माण किये गये थे। वहाँ कुकानों में व्यापारियों द्वारा नाना प्रकार के शिल्प तथा

मुखोपभोग की वस्तुएं रखी गई थीं। वह सिंघाटक (त्रिकोण), चौकीन व चौकों में विविध वस्तुएं लगीं देने शोभ्य ठुकानों से शोभायमान थी। उसके राजमार्ग राजाओं के गमनागमन से सुरम्य थे, और वह अनेक सुन्दर-सुन्दर उत्तम घोड़ों, मत्त-हाथियों, रथों व डोला-पालकी आदि वाहनों से व्याप्त थी। वहां के जलाशय नव प्रफुल्ल कमलों से शोभायमान थे। वह नगरी उज्ज्वल, इवेत महाभवनों से जगमगा रही थी, और आखें फाड़-फाड़कर देखने योग्य थी। उसे देखकर मन प्रसन्न हो जाता था। वह ऐसी दर्शनीय, सुन्दर और मनोज्ञ थी।”

प्राचीन नगर का यह वर्णन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) उसकी समृद्धि व धन-वैभव संबंधी, (२) वहां नाना प्रकार की कलाओं, विद्याओं, व मनोरंजन के साधनों संबंधी; और (३) नगर की रचना संबंधी। नगर-रचना में कुछ बातें सुस्पष्ट और ध्यान देने योग्य हैं। नगर की रक्षा के निमित्त उसको चारों ओर से घेरे हुए परिखा या खाई होती थी। तत्पश्चात् एक प्राकार या कोट होता था, जिसकी चारो दिशाओं में चार-चार द्वार होते थे। प्राकार का आकार धनुष के समान गोल कहा गया है। इन द्वारों में गोपुर और तोरणों का शोभा की दृष्टि से विशेष स्थान था। कोट कंगूरेदार कपिशोषकों से युक्त बनते थे, और उनपर शतज्नी आदिक नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की स्थापना की जाती थी। नगर में राजमार्गों व चरिया-पथ (मेन रोड्स एवं फुटपाथ्स) बड़ी व्यवस्था से बनाये जाते थे, जिसमें तिराहों व चौराहों का विशेष स्थान था। स्थान-स्थान पर सम्भवतः प्रत्येक मोहल्ले में विशाल चौकों (खुले मैदान-पार्कस्), उद्यानों, सरोवरों व कूपों का निर्माण भी किया जाता था। घर कतारों से बनाये जाते थे, और देवालयों, बाजारों व ठुकानों की सुव्यवस्था थी।

जैन सूत्रों से प्राप्त नगर का यह वर्णन पुराणों, बौद्ध ग्रन्थों, तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि के वर्णनों से मिलता है, तथा पुरातत्व संबंधी खुदाई से जो कुछ नगरों के भग्नावशेष मिले हैं उनसे भी प्रमाणित होता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन पांचाल देश की राजधानी अहिच्छत्र की खुदाई से उसकी परिखा व प्राकार के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह वही स्थान है जहां जैन परम्परानुसार तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तप में उपसर्ग होने पर अरहोन्मनाग ने उनकी रक्षा की थी, और इसी कारण इसका नाम भी अहिच्छत्र पड़ा। प्राकार पकाई हुई ईंटों का बना व ४०-५० फुट तक ऊंचा पाया गया है। कोट के द्वारों से राजपथ सीधे नगर के केन्द्र की ओर जाते हुए पाये गये हैं, और केन्द्र में एक विशाल देवालय के चिन्ह मिले हैं। भारद्वाज, सांची, अमरावती, मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त पाषाणोत्कीर्ण चित्रकारी में जो राजगृह, आबस्ती, वारा-

खसी, फपिलवस्तु, कुशीनगर आदि की प्रतिकृतियां (मोडेल्स) पाई जाती हैं, उनसे भी परिखा, प्राकार तथा द्वारों, गोपुरों व अट्टालिकाओं की व्यवस्था समझ में आती है। देश के प्राचीन नगरों की बनावट व शोभा का परिचय हमें मैगस्थनीज, फाहियान आदि यूनानी व चीनी यात्रियों द्वारा किये गये सुप्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के वर्णन से भी प्राप्त होता है, और उसका समर्थन पटना के समीप बुलंदीबाग और कुमराहर नामक स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुए प्राकार व राजप्रासाद आदि के भग्नावशेषों से होता है। मैगस्थनीज के वर्णनानुसार पाटलिपुत्र नगर का प्राकार काष्ठमय था। इसकी भी प्राप्त भग्नावशेषों से पुष्टि हुई है; तथा उपलब्ध पाषाण स्तंभों के भग्नावशेषों से शालाओं व प्रासादों की निर्माण-कला की बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है, जिससे जैन ग्रन्थों से प्राप्त नगरादि के वर्णन का भले प्रकार समर्थन होता है।

चैत्य रचना—

जैन सूत्रों में नगर के वर्णन में तथा स्वतंत्र रूप से भी चैत्यों का उल्लेख बार बार आता है। यहां औपपातिक सूत्र (२) से चंपानगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य का वर्णन दिया जाता है। “वह चैत्य बहुत प्राचीन, पूर्ण पुरुषों द्वारा पहले कभी निर्माण किया गया था, और सुविदित व सुविख्यात था। वह छत्र, घंटा, ध्वजा व पताकाओं से मंडित था। वहां चमर (लोमहस्त-पीछी) लटक रहे थे। वहां गोशीर्ष व सरस रक्तचंदन से हाथ के पंजों के निशान बने हुए थे और चंदन-कलश स्थापित थे। वहां बड़ी-बड़ी गोलाकार मालाएं लटक रही थी। पचरंगे, सरस, सुगंधी फूलों की सजावट हो रही थी। वह कालागुरु, कुंदुलक एवं तुलुक व धूप की सुगंध से महक रहा था। वहां नटों, नर्तकों, नाना प्रकार के खिलाड़ियों, संगीतकों, भोजकों व मागधों की भीड़ लगी हुई थी। वहां बहुत लोग आते जाते रहते थे; लोग घोषणा कर-करके दान देते थे व अर्चा, वंदना, नमस्कार, पूजा, सत्कार, सम्मान करते थे। वह कल्याण, मंगल व देवतारूप चैत्य विनयपूर्वक पर्युपासना करने के योग्य था। वह दिव्य था, सब मनोकामनाओं की पूर्ति का सत्योपाय-भूत था। वहां प्रातिहार्यों का सद्भाव था। वह चैत्य याग के सहस्रभाग का प्रतीक था। बहुत लोग आ-आकर उस पूर्णभद्र चैत्य की पूजा करते थे।”

जैन चैत्य व स्तूप—

समोसरण के वर्णन में चैत्य वृक्षों व स्तूपों का उल्लेख किया जा चुका है।

भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (३, २, १४३) में भगवान् महावीर के अपनी छद्मस्थ अवस्था में सुसुमारपुर के उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान करने का वर्णन है। त्रि०प्र० (४, ६१५) में यह भी कहा गया है कि जिस वृक्ष के नीचे, जिस केवली को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ, वही उस तीर्थंकर का अशोक वृक्ष कहलाया। इस प्रकार अशोक एक वृक्ष-विशेष का नाम भी है, व केवलज्ञान संबंधी समस्त वृक्षों की संज्ञा भी। अनुमानतः इसी कारण वृक्षों के नीचे प्रतिमाएं स्थापित करने की परम्परा प्रारम्भ हुई। स्वभावतः वृक्षमूल में मूर्तियां स्थापित करने के लिये वृक्ष के चारों ओर एक वेदिका या पीठिका बनाना भी आवश्यक हो गया। यह वेदी इष्टकादि के चयन से बनाई जाने के कारण वे वृक्ष चैत्यवृक्ष कहे जाने लगे होंगे। इष्टकों (ईंटों) से बनी वेदिका को चिति या चयन कहने की प्रथा बहुत प्राचीन है। बौद्ध साहित्य में यज्ञ की वेदी को भी यह नाम दिया गया पाया जाता है। इसी प्रकार चयन द्वारा निर्मापित स्तूप भी चैत्य-स्तूप कहलाये।

आवश्यक निर्युक्ति (गा० ४३५) में तीर्थंकर के निर्वाण होने पर स्तूप, चैत्य व जिनगृह निर्माण किये जाने का उल्लेख है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्रसूरि ने भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति में उनके पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण-स्थान कैलाश पर्वत पर एक चैत्य तथा सिंह-निषद्या-आयतन निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया है। अर्द्धमागधी जूबदीवप्पणत्ति (२, ३३) में तो निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर के शरीर-संस्कार तथा चैत्य-स्तूप-निर्माण का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है—

“तीर्थंकर का निर्वाण होने पर देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि गोशीर्ष व चंदन काष्ठ एकत्र कर चितिका बनाओ, क्षीरोदधि से क्षीरोदक लाओ, तीर्थंकर के शरीर को स्नान कराओ, और उसका गोशीर्षचंदन से लेप करो। तत्पश्चात् शक्र ने हंसचिन्ह-युक्त वस्त्र-शाटिका तथा सर्व अलंकारों से शरीर को भूषित किया, व शिविका द्वारा लाकर चिता पर स्थापित किया। अग्निकुमार देव ने चिता को प्रज्वलित किया, और पश्चात् मेघ कुमार देव ने क्षीरोदक से अग्नि को उपशांत किया। शक्र देवेन्द्र ने भगवान् की ऊपर की दाहिनी व ईशान देव ने बांयी सक्थि (अस्थि) ग्रहण की, तथा नीचे की दाहिनी चमर असुरेन्द्र ने, व बांयी बलि ने ग्रहण की। शेष देवों ने यथायोग्य अवशिष्ट अंग-प्रत्यंगों को ग्रहण किया। फिर शक्र देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि एक अतिमहान् चैत्य स्तूप भगवान् तीर्थंकर की चिता पर निर्माण किया जाय; एक गणधर की चिता पर और एक शेष अनगरों की चिता पर। देवों ने तदनुसार ही परिनिर्वाण-महिमा की। फिर

वे सब अपने-अपने विभागों व अणुओं को लौट आये, और अपने-अपने वैश्य-स्तंभों के समीप आकर उन जिन-अस्थियों को वज्रभय, गोल वृत्ताकार समुद्गकों (पेटिकाओं) में स्थापित कर उत्तम आलाओं व गंधों से उनकी पूजा-अर्चा की ।”

इस विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परानुसार महापुरुषों की चिताओं पर स्तूप निर्माण कराये जाते थे । इस परम्परा की पुष्टि पालि ग्रन्थों के बुद्ध निर्वाण और उनके शरीर-संस्कार संबंधी वृत्तांत से होती है ।

महापरिनिब्बानसुत्त में कथन है कि जब बुद्ध भगवान् के शिष्यों ने उनसे पूछा कि निर्वाण के पश्चात् उनके शरीर का कैसा सत्कार किया जाय, तब इसके उत्तर में बुद्ध ने कहा—हे आनंद, जिस प्रकार वक्रवर्ती राजा के शरीर को वस्त्र से खूब वेष्टित करके तैल की द्रोणी में रखकर चितक बनाकर शरीर को आँप देते हैं, और चतुर्म्हा पथ पर स्तूप बनाते हैं, इसी प्रकार मेरे शरीर की भी सत्पूजा की जाय । इससे स्पष्ट है कि उस प्राचीन काल में राजाओं व धार्मिक महापुरुषों की चिता पर अथवा अन्यत्र उनकी स्मृति में स्तूप बनवाने की प्रथा थी । स्तूप का गोल आकार भी इसी बात की पुष्टि करता है, क्योंकि यह आकार श्मशान के आकार से मिलता है । इस संबंध में शतपथ ब्राह्मण का एक उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है कि आर्यों के दैव श्मशान चौकोर, तथा अनार्यों के आसुर्य श्मशान गोलाकार होते हैं । धार्मिक महापुरुषों के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु बन गई, और शताब्दियों तक स्तूप बनवाने और उनकी पूजा-अर्चा किये जाने की परम्परा चालू रही । धीरे धीरे इनका आकार-परिमाण भी खूब बढ़ा । उनके आसपास प्रदक्षिणा के लिये एक व अनेक वादिकाएँ भी बनने लगी । उनके आसपास कला-पूर्ण कटहरा भी बनने लगा । ऐसे स्तूपों के उत्कृष्ट उदाहरण अभी भी सांची, भरहुत, सारनाथ आदि स्थानों में देखे जा सकते हैं । दुर्भाग्यतः उपलब्ध स्तूपों में जैन स्तूपों का अभाव पाया जाता है । किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि प्राचीनकाल में जैनस्तूपों का भी खूब निर्माण हुआ था । जिनदास कृत आवागमचरित्र में उल्लेख है कि अतिप्राचीन काल में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की स्मृति में एक स्तूप बैशाली में बनवाया गया था । किन्तु अभी तक इस स्तूप के कोई चिन्ह व भग्नावशेष प्राप्त नहीं किये जा सके । तथापि मथुरा के समीप एक अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप के प्रचुर भग्नावशेष मिले हैं । हरिषेण कृत मुहूर्तकाकोष (१२, १३२) के अनुसार यहां अति प्राचीनकाल में विद्याधरों द्वारा पांच स्तूप बनवाये गये थे । इन पांच स्तूपों की विख्याति और स्मृति एक मुनियों की संघावली से ब्रह्मद्वारा आई जाती है । महाप्रपुर (बंगाल) से जो पांचवीं शताब्दी का

गुहर्नंदि आचार्य का ताम्रपत्र मिला है, उसमें इस पंचस्तूपान्वय का उल्लेख है। धवला टीका के कर्ता वीरसेनाचार्य व उनके शिष्य महापुराण के कर्ता जिनसेन ने अपने को पंचस्तूपान्वयी कहा है। इसी अन्वय का पीछे सेन-अन्वय नाम प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है। जिनप्रभसूरि कृत विविध-तीर्थ-कल्प में उल्लेख है कि मथुरा में एक स्तूप सुपाश्व-नाथ तीर्थकर की स्मृति में एक देवी द्वारा अतिप्राचीन काल में बनवाया गया था, व पार्श्वनाथ तीर्थकर के समय में उसका जीर्णोद्धार कराया गया था, तथा उसके एक हजार वर्ष पश्चात् पुनः उसका उद्धार बप्पभट्टि सूरि द्वारा कराया गया था। राजमल्ल कृत जंबूस्वामिचरित के अनुसार उनके समय में (मुगल सम्राट् अकबर के काल में) मथुरा में ५१५ स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था में विद्यमान थे, जिनका उद्धार तोडर नाम के एक घनी साहू ने अग्रणीत द्रव्य व्यय करके कराया था। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए भग्नावशेषों में एक जिन-सिंहासन पर के (दूसरी शती के) लेख में यहां के देवनिर्मित स्तूप का उल्लेख है। इसका समर्थन पूर्वोक्त हरिवंश व जिनप्रभ सूरि के उल्लेखों से भी होता है। हरिभद्रसूरि कृत आवश्यक-निर्युक्ति-वृत्ति तथा सोमदेव कृत यशस्तिलक-चम्पू में भी मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का वर्णन आया है। इन सब उल्लेखों से इस स्तूप की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है।

मथुरा का स्तूप—

मथुरा के स्तूप का जो भग्नांश प्राप्त हुआ है, उससे उसके मूल-विन्यास का स्वरूप प्रगट हो जाता है। स्तूप का तलभाग गोलाकार था, जिसका व्यास ४७ फुट पाया जाता है। उसमें केन्द्र से परिधि की ओर बढ़ते हुए व्यासार्ध वाली ८ दीवारें पाई जाती हैं, जिनके बीच के स्थान को मिट्टी से भरकर स्तूप ठोस बनाया गया था। दीवारों ईंटों से चुनी गई थीं। ईंटें भी छोटी-बड़ी पाई जाती हैं। स्तूप के बाह्य भाग पर जिन-प्रतिमाएं बनी थीं। पूरा स्तूप कैसा था, इसका कुछ अनुमान बिखरी हुई अश्वत्थ सामग्री के आधार पर लगाया जा सकता है। अनेक प्रकार की चित्रकारी युक्त जो पाषाण-स्तंभ मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि स्तूप के आसपास घेरा व तोरणा द्वार रहे होंगे। दो ऐसे भी आयाण पट्ट मिले हैं, जिनपर स्तूप की पूर्ण आकृतियां चित्रित हैं, जो संभवतः यहीं के स्तूप व स्तूपों की होंगी। स्तूप पट्टिकाओं के घेरे से बिना हुआ है, व तोरण द्वार पर पहुंचने के लिये साठ-आठ सीढ़ियां बनी हुई हैं। तोरण दो छोड़े खंभों व ऊपर थोड़े-थोड़े अन्तर से एक पर एक तीन छोड़े खंभों से बना है। इनमें सबसे निचले खंभे के दोनों पार्श्वभाग अकराकृति सिंहों से आच्छादित

हैं। स्तूप के दायें-बायें दो सुन्दर स्तंभ हैं, जिनपर क्रमशः घर्मचक्र व बैठे हुए सिंहों की आकृतियाँ बनी हैं। स्तूप की बाजू में तीन आराधकों की आकृतियाँ बनी हैं। ऊपर की ओर उड़ती हुई दो आकृतियाँ संभवतः चारण मुनियों की हैं। वे नग्न हैं, किन्तु उनके बायें हाथ में वस्त्रखंड जैसी वस्तु एवं कर्मंडलु दिखाई देते हैं, तथा दाहिना हाथ भस्मस्तक पर नमस्कार मुद्रा में है। एक ओर आकृति युगल सुपर्ण पक्षियों की है, जिनके पुच्छ व नख स्पष्ट दिखाई देते हैं। दायी ओर का सुपर्ण एक पुष्पगुच्छ व बायी ओर का पुष्पमाला लिये हुए है। स्तूप की गुम्बज के दोनों ओर विलासपूर्ण रीति से झुकी हुई नारी आकृतियाँ सम्भवतः यक्षिणियों की हैं। घेरे के नीचे सीढ़ियों के दोनों ओर एक-एक आला है। दक्षिण बाजू के आले में एक बालक सहित पुरुषाकृति व दूसरी ओर स्त्री-आकृति दिखाई देती है। स्तूप की गुम्मत पर छह पंक्तियों में एक प्राकृत का लेख है, जिसमें ग्रहन्त वर्द्धमान को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि “श्रमण-आविका आर्या-लवणशोभिका नामक गणिका की पुत्री श्रमण-आविका वासु-गणिका ने जिनमंदिर में ग्रहन्त की पूजा के लिये अपनी माता, भगिनी, तथा दुहिता-पुत्र सहित निर्यन्त्रों के ग्रहन्त आयतन में ग्रहन्त का देवकुल (देवालय), आयाग सभा, प्रपा (प्याऊ) तथा शिलापट (प्रस्तुत आयागपट) प्रतिष्ठित कराये।” यह शिलापट २ फुट × १ इंच × १ ३/४ फुट तथा अक्षरों की आकृति व चित्रकारी द्वारा अपने को कुषाणकालीन (प्र० द्वि० शती ई०) सिद्ध करता है।

इस शिलापट से भी प्राचीन एक दूसरा आयागपट भी मिला है, जिसका ऊपरी भाग टूट गया है, तथापि तोरण, घेरा, सोपानपथ एवं स्तूप के दोनों ओर यक्षिणियों की मूर्तियाँ इसमें पूर्वोक्त शिलापट से भी अधिक सुस्पष्ट हैं। इस पर भी लेख है, जिसमें ग्रहन्तों को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि “फगुयश नर्तक की भार्या शिवयशा ने ग्रहन्त-पूजा के लिये यह यागपट बनवाया।” वि० स्मिथ के अनुसार इस लेख के अक्षरों की आकृति ई० पू० १५० के लगभग शुग-कालीन भरहुत स्तूप के तोरण पर अंकित धनभूति के लेख से कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। बुलर ने भी उन्हें कनिष्क के काल से प्राचीन स्वीकार किया है। इस प्रकार लगभग २०० ई० पू० का यह आयागपट सिद्ध कर रहा है कि स्तूपों का प्रचार जैन परम्परा में उससे बहुत प्राचीन है। साथ ही, जो कोई जैन स्तूप सुरक्षित अवस्था में नहीं पाये जाते, उसके अनेक कारण हैं। एक तो यह कि गुफा-चैत्यों और मंदिरों के अधिक प्रचार के साथ-साथ स्तूपों का नया निर्माण बंद हो गया, व प्राचीन स्तूपों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। दूसरे, उपर्युक्त स्तूप के आकार व निर्माणकला के बर्णन से स्पष्ट हो

जाता है कि बौद्ध व जैन स्तूपों की कला प्रायः एक सी ही थी। यथार्थतः यह कला श्रमण संस्कृति की समान धारा थी। इस कारण अनेक जैन स्तूप भ्रान्तिवश बौद्ध स्तूप ही मान लिये गये। इन बातों के स्पष्ट उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं। मथुरा के पास जिस स्थान पर उक्त प्राचीन जैन स्तूप था, वह वर्तमान में कंकाली टीला कहलाता है। इसका कारण यह है कि जैनियों की उपेक्षा से, अथवा किन्हीं बाह्य विध्वंसक आघातों से जब उस स्थान के स्तूप व मंदिर नष्ट हो गये, और उस स्थान ने एक टीले का रूप धारण कर लिया, तब मंदिर का एक स्तंभ उसके ऊपर स्थापित करके वह कंकालीदेवी के नाम से पूजा जाने लगा। यहाँ के स्तूप का जो आकार-प्रकार उपर्युक्त 'वासु' के आयागपट्ट से प्रगट होता है, ठीक उसी प्रकार का स्तूप का नीचभाग तक्षशिला के समीप 'सरकोप' नामक स्थान पर पाया गया है। इस स्तूप के सोपान-पथ के दोनों पाश्वर्कों में उसी प्रकार के दो भाले रहे हैं, जैसे उक्त आयागपट्ट में दिखाई देते हैं। इसी कारण पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान-मार्शल ने उसे जैन स्तूप कहा है, और उसे बौद्ध धर्म से सब प्रकार असंबद्ध बतलाया है। तो भी पीछे के लेखक उसे बौद्ध स्तूप ही कहते हैं, और इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि उस स्थान से जैनधर्म का कभी कोई ऐतिहासिक संबंध नहीं पाया जाता। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि तक्षशिला से जैनधर्म का बड़ा प्राचीन संबंध रहा है। जैन पुराणों के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहाँ अपने पुत्र बाहुबली की राजधानी स्थापित की थी। उन्होंने यहाँ विहार भी किया था, और उनकी स्मृति में यहाँ धर्मचक्र भी स्थापित किया गया था। यही नहीं, किन्तु अति प्राचीन काल से सातवीं शताब्दी तक पश्चिमोत्तर भारत में अफगानिस्तान तक जैनधर्म के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। हुएनचवांग ने अपने यात्रा वर्णन में लिखा है कि उसके समय में "हुसीना (गजनी) व हजारा (या होसला) में बहुत से तीर्थंकर थे, जो क्षुण्णदेव (शिवन या नग्न देव) की पूजा करते थे, अपने मनको वश में रखते थे, व शरीर की पर्वाह नहीं करते थे।" इस वर्णन से उन देवों के जैन तीर्थंकर और उनके अनुयायियों के जैन मुनि व श्रावक होने में कोई संदेह प्रतीत नहीं होता। पालि ग्रन्थों में निगमंठ नातपुत्त (महावीर तीर्थंकर) को एक तीर्थंकर ही कहा गया है। अतएव तक्षशिला के समीप 'सरकोप' स्तूप को जैन-स्तूप स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

मथुरा से प्राप्त अन्य एक आयागपट्ट के मध्य में छत्र-चमर सहित जिनमूर्ति विराजमान है व उसके आसपास त्रिरत्न, कलश, भस्त्र, युगल, हस्ती आदि मंगल द्रव्य व आलंकारिक चित्रण है। आयागपट्ट चित्रित पाषाणपट्ट होते थे और उनकी पूजा की जाती थी।

जैन गुफाएं

प्राचीनतम काल से जैन मुनियों को नगर-ग्रामादि बहुजन-संकीर्ण स्थानों से पृथक् पर्वत व बन की शून्य गुफाओं वा कोटरों आदि में निवास करने का विधान किया गया है, और ऐसा एकान्तवास जैन मुनियों की साधना का आवश्यक अंग बतलाया गया है (त० सू० ७, ६ स० सिद्धि)। और जहां जैन मुनि निवास करेगा, वहां ध्यान व वंदनादि के लिये जैन मूर्तियों की भी स्थापना होगी। आरम्भ में शिलाओं से आधारित प्राकृतिक गुफाओं का उपयोग किया जाता रहा होगा। ऐसी गुफाएं प्रायः सर्वत्र पर्वतों की तलहटी में पाई जाती हैं। ये ही जैन परम्परा में मान्य अकृत्रिम चैत्यालय कहे जा सकते हैं। क्रमशः इन गुफाओं का विशेष संस्कार व विस्तार कृत्रिम साधनों से किया जाने लगा, और जहां उसके योग्य शिलाएं मिलीं उनको काटकर गुफा-बिहार व मंदिर बनाये जाने लगे। ऐसी गुफाओं में सबसे प्राचीन व प्रसिद्ध जैन गुफाएं बराबर व नागार्जुनी पहाड़ियों पर स्थित है। ये पहाड़ियां गया से १५-२० मील दूर पटना-गया रेलवे के बेलत नामक स्टेशन से ८ मील पूर्व की ओर हैं। बराबर पहाड़ी मे चार, व उससे कोई एक मील दूर नागार्जुनी पहाड़ी में तीन गुफाएं हैं। बराबर की गुफाएं अशोक व नागार्जुनी की उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवक मुनियों के हेतु निर्माण कराई गई थीं। आजीवक सम्प्रदाय यद्यपि उस काल (ई० पू० तृतीय शती) में एक पृथक् सम्प्रदाय था, तथापि ऐतिहासिक प्रमाणों से उसकी उत्पत्ति व विलय जैन सम्प्रदाय में ही दृष्टा सिद्ध होता है। जैन आगमों के अनुसार इस सम्प्रदाय का स्थापक मंखलि-गोक्षाल कितने ही कालतक महावीर तीर्थंकर का शिष्य रहा, किन्तु कुछ सैद्धान्तिक मतभेद के कारण उसने अपना एक पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया। परन्तु यह सम्प्रदाय पृथक् रूप से केवल दो-तीन शती तक ही चला, और इस काल में भी आजीवक साधु जैन मुनियों के सदृश नग्न ही रहते थे, तथा उनकी भिक्षादि संबंधी चर्या भी जैन निग्रन्थ सम्प्रदाय से भिन्न नहीं थी। अशोक के पश्चात् इस सम्प्रदाय का जैन-संघ में ही विलीनीकरण हो गया, और तब से इसकी पृथक् सत्ता के कोई उल्लेख नहीं पाये जाते। इस प्रकार आजीवक मुनियों को दान की गई गुफाओं का जैन ऐतिहासिक परम्परा में ही उल्लेख किया जाता है।

बराबर पहाड़ी की दो गुफाएं अशोक ने अपने राज्य के १९वें वर्ष में, और तीसरी १६ वें वर्ष में निर्माण कराई थी। सुषामा और विश्व भोपड़ी नामक गुफाओं

के लेखों में आजीवक को दान किये जाने की स्पष्ट उल्लेख है। सुदोमा गुफा के लेख में उसे न्यग्रोध गुफा कहा गया है। इसमें दो मंडप हैं। बाहिरी ३३' × २०' की व भीतरी १६' × १६' लम्बा चौड़ी है। ऊँचाई लगभग १२' है। विष्व-भौपदी के लेख में इस पहाड़ी का 'खल्लिक पर्वत' के नाम से उल्लेख पाया जाता है। शेष दो गुफाओं के नाम 'करण चौपार' व 'लोमस-श्रृषि' गुफा हैं। किन्तु करणचौपार को लेख में 'सुपिया गुफा' कहा गया है, और लोमस-श्रृषि गुफा को 'प्रवरगिरि गुफा'। ये सभी गुफाएँ कठोर तेलिया पाषाण की काटकर बनाई गई हैं, और उनपर वहीं चमकीला पालिश किया गया है, जो मौर्य काल की विशेषता मानी गई है।

नागार्जुनी पहाड़ी की तीन गुफाओं के नाम हैं—गोपी गुफा, बहिया की गुफा, और वेदधिका गुफा। प्रथम गुफा ४५' × १६' लम्बी-चौड़ी है। पश्चात् कालीन अनन्तवर्मा के एक लेख में इसे 'विन्ध्यभूधर गुहा' कहा गया है, यद्यपि दशरथ के लेख में इसका नाम गोपिक गुहा स्पष्ट अंकित है, और आजीवक भदन्तों को दान किये जाने का भी उल्लेख है। ऐसा ही लेख शेष दो गुफाओं में भी है। ई० पू० तीसरी शती की मौर्यकालीन इन गुफाओं के पश्चात् उल्लेखनीय है उड़ीसा की कटक के समीपवर्ती उदयगिरि व खंडगिरि नामक पर्वतों की गुफाएँ जो उनमें प्राप्त लेखों पर से ई० पू० द्वितीय शती की सिद्ध होती हैं। उदयगिरि की 'हाथीगुफा' नामक गुफा में प्राकृत भाषा का यह सुविस्तृत लेख पाया गया है जिसमें कलिंग सम्राट् खारवेल के बाल्यकाल व राज्य के १२ वर्षों का चरित्र विधिवत् वर्णित है। यह लेख अरहन्ती व सर्वसिद्धों की नमस्कार के साथ प्रारंभ हुआ है, और उसकी १२ वीं पंक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने अपने राज्य के १२ वें वर्ष में मगध पर आक्रमण कर वहाँ के राजा बृहस्पति-मित्र को पराजित किया, और वहाँ से कलिंग-जिन की मूर्ति अपने देश में लौटा लिया जिसे पहले नंदराज अपहरण कर ले गया था। इस उल्लेख से जैन इतिहास व संस्थानों संबंधी अनेक महत्वपूर्ण बातें सिद्ध होती हैं। एक तीर्थ यह कि नंदकाल अर्थात् ई० पू० पाँचवी-चौथी शती में भी जैन मूर्तियाँ निर्माण कराकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी। दूसरे यह कि उस समय कलिंग देश में एक प्रसिद्ध जैन मंदिर व मूर्ति थी, जो उस प्रदेश भर में लोक-पूजित थी। तीसरे यह कि वह नंद-सम्राट् जो इस जैन मूर्ति को अपहरण कर ले गया, और उसे अपने यहाँ सुरक्षित रखा, अक्षय जैनधर्मावलंबी रहा होगा, व उसने उसके लिये अपने यहाँ भी जैन मंदिर बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग देश की जनता व राजवंश में उस जैन मूर्ति के लिये बराबर दो-तीन शती तक ऐसा अटन बना रहा कि अश्वमेध मिलते ही कलिंग सम्राट् ने उसे वापस लाकर

अपने यहां प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा। इस प्रकार यह गुफा और वहां का लेख भारतीय इतिहास, और विशेषतः जैन इतिहास, के लिये बड़े महत्व की वस्तु है।

उदयगिरि की यह रानी गुफा (हाथी गुफा) यथार्थतः एक सुविस्तृत बिहार रहा है जिसमें मूर्ति-प्रतिष्ठा भी रही, व मुनियों का निवास भी। इसका अंतरंग ५२ फुट लम्बा व २८ फुट चौड़ा है, तथा द्वार की ऊंचाई ११^३/_४ फुट है। वह दो मंजिलों में बनी है। नीचे की मंजिल में पंक्तिरूप से आठ, व ऊपर की पंक्ति में छह प्रकोष्ठ हैं। २० फुट लम्बा बरामदा ऊपर की मंजिल की एक विशेषता है। बरामदों में द्वारपालों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। नीचे की मंजिल का द्वारपाल सुसज्जित सैनिक सा प्रतीत होता है। बरामदों में छोटे-छोटे उच्च आसन भी बने हैं। छत की चट्टान को सभालने के लिये अनेक स्तंभ खड़े किये गये हैं। एक तोरण-द्वार पर त्रिरत्न का चिन्ह व अशोक वृक्ष की पूजा का चित्रण महत्वपूर्ण है। त्रिरत्न-चिन्ह सिधघाटी की मुद्रा पर के आसीन देव के मस्तक पर के त्रिशृंग मुकुट के सदृश है। द्वारों पर बहुत सी चित्रकारी भी है, जो जैन पौराणिक कथाओं से सबध रखती है। एक प्रकोष्ठ के द्वार पर एक पक्षयुक्त हरिरण व धनुषबाण सहित पुरुष, युद्ध, स्त्री-अपहरण आदि घटनाओं का चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। एक मतानुसार यह जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन की एक घटना का चित्रण है, जिसके अनुसार उन्होंने कलिंग के यवन नरेश द्वारा हरण की गई प्रभावती नामक कन्या को बचाया और पश्चात् उससे विवाह किया था। एक मत यह भी है कि यह वासवदत्ता व शकुंतला संबंधी आख्यानों से संबंध रखता है। किन्तु उस जैनगुफा में इसकी संभावना नहीं प्रतीत होती। चित्रकारी की शैली सुन्दर और सुस्पष्ट है, व चित्रों की योजना प्रमाणानुसार है। विद्वानों के मत से यहां की चित्रण कला भरहुत व साची के स्तूपों से अधिक सुन्दर है। उदयगिरि व खंडगिरि में सब मिलाकर १६ गुफाएं हैं, और उन्हीं के निकटवर्ती नीलगिरि नामक पहाड़ी में और भी तीन गुफाएं देखने में आती हैं। इनमें उपर्युक्त रानीगुफा के अतिरिक्त संचपुरी और बकुंडपुरी नामक गुफाएं भी दर्शनीय हैं, और वहां के शिलालेखों तथा कलाकृतियों के आधार से खारवेल व उनके समीपवर्ती काल की प्रतीत होती हैं। खंडगिरि की नवमुनि नामक गुफा में दसवीं शती का एक शिलालेख है जिसमें जैन भुनि शुभचन्द्र का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि यह स्थान ई०पूर्व द्वितीय शती से लगाकर कम से कम दसवीं शती तक जैन धर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र रहा है।

राजगिरि की एक पहाड़ी में अनियार मठ के समीप शोनभंडार नामक जैन-गुफा उल्लेखनीय है। निर्माण की दृष्टि से यह अतिप्राचीन प्रतीत होती है। प्र०-द्वि०

शती का ब्राह्मी लिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्यरत्न बरदेवमुनि ने यहां जैन मुनियों के निवासार्थ दो गुफाएं निर्माण करवाई, और उनमें अर्हन्तों की मूर्तियां प्रतिष्ठित कराईं। एक जैनमूर्ति तथा चतुर्मुखी जैनप्रतिमा युक्त एक स्तम्भ वहां अब भी विद्यमान है। जिस दूसरी गुफा के निर्माण का लेख में उल्लेख है, वह निश्चयतः उसके ही पार्श्व में स्थित गुफा है, जो अब विष्णु की गुफा बन गई है। दिगम्बर परम्परा में वैरजस का नाम आता है, और वे त्रिलोकप्रज्ञप्ति में प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम कहे गये हैं। श्वे० परम्परा में अज्ज-वैर का नाम आता है, और वे पदानुसारी कहे गये हैं। प्रज्ञाश्रमणत्व और पदानुसारित्व, ये दोनों बुद्धि ऋद्धि के उपभेद हैं, और षट्खंडागम के वेदनाखंड में पदानुसारी तथा प्रज्ञाश्रमण दोनों को नमस्कार किया गया है। इसप्रकार ये दोनों उल्लेख एक ही आचार्य के हों तो आश्चर्य नहीं। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यवैर का काल वीर निर्वाण से ४६६ से लेकर ५८४ वर्ष तक पाया जाता है, जिसके अनुसार वे प्रथम शती ई० पू० व पश्चात् के सिद्ध होते हैं। सोन भंडार गुफा उन्ही के समय में निर्मित हुई हो तो आश्चर्य नहीं।

प्रयाग तथा कौसभ (प्राचीन कौशाम्बी) के समीपवर्ती पभोसा नामक स्थान में दो गुफाएं हैं, जिनमें शुंग-कालीन (ई० पू० द्वितीय शती) लिपि में लेख हैं। इन लेखों में कहा गया है कि इन गुफाओं को अहिच्छत्रा के आषाढसेन ने काश्यपीय अर्हन्तों के लिये दान किया। ध्यान रखना चाहिये कि तीर्थंकर महावीर काश्यपगोत्रीय थे। सम्भव है उन्ही के अनुयायी मुनि काश्यपीय अर्हत् कहलाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि उस काल में महावीर के अनुयाइयों के अतिरिक्त भी कोई अन्य जैनमुनि संघ सम्भवतः पार्श्वनाथ के अनुयाइयो का रहा होगा जो क्रमशः महावीर की मुनि-परम्परा में ही विलीन हो गया।

जूनागढ़ (कठियावाड़) के बाबा प्यारामठ के समीप कुछ गुफाएं हैं, जो तीन पंक्तियों में स्थित हैं। एक उत्तर की ओर, दूसरी पूर्व भाग में और तीसरी उसी के पीछे से प्रारम्भ होकर पश्चिमोत्तर की ओर फैली है। ये सब गुफाएं दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो चैत्य-गुफाएं और तत्संबंधी साधारण कोठरियां हैं जो वर्जस साहब के मतानुसार सम्भवतः ई० पू० द्वितीय शती की हैं, जबकि प्रथम बार बौद्ध भिक्षु गुजरात में पहुंचे। दूसरे भाग में वे गुफाएं व शालागृह हैं जो प्रथमभाग की गुफाओं से कुछ उन्नत शैली के बने हुए हैं; और जिनमें जैन चिन्ह पाये जाते हैं। ये ई० की द्वितीय शती अर्थात् सत्रप राजाओं के काल की सिद्ध होती हैं। जैनगुफाओं में की एक गुफा विशेष ध्यान देने योग्य है। इस गुफा से जो खंडित लेख मिला है उसमें

क्षत्रप राजवंशका तथा चण्डन के प्रवीण व जम्बदस्न के प्रीत रुद्रसिंह मयम का-उल्लेख है। लेख पूरा न पढ़े जाने पर भी ज्ञसमें जो केवलज्ञान, जराप्रस्था से मुक्ति, मारि शब्द पढ़े गये हैं उनसे, तथा गुफा में अक्रिद्ध स्वस्तिक, भद्रासन, मीनमुगल आदि प्रख्यात जैन सांगलिक चिन्हों के चित्रित होने से, वे जैन साधुओं की व सम्भवतः दिगंबर परम्परानुसार अंतिम अंग-ज्ञाता धरसेनाचार्य से सम्बन्धित अनुमान की जा सकती हैं। धवलाटीका के कर्ता धरसेनाचार्य ने धरसेनाचार्य को गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी कहा है (देखो महाबन्ध भाग २ प्रस्ता०)। प्रस्तुत गुफासमूह में एक गुफा ऐसी है जो पार्श्वभाग में एक अर्द्धचन्द्राकार विविकृत स्थान से युक्त है। यद्यपि भाजा, काली व नासिक की बौद्ध गुफाओं से इस बात में समता रखने के कारण यह एक बौद्ध गुफा अनुमान की जाती है, तथापि यही धवलाकार द्वारा उल्लिखित धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा हो तो आश्चर्य नहीं। (दे० बर्जसः एंटीक्विटीज ओफ कच्छ एंड काठि-ग्रावाड १८७४-७५ पृ० १३६ आदि, तथा साकलियाः आर्कैओलोजी आफ गुजरात, १९४१)। इसी स्थान के समीप ढंक नामक स्थान पर भी गुफाएं हैं, जिनमें ऋषभ प्रावरं, महावीर आदि तीर्थंकरों की प्रतिमाएं हैं। ये सभी गुफाएं उसी क्षत्रप काल अर्थात् प्र० द्वि० शती की सिद्ध होती हैं। जैन साहित्य में ढंक पर्वत का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है, व पादलिप्त सूरि के शिष्य नागार्जुन यही के निवासी कहे गये हैं। (देखो रा० शे० कृत प्रबन्धकोश व विवधतीर्थकल्प)।

पूर्व में उदयगिरि खंडगिरि व पश्चिम में जूनागढ़ के पश्चात् देश के मध्यभाग में स्थित उदयगिरि की जैन गुफाएं उल्लेखनीय हैं। यह उदयगिरि मध्यप्रदेश के अन्तर्गत इतिहास-प्रसिद्ध विदिशा नगर से उत्तर-पश्चिम की ओर बेतवा नदी के उस पार दो-तीन मील की दूरी पर है। इस पहाड़ी पर पुरातत्व विभाग द्वारा अंकित या संख्यात २० गुफाएं व मंदिर हैं। इसमें पश्चिम की ओर की प्रथम तथा पूर्व दिशा में स्थित बीसवीं, ये दो स्पष्ट रूप से जैन गुफाएं हैं। पहली गुफा को कनिष्ठम ने झूठी गुफा नाम दिया है, क्योंकि वह किसी ऋद्धान को काटकर नहीं बनाई गई, किन्तु एक प्राकृतिक कंदरा है, तथापि ऊपर की प्राकृतिक ऋद्धान को छत बनाकर नीचे द्वार पर चार खंभे खड़े कर दिये गये हैं, जिससे उसे गुफा-मंदिर की श्रृंखला प्राप्त हो गई है। अन्तर्म घट व पत्राकलि-प्रणाली के बने हुए हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आदि जैन मुनि इसी प्रकार की प्राकृतिक गुफाओं को अपना निवासस्थान बना लेते थे। इस अभेदा से यह गुफा की ई० पू० काल से ही जैन मुनियों की गुफा रही होगी, किन्तु इसका संस्कार गुप्तकाल में हुआ, जैसा कि यहां के स्तम्भों की शिखर की कला तथा गुफा

में खुदे हुए एक लेख से सिद्ध होता है। इस लेख में चन्द्रगुप्त का उल्लेख है, जिससे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिप्राय समझा जाता है, और जिससे उसका काल चौथी शती का अंतिम भाग सिद्ध होता है। पूर्व दिशावर्ती नैऋत्यगुफा में पार्श्वनन्ध तीर्थंकर की अतिभव्य मूर्ति विराजमान है। यह अब बहुत कुछ खंडित हो गई है, किन्तु उसका नाग-फण अब भी उसकी कलाकृति को प्रकट कर रहा है। यहां भी एक संस्कृत पद्यात्मक लेख खुदा हुआ है, जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त संवत् १०६ (ई० सन् ४२६, कुमारगुप्त काल) में कार्तिक कृष्ण पंचमी को आचार्य भद्रान्वयी आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य शंकर द्वारा की गई थी। इन शंकर ने अपना जन्मस्थान उत्तर भारतवर्ती कुरुदेश बतलाया है।

जैन ऐतिहासिक परम्परानुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल (ई० पू० चौथी शती) में हुए थे, और उत्तर भारत में बारह वर्ष का घोर दुर्मिष पड़ने पर जैन संघ को लेकर दक्षिण भारत में गये, तथा मैसूर प्रदेशान्तर्गत अवगं-बेलगोला नामक स्थान पर उन्होंने जैन केन्द्र स्थापित किया। इस समय भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्यपाट त्यागकर उनके शिष्य हो गये थे, और उन्होंने भी अवगंबेल-गोला की उस पहाड़ी पर तपस्या की, जो उनके नाम से ही चन्द्रगिरि कहलाई। इस पहाड़ी पर प्राचीन मंदिर भी है, जो उन्हीं के नाम से चन्द्रगुप्त बस्ति कहलाता है। इसी पहाड़ी पर एक अत्यन्त साधारण व छोटी सी गुफा है, जो भद्रबाहु की गुफा के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने इसी गुफा में देहोत्सर्ग किया था। वहां उनके चरण-चिन्ह अंकित हैं और पूजे जाते हैं। दक्षिण भारत में यही सबसे प्राचीन जैन गुफा सिद्ध होती है।

महाराष्ट्र प्रदेश में उस्मानाबाद से पूर्वोत्तर दिशा में लगभग १२ मील की दूरी पर पर्वत में एक प्राचीन गुफा-समूह है। वे एक पहाड़ी दर्रे के दोनों पार्श्वों में स्थित हैं; चार उत्तर की ओर व तीन दूसरे पार्श्व में पूर्वोत्तरमुखी। इन गुफाओं में मुख्य व विशाल गुफा उत्तर की गुफाओं में दूसरी है। दुर्भाग्यवत् इसकी ऊपरी अट्टान भग्न होकर गिर पड़ी है; केवल कुछ बाहरी आग नष्ट होने से बचा है। उसकी हाल में सख्मत्त भी की गई है। इसका बाहरी बरामदा ७८ × १०.४, फुट है। इसमें छह या आठ खंभे हैं, और भीतर जाने के लिये पांखे द्वार। भीतर की शाला ८० फुट गहरी है, तथा चौड़ाई में द्वार की ओर ७६ फुट व पीछे की ओर ८५ फुट है। इसकी छत ३२ स्तम्भों पर आकाशित है, और ये खंभे चौकोर दो पंक्तियों में बने हुए हैं। छत की ऊंचाई लगभग १२ फुट है। इसकी दोनों पार्श्व की दीवारों में आठ-अठारह व पीछे

की दीवाल में छह कोठरियां हैं, जो प्रत्येक लगभग ६ फुट चौकोर है। ये कोष्ठ साधारण रीति के बने हुए हैं, जैसे प्रायः बौद्ध गुफाओं में भी पाये जाते हैं। पश्चिमोत्तर कोने के कोष्ठ के तलभाग में एक गड्ढा है, जो सदैव पानी से भरा रहता है। शाला के मध्य में पिछले भाग की ओर देवालय है, जो १६.३ × १५ फुट लंबा-चौड़ा व १३ फुट ऊंचा है, जिसमें पार्वनाथ तीर्थंकर की भव्य प्रतिमा विराजमान है। शेष गुफाएं अपेक्षाकृत इससे बहुत छोटी हैं। तीसरी व चौथी गुफाओं में भी जिन-प्रतिमाएं विद्यमान हैं। तीसरी गुफा के स्तम्भों की बनावट कलापूर्ण है। बर्जेंस साहब के मत से ये गुफाएं अनुमानतः ई० पू० ५००-६५० के बीच की हैं। (आर्क० सर्वे० ओफ वेस्टर्न इंडिया वोल० ३)

इस गुफा-समूह के संबंध में जैन साहित्यिक परम्परा यह है कि यहां तेरापुर के समीप पर्वत पर महाराज करकंड ने एक प्राचीन गुफा देखी थी। उन्होंने स्वयं यहां अन्य कुछ गुफाएं बनवाई, और पार्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उन्होंने जिस प्राचीन गुफा को देखा था, उसके तलभाग में एक छिद्र से जलवाहिनी निकली थी, जिससे समस्त गुफा भर गई थी। इसका, तथा प्राचीन पार्वनाथ की मूर्ति का सुन्दर वर्णन कनकामर मुनि कृत अपभ्रंश काव्य 'करकंडचरित' में मिलता है, जो ११ वीं शती की रचना है। करकंड का नाम जैन व बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रत्येक बुद्ध के रूप में पाया जाता है। उनका काल, जैन मान्यतानुसार, महावीर से पूर्व पार्वनाथ के तीर्थ में पड़ता है। इस प्रकार यहां की गुफाओं को जैनी अति प्राचीन (लगभग ई० पू० ६ वीं शती की) मानते हैं।

इतना तो सुनिश्चित है कि ११ वीं शती के मध्यभाग में जब मुनि कनकामर ने करकंडचरित लिखा, तब तेरापुर (धाराशिव) की गुफा बड़ी विशाल थी, और बड़ी प्राचीन समझी जाती थी। तेरापुर के राजा शिवने करकंड को उसका परिचय इस प्रकार कराया था—

एत्यन्थि देव पच्छिमविसाहि । अइगियडउ पव्वउ रम्मू ताहि ॥

तहि अत्थि सयणु सयणावहारि । थंभाण सहासहि अं पि धारि ॥

(क० च० ४, ४) ।

करकंड उक्त पर्वत पर चढ़े और ऐसे सघन वन में से चले जो सिंह, हाथी, शूकर, मृग, व बानरों आदि से भरा हुआ था।

धोवंतरि तहि सो चडइ जाय । करकंडं विट्ठउ सयणु ताम ॥

सं हरिणा अमर-विमाणु विट्ठु । करकंड साराहिउ तहि पविट्ठु ॥

सो जण्णु सलक्खणु हरिय-वंभु । जें लयणु कराविउ सहसखंभु ॥

(क० ख० ४, ५) ।

अर्थात् पर्वत पर कुछ ऊपर चढ़ने पर उन्होंने उस लयण (गुफा) को ऐसे देखा जैसे इन्द्र ने देवविमान को देखा हो। उसमें प्रवेश करने पर करकंडु के मुख से हठात् निकल पड़ा कि धन्य है वह सुलक्षण पुण्यवान् पुरुष जिसने यह सहस्रस्तंभ लयन बनवाया है।

दक्षिण के तामिल प्रदेश में भी जैन धर्म का प्रचार व प्रभाव बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है। तामिल साहित्य का सबसे प्राचीन भाग 'संगम युग' का माना जाता है, और इस युग की प्रायः समस्त प्रधान कृतियां तिरुकुल आदि जैन या जैनधर्म से सुप्रभावित सिद्ध होती हैं। जैन द्राविडसंघ का संगठन भी सुप्राचीन पाया जाता है। अतएव स्वाभाविक है कि इस प्रदेश में भी प्राचीन जैन संस्कृति के अवशेष प्राप्त हों। जैनमुनियों का एक प्राचीन केन्द्र पुडुकोट्टाई से वायव्य दिशा में ६ मील दूर सित्तन्नबासल नामक स्थान रहा है। यह नाम सिद्धानां बासः से अपभ्रष्ट होकर बना प्रतीत होता है। यहां के विशाल शिला-टीलों में बनी हुई एक जैनगुफा बड़ी महत्वपूर्ण है। यहां एक ब्राह्मी लिपि का लेख भी मिला है, जो ई० पू० तृतीय शती का (अशोककालीन) प्रतीत होता है। लेख में स्पष्ट उल्लेख है कि गुफा का निर्माण जैन मुनियों के निमित्त कराया गया था। यह गुफा बड़ी विशाल १०० × ५० फुट है। इसमें अनेक कोष्ठक हैं, जिनमें समाधि-शिलाएं भी बनी हुई हैं। ये शिलाएं ६ × ४ फुट है। वास्तुकला की दृष्टि से तो यह गुफा महत्वपूर्ण है ही, किन्तु उससे भी अधिक महत्व उसकी चित्रकला का है, जिसका विवरण आगे किया जायगा। गुफा का यह संस्कार पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् (आठवीं शती) के काल में हुआ है।

दक्षिण भारत में बादामी की जैन गुफा उल्लेखनीय है, जिसका निर्माण काल अनुमानतः सातवीं शती का मध्यभाग है। यह गुफा १६ फुट गहरी तथा ३१ × १६ फुट लम्बी-चौड़ी है। पीछे की ओर मध्य भाग में देवालय है, और तीनों पार्श्वों की दीवारों में मुनियों के निवासार्थ कोष्ठक बने हैं। स्तम्भों की आकृति एलीफेन्टा की गुफाओं के सदृश है। यहां चमरधारियों सहित महावीर तीर्थंकर की मूल पद्मासन मूर्ति के अतिरिक्त दीवारों व स्तम्भों पर भी जिनमूर्तियां खुदी हुई हैं। माना जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश भ्रमोघवर्ष (८ वीं शती) ने राज्य त्यागकर व जैन दीक्षा लेकर इसी गुफा में निवास किया था। गुफा के बरामदों में एक ओर पार्वनाथ व दूसरी ओर बाहुबली की लमलग ७½ फुट ऊंची प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

बादामी-शालुके में स्थित येहोम नामक ग्राम के समीप पूर्व और उत्तर की ओर गुफाएं हैं, जिनमें भी जैनमूर्तियां विद्यमान हैं। प्रधान गुफाओं की रचना बादामी की कला के ही लक्ष्य है। गुफा-ब्रह्मदा, मंडप व गर्भगृह में विभक्त है। ब्रह्मदे में चार खंभे हैं, और उसकी छत पर भ्रमर, पुष्प आदि की आकृतियां बनी हुई हैं। बाईं भित्ति में पार्ष्वनाथ की मूर्ति है, जिसके एक ओर नाग व दूसरी ओर नागिनी स्थित है। दाहिनी ओर चैत्य-वृक्ष के नीचे जिनमूर्ति बनी है। इस गुफा की सहस्रकला गुप्त पार्ष्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। अन्य जैन आकृतियां व चिन्ह भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। सिंह, भ्रमर व द्वारपालों की आकृतियां भी कलापूर्ण हैं, और ऐलीफेन्टा की आकृतियों का स्मरण कराती हैं। गुफाओं से पूर्व की ओर वह भेषुटी नामक जैन मंदिर है जिसमें चालुक्य नरेश पुलकेशी व शक सं० ५५६ (ई० ६३४) का उल्लेख है। यह शिलालेख अपनी संस्कृत काव्य शैली के विकास में भी अपना स्थान रखता है। इस लेख के लेखक रविकीर्ति ने अपने को काव्य के क्षेत्र में कालिदास और भारवि की कीर्ति को प्राप्त कहा है। यथार्थतः कालिदास व भारवि के काल-निर्णय में यह लेख बड़ा सहायक हुआ है, क्योंकि इसीसे उनके काल की अंतिम सीमा प्रामाणिक रूप से निश्चित हुई है। ऐहोल सम्भवतः 'आर्यपुर' का अपभ्रष्ट रूप है।

गुफा-निर्माण की कला एलोरा में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। यह स्थान यादव नरेशों की राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) से लगभग १६ मील दूर है, और वहां का शिलापर्वत अनेक गुफा-मंदिरों से अलंकृत है। यही कैलाश नामक शिव मंदिर है जिसकी योजना और शिल्पकला इतिहास-प्रसिद्ध है। यहा बौद्ध, हिन्दू व जैन, तीनों सम्प्रदायों के शैल मंदिर बड़ी सुन्दर प्रणाली के बने हुए हैं। यहा पांच जैन गुफाएं हैं, जिनमें से तीन अर्थात् छोटा कैलाश, इन्द्रसभा व जगन्नाथ सभा कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। छोटा कैलाश एक ही पाषाण-शिला को काटकर बनाया गया है, और उसकी रचना कुछ छोटे आकार में उपर्युक्त कैलाश मंदिर का अनुकरण करती है। सञ्जुवा मंदिर ८० फुट चौड़ा व १३० फुट ऊंचा है। मंडप लगभग ३६ फुट लम्बा-चौड़ा है, और उसमें १६ स्तम्भ हैं। इन्द्रसभा नामक गुफा मंदिर की रचना इस प्रकार है—पाषाण में बने हुए द्वार से भीतर जाने पर कोई ५० × ५० फुट क्षेत्रीय प्रांगण मिलता है, जिसके मध्य में एक पाषाण से निर्मित प्राविड़ी शैली का शैलस्थ है। इसके सम्मुख दाहिनी ओर एक हाथी की मूर्ति है, व उसके सम्मुख बाईं ओर २२ फुट ऊंचा श्वत्थ-स्तम्भ है। यहां से लूबकर पीछे की ओर जाने पर वह दुतला सभागृह मिलता है जो इन्द्रसभा के नाम से अतिष्ठ है। दोनों तलों में प्रचुर

विष्णुकायी बनी हुई है। नीचे का भाग कुछ अपूर्ण सा रहा प्रतीत होता है, जिससे यह ज्ञात भी सिद्ध होती है कि इन मुक्तियों का उत्कीर्णन ऊपर से नीचे की ओर किया जाता था। ऊपर की स्तम्भा १२ सुवर्णित स्तम्भों से असंक्रुत है। शाला के दोनों ओर भगवान् महावीर की विशाल प्रतिमाएँ हैं, और पार्श्व कक्ष में इन्द्र व हाथी की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इन्द्रसभा की एक बाहिरी दीवाल पर पार्श्वनाथ की तपस्या व कमठ द्वारा उनपर किये गये उपसर्ग का बहुत सुन्दर व सजीव उत्कीर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ है, ऊपर सप्तफणी नाग की छाया है, व एक नागिनी छत्र धारण किये है। दो अन्य नागिनी भक्ति, अस्पर्श व दुःख की मुद्रा में दिखाई देती हैं। एक ओर भैसे पर सवार असुर रौद्र मुद्रा में शस्त्रास्त्रों सहित आक्रमण कर रहा है, व दूसरी ओर सिंह पर सवार कमठ की रुद्र मूर्ति आघात करने के लिये उद्यत है। नीचे की ओर एक स्त्री व पुरुष भक्तिपूर्वक हाथ जोड़े खड़े हैं। वक्षिण की दीवाल पर लताओं से लिपटी बाहुबलि की प्रतिमा उत्कीर्ण है। ये सब तथा अन्य शोभापूर्ण आकृतियाँ अत्यन्त कलापूर्ण हैं। अनुमानतः इन्द्रसभा की रचना तीर्थंकर के जन्म कल्याणकोत्सव की स्मृति में हुई है, जबकि इन्द्र अपना ऐरावत हाथी लेकर भगवान् का अभिषेक करने जाता है। इन्द्रसभा की रचना के संबंध में पर्सि ब्राउन साहब ने कहा है कि "इसकी रचना ऐसी सर्वांगपूर्ण, तथा शिल्पकला की चातुरी इतनी उत्कृष्ट है कि जितनी श्लोका के अन्य किसी मंदिर में नहीं पाई जाती। भित्तियों पर आकृतियों का उत्कीर्णन ऐसा सुन्दर तथा स्तम्भों का विन्यास ऐसे कौशल से किया गया है कि उसका अन्यत्र कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।"

इन्द्रसभा के समीप ही जगन्नाथ सभा नामक चैत्यालय है, जिसका विन्यास इन्द्रसभा के सदृश ही है, अद्यपि प्रमाण में उससे छोटा है। द्वार का तोरण कलापूर्ण है। चैत्यालय में सिंहासन पर महावीर तीर्थंकर की पद्मासन मूर्ति है। दीवालें व स्तम्भों पर प्रचुरता से नाना प्रकार की सुन्दर मूर्तियाँ बनी हुई हैं। किन्तु अपने रूप में सौन्दर्यपूर्ण होने पर भी संतुलन व सौष्ठव की दृष्टि से जो उत्कर्ष इन्द्रसभा की रचना में दिखाई देता है, वह जहाँ व अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इन गुफाओं का निर्माणकाल ८०० ई० के लगभग माना जाता है। जस, इस उत्कर्ष पर पहुँचकर केवल जैन-परम्परा में ही नहीं, किन्तु भारतीय-संस्कृति में गुफा निर्माण कला का विकास समाप्त हो जाता है, और स्वतंत्र बहिर्निर्मित की कला उसका स्थात ग्रहण करती है।

रावसी शरी का एक चिक्कासंदिर् अवस्थित जगन्नाथसभा में त्रिवेन्द्रमनगरकोइल मार्ग पर स्थित कुजीपुर नामक ग्राम के प्रांच अभिलेखों की ओर सहाड़ी पर है, जो

अब श्री भगवती मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मंदिर पहाड़ी पर स्थित एक विशाल शिला को काटकर बनाया गया है, और सामने की ओर तीन ओर पाषाण-निर्मित भित्तियों से उसका विस्तार किया गया है। शिला के गुफा-भाग के दोनों प्रकोष्ठों में विशाल पद्मासन जिनमूर्तियाँ सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं। शिला का समस्त आभ्यंतर व बाह्य भाग जैन तीर्थंकरों की कोई ३० उत्कीर्ण प्रतिमाओं से अलंकृत है। कुछ के नीचे केरल की प्राचीन लिपि वत्तजेत्थु में लेख भी है, जिनसे उस स्थान का जैनत्व तथा निर्मितिकाल नौवीं शती सिद्ध होता है। यत्र-तत्र जो भगवती देवी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, वे स्पष्टतः उत्तरकालीन हैं। (जै० एण्टो० ८।१, पृ० २९)

अंकाई-तंकाई नामक गुफा-समूह येवला तालुके में मनमाड रेलवे जंक्शन से नौ मील दूर अंकाई नामक स्टेशन के समीप स्थित है। लगभग तीन हजार फुट ऊँची पहाड़ियों में सात गुफाएँ हैं, जो हैं तो छोटी-छोटी, किन्तु कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्रथम गुफा में बरामदा, मंडप व गर्भगृह हैं। सामने के भाग के दोनों खंभों पर द्वारपाल उत्कीर्ण हैं। मंडप का द्वार प्रचुर आकृतियों से पूर्ण है; अंकन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। वर्गाकार मंडप चार स्तम्भों पर आधारित है। गर्भगृह का द्वार भी शिल्पपूर्ण है। गुफा दुतल्ली है, व ऊपर के तल्ले पर भी शिल्पकारी पाई जाती है। दूसरी गुफा भी दुतल्ली है। नीचे का बरामदा २३ × १२ फुट है। उसके दोनों पाश्वों में स्वतंत्र पापाण की मूर्तियाँ हैं, जिनमें इन्द्र-इन्द्राणी भी है। सीढ़ियों से होकर दूसरे तल पर पहुँचते ही दोनों पाश्वों में विशाल सिंहों की आकृतियाँ मिलती हैं। गर्भगृह ६ × ६ फुट है। तीसरी गुफा के मंडप की छतपर कमल की आकृति बड़ी सुन्दर है। उसकी पश्चिमि चार कतारों में दिखाई गई है, और उन पंखुड़ियों पर देवियाँ वाद्य सहित नृत्य कर रही हैं। देव-देवियों के अनेक युगल नाना वाहनों पर आरूढ़ हैं। स्पष्टतः यह दृश्य तीर्थंकर के जन्मकल्याणक के उत्सव का है। गर्भगृह में मनुष्याकृति शांतिनाथ व उनके दोनों ओर पाश्वर्नाथ की मूर्तियाँ हैं। शांतिनाथ के सिंहासन पर उनका मृग सांछन, धर्मचक्र, व भक्त और सिंह की आकृतियाँ बनी हैं। कंधों के ऊपर से विद्याधर और उनसे भी ऊपर गजलक्ष्मी की आकृतियाँ हैं। ऊपर से गंधर्वों के जोड़े पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। सबसे ऊपर तोरण बना है। चौथी गुफा का बरामदा ३० × ८ फुट है, एवं मंडप १८ फुट ऊँचा व २४ × २४ फुट लंबा-चौड़ा है। बरामदे के एक स्तम्भ पर लेख भी है, जो पढ़ा नहीं जा सका; किन्तु लिपि पर से ११ वीं शती का अनुमान किया जाता है। शैली आदि अन्य बातों पर से भी इन गुफाओं का निर्माण-काल यही प्रतीत होता है। शेष गुफाएँ ध्वस्त अवस्था में हैं।

यद्यपि गुफा-निर्माण कला का युग बहुत पूर्व समाप्त हो चुका था, तथापि जैनी १५ वीं शती तक भी गुफाओं का निर्माण कराते रहे। इसके उदाहरण है तोमर राजवंश कालीन ग्वालियर की जैन गुफाएं। जिस पहाड़ी पर ग्वालियर का किला बना हुआ है, वह कोई दो मील लम्बी, आधा मील चौड़ी, तथा ३०० फुट ऊंची है। किले के भीतर स्थित सास-बहू का मंदिर सन् १०६३ का बना हुआ है, और आदितः जैन मंदिर रहा है। किन्तु इस पहाड़ी में जैन गुफाओं का निर्माण १५ वीं शती में हुआ पाया जाता है। सम्भवतः यहां गुफा-निर्माण की प्राचीन परम्परा भी रही होगी, और वर्तमान में पाई जाने वाली कुछ गुफाएं १५ वीं शती से पूर्व की हों तो आश्चर्य नहीं। किन्तु १५ वीं शती में तो जैनियों ने समस्त पहाड़ी को ही गुफामय कर दिया है। पहाड़ी के ऊपर, नीचे व चारों ओर जैन गुफाएं विद्यमान हैं। इन गुफाओं में वह योजना-चातुर्य व शिल्प-सौष्ठव नहीं है जो हम पूर्वकालीन गुफाओं में देख चुके हैं। परन्तु इन गुफाओं की विशेषता है उनकी संख्या, विस्तार व मूर्तियों की विशालता। गुफाएं बहुत बड़ी-बड़ी हैं, व उनमें तीर्थंकरों की लगभग ६० फुट तक ऊंची प्रतिमाएं देखने को मिलती हैं। उर्वाही द्वार पर के प्रथम गुफा-समूह में लगभग २५ विशाल तीर्थंकर मूर्तियां हैं, जिनमें से एक ५७ फुट ऊंची है। आदिनाथ व नेमिनाथ की ३० फुट ऊंची मूर्तियां हैं। अन्य छोटी-बड़ी प्रतिमाएं भी हैं, किन्तु उनकी रचना व अलंकरण आदि में कोई सौन्दर्य व लालित्य नहीं दिखाई देता। यहां से आधा मील ऊपर की ओर दूसरा गुफा-समूह है, जहां २० से ३० फुट तक की अनेक मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। बावड़ी के समीप के एक गुफा-ज में पार्श्वनाथ की २० फुट ऊंची पद्मासन मूर्ति, तथा अन्य तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग मुद्रायुक्त अनेक विशाल मूर्तियां हैं। इसी के समीप यहां की सबसे विशाल गुफा है, जो यथार्थतः मंदिर ही कही जा सकती है। यहां की प्रधान मूर्ति लगभग ६० फुट ऊंची है। इन गुफा-मंदिरों में अनेक शिलालेख भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इन गुफाओं की खुदाई सन् १४४१ से लेकर १४७४ तक ३३ वर्षों में पूर्ण हुई। यद्यपि कला की दृष्टि से ये गुफाएं अवनति की सूचक हैं, तथापि इतिहास की दृष्टि से उनका महत्व है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सैकड़ों जैन गुफाएं देश भर के भिन्न-भिन्न भागों की पहाड़ियों में यत्र-तत्र बिखरी हुई पाई जाती हैं। इनमें से अनेक का ऐतिहासिक व कला की दृष्टि से महत्व भी है; किन्तु उनका इन दृष्टियों से पूर्ण अध्ययन किया जाना शेष है। स्टैला क्रैमरिश के मतानुसार, देश में १२०० पार्श्वोत्कीर्ण मंदिर पाये जाते हैं, जिनमें से ६०० बौद्ध, १०० हिन्दू और २०० जैन गुफा मंदिर हैं। (हिन्दू टेम्पल्स, पृ० १६८)।

जैन मन्दिर

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप-निर्माण में, फिर गुफा चैत्यों व बिहारों में, और तत्पश्चात् मंदिरों के निर्माण में पाया जाता है। स्तूपों व गुफाओं का विकास जैन परम्परा में किस प्रकार हुआ, यह ऊपर देखा जा चुका है। किन्तु वास्तुकला ने मंदिरों के निर्माण में ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। इन मंदिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ११ वीं शती व उसके पश्चात् काल के उपलब्ध हैं। इन मंदिरों के निर्माण में अभिव्यक्त योजना व शिल्प के चातुर्य की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मंदिरों का निर्माण बिना उनकी दीर्घकालीन पूर्व परम्परा के नहीं हो सकता। पाषाण को काटकर गुफा-चैत्यों के निर्माण की कला का चरमोत्कर्ष हम एलोरा की गुफाओं में देख चुके हैं। कहा जा सकता है कि उसी के आधार पर आगे स्वतंत्र मंदिरों के निर्माण की परम्परा चली। किन्तु उस कला से स्वतंत्र संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) मंदिरों के शिल्प में बड़ा भेद है, जिसके विकास में भी अनेक शतियां व्यतीत हुई होंगी। इस सम्बन्ध में उक्त काल से प्राचीनतर मंदिरों का अभाव बहुत खटकता है।

प्राचीनतम बौद्ध व हिन्दू मंदिरों के निर्माण की जो पांच शैलियां नियत की गई हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) समतल छत वाले चौकोर मन्दिर, जिनके सम्मुख एक द्वारमंडप रहता है। (२) द्वारमंडप व समतल छत वाले वे चौकोर मन्दिर जिनके गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा भी बनी रहती है। ये मन्दिर कभी कभी दुतेल्ले भी बनते थे। (३) चौकोर मन्दिर जिनके ऊपर छोटा व चपटा शिखर भी बना रहता है। (४) वे लम्बे चतुष्कोण मन्दिर जिनका पिछला भाग श्रद्धवृत्ताकार रहता है, व छत कोठी (बैरल) के आकार का बनता था (५) वे वृत्ताकार मन्दिर जिनकी पीठिका चौकोर होती है।

इन शैलियों में से चतुर्थ शैली का विकास बौद्धों की चैत्यशालाओं से व पांचवीं का स्तूप-रचना से माना जाता है। चतुर्थ शैली के उदाहरण उसमानाबाद जिले के तेर नामक स्थान के मन्दिर व बेजूरला (कृष्णा जिला) के कपोतेश्वर मन्दिर में पाये जाते हैं। ये चौथी-पांचवीं शती के बने हैं, और आकार में छोटे हैं। इस शैली के दो अग्रन्तर भेद किये जाते हैं, एक नामक व दूसरा द्वाचिह्न, जो अग्नि-धत्तक व विशेष विकसित हुए हैं, किन्तु जिनकी भी ऊपर्युक्त उदाहरणों में ही श्रयि जाते हैं। पांचवीं शैली का उदाहरण राजगृह के मणिघाट मठ (मणिजोष की मंदिरे) में मिलता है। प्रथम शैली

के बने हुए मंदिर सांची, क्षिणका और ऐरवा में विश्रुत हैं। दूसरी शैली के उदाहरण हैं—नाचनाकुठारा का पार्वती मंदिर तथा भूमरा (म. प्र.) का शिवमंदिर (५-६वीं शती) आदि। इसी शैली का उपर्युक्त ऐहोस का मेघुटी मंदिर है। तीसरी शैली के उदाहरण हैं—देवगढ़ (जिला भांसी) का दशावतार मंदिर तथा भीतरगाँव (जिला कावपुर) का मंदिर व बोध गया का महाबोधि मंदिर, जिस रूप में कि उसे चीनी यात्री ह्वेत्सांग ने देखा था। ये मंदिर छठी शती के अनुमान किये जाते हैं।

जैन आयतन, चैत्यगृह, विंब और प्रसिमा, व तीर्थ आदि के प्रचुर उल्लेख प्राचीनतम जैन शास्त्रों में पाये जाते हैं (कुंदकुंद : बोधपाहुड, ६२, आदि) दिगम्बर परम्परा की नित्य पूजा-बन्धना में उन सिद्धक्षेत्रों को नमन, करने का निधम है जहाँ से जैन तीर्थंकरों व अन्य प्रख्यात मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाणकांड नामक प्राकृत नमन-स्तोत्र में निम्न सिद्धक्षेत्रों को नमस्कार किया गया है—

सिद्ध क्षेत्र	ज्ञात नाम व स्थिति	किसका निर्वाण हुआ
१ अष्टापद	कौलाश (हिमालय में)	प्र. तीर्थंकर ऋषभ, नागकुमार, व्याल-महाव्याल
२ चम्पा	भागलपुर (बिहार)	१२वें तीर्थ० वासुपूज्य
३ ऊर्जयन्त	गिरनार (काठियावाड़)	२२वें तीर्थ० नेमिनाथ, प्रद्युम्न, शम्भु, अनिरुद्ध
४ पावा	पावापुर (पटना, बिहार)	२४वें तीर्थ० महावीर
५ सम्भेदशिखर	पारसनाथ (हजारीबाग, बिहार)	शेष २० तीर्थंकर
६ तारनगर	तारंगा	वरदत्त, वराग, सामरदत्त
७ पाषाणिरि	ऊन (खरगोन, म. प्र.)	लाट नरेन्द्र, सुवर्णभद्रादि
८ शत्रुजय	काठियावाड़	पांडव व द्रविड़ नरेन्द्र
९ गजपथ	नासिक (महाराष्ट्र)	बलभद्र व अन्य षडध नरेन्द्र
१० तुंगीगिरि	मंजीतुंगी (महाराष्ट्र)	राम, हनु, सुधीव, गवध, गवाक्ष, नील, महानील
११ सुवर्णगिरि	सेनागिरि (आसो, उ. प्र.)	नंग-अमंगकुमार
१२ रेवातट	प्रोकार भावता (म. प्र.)	रावण के पुत्र
१३ सिद्धवरकूट	" "	दो चक्रवर्ती
१४ चूसगिरि	वसुनगवा (महानी, म. प्र.)	हम्बजितु, कुमकार

१५ द्रोणगिरि	फलहोडी (फलौदी, राजस्थान)	गुरुदत्तादि
१६ मेढगिरि	मुक्तागिरि (बैतूल, म. प्र.)	साढ़े तीन कोटि मुनि
१७ कुंथलगिरि	वंशस्थल (महाराष्ट्र)	कुलभूषण, देशभूषण
१८ कोटिशिला	कलिंगदेश (?)	यशोधर राजा के पुत्र
१९ रेशिदागिरि	(?)	वरदत्तादि पाच मुनि पार्श्वनाथ काल के

इनके अतिरिक्त प्राकृत अतिशय-क्षेत्रकांड में मंगलापुर, अस्सारम्य, पोदनपुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्र, जम्बूवन, निवडकुंडली, होलागिरि और गोम्भटेश्वर की बन्दना की गई है। इन सभी स्थानों पर, जहाँ तक उनका पता चल सका है, एक व अनेक जिनमन्दिर, नाना काल के निर्मापित, तीर्थंकरों के चरण-चिन्हों व प्रतिमाओं सहित आज भी पाये जाते हैं और प्रतिवर्ष सहस्त्रों यात्री उनकी बन्दना कर अपने को धन्य समझते हैं।

सबसे प्राचीन जैन मंदिर के चिन्ह बिहार में पटना के समीप लोहानीपुर में पाये गये हैं, जहाँ कुमराहर और बुलदोबाग की मौर्यकालीन कला-कृतियों की परम्परा के प्रमाण मिले हैं। यहाँ एक जैन मंदिर की नींव मिली है। यह मंदिर ८-१० फुट वर्गाकार था। यहाँ की ईंटें मौर्यकालीन सिद्ध हुई हैं। यही से एक मौर्यकालीन रजत सिक्का तथा दो भस्तकहीन जिनमूर्तियां मिली हैं, जो अब पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन मंदिर जिसकी रूप रेखा सुरक्षित है, व निर्माण काल भी निश्चित है, वह है दक्षिण भारत में बादामी के समीप ऐहोल का मेघुटी नामक जैन मंदिर जो कि वहाँ से उपलब्ध शिलालेखानुसार शक संवत् ५५६ (ई० ६३४) में पश्चिमी चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के राज्यकाल में रविकीर्ति द्वारा बनवाया गया था। ये रविकीर्ति मंदिर-योजना में ही नहीं, किन्तु काव्य-योजना में भी अति प्रवीण और प्रतिभाशाली थे। यह बात उक्त शिलालेख की काव्य-रचना से तथा उसमें उनकी इस स्वयं उक्ति से प्रमाणित होती है कि उन्होंने कविता के क्षेत्र में कालिदास व भारवि की कीर्ति प्राप्त की थी। इस उल्लेख से न केवल हमें रविकीर्ति की काव्य-प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु उससे उक्त दो महा-कवियों के काल-निर्णय में बड़ी सहायता मिली है, क्योंकि इससे उनके काल की अन्तिम सीमा सुनिश्चित हो जाती है। यह मंदिर अपने पूर्ण रूप में सुरक्षित नहीं रह सका। उसका बहुत कुछ अंश ध्वस्त हो चुका है। तथापि उसका इतना भाग फिर भी सुरक्षित है कि जिससे उसकी

योजना व शिल्प का पूर्णज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।

यह मन्दिर गुप्त व चालुक्य काल के उक्त शैलियों संबन्धी अनेक उदाहरणों में सबसे पश्चात् कालीन है । अतएव स्वभावतः इसकी रचना में वह शैली अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई पाई जाती है । इसके तंत्र व स्थापत्य में एक विशेष उन्नति दिखाई देती है, तथा पूर्ण मन्दिर की कलात्मक संयोजना में ऐसा संस्कार व लालित्य दृष्टिगोचर होता है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता । इसकी भित्तियों का बाह्य भाग संकरे स्तम्भाकार प्रक्षेपों से अलंकृत है और ये स्तम्भ भी कोष्ठकाकार शिखरों से सुशोभित किये गये हैं । स्तम्भों के बीच का भित्ति भाग भी नाना प्रकार की आकृतियों से अलंकृत करने का प्रयत्न किया गया है । मन्दिर की समस्त योजना ऐसी संतुलित व सुसंगठित है कि उसमें पूर्वकालीन अन्य सब उदाहरणों से एक विशेष प्रगति हुई स्पष्ट प्रतीत होती है । मन्दिर लम्बा चतुष्कोण आकृति का है और उसके दो भाग हैं : एक प्रदक्षिणा सहित गर्भगृह व दूसरा द्वारमंडप । मंडप स्तम्भों पर आधारित है, और मूलतः सब ओर से खुला हुआ था; किन्तु पीछे दीवारों से घेर दिया गया है । मंडप और गर्भगृह एक संकरे दालान से जुड़े हुए हैं । इस प्रकार अलंकृति में यह मंदिर अपने पूर्वकालीन उदाहरणों से स्पष्टतः बहुत बड़ा-बड़ा है, तथा अपनी निर्मिति की अपेक्षा अपने आगे की वास्तुकला के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाला सिद्ध होता है ।

गुप्त व चालुक्य युग से पश्चात्कालीन वास्तुकला की शिल्प-शास्त्रों में तीन शैलियाँ निर्दिष्ट की गई हैं—नागर, द्राविड़ और वेसर । सामान्यतः नागरशैली उत्तर भारत में हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक प्रचलित हुई । द्राविड़ दक्षिण में कृष्णानदी से कन्याकुमारी तक, तथा वेसर मध्य-भारत में विन्ध्य पर्वत और कृष्णानदी के बीच । किन्तु यह प्रादेशिक विभाग कड़ाई से पालन किया गया नहीं पाया जाता । प्रायः सभी शैलियों के मन्दिर सभी प्रदेशों में पाये जाते हैं, तथापि आकृति-वैशिष्ट्य को समझने के लिये यह शैली-विभाजन उपयोगी सिद्ध हुआ है । यद्यपि शास्त्रों में इन शैलियों के भेद विन्यास, निर्मिति तथा अलंकृति की छोटी-छोटी बातों तक का निर्दिष्ट किया गया है; तथापि इनका स्पष्ट भेद तो शिखर की रचना में ही पाया जाता है । नागरशैली का शिखर गोल आकार का होता है, जिसके अग्रभागपर कल-शाकृति बनाई जाती है । आदि में सम्भवतः इसप्रकार का शिखर केवल वेदी के ऊपर रहा होगा; किन्तु क्रमशः उसका इतना विस्तार हुआ कि समस्त मन्दिर की छत इसी आकार की बनाई जाने लगी । यह शिखराकृति ओरों की अपेक्षा अधिक प्राचीन व महत्वपूर्ण मानी गई है । इससे भिन्न द्राविड़ शैली का मन्दिर एक स्तम्भाकृति

ग्रहण करता है, जो ऊपर की ओर क्रमशः चारों ओर सिकुड़ता जाता है, और ऊपर जाकर एक स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। ये छोटी-छोटी स्तूपिकाएं व शिखराकृतियाँ उसके नीचे के तलों के कोणों पर भी स्थापित की जाती हैं जिससे मन्दिर की बाह्योक्त शिखरमय दिखाई देने लगती है। बेसर शैली के शिखर की आकृति वर्तुलाकार ऊपर को उठकर अग्रभाग पर चपटी ही रह जाती है, जिससे वह कोठी के आकार का दिखाई देता है। यह शैली स्पष्टतः प्राचीन चैत्यों की आकृति का अनुसरण करती है। आगामी काल के हिन्दू व जैन मन्दिर इन्हीं शैलियों, और विशेषतः नागर व द्राविड़ शैलियों पर बने पाये जाते हैं।

ऐहोल का मेघुटी जैन मंदिर द्राविड़ शैली का सर्व प्राचीन कहा जा सकता है। इसी प्रकार का दूसरा जैन मंदिर इसी के समीप पट्टदकल ग्राम से पश्चिम की ओर एक मील पर स्थित है। इसमें किसी प्रकार का उत्कीर्णन नहीं है, व प्राण का घेरा पूरा बन भी नहीं पाया है। किन्तु शिखर का निर्माण स्पष्टतः द्राविड़ी शैली का है जो क्रमशः सिकुड़ती हुई भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता गया है। क्रमोन्नत भूमिकाओं की कपोत-पालियों में उसकी रूपरेखा का वही आकार-प्रकार अभिव्यक्त होता गया है। सबसे ऊपर सुन्दर स्तूपिका बनी है। इस मंदिर के निर्माण का काल भी वही ७ वीं शती है। यही शैली मद्रास से ३२ मील दक्षिण की ओर समुद्रतट पर स्थित मामल्लपुर के सुप्रसिद्ध रथों के निर्माण में पाई जाती है। वे भी प्रायः इसी काल की कृतियाँ हैं।

द्राविड़ शैली का आगामी विकास हमें दक्षिण के नाना स्थानों में पूर्ण व स्वस्त अवस्था में वर्तमान अनेक जैन मंदिरों में दिखाई देता है। इनमें से यहां केवल कुछ का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। तीर्थहल्लि के समीप हुंवच एक अति प्राचीन जैन केन्द्र रहा है व सन् ८२७ के एक लेख में वहां के मंदिर का उल्लेख है। किन्तु वहाँ के अनेक मंदिर ११ वीं शती में बीरसान्तर आदि सान्तरवंशी राजाओं द्वारा निर्मापित पाये जाते हैं। इनमें वही द्राविड़ शैली, वही अलंकरणरीति तथा सुन्दरता से उत्कीर्ण स्तम्भों की सत्ता पाई जाती है, जो इस काल की विशेषता है। जैन मठ के समीप आदिनाथ का मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। यह दुतल्ला है, जिसका ऊपरी भाग अभी कुछ काल पूर्व टीन के तख्तों से ढक दिया गया है। बाहरी दीवारों पर अत्युत्कृष्ट आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। किन्तु ये बहुत कुछ घिस व टूट फूट गई हैं। ऊपर के तल्ले पर जाने से मंदिर का शिखर अब भी देखा जा सकता है। इस मंदिर में दक्षिण भारतीय शैली की कांस्थ मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। इसी मंदिर के समीप की पहाड़ी पर

बाहुवनी मंदिर ध्वस्त अवस्था में विद्यमान है। किन्तु उसका गर्भगृह, सुखनासी, मंडप व सुन्दर सोपान-पथ तथा गर्भगृह के भीतर की सुन्दर मूर्ति अब भी दर्शनीय हैं। इस काल की कला का पूर्ण परिचय कराने वाला वह पंचकूड बस्ति नामक मंदिर है जो ग्राम के उत्तरी बाह्य भाग में स्थित है। एक छोटे से द्वार के भीतर प्रांगण में पहुंचने पर हमें एक विशाल स्तम्भ के दर्शन होते हैं, जिसपर प्रचुरता से सुन्दर चित्रकारी की गई है। प्रागे मुख्य मंदिर के गर्भालय में एक स्तम्भमय मंडप से होकर पहुंचा जाता है। मंडप में भी जैन देवियां व यक्षिणियां स्थापित हैं। गर्भगृह के दोनों पाश्वों में भी दो अपेक्षा-कृत छोटी भित्तियां हैं। इस मंदिर से उत्तर की ओर वह छोटा सा पार्श्वनाथ मंदिर है जिसकी छत की चित्रकारी में हमें तत्कालीन दक्षिण भारतीय शैली का सर्वोत्कृष्ट और अद्भुत स्वरूप देखने को मिलता है। इसी के सम्मुख चन्द्रनाथ मंदिर है, जो अपेक्षाकृत पीछे का बना है।

तीर्थहल्लि से अगुम्बे की ओर जाने वाले मार्ग पर गुड्ड नामक तीन हजार फुट से अधिक ऊंची एक पहाड़ी है, जिस पर अनेक ध्वंसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं, और उस स्थान को एक प्राचीन जैन तीर्थ सिद्ध करते हैं। एक पार्श्वनाथ मन्दिर अब भी इस पहाड़ी पर शोभायमान है, जो आसपास की सुविस्तृत पर्वत श्रेणियों व उर्वरा घाटियों को भव्यता प्रदान कर रहा है। पर्वत के शिखर पर एक प्राकृतिक जलकुंड के तट पर इस मंदिर का उच्च अधिष्ठान है। द्वार सुन्दरता से उत्कीर्ण है। सम्मुख मानस्तम्भ है। मंडप के स्तम्भ भी चित्रमय हैं, तथा गर्भगृह में पार्श्वनाथ की विशाल कायोत्सर्ग मूर्ति है जिसे एक दीर्घकाय नाग लपेटे हुए है, और ऊपर अपने सप्तमुखी फण्य की छाया किये हुए है। मूर्ति के शरीर पर नाग के दो सपेटे स्पष्ट दिखाई देते हैं, जैसा अन्यत्र प्रायः नहीं देखा जाता। पहाड़ के नीचे उतरते-हुए हमें जैन मंदिरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं। तीर्थंकरों की सुन्दर मूर्तियां व चित्रकारी-युक्त पाषाण-खंड प्रचुरता से यत्र-तत्र बिखरे दिखाई देते हैं, जिनसे इस स्थान का प्राचीन समृद्ध इति-हास आखों के सम्मुख झूल जाता है।

घारबाड़ जिले में गडग रेलवे स्टेशन से सात मील दक्षिण-पूर्व की ओर लकुंडी (लौकिक गुंडी) नामक ग्राम है, जहां दो सुन्दर जैन मन्दिर हैं। इनमें के बड़े मंदिर में सन् ११७२ ई० का शिलालेख है। यह भी ऐहोल व पट्टदकल के मंदिरों के समान विशाल पाषाण-खंडों से बिना किसी बूने-सीमेंट के निर्मित किया गया है। माना भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता हुआ द्राविड़ी शिखर सुस्पष्ट है। यहां खुरहरे रेतीले पत्थर का नहीं, किन्तु चिकने काले पत्थर का उपयोग किया गया; और इस

परिवर्तन के अनुसार स्थापत्य में भी कुछ सूक्ष्मता व लालित्य का वैशिष्ट्य आ गया है। ऊपर की ओर उठती हुई भूमिकाओं की कपोतपालियाँ भी कुछ विशेष सूक्ष्मता व लालित्य को लिये हुए हैं। कोनों पर व बीच-बीच में टोपियों के निर्माण ने एक नवीन कलात्मकता उत्पन्न की है, जो आगामी काल में उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। ऊपर के तल्ले में भी गर्भगृह व तीर्थंकर की मूर्ति है, तथा शिखर-भाग इतना ऊँचा उठा हुआ है कि जिससे एक विशेष भव्यता का निर्माण हुआ है। शिखर की स्तूपिका की बनावट में एक विशेष संतुलन दिखाई देता है। भित्तियों पर भी चित्रकारी की विशेषता है। छोटे-छोटे कमानीदार आलों पर कीर्तिमुखों का निर्माण एक नई कला है, जो इससे पूर्व की कृतियों में प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐसे प्रत्येक आले में एक-एक पद्मासन जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। भित्तियाँ स्तम्भाकृतियों से विभाजित हैं, जिनके कुछ अन्तरालों में छोटी-छोटी मंडपाकृतियाँ बनाई गई हैं। यहाँ महावीर भगवान् की बड़ी सुन्दर मूर्ति विराजमान थी जो इधर कुछ वर्षों से दुर्भाग्यतः विलुप्त हो गई है। भीतरी मंडप के द्वार पर पूर्वोक्त लेख खुदा हुआ है। ऊपर पद्मासन जिनमूर्ति है और उसके दोनों ओर चन्द्र-सूर्य दिखाये गये हैं। लकुंडी के इस जैन मंदिर ने द्राविड़ वास्तु-शिल्प को बहुत प्रभावित किया है।

द्राविड़ वास्तु-कला चालुक्य काल में जिस प्रकार पुष्ट हुई वह हम देख चुके हैं। इसके पश्चात् होयसल राजवंश के काल में (१३ वीं शती में) उसमें और भी वैशिष्ट्य व सौष्ठव उत्पन्न हुआ जिसकी विशेषता है अलंकरण की रीति में समुन्नति। इस काल की वास्तु-कला, न केवल पूर्वकालीन पाषाणोत्कीर्ण कला को आगे बढ़ाती है, किन्तु उसपर तत्कालीन दक्षिण भारत की बंदन, हाथीदांत व धातु की निमित्तियों आदि का भी प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप पाषाण पर भी कारीगरों की छैनी अधिक कौशल से चली है। इस कौशल के दर्शन हमें जिननाथपुर व हलेबीड के जैनमन्दिरों में होते हैं। जिननाथपुर श्रवण बेलगोला से एक मील उत्तर की ओर है। ग्राम का नाम ही बतला रहा है कि वहाँ जैन मंदिरों की प्रख्याति रही है। यहाँ का शातिनाथ मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। इसे रेचिमय्य नामक सज्जन ने बनवाकर सन् १२०० ई० के लगभग सागरनन्दि सिद्धान्तदेव को सौंपा था। गर्भगृह के द्वारपालों की मूर्तियाँ देखने योग्य हैं। नवरंग के स्तम्भों पर बड़ी सुन्दर व बारीक चित्रकारी की गई है। छतों की खुदाई भी देखने योग्य है। बाह्य भित्तियों पर रेखा-चित्रों व बेल-बूटों की प्रचुरता से खुदाई की गई है तथा तीर्थंकरों व यक्ष-यक्षियों आदिकी प्रतिमाएँ भी सौन्दर्य-पूर्ण बनी हैं। गर्भगृह में शान्तिनाथ भगवान् की सिंहासनस्थ मूर्ति भी कौशलपूर्ण रीति से बनी है।

हलेबीड में होय्सलेस्वर मंदिर के समीप हल्लि नामक ग्राम में एक ही घेरे के भीतर तीन जैनमंदिर हैं, जिनमें पार्श्वनाथ मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। मंदिर के अधिष्ठान व बाह्य भित्तियों पर बड़ी सुन्दर आकृतियां बनी हैं। नवरंग मंडप में शिखर युक्त अनेक वेदिकाएं हैं, जिनमें पहले २४ तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित रही होंगी। छत की चित्रकारी इतनी उत्कृष्ट है कि जैसी सम्भवतः हलेबीड भर में अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। यह छत १२ अतिसुन्दर आकृति वाले काले पाषाण के स्तम्भों पर आधारित है। इन स्तम्भों की रचना, खुदाई और सफाई देखने योग्य है। उनकी घुटाई तो ऐसी की गई है कि उसमें आज भी दर्शक दर्पण के समान अपना मुख देख सकता है। पार्श्वनाथ की १४ फुट ऊंची विशाल मूर्ति सप्तफणी नाग से युक्त है। मूर्ति की मुखमुद्रा सच्चे योगी की ध्यान व शान्ति की छटा को लिये हुए हैं। शेष दो आदिनाथ व शांतिनाथ के मंदिर भी अपना अपना सौन्दर्य रखते हैं। ये सभी मन्दिर १२वीं शती की कृतियां हैं।

होय्सल काल के पश्चात् विजयनगर राज्य का युग प्रारम्भ होता है, जिसमें द्राविड वास्तु-कला का कुछ और भी विकास हुआ। इस काल की जैन कृतियों के उदाहरण गनीगित्ति, तिरुमल्लाड, तिरुपहत्तिकुंडरम, तिरुप्पनसूर, मूडविद्री आदि स्थानों में प्रचुरता से पाये जाते हैं। इनमें वर्तमान में सबसे प्रसिद्ध मूडविद्री का चन्द्रनाथ मंदिर है, जिसका निर्माण १४वीं शती में हुआ है। यह मंदिर एक घेरे के भीतर है। द्वार से प्रवेश करने पर प्रागण में अतिसुन्दर मानस्तम्भ के दर्शन होते हैं। मन्दिर में लगातार तीन मंडप-शालाएं हैं, जिनमें होकर विमान (शिखर युक्त गर्भगृह) में प्रवेश होता है। मंडपों के अलग-अलग नाम हैं—तीर्थंकरमंडप, गद्दीमंडप व चित्रमंडप। मंदिर की बाह्यकृति काष्ठ-रचना का स्मरण कराती है। किन्तु भीतरी समस्त रचना पाषाणोचित ही है। स्तम्भ बड़े स्थूल और कोई १२ फुट ऊंचे हैं, जिनका निचला भाग चौकोर है व शेष ऊपरी भाग गोलाकर घुमावदार व कमल-कलियों की आकृतियों से अलंकृत है। चित्रमंडप के स्तम्भ विशेष रूप से उत्कीर्ण हैं। उनपर कमलदलों की खुदाई असाधारण सौष्ठव और सावधानी से की गई है।

जैन बिहार का सर्वप्रथम उल्लेख पहाड़पुर (जिला राजशाही-बंगाल) के उस ताम्रपत्र के लेख में मिलता है जिसमें पंचस्तूप निकाय या कुल के निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य गुहर्नदि तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों से अधिष्ठित बिहार मंदिर में अर्हत्तों की पूजा-अर्चा के निमित्त अक्षयदान दिये जाने का उल्लेख है। यह गुप्त सं० १५६ (ई० ४७२) का है। लेख में इस बिहार की स्थिति बट-गोहाली में बताई गई है। अनुमानतः यह

बिहार मही होना चाहिये जो पहाड़पुर की क्षुब्धार्थ से प्रकाश में आया है। सातवीं शती के पश्चात् किसी समय इस बिहार पर बौद्धों का अधिकार हो गया, और वह सोमपुर महाबिहार के नाम से प्रख्यात हुआ। किन्तु ७ वीं शती में ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा वर्णन में इस बिहार का कोई उल्लेख नहीं किया, जिससे स्पष्ट है कि उस समय तक वह बौद्ध केन्द्र नहीं बना था। बैन्जामिन रोलेम्ब (आर्ट एन्ड आर्किटेक्चर ओफ इंडिया) के मतानुसार अनुमानतः पहले यह ब्राह्मणों का केन्द्र रहा है, और पीछे इस पर बौद्धों का अधिकार हुआ। किन्तु यह बात सर्वथा इतिहास-विरुद्ध है। एक तो उस प्राचीन काल में उक्त प्रदेश में ब्राह्मणों के ऐसे केन्द्र या देवालय आदि स्थापित होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते; और दूसरे बौद्धों ने कभी ब्राह्मण आयतनों पर अधिकार किया हो, इसके भी उदाहरण पाना दुर्लभ है। उक्त ताअपटलेखके प्रकाश से यह सिद्ध हो जाता है कि यहां पांचवीं शताब्दी में जैन बिहार विद्यमान था, और इस स्थान का प्राचीन नाम वट-गोहाली था। सम्भव है यहां उस समय कोई महान् वटवृक्ष रहा हो, और उसके आसपास जैन मुनियों के निवास योग्य गुफाओं की आवली (पंक्ति) रही हो, जिससे इसका नाम वट-गोहाली (वट-गुफा-आवली) पड़ गया हो। जैसा धन्यत्र कहा जा चुका है, वटखंडागम के प्रकाण्ड विद्वान् टीकाकार वीरसेन और जिनसेन इसी पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे। अतएव यह जैन बिहार बिद्या का भी महान् केन्द्र रहा हो तो आश्चर्य नहीं। प्रतीत होता है ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों में पूर्व में यह वट-गोहाली बिहार, उत्तर में मथुरा का विहार, पश्चिम में सौराष्ट्र में गिरिनगर की चन्द्र-गुफा, और दक्षिण में अवणवेलगोला, ये देश की चारों दिशाओं में धर्म व शिक्षा प्रचार के सुवृद्ध जैन केन्द्र रहे हैं।

सुदाई से अभिव्यक्त पहाड़पुर बिहार बड़े विशाल आकार का रहा है, और अपनी रचना व निर्मिति में अपूर्व गिना गया है। इसका परकोटा कोई एक हजार वर्ग का रहा है, जिसके चारों ओर १७५ से भी अधिक गुफाकार कोष्ठ रहे हैं। इस चौक की चारों दिशाओं में एक-एक विशाल द्वार रहा है, और चौक के ठीक मध्य में स्वस्तिक के आकार का सर्वतोभद्र मंदिर है, जो लगभग साढ़े तीन सौ फुट लम्बा-चौड़ा है। उसके चारों ओर प्रवक्षिणा बनी हुई है। मंदिर तीन तल्लों का रहा है, जिसके दो तल्ले प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। विद्वानों ने इस बिहार की रचना को बड़ा विलक्षण (अपूर्व) माना है, तथा उसकी तुलना बर्मा के पैगाम तथा जावा के लोरो सोन्धाम आदि मंदिरों से की है। किन्तु स्पष्टतः जैन परम्परा में अतुर्मुखी मंदिरों का प्रचार बराबर चला आया है व आवू के त्रिमुखी मंदिर में भी पाया जाता है, और दीक्षित महोदय ने इस

संभावना का संकेत भी किया है। (भा० वि० भ० इति० भाग ५-६३७)

मध्यभारत में आने पर हमें दो स्थानों पर प्राचीन जैन तीर्थों के दर्शन होते हैं। इनकी विख्याति शताब्दियों तक रही, और क्रमशः अधिकाधिक मंदिर निर्माण होते रहे और उनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराई जाती रहीं, जिनसे ये स्थान देवनगर ही बन गये। इनमें से प्रथम स्थान है—देवगढ़ जो भांसी जिले के अन्तर्गत ललितपुर रेलवे स्टेशन से १६ मील तथा जारवलून स्टेशन से ६ मील दूर बेतवा नदी के तट पर है। देवगढ़ की पहाड़ी कोई एक मील लम्बी व ६ फुलिंग चौड़ी है। पहाड़ी पर चढ़ते हुए पहले गढ़ के खंडहर मिलते हैं, जिनकी पाषाण-कारीगरी दर्शनीय है। इस गढ़ के भीतर क्रमशः दो और कोट हैं, जिनके भीतर अनेक मंदिर जीर्ण अवस्था में दिखाई देते हैं। कुछ मंदिर हिन्दू हैं, किन्तु अधिकांश जैन, जिनमें ३१ मंदिर गिने जा चुके हैं। इनमें मूर्तियों, स्तम्भों, दीवारों, शिलालेखों आदि पर शिलालेख भी पाये गये हैं, जिनके आधार से इन मंदिरों का निर्माण आठवीं से लेकर बारहवीं शती तक का सिद्ध होता है। सबसे बड़ा १२ वें नम्बर का शांतिनाथ मंदिर है, जिसके गर्भगृह में १२ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा है। गर्भगृह के सम्मुख लगभग ४२ फुट का चौकोर मंडप है जिसमें छह-छह स्तम्भों की छह कतारें हैं। इस मंडप के मध्य में भी वेदी पर एक मूर्ति विराजमान है। मंडप के सम्मुख कुछ दूरी पर एक और छोटा सा चार स्तम्भों का मंडप है जिनमें से एक स्तम्भ पर भोजदेव के काल (वि० सं० ६१६, ई० सन् ८६२) का एक लेख भी उत्कीर्ण है। लेख में वि० सं० के साथ-साथ शक सं० ७८४ का भी उल्लेख है। बड़े मंडप में बाहुबली की एक मूर्ति है जिसका विशेष वर्णन आगे करेंगे। यथार्थतः यही मंदिर यहां का मुख्य देवालय है; और इसी के आसपास अन्य व अपेक्षा-कृत इससे छोटे मंदिर हैं। गर्भगृह और मुखमंडप प्रायः सभी मंदिरों का दिखाई देता है, या रहा है। स्तम्भों की रचना विशेष दर्शनीय है। इनमें प्रायः नीचे-ऊपर चारों दिशाओं में चार-चार मूर्तियाँ उत्कीर्ण पाई जाती हैं। यत्र-तत्र भित्तियों पर भी प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। कुछ मंदिरों के तोरण-द्वार भी कलापूर्ण रीति से उत्कीर्ण हैं। कहीं-कहीं मंदिर के सम्मुख मानस्तम्भ भी दिखाई देता है। प्रथम मंदिर प्रायः १२ वें मंदिर के सदृश, किन्तु उससे छोटा है। पांचवां मंदिर सहस्रकूट चैत्यालय है, जो बहुत कुछ अक्षत है और उसके कूटों पर कोई १००८ जिन प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। जिन मंदिरों के शिखरों का आकार देखा या समझा जा सकता है, उन पर से इनका निर्माण नागर शैली का सुस्पष्ट है। पुरातत्व विभाग की सन् १९१८ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार देवगढ़ से कोई २०० शिलालेख मिले हैं, जिनमें से कोई ६० में उनका लेखन-काल भी

अंकित है, जिनसे वे वि० सं० ६१६ से लेकर वि० सं० १८७६ तक के पाये जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस क्षेत्र का महत्व १६ वीं शती तक बना रहा है। लिपि-विकास व भाषा की दृष्टि से भी इन लेखों का बड़ा महत्व है।

मध्य भारत का दूसरा देवालय-नगर खजुराहो छतरपुर जिले के पन्ना नामक स्थान से २७ मील उत्तर व महोवा से ३४ मील दक्षिण की ओर है। यहां शिव, विष्णु व जैन मंदिरों की ३० से ऊपर संख्या है। जैन मंदिरों में विशेष उल्लेखनीय तीन हैं—पार्श्वनाथ, आदिनाथ, और शांतिनाथ-जिनमें प्रथम पार्श्वनाथ सबसे बड़ा है। इसकी लम्बाई चौड़ाई ६८ × ३४ फुट है। इसका मुखमंडप ध्वस्त हो गया है। महामंडप, अन्तराल और गर्भगृह सुरक्षित हैं और वे एक ही प्रदक्षिणा-मार्ग से घिरे हुए हैं। गर्भगृह से सटकर पीछे की ओर एक पृथक् देवालय बना हुआ है, जो इस मंदिर की एक विशेषता है। प्रदक्षिणा की दीवार में ग्राम्यन्तर की ओर स्तम्भ हैं, जो छत को आधार देते हैं। दीवार में प्रकाश के लिये जालीदार वातायन हैं। मंडप की छत पर का उत्कीर्णन उत्कृष्ट शैली का है। छत के मध्य में लोलक को बेलबूटो व उड़ती हुई मानवाकृतियों से अलंकृत किया गया है। प्रवेशद्वार पर गरुड़वाहिनी दशभुज (सरस्वती) मूर्ति भी बड़ी सुन्दर बनी है। गर्भगृह की बाह्य भित्तियों पर अप्सराओं की मूर्तियां इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें अपने ढंग की सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। उत्तर की ओर बच्चे को दूधपिलाती हुई, पत्र लिखती हुई, पैर में से कांटा निकालती हुई एवं शृंगार करती हुई स्त्रियों आदि की मूर्तियां इतनी सजीव और कलापूर्ण हैं कि वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ये सब भाव लौकिक जीवन के सामान्य व्यवहारों के हैं, धार्मिक नहीं। यह इस मंदिर की कलाकृतियों की अपनी विशेषता है। सबसे बाहर की भित्तियों पर निचले भाग में कलापूर्ण उत्कीर्णन है और ऊपर की ओर अनेक पट्टियों में तीर्थंकरों एवं हिन्दू देव-देवियों की बड़ी सुन्दर आकृतियां बनी हैं। इस प्रकार इस मंदिर में हम नाना धर्मों, एवं धार्मिक व लौकिक जीवन का अद्भुत समन्वय पाते हैं। मन्दिर के गर्भगृह में वेदी भी बड़ी सुन्दर आकृति की बनी है, और उसपर बैल की आकृति उत्कीर्ण है। इससे प्रतीत होता है कि आदितः इस मंदिर के मूल नायक वृषभनाथ तीर्थंकर थे, क्योंकि वृषभ उन्हीं का चिन्ह है। अनुमानतः वह मूर्ति कसी समय नष्ट-भ्रष्ट हो गई और तत्पश्चात् उसके स्थान पर पार्श्वनाथ की वर्तमान मूर्ति स्थापित कर दी गई। मंदिर व सिंहासन की कलापूर्ण निर्मिति की अपेक्षा यह मूर्ति हीन-कलात्मक है। इससे भी वही बात सिद्ध होती है। ऐसी ही कुछ स्थिति आदिनाथ मंदिर की भी है, क्योंकि उसमें जो आदिनाथ की मूर्ति विराजमान है वह

सिंहासन के प्रमाण से छोटी तथा कला की दृष्टि से सामान्य है। यह मंदिर पार्श्वनाथ मंदिर के समीप ही उत्तर की ओर स्थित है। इस मंदिर में भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन ही कोष्ठ हैं, जिनमें से भद्रमंडप बहुत पीछे का बना हुआ है। इसके प्रवेश द्वार पर चतुर्भुज देवी की मूर्ति है और उससे ऊपर १६ स्तंभों के चिन्ह उत्कीर्ण हैं। शान्तिनाथ मंदिर की विशेषता यह है कि उसमें शान्तिनाथ तीर्थंकर की १५ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा विराजमान है, जिसकी प्रतिष्ठा का काल वि० सं० १०८५ ई० (सन् १०२८) अंकित है। इसी से कुछ पूर्व इस मंदिर का निर्माण हुआ होगा। शेष मंदिरों का निर्माण-काल भी इसी के कुछ आगे-पीछे का प्रतीत होता है। इस मूर्ति के अतिरिक्त वहां पाई जाने वाली अन्य तीर्थंकरों व यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियां कलापूर्ण हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के दोनों पार्श्वों में प्रायः दो चमर-वाहक, सम्मुख बैठी हुई दो उपासिकाएं तथा मूर्तियों के अगल-बगल कुछ ऊपर हस्ति-आरुद्र इन्द्र व इन्द्राणी की आकृतियां पाई जाती हैं; तथा पीठपर दोनों ओर सिंह की आकृतियां भी दिखाई देती हैं। खजराहो के ये समस्त मंदिर अधिष्ठान से शिखर तक नाना प्रकार की कलापूर्ण आकृतियों से उत्कीर्ण हैं।

खजराहो के जैन मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनमें मंडप को अपेक्षा शिखर की रचना का ही अधिक महत्व है। अन्यत्र के समान भूमिति और देव-कुलिकाएं भी नहीं हैं, तथा रचना व अलंकृति में जिन मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य ऐसी विशेषता नहीं है जो उन्हें यहां के हिन्दू व बौद्ध मन्दिरों से पृथक् करती हो। एक ही काल और सम्भवतः उदार सहिष्णु एक ही नरेश के संरक्षण में बनवाये जाने से उनमें विचार-पूर्वक समत्व रखा गया प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पाये जाने वाले दो अन्य मन्दिरों के सम्बन्ध में जेम्स फर्गुसन साहब का अभिमत उल्लेखनीय है। चौसठ योगिनी मन्दिर की भूमिति व देवकुलिकाओं के सम्बन्ध में उनका कहना है कि “मन्दिर निर्माण की यह रीति यहाँ तक जैन विशेषता लिये हुए है कि इसके मूलतः जैन होने में मुझे कोई संशय नहीं है।” मध्यवर्ती मन्दिर अब नहीं है, और फर्गुसन साहब के मतानुसार आश्चर्य नहीं जो वह प्राचीन बौद्ध चैत्यों के समान काष्ठ का रहा हो। और यदि यह बात ठीक हो तो यही समस्त प्राचीनतम जैन मन्दिर सिद्ध होता है। उसी प्रकार घंटाई मन्दिर के अवशिष्ट मंडप को भी वे उसकी रचनाशैली पर से जैन स्वीकार करते हैं। इसमें प्राप्त खंडित लेख की लिपि पर से कनिंघम साहब ने उसे छठी-सातवीं शती का अनुमान किया है, और फर्गुसन साहब उसकी शैली पर से भी यही काल-निर्णय करते हैं।

ग्वालियर राज्य में विदिशा से १४० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर ग्यारसपुर

में श्री एक भग्न जैन मन्दिर का मंडप विद्यमान है, जो अपने विन्यास व स्तम्भों की रचना आदि में खजुराहो के घंटाई मंडप के ही सदृश है। उसका निर्माण-काल भी फर्गुसन साहब ने सातवीं शती, अथवा निश्चय ही १० वीं शती से पूर्व, अनुमान किया है। इसी ग्यारसपुर में संभवतः इसी काल का एक अन्य मन्दिर भी है जो इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है और उसका जीर्णोद्धार इस तरह किया गया है कि उसका समस्त मौलिक रूप ढक गया है। यहाँ ग्राम में एक संभवतः ११ वीं शती का अति-सुन्दर पाषाण-तोरण भी है। यथार्थतः फर्गुसन साहब के मतानुसार वहाँ आसपास के समस्त प्रदेश में इतने भग्नावशेष विद्यमान हैं कि यदि उनका विधिवत् संकलन व अध्ययन किया जाय तो भारतीय वास्तु-कला, और विशेषतः जैन वास्तुकला, के इतिहास के बड़े दीर्घ रिक्त स्थानों की पूर्ति की जा सकती है।

मध्यप्रदेश में तीन और जैन तीर्थ हैं जहाँ पहाड़ियों पर अनेक प्राचीन मन्दिर बने हुए हैं, और आज तक भी नये मन्दिर अविच्छिन्न क्रम से बनते जाते हैं। ऐसा एक तीर्थ बुंदेलखंड में इतिया के समीप सुवर्णगिरि (सोनागिरि) है। यहाँ एक नीची पहाड़ी पर लगभग १०० छोटे-बड़े एवं नाना आकृतियों के जैन मन्दिर हैं। जिस रूप में ये मन्दिर विद्यमान हैं वह बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होता। उसमें मुसलमानी शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनके शिखर प्रायः मुगलकालीन गुम्बज के आकार के हैं। शिखर का प्राचीन स्वदेशीय रूप क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है, और खुले भागों का रूप मुसलमानी कोणाकार तोरण जैसा दिखाई देता है। यद्यपि इसका इतिहास स्पष्ट नहीं है कि इस तीर्थक्षेत्र में प्रचीनतम मन्दिर कब, क्यों और कैसे बने, तथापि इसकी कुछ सामग्री वहाँ के उक्त मन्दिरों, मूर्तियों व लेखों के अध्ययन से संकलित की जा सकती है।

दूसरा तीर्थक्षेत्र बैतूल जनपदान्तर्गत मुस्तागिरि है। यहाँ एक अतिसुन्दर पहाड़ी की घाटी के समतल भाग में कोई २०-२५ जैन मन्दिर हैं, जिनके बीच लगभग ६० फुट ऊँचा जलप्रपात है। इसका वृक्ष विशेषतः वर्षाकाल में अत्यन्त रमणीक प्रतीत होता है। ये मन्दिर भी सोनागिरि के समान बहुत प्राचीन नहीं हैं, और अपने शिखर आदि के संबंध में मुसलमानी शैली का अनुकरण करते हैं। किन्तु यहाँ की मूर्तियों पर के लेखों से ज्ञात होता है कि १४ वीं शती में यहाँ कुछ मंदिर अवश्य रहे होंगे। इस तीर्थ के विषय में श्री जेम्स फर्गुसन साहब ने अपनी हिस्ट्री ऑफ इंडिया एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर (लंदन, १८७६) में कहा है कि “समस्त भारत में इसके सदृश दूसरा स्थान पाना दुर्लभ है, वहाँ प्रकृति की शोभा का वास्तुकला के साथ ऐसा सुन्दर सामं-

अस्य हुम्मा हो ।”

मध्यप्रदेश का तीसरा जैन तीर्थ हमोह के समीप कुंडलपुर नामक स्थान है, जहाँ एक कुंडलाकार पहाड़ी पर २५-३० जैन मंदिर बने हुए हैं। पहाड़ी के मध्य एक घाटी में बना हुआ महावीर का मंदिर अपनी विशालता, प्राचीनता व मान्यता के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यहां बड़ेबाबा महावीर की विशाल मूर्ति होने के कारण यह बड़ेबाबा का मंदिर कहलाता है। पहाड़ी पर का प्रथम मंदिर भी अपने सौन्दर्य व रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपने शिखर के छह तलों के कारण यह छह धरिया का मंदिर कहलाता है। अधिकांश मंदिरों में पूर्वोक्त तीर्थ-क्षेत्रों के सदृश मुगलशैली का प्रभाव दिखाई देता है। पहाड़ी के नीचे का तालाब और उसके तटवर्ती नये मंदिरों की शोभा भी दर्शनीय है।

मध्यप्रदेश के जिला नगर खरगोन से पश्चिम की ओर दश मील पर ऊन नामक ग्राम में तीन-चार प्राचीन जैन मन्दिर हैं। इनमें से एक पहाड़ी पर है जिसकी मरम्मत होकर अच्छा तीर्थस्थान बन गया है। शेष मन्दिर भग्नावस्था में पुरातत्व विभाग के संरक्षण में हैं। मन्दिर पूर्णतः पाषाण-खंडों से निर्मित, चपटी छत व गर्भगृह और सभामंडप युक्त तथा प्रदक्षिणा-रहित हैं जिनसे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है जो खजुराहो के मन्दिरों की कला से मेल खाता है। चतुर्द्वार होने से दो मन्दिर चौबारा डेरा कहलाते हैं। खंभों पर की कुछ पुरुष-स्त्री रूप भक्तितयां श्रृंगारात्मक अतिमुन्दर और पूर्णतः सुरक्षित हैं। कुछ प्रतिमाओं पर लेख है जिनमें संवत् १२५८ व उसके आसपास का उल्लेख है। अतः यह तीर्थ कम से कम १२-१३ वीं शती का तो अवश्य है। इस तीर्थ स्थान को प्राचीन सिद्धक्षेत्र पाषाणगिरि ठहराया गया है जिसका प्राकृत निर्वाणकाण्ड में निम्न प्रकार दो बार उल्लेख आया है:—

रायसुम्मा वेणिए जणा लाड-एरिदाण पंच-कोडीओ ।

पाषाणिरि-वर-सिहरे शिब्बाण गया गुमो तेसि ॥५॥

पाषाणिरि-वर-सिहरे सुवण्णभद्दाइ-मुणिवरा चउरो ।

अलण्ण-एई-सडग्गे शिब्बाण गया गुमो तेसि ॥१३॥

यहां पाषाणगिरि से साट (गुजरात) के नरेशों तथा सुवर्णभद्रादि चार मुनियों द्वारा निर्वाण प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। यह प्रदेश गुजरात से लगा हुआ है। उल्लिखित जलना या जेलना नदी संभवतः ऊन के समीप बहने वाली वह सरिता है जो अब चंदेरी या चिहण्ड कहलाती है। नि, कां, की उपर्युक्त १३ वीं शताब्दी से पूर्व ही

रेवा (नर्मदा) के उभयतट, उसके पश्चिम तट पर सिद्धवर कूट तथा बड़वानी नगर के दक्षिणमें बूलगिरि शिखर का सिद्ध क्षेत्र के रूप में उल्लेख है। इन्हीं स्थलों के समीपवर्ती होने से यह स्थान पावागिरि प्रमाणित होता है। ग्राम के आसपास और भी अनेक खंडहर दिखाई देते हैं। जनश्रुति है कि यहां बल्लाल नामक नरेश ने व्याधि से मुक्त होकर सौ मन्दिर बनवाने का संकल्प किया था, किन्तु अपने जीवन में वह ९९ ही बनवा पाया। इस प्रकार एक मन्दिर कम रह जाने से यह स्थान 'ऊन' नाम से प्रसिद्ध हुआ (इन्दौर स्टेट गजेटियर, भाग १ पृ० ६६९)। हो सकता है ऊन नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये ही यह आख्यान गढ़ा हो। किन्तु यदि उसमें कुछ ऐतिहासिकता हो तो बल्लाल नरेश होयसल वंश के वीर-बल्लाल (द्वि०) हो सकते हैं जिनके गुरु एक जैन मुनि थे। (पृ० ४०)

मध्यप्रदेश के पश्चात् हमारा ध्यान राजपूताने के मंदिरों की ओर जाता है। अजमेर के समीप बड़ली ग्राम से एक स्तम्भ-खंड मिला है जिसे वहां के भैरोंजी के मंदिर का जारी तमाखू कूटने के काम में लाया करता था। यह षट्कोण स्तम्भ का खंड रहा है जिसके तीन पहलू इस पाषाण-खंड में सुरक्षित हैं, और उनपर $13 \times 10\frac{1}{2}$ इंच स्थान में एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि विद्वानों के मतानुसार अशोक की लिपियों से पूर्वकालीन है। भाषा प्राकृत है, और उपलब्ध लेख-खंड पर से इतना स्पष्ट पढ़ा जाता है कि वीर भगवान् के लिये, अथवा भगवान् के, ८४ वे वर्ष में मध्यमिका में कुछ निर्माण कराया गया। इस पर से अनुमान होता है कि महावीर-निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई० पू० ४४३) में दक्षिण-पूर्व राजपूताने की उस अति-प्राचीन व इतिहास-प्रसिद्ध मध्यमिका नामक नगरी में कोई मंडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

दुर्भाग्यतः इसके दीर्घकाल पश्चात् तक की कोई निर्मितियां हमें उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु साहित्य में प्राचीन जैन मन्दिरों आदि के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ, जैन हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में इसके कर्ता जिनसेनाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक संवत् ७०५ (ई० ७८३) में उन्होंने वर्धमानपुर के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ के मंदिर) की अक्षराज-वसति में बैठकर हरिवंशपुराण की रचना की और उसका जो भाग शेष रहा उसे वहीं के शान्तिनाथ मन्दिर में बैठकर पूरा किया। उस समय उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण में कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ व पश्चिम में वत्सराज तथा सौरमंडल में वीरवराह नामक राजाओं का राज्य था। यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का वर्तमान बड़वान माना जाता है। किन्तु मैंने अपने एक लेख में सिद्ध किया है कि

हरिवंशपुराण में उल्लिखित वर्धमानपुर मध्यप्रदेश के धार जिले में स्थित वर्तमान बदनावर है, जिससे १० मील दूरी पर स्थित वर्तमान दुतरिखा नामक गांव प्राचीन दोस्तरिका होना चाहिये, जहां की प्रजा ने, जिनसेन के उल्लेखानुसार, उस शान्तिनाथ मंदिर में विशेष पूजा-अर्चा का उत्सव किया था। इस प्रकार वर्धमानपुर में आठवीं शती में पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ के दो जैन मंदिरों का होना सिद्ध होता है। शान्तिनाथ मंदिर ४०० वर्ष तक विद्यमान रहा। इसका प्रमाण हमें बदनावर से प्राप्त अच्छुप्ता-देवी की मूर्ति पर के लेख में पाया जाता है, क्योंकि उसमें कहा गया है कि सम्बत् १२२६ (ई० ११७२) की वैशाख कृष्ण सप्तमी को वह मूर्ति वर्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में स्थापित की गई (जैन सि० भा० १२, २, पृ० ६ आदि, तथा जैन एन्टी-क्वेरी १७, २, पृ० ५६)। इसके पश्चात् वहां के उक्त मन्दिर कब ध्वस्त हुए, कहा नहीं जा सकता।

जोधपुर से पश्चिमोत्तर दिशा में ३२ मील पर ओसिया रेलवे स्टेशन के समीप ही ओसिया नामक ग्राम के बाह्य भाग में अनेक प्राचीन हिन्दू और जैन मंदिर हैं, जिनमें महावीर मंदिर अब भी एक तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यह मंदिर एक घेरे के बीच में स्थित है। घेरे से सटे हुए अनेक कोष्ठ बने हैं। मंदिर बहुत सुन्दराकृति है। विशेषतः उसके मंडप के स्तम्भों की कारीगरी दर्शनीय है। इसकी शिखरादि-रचना नागर शैली की है। यहां एक शिलालेख भी है, जिसमें उल्लेख है कि ओसिया का महावीर मंदिर गुर्जर-प्रतीहार नरेश वत्सराज (नागभट द्वितीय के पिता ७७०-८०० ई०) के समय में विद्यमान था, तथा उसका महामंडप ई० सन् ६२६ में निर्माण कराया गया था। मंदिर में पीछे भी निर्माण-कार्य होता रहा है, किन्तु उसका मौलिक रूप नष्ट नहीं होने पाया। उसका कलात्मक सन्तुलन बना हुआ है, और ऐतिहासिक महत्व रखता है।

मारवाड़ में ही दो और स्थानों के जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। फालना रेलवे स्टेशन के समीप साबडी नामक ग्राम में ११ वीं शती से १६ वीं शती तक के अनेक हिन्दू व जैन मन्दिर हैं। विशेष महत्वपूर्ण जैन मन्दिर वर्तमान जैन धर्मशाला के घेरे में स्थित हैं। शैली में ये मन्दिर पूर्वोक्त प्रकार के ही हैं, और शिखर नागर शैली के ही बने हुए हैं। मारवाड़-जोधपुर रेलवे लाइन पर मारवाड़-पल्ली स्टेशन के समीप नौलखा नामक वह जैन मन्दिर है जिसे अल्लुखादेव ने सम्बत् १२१८ (ई० सन् ११६१) में बनवाया था। किन्तु इसमें जो तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं उनमें वि० सं० ११४४ से १२०१ तक के लेख पाये जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उक्त मन्दिर

से पूर्व भी यहाँ मन्दिर रहा है ।

अब हम आबू के जैन मन्दिरों पर आते हैं, जहाँ न केवल जैन कला, किन्तु भारतीय वास्तुकला अपने सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप में पाई जाती है । आबूरोड स्टेशन से कोई १८ मील, तथा आबू कैम्प से सवा मील पर बेलवाड़ा नामक स्थान है, जहाँ ये जैन मन्दिर पाये जाते हैं । ग्राम के समीप समुद्रतल से चार-पाँच हजार फुट ऊँची पहाड़ी पर एक विशाल परकोटे के भीतर विमल-वसही, लूण-वसही, पितलहर, चोमुखा और महावीर स्वामी नामक पाँच मन्दिर हैं । इन मन्दिरों की ओर जाने वाले पथ की दूसरी बाजू पर एक दिगम्बर जैनमन्दिर है । इन सब मन्दिरों में कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं प्रथम दो । विमलवसही के निर्माण-कर्ता विमलशाह पोरवाड़ बंशी, तथा चालुक्यवंशी नरेश भीमदेव प्रथम के मंत्री व सेनापति थे । उनके कोई पुत्र नहीं था । उन्होंने अपना अपार धन व्यय करके, प्राचीन वृत्तान्तानुसार, स्वर्ण मुद्राएं बिछाकर बह भूमि प्राप्त की, और उसपर आदिनाथ तीर्थंकर का मन्दिर बनवाया । यह मन्दिर पूरा का पूरा श्वेत संगमरमर पत्थर का बना हुआ है । जनश्रुति के अनुसार इस मन्दिर के निर्माण में १८ करोड़ ५३ लाख सुवर्ण मुद्राओं का व्यय हुआ । संगमरमर की बड़ी-बड़ी शिलाएं पहाड़ी के तल से हाथियों द्वारा उतनी ऊँची पहाड़ी पर पहुँचाई गई थी । तथा आदिनाथ तीर्थंकर की सुवर्ण-मिश्रित पीतल की ४ फुट ३ इंच की विशाल पद्मासन मूर्ति ढलवाकर प्रतिष्ठित की । यह प्रतिष्ठा वि० सं० १०८८ (ई० १०३१) में मोहम्मद गौरी द्वारा सोमनाथ मन्दिर के विनाश से ठीक सात वर्ष पश्चात् हुई । यह मूर्ति प्रौढ दादा के नाम से विख्यात हुई पाई जाती है । इस मन्दिर को बीच-बीच में दो-तीन बार क्षति पहुँची जिसका पुनरुद्धार विमलशाह के वंशजों द्वारा वि० सं० १२०६ और १२४५ में व १३६८ में किया गया । इस मन्दिर की रचना निम्न प्रकार है :—

एक विशाल चतुष्कोण १२८ × ७५ फुट लम्बा-चौड़ा प्रांगण चारों ओर देवकुलों से घिरा हुआ है । इन देवकुलों की संख्या ५४ है, और प्रत्येक में एक प्रधान मूर्ति तथा उसके आश्रित अन्य प्रतिमाएं विराजमान हैं । इन देवकुलों के सम्मुख चारों ओर दोहरे स्तम्भों की मंडपाकार प्रदक्षिणा है । प्रत्येक देवकुल के सम्मुख ४ स्तम्भों की मंडपिका आ जाती है, और इस प्रकार कुल स्तम्भों की संख्या २३२ है । प्रांगण के ठीक मध्य में मुख्य मन्दिर है । पूर्व की ओर से प्रवेश करते हुए दर्शक को मन्दिर के नाना भाग इस प्रकार मिलते हैं :—

(१) हस्तिप्रस्थान-(२५ × ३० फुट) इसमें ६ स्तम्भ हैं, तथा हाथियों पर

भास्कर विमलशाह और उनके वंशजों की मूर्तियाँ हैं जिन्हें उनके एक वंशज पृथ्वीपाल ने ११५० ई० के लगभग निर्माण कराया था । (२) इसके आगे २५ फुट लम्बा-चौड़ा मुख-मंडप है । (३) और उससे आगे देवकुलों की पंक्ति व भूमिति और प्रवक्षिणा-मंडप है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है । तत्पश्चात् मुख्य मन्दिर का रंगमंडप या सभा-मंडप मिलता है, जिसका गोल शिखर २४ स्तम्भों पर आधारित है । प्रत्येक स्तम्भ के अग्रभाग पर तिरछे शिलापट्ट आरोपित हैं जो उस मध्य छत को धारण करते हैं । छत की पद्मशिला के मध्य में बने हुए लोलक की कारीगरी अद्वितीय और कला के इतिहास में विख्यात है । उत्तरोत्तर छोटे होते हुए चन्द्रमंडलों (दबरी) युक्त कंचुलक कारीगरी सहित १६ विद्याधारियों की आकृतियाँ अत्यन्त मनोज्ञ हैं । इस रंगमंडप की समस्त रचना व उत्कीर्णन के कौशल को देखते हुए दर्शक को ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे मानों वह किसी दिव्य लोक में आ पहुँचा हो । रंगशाला से आगे चलकर नवचौकी मिलती है, जिसका यह नाम उसकी छत के ९ विभागों के कारण पड़ा है । इससे आगे गूढ़मंडप है । वहाँ से मुख्य प्रतिमा का दर्शन-बंदन किया जाता है । इसके सम्मुख वह मूल गर्भगृह है, जिसमें ऋषभनाथ की धातु प्रतिमा विराजमान है ।

इसी मन्दिर के सम्मुख लूण-बसही है जो उसके मूलनायक के नाम से नेमिनाथ मन्दिर भी कहलाता है, और जिसका निर्माण डोलका के बघेलवंशी नरेश वीर धवल के दो मंत्री आता तेजपाल और वस्तुपाल ने सन् १२३२ ई० में कराया था । तेजपाल मंत्री के पुत्र लूणसिंह की स्मृति में बनवाये जाने के कारण मन्दिर का यह नाम प्रसिद्ध हुआ । इस मन्दिर का विन्यास व रचना भी प्रायः आदिनाथ मन्दिर के सदृश है । यहाँ भी उसी प्रकार का प्रांगण, देवकुल तथा स्तम्भ-मंडपों की पंक्ति विद्यमान है । विशेषता यह है कि इसकी हस्तिशाला उस प्रांगण के बाहर नहीं, किन्तु भीतर ही है । रंगमंडप, नवचौकी, गूढ़मंडप और गर्भगृह की रचना पूर्वोक्त प्रकार की ही है । किन्तु यहाँ रंगमंडप के स्तम्भ कुछ अधिक ऊँचे हैं, और प्रत्येक स्तम्भ की बनावट व कारीगरी भिन्न है । मंडप की छत कुछ छोटी है, किन्तु उसकी रचना व उत्कीर्णन का सौन्दर्य वसही से किसी प्रकार कम नहीं है । इसके रचना-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए फर्गुसन साहब ने कहा है कि “यहाँ संगमरमर पत्थर पर जिस परिपूर्णता, जिस लालित्य व जिस सन्तुलित अलकरण की शैली से काम किया गया है, उसकी अभ्य कहीं भी उपमा मिलना कठिन है ।”

इन दोनों मंदिरों में संगमरमर की कारीगरी को देखकर बड़े बड़े कला-

विशारद आश्चर्य-वकित होकर दातों तले अंगुली दबाये बिना नहीं रहते। यहां भारतीय शिल्पियों ने जो कला-कौशल व्यक्त किया है, उससे कला के क्षेत्र में भारत का मस्तिष्क सदैव गर्व से ऊंचा उठा रहेगा। कारीगर की छैनी ने यहां काम नहीं दिया। संगमरमर को घिस घिस कर उसमें वह सूक्ष्मता व काँच जैसी चमक व पारदर्शिता लाई गई है, जो छैनी द्वारा लाई जानी असम्भव थी। कहा जाता है कि इन कारीगरों को घिसकर निकाले हुए संगमरमर के चूर्ण के प्रमाण से वेतन दिया जाता था। तात्पर्य यह कि इन मंदिरों के निर्माण से, एच० जिम्मर के शब्दों में, “भवन ने अलंकार का रूप धारण कर लिया है, जिसे शब्दों में समझाना असम्भव है।” मंदिरों का दर्शन करके ही कोई उनकी अद्भुत कला के सौन्दर्य की अनुभूति कर सकता है। बिना देखे उसकी कोई कल्पना करना शक्य नहीं।

लूणवसही से पीछे की ओर पित्तलहर नामक जैन मन्दिर है, जिसे गुर्जर वंश के भीमाशाह ने १५ वीं शती के मध्य में बनवाया। यहां के वि० सं० १४८३ के एक लेख में कुछ भूमि व ग्रामों के दान दिये जाने का उल्लेख है, तथा वि० सं० १४८९ के एक अन्य लेख में कहा गया है कि आवू के चौहानवशी राजा राजधर देवडा चुंडा ने यहां के तीन मन्दिरों-अर्थात् विमलवसही, लूणवसही और पित्तलहर-की तीर्थयात्रा को आनेवाले यात्रियों को सदैव के लिये कर से मुक्त किया। इस मंदिर का पित्तलहर नाम पड़ने का कारण यह है कि यहां मूलनाथक आदिनाथ तीर्थंकर की १०८ मन पीतल की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा सं० १५२५ में सुन्दर और गडा नामक व्याक्तियों ने कराई थी। गुरु-गुण-रत्नाकर काव्य के अनुसार, ये दोनों ग्रहमदा-बाद के तत्कालीन सुल्तान महमूद बेगड़ा के मंत्री थे। इससे पूर्व की प्रतिष्ठित मूर्ति किसी कारणवश यहां से मेवाड़ के कुम्भल मेरु नामक स्थान को पहुंचा दी गई थी। इस मंदिर की बनावट भी पूर्वोक्त दो मन्दिरों जैसी ही है। मूल गर्भगृह, गूढमंडप और नव-चौकी तो परिपूर्ण हैं, किन्तु रंग-मंडप और भमिति कुछ अपूर्ण ही रह गये हैं। गूढमंडप में आदिनाथ की पंचतीर्थिक पाषाण प्रतिमा है, तथा अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं। विशेष ध्यान देने योग्य यहां महावीर के प्रमुख गणधर गौतम स्वामी की पीले पाषाण की मूर्ति है। भमिति की देवकुलिकाओं में नाना तीर्थंकरों की मूर्तियां विराजमान हैं। एक स्थान पर भ० आदिनाथ के गणधर पुंडरीक स्वामी की प्रतिमा भी है।

चौमुखी मंदिर में भगवान् पार्श्वनाथ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा खरतर गच्छ के मुनियों द्वारा कराई जाने से यह मंदिर खरतर वसही

भी कहलाता है। कुछ मूर्तियों पर के लेखों से इस मंदिर का निर्माणकाल वि० सं० १५१५ के लगभग प्रतीत होता है। मंदिर तीन तल्ला है, और प्रत्येक तल पर पार्श्व-नाथ की चोमुखी प्रतिमा विराजमान है।

पांचवा महावीर मंदिर देलवाड़ा से पूर्वोत्तर दिशा में कोई साढ़े तीन मील पर है। इसका निर्माण भी १५वीं शती में हुआ था। वर्तमान में इसके मूलनायक भ० आदिनाथ है, जिनके पार्श्वों में पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं, किन्तु मंदिर की ख्याति महावीर के नाम से ही है। अनुमानतः बीच में कभी मूलनायक का स्थानान्तरण किया गया होगा। वह मंदिर एक परकोटे के मध्य में स्थित है और गर्भ-गृह के सम्मुख शिखरयुक्त गूढमंडप भी है। उसके सम्मुख खुला चबूतरा है, जिसपर या तो नवचौकी और सभामंडप बनाये ही नहीं जा सके, अथवा बनकर कभी विध्वस्त हो गये।

देलवाड़ा का वि० जैन मंदिर वहां से अचलगढ़ की ओर जाने वाले मार्ग के मुख पर ही है। इस मंदिर में एक शिलालेख है, जिसके अनुसार वि० सं० १४६४ में मोविंद संघाधिपति यहां मूलसंघ, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ के भट्टारक पद्मनंदी के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र सहित तीर्थयात्रा को आये, और उन्होंने उस मंदिर का निर्माण कराया। उस समय आबू के राजा राजधरदेवड़ा चूड़ा का राज्य था।

राजपूताने का एक अन्य उल्लेखनीय जैन मंदिर जोधपुर राज्यान्तर्गत मोड़वाड़ा जिले में राखकपुर का है जो सन् १४३६ में बनवाया गया था। यह विशाल चतुर्मुखी मंदिर ४०,००० वर्ग फुट भूमि पर बना हुआ है, और उसमें २६ मंडप हैं, जिनके स्तम्भों की संख्या ४२० है। इन समस्त स्तम्भों की बनावट व शिल्प पृथक्-पृथक् है, और अपनी-अपनी विशेषता रखती है। मंदिर का आकार चतुर्मुखी है। बीच में मुख्य मंदिर है जिसकी चारों दिशाओं में पुनः चार मंदिर हैं। इनमें शिखरों के प्रतिरिक्त मंडपों के भी और उनके आसपास ८६ देवकुलिकाओं के भी अपने-अपने शिखर हैं, जिनकी आकृति दूर से ही अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई देती है। शिखरों का सौन्दर्य और सन्तुलन बहुत चित्ताकर्षक है और यही बात उसकी अन्तरंग कलाकृतियों के विषय में भी शायद जस्टी है। सर्वत्र वैचित्र्य और सांभलस्य का अद्भुत संयोग दिखाई देता है। दर्शक मंदिर के भीतर जाकर मंडपों, उनके स्तम्भों व खुले प्रांगणों में से जाता हुआ प्रकाश और छाया के अद्भुत प्रभावों से चमत्कृत हो जाता है। मुख्य गर्भगृह स्वस्तिककार है और उसके चारों ओर चार द्वार हैं। यहां आश्विनस्थ की श्वेत संगमरमर की चतुर्मुखी मूर्ति अवस्थित है। यह सुतल्ला है, और दूसरे तल में भी यही दृश्य है। इस

चौमुखी मंदिर का विन्यास प्रायः उसी प्रकार का है, जैसा कि पहाड़पुर के महाविहार का पाया जाता है ।

राजपूताने की एक और सुन्दर व कलापूर्ण निमिति है चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ । इसके निर्माता व निर्माण काल के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा । किन्तु हाल में ही नांदगांव के दिगम्बर जैन मंदिर की घातुमयी प्रतिमा पर सं० १५४१ ई० (सन् १४८४) का एक लेख मिला है जिसके अनुसार मेदपाट देश के चित्रकूट नगर में इस कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय के सम्मुख जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह ने करवाया था । इससे स्पष्ट है कि स्तम्भ की रचना १५ वीं शती में ई० सन् १४८४ से पूर्व ही हो चुकी थी । जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह बघेरवाल जाति के थे । और उन्होंने कारंजा (जिला अकोला-बरार) के मूलसंघ, सेनगण, पुष्करगच्छ के भट्टारक सोमसेन के उपदेश से इस स्तम्भ के अतिरिक्त १०८ शिखरबद्ध मंदिरों का उद्धार कराया, जिन-बिब बनवाये और प्रतिष्ठाएं कराई; अनेक श्रुतभंडारों की स्थापना कराई, और सवा लाख बंदी छुड़ाये, ऐसा भी उक्त लेख में उल्लेख है ।

लेख से स्पष्ट है कि यह स्तम्भ एक जैन मंदिर के सम्मुख बनवाया गया था, जिससे वह मानस्तम्भ प्रतीत होता है । यह स्तम्भ लगभग ७६ फुट ऊंचा है, और उसका नीचे का व्यास ३१ फुट तथा ऊपर का १५ फुट है । इसमें सात तल्ले हैं, जिनके ऊपर गंधकुटी रूप छतरी बनी हुई है । यह छतरी एक बार विद्युत् से आहत होकर ज्वस्त हो गई थी, किन्तु उसे महाराणा फतहसिंह ने लगभग अस्सी हजार के व्यय से पुनः पूर्ववत् ही निर्माण करा दिया । इस शिखर की कुटी में अवश्य ही चतुर्मुखी तीर्थंकर मूर्ति रही होगी । स्तम्भ के समस्त तलों के चारों भागों पर आदिनाथ व अन्य तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां विराजमान हैं, जिससे आदितः यह स्तम्भ आदि तीर्थंकर का ही स्मारक प्रतीत होता है । इस कीर्तिस्तम्भ की बाह्य निमिति अलंकृतियों से भरी हुई है ।

चित्तौड़ के किले पर कुछ इसी प्रकार का एक दूसरा कीर्ति-स्तम्भ भी है जिसमें ६ तल हैं, और जो हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत है । यह पूर्वोक्त स्तम्भ से बहुत पीछे उसी के अनुकरण रूप महाराणा कुम्भ का बनवाया हुआ है ।

जैन तीर्थों में सौराष्ट्र प्रदेश के शत्रुंजय (पालीताणा) पर्वत पर जितने जैन मंदिर हैं, उतने अन्यत्र कहीं नहीं । शत्रुंजय माहात्म्य के अनुसार यहां प्रथम तीर्थंकर के काल से ही जैन मंदिरों का निर्माण होता आया है । वर्तमान में वहां पाये जाने वाले मंदिरों में सबसे प्राचीन उन्ही विमलशाह (११ वीं शती) का है जिन्होंने आबू पर विमलवसही बनवाया है; और दूसरा राजा कुमारपाल (१२वीं शती) का बनवाया हुआ है ।

विशालता व कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विमलवसही ट्रंक का आदिनाथ मंदिर सबसे महत्वपूर्ण है। यह मंदिर सन् १५३० में बना है; किन्तु इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि उससे पूर्व वहां ई० सन् ६६० का बना हुआ एक मंदिर था। यहां की १० वीं शती की निर्मित पुण्डरीक की प्रतिमा सौन्दर्य में अतिश्रेष्ठ मानी गयी है। चौथा उल्लेखनीय चतुर्मुख मंदिर है जो सन् १६१८ का बना हुआ है। इसकी चारों दिशाओं में चार प्रवेश-द्वार हैं। पूर्वद्वार रंगमंडप के सम्मुख है, तथा तीन अन्य द्वारों के सम्मुख भी मुख-मंडप बने हुए हैं। ये सभी मंडप दुतल्ले हैं और ऊपर के तल में मुखमंडपिकाओं से युक्त वातायन भी हैं। उपर्युक्त व अन्य मंदिर, गर्भगृह, मंडपों व देवकुलिकाओं की रचना, शिल्प व सौन्दर्य में देलवाड़ा के विमलवसही व लूणवसही का ही हीनाधिक मात्रा में अनुकरण करते हैं।

सौराष्ट्र का दूसरा महान् तीर्थक्षेत्र है गिरनार। इस पर्वत का प्राचीन नाम ऊर्जयन्त व रैवतक गिरि पाया जाता है, जिसके नीचे वसे हुए नगर का नाम गिरिनगर रहा होगा, जिसके नाम से अब स्वयं पर्वत ही गिरिनार (गिरिनगर) कहलाने लगा है। जूनागढ़ से इस पर्वत की ओर जाने वाले मार्ग पर ही वह इतिहास-प्रसिद्ध विशाल शिला मिलती है जिसपर अशोक, रुद्रदामन् और स्कंदगुप्त सम्राटों के शिखालेख खुदे हुए हैं, और इस प्रकार जिस पर लगभग १००० वर्ष का इतिहास लिखा हुआ है। जूनागढ़ के समीप ही बाबाप्यारा मठ के पास वह जैन गुफा है, जो पूर्वोक्त प्रकार से पहली-दूसरी शती की धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्थान ऐतिहासिक व धार्मिक दोनों दृष्टियों से अतिप्राचीन व महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। गिरिनगर पर्वत का जैनधर्म से इतिहासातीत काल से सम्बन्ध इसलिये पाया जाता है, क्योंकि यहां पर ही २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ ने तपस्या की थी और निर्वाण प्राप्त किया था। इस तीर्थ का सर्वप्राचीन उल्लेख समन्तभद्रकृत बृहत्सच्यभूस्तोत्र (५वी शती) में मिलता है जहां नेमिनाथ की स्तुति में कहा गया है कि—

ककुदं भुवः खचर-योषिदुषित-शिखरैरलंकृतः

मेघघटल-परिवीत-तटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ।

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिमन्यतेऽद्य च

प्रीति-वितत-हृदयः परितो भूशमूर्जयन्त इति बिभ्रतोऽञ्चलः ॥१२८॥

इस स्तुति के अनुसार समन्तभद्र के समय में ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति या चरणचिन्ह प्रतिष्ठित थे, शिखर पर विद्याधरी अंबिका की मूर्ति भी विराजमान थी, और ऋषिमुनि वहां की निरन्तर तीर्थ-यात्रा किया करते थे।

वर्तमान में जहाँ का सबसे प्रसिद्ध, विशाल व सुन्दर मंदिर जैननाथ का है। रैवतक निरिभक्त्य के अनुसार इसका निर्माण चालुक्य नरेश जयसिंह के दंडाधिप सम्राज ने खंगार राज्य पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सन्वत् ११८५ में बनवाया था। इसके शिखर पर सुवर्ण का आभूषण मालव देश के मुखमंडल भावने और पद्मा (सोपान-पद्म) का निर्माण कुमारपाल नरेन्द्र द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र के दंडाधिप किल्ली श्रीपाल कुल के व्यक्ति ने सन्वत् १२२० में कराया था। मंदिर के मूलनायक की प्रतिमा अद्वितीय रूप की, और उसका लेप कालानुसार गलित हो गया था, जब काश्मीर से तीर्थयात्रा पर आये हुए अजित और स्तन नामक दो भाइयों ने उसके स्थान पर दूसरी प्रतिमा स्थापित की। मंदिर के प्रांगण में कोई सत्तर देवकुलिकाएँ हैं। इनके बीच मंदिर बना हुआ है जिसका मंडप बड़ी सुन्दरता से अलंकृत है। मुख्य मंदिर के विमान के विशाल शिखर के आसपास अनेक छोटे-छोटे शिखरों का पुंज है, जिससे उसका दृश्य बहुत भव्य दिखाई देता है। इस काल की जैन वास्तु-कला का यह एक वैशिष्ट्य है। यहाँ का दूसरा उल्लेखनीय मंदिर है वस्तुपाल द्वारा निर्मापित जल्लिनाथ तीर्थंकर का। इस मंदिर का किन्नास एक विशिष्ट प्रकार का है। रत्नमंडप के प्रवेश-द्वार की दिशा को छोड़कर शेष तीन दिशाओं में उससे सटे हुए तीन मंदिर हैं। मध्य का मंदिर मूलनायक मल्लिनाथ का है। बाजू-बाजू के दोनों मंदिर रचना में स्तम्भयुक्त मण्डपों के सदृश हैं और उनमें ठोस पाषाण की बड़ी कारीगरी दिखाई देती है। उत्तर दिशा का मंदिर चौकोर अधिष्ठान पर मेरु की रचना से युक्त है, तथा दक्षिण दिशा का मंदिर सम्मेलनशिखर की प्रतिकृति है।

यह प्राचीन और मौलौ व कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलब्ध जैन मंदिरों का अति संक्षिप्त और स्फुट परिचय मात्र है। यथार्थतः तो समस्त देश हिमालय से दक्षिणी समुद्र तक व सौराष्ट्र से बंगाल तक जैन मंदिरों व उनके भग्नावशेषों से भरा विषय हुआ है। जहाँ अब जैन मंदिर नहीं हैं, या उनके खंडहर मात्र अवशिष्ट हैं, वहाँ के विषय में जेम्स फर्गुसन साहब का अजिमत ध्यान देने योग्य है। उनका कथन है “गंगाप्रदेश भयवा जहाँ भी मुसलमान संख्या में होते वहाँ प्राचीन जैन मंदिरों के पाने की आशा करना व्यर्थ है। उन लोगों ने अपने धर्म के जोश में मंदिरों को मण्ड-भ्रष्ट कर डाला है, तथा जिम सुन्दर स्तम्भों, तोरलों आदि को मण्ड नहीं किया, उनका बड़े चाव से अपनी मस्जिदों आदि के निर्माण में उपयोग कर लिया। अजमेर, दिल्ली, कन्नौज, धार व अहमदाबाद की विशाल मस्जिदें यथार्थतः जैन-मंदिरों की ही परिवर्तित निर्मातियाँ हैं।”

फर्गुसन साहब ने यह भी समझाया है कि किस प्रकार से जैन मंदिर मस्जिदों

में विपरिवर्तित किये गये हैं। "श्रावू के विमलबसही की रचना की ओर ध्यान दीजिये जहाँ एक विशाल प्रांगण के चारों ओर भूमिती और मध्य में मुख्य मंदिर व मंडप है। यह प्राचीन जैन मंदिरों की साधारण रचना थी। इस मध्य के मंदिर और मंडप को नष्ट करके तथा देवकुलिकाओं के द्वार बंद कर के एक ऐसा खुला प्रांगण अपने चारों ओर स्तम्भों की दोहरी पंक्ति सहित मिल जाता है, जो मस्जिद का विशेष आकार है। इसमें मस्जिद का एक वैशिष्ट्य शेष रह जाता है, और वह है मक्का (पश्चिम) की ओर उसका प्रमुख द्वार। इस वैशिष्ट्य को इस दिशा के छोटे स्तम्भों को हटाकर उनके स्थान पर मध्य मंडप से सुविशाल स्तम्भों को स्थापित करके प्राप्त किया गया है। यदि मूल में दो मंडप रहे, तो दोनों को उस दरवाजे के दोनों ओर पुनर्निर्मित कर दिया गया। इस प्रकार बिना एक भी नये स्तम्भ के एक ऐसी मस्जिद तैयार हो जाती थी, जो सुविधा और सौन्दर्य की दृष्टि से उनके लिये अपूर्व थी। इस प्रकार के रचना-परिवर्तन के उदाहरण अजमेर का अठ्ठाई दिन का झोपड़ा, दिल्ली की कुतुबमीनार के समीप की मस्जिद, एवं कन्नौज, झाँसी (धार राज्य), अहमदाबाद आदि की मस्जिदें आज भी विद्यमान हैं, और वे मुसलमान काल से पूर्व की जैन वास्तु-कला के अध्ययन से लिये बड़े उपयुक्त साधन हैं।" (हिस्ट्री ओफ इंडिया एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ २६३-६४)

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या देश के बाहर भी जैन मंदिरों का निर्माण हुआ ? अन्यत्र कहा जा चुका है कि महावंश के अनुसार संका में बौद्ध धर्म के प्रवेश से बहुत पूर्व ही वहाँ निर्भन्ध मुनि पहुंच चुके थे, और उनके लिये अनुदासपुर में पांडुकामय नरेश ने ई० पू० ३६० के लगभग निवास स्थान व देवकुल (मंदिर) निर्माण कराये थे। जावा के ब्रम्बनम् नामक स्थान का एक मंदिर-समूह, फर्गुसन साहब के मतानुसार, मूलतः जैन रहा है। न केवल उसकी मध्यवर्ती मंदिर व भूमिती की सैकड़ों देवकुलिकाएँ जैन मंदिरों की सुविख्यात शैली का अनुसरण करती हैं, किन्तु उनमें प्रतिष्ठित ब्रह्म ध्यानस्थ पद्मासन मूर्तियों को सामान्यतः बौद्ध कहा जाता है, वे सब जिन मूर्तियाँ ही प्रतीत होती हैं। इतिहास में भले ही इस बात के प्रमाण न मिलें कि जैन धर्म कब जावा द्वीप में पहुंचा होगा, किन्तु यह उदाहरण इस बात का तो प्रमाण अवश्य है कि जैन मंदिरों की वास्तुकला ने दसवीं शती से पूर्व जावा में प्रवेश कर लिया था।

अवस्थितलग्नानां कृत्रिमकृत्रिमतां

कनभक्तवगतां विद्यावैभक्तिमान् ।

इह भगवत्पुत्राणां देवराजानि

जिम्बेर-मिलवाणा भावसोऽहं स्मरामि ॥

जैन मूर्तिकला

अतिप्राचीन जैन मूर्तियां—

जैनधर्म में मूर्तिपूजा सम्बन्धी उल्लेख प्राचीनतम काल से पाये जाते हैं। जैना-गमों में जैन तीर्थंकरों व यक्षों की मूर्तियों संबंधी उल्लेखों के अतिरिक्त कलिंग नरेश खार-बेल के ई० पू० द्वितीय शती के हाथीगुम्फा वाले शिलालेख से प्रमाणित है कि नंदवंश के राज्यकाल अर्थात् ई० पू० चौथी-पाचवी शती में जिन-मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाती थीं। ऐसी ही एक जिनमूर्ति को नंदराज कलिंग से अपहरण कर ले गये थे, और उसे खारबेल कोई दो-तीन शती पश्चात् वापिस लाये थे। कुषाण काल की तो अनेक जिन-मूर्तियां मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। एक प्राचीन मस्तकहीन जिन-प्रतिमा पटना संग्रहालय में सुरक्षित है, जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति पर चमकदार पालिश होने से उसके मौर्यकालीन होने का अनुमान किया जाता है। इनसे प्राचीन मूर्तियां भारतवर्ष में कहीं प्राप्त नहीं होती थीं, किन्तु सिंधुघाटी की खुदाई में मोहेनजोदड़ो व हड़प्पा से जो मूर्तिया प्राप्त हुई हैं, उनसे भारतीय मूर्तिकला का इतिहास ही बदल गया है, और उसकी परंपरा उक्त काल से सहस्रों वर्ष पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। सिन्धुघाटी की मुद्राओं पर प्राप्त लेखों की लिपि अभी तक अज्ञात होने के कारण वहां की संस्कृति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि जहां तक मूर्ति-निर्माण, आकृति व भावाभिव्यंजन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, उस पर से उक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन नग्न मूर्ति व हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति में बड़ा साम्य पाया जाता है, और पूर्वोत्तर परम्परा के आधार से हड़प्पा की मूर्ति वैदिक व बौद्ध मूर्तिप्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैन-प्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है। ऋग्वेद में शिश्न देवों अर्थात् नग्न देवों के जो उल्लेख हैं, उनमें इन देवों अथवा उनके अनुयायियों को यज्ञ से दूर रखने व उनका घात करने की इन्द्र से प्रार्थना की गई है। (ऋग्वेद ७, २१, ५ व १०, ६६, ३)। जिस प्रकार यह मूर्ति खड्गासन की दृष्टि से समता रखती है, उसी प्रकार अनेक मुद्राओं पर की व्यानस्थ व मस्तिष्क पर त्रिशूंगयुक्त मूर्ति जैन पद्मासन मूर्ति से तुलनीय है। एक मुद्रा में इस मूर्ति के आसपास हाथी, बैल, सिंह व मृग आदि वनचर जीव दिखाये गये हैं, जिन पर से उसके पशुपति-

नाथ की पूर्वगामी मूर्ति होने की कल्पना की जाती है। जो हो, इस मूर्ति में हमें जैन, बौद्ध व शैव ध्यानस्थ मूर्तियों का पूर्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। यथार्थतः तो इस प्रकार के आसन से ध्यान का संबंध जितना श्रमण परम्परा से है, उतना वैदिक परम्परा से नहीं; और श्रमण-परम्परा की जितनी प्राचीनता जैन धर्म में पाई जाती है, उतनी बौद्ध धर्म में नहीं। मूर्ति के सिर पर स्थापित त्रिशूल उस त्रिशूल से तुलनीय है जो अति-प्राचीन जैन-तीर्थंकर मूर्तियों के हस्त व चरण तलों पर पाया जाता है, जिसपर धर्म-चक्र स्थापित देखा जाता है, और विशेषतः जो रानी-गुम्फा के एक तोरण के ऊपर चित्रित है। इस विषय में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पश्चिम भारत से जैन-धर्म का अतिप्राचीन संबंध पाया जाता है। एवं जिस असुर जाति से संबद्ध सिन्धघाटी की सम्यता अनुमानित की जाती है, उन असुरों, नागों और यक्षों द्वारा जैनधर्म व मुनियों की नाना संकटों की अवस्था में रक्षा किये जाने के उल्लेख पाये जाते हैं।

कुषाण कालीन जैन मूर्तियां—

इतिहास-कालीन जैन मूर्तियों के अध्ययन की प्रचुर सामग्री हमें मथुरा के संग्रहालय में एकत्रित उन ४७ मूर्तियों में प्राप्त होती है, जिनका व्यवस्थित परिचय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वहां की सूची के तृतीय भाग में कराया है। इनमें से अनेक मूर्तियों के आसनों पर लेख भी खुदे मिले हैं, जिनसे उनका काल-विभाजन भी सुलभ हो जाता है। कुषाण-कालीन मूर्तियों पर पांचवें से लेकर ६० वें वर्ष तक का उल्लेख है। अनेक लेखों में ये वर्ष शक सम्वत् के अनुमान किये जाते हैं। कुछ लेखों में कुषाणवंशी कनिष्क, ह्विष्क व वासुदेव राजाओं का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थंकरों की समस्त मूर्तियां दो प्रकार की पाई जाती हैं—एक खड़ी हुई, जिसे कायोत्सर्ग या खड्गासन कहते हैं, और दूसरी बैठी हुई पद्मासन। समस्त मूर्तियां नग्न व नासाग्र-दृष्टि, ध्यानमुद्रा में ही हैं। नाना तीर्थंकरों में भेद सूचित करने वाले वे बैल आदि चिन्ह इन पर नहीं पाये जाते, जो परवर्ती काल की प्रतिमाओं में। अधिकांश मूर्तियों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह पाया जाता है, तथा हस्ततल व चरणतल एवं सिंहासन पर धर्मचक्र, उष्णीष तथा ऊर्णा (भौहों के बीच रोमगुच्छ) के चिन्ह भी बहुत सी मूर्तियों में पाये जाते हैं। अन्य परिकरों में प्रभावल (भामण्डल), दोनों पादों में खमरवाहक तथा सिंहासन के दोनों ओर सिंह भी उत्कीर्ण रहते हैं। कभी-कभी ये सिंह आसन को धारण किये हुए दिखाये गये हैं। कुछ मूर्तियों का सिंहासन छटे हुए पद्म (उत्थित पद्मासन) के रूप में दिखाया गया है। कुछ में तीर्थंकर की मूर्ति पर छत्र

भी अंकित है, और एक के सिंहासन पर बालक को गोद में बैठाये भद्रासन अम्बिका की प्रतिमा भी है। ये उस काल की जिन-मूर्तियों के सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। केवल दो तीर्थंकरों की मूर्तियाँ अपने किसी विशेष लक्षण से युक्त पाई जाती हैं; वे हैं आदिनाथ, जिनका केशकलाप पीछे की ओर कंधों से नीचे तक बिखरा हुआ दिखाया गया है; और पार्श्वनाथ, जिनके सिर पर सप्तफणी नाग छाया किये हुए है। आदिनाथ के तपस्याकाल में उनकी लम्बी जटाओं का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है। उदाहरणार्थ रविशेखाचार्य कृत पद्मपुराण (६७६ ई०) में कहा गया है—

बातोद्भूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः ।

धूमालय इव ध्यान-वन्धितस्त कर्मणः ॥ (प० पु० ३, २८८)

तथा—

स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहुतांशुमान् ॥ (वही ४, ५)

उसी प्रकार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के नागफण-रूपी छत्र का भी एक इतिहास है, जिसका सुन्दर संक्षिप्त वर्णन समन्तभद्र कृत स्वम्यभूस्तोत्र में इस प्रकार मिलता है—

तमालनीलैः सघनस्तडिद्वगुणैः प्रकीर्णभीमाशनि-वायुवृष्टिभिः ।

बलाहकैर्वैरिवशंरूपद्रतो महामना यो न चचाल योगतः ॥ १३१ ॥

बृहत्कणामण्डल-मण्डपेन यं स्फुरत्तडित्विगंरुधोपसगित्तर्णिणाम् ।

जुगूह नागो घरणो घराघरं विरागसन्ध्या तडिदम्बुवो यथा ॥ १३२ ॥

जिस समय पार्श्वनाथ अपनी तपस्या में निश्चल भाव से ध्यानारूढ़ थे तब उनका पूर्वजन्म का वैरी कमठासुर नाना प्रकार के उपद्रवों द्वारा उनको ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रचण्ड वायु चलाई, घनघोर वृष्टि की, मेघों से वज्रपात कराया; तथापि भगवान् ध्यान से विचलित नहीं हुए। उनकी ऐसी तपस्वा से प्रभावित होकर घरणेन्द्र नाग ने आकर अपने विशाल फणा-मण्डल को उनके ऊपर तान कर, उनकी उपद्रव से रक्षा की। इसी घटना का प्रतीक हम पार्श्वनाथ के नाग-फणा चिन्ह में पाते हैं।

कुछ मूर्तियों का परिचय—

(१) महाराज वासुदेवकालीन सम्बत्सर ८४ की आदिनाथ की मूर्ति (बी ४)—

मूर्ति ध्यानस्थ पद्मासीन है। यद्यपि मस्तक और बाहु खंडित हैं, तथापि खरीबा हुआ किनारीदार प्रभावल बहुत कुछ सुरक्षित है। वक्षस्बल पर श्रीवत्स एवं हाथों और

चरणों के तलों पर चक्रचिन्ह विद्यमान हैं। छासून पर एक स्तंभ के ऊपर वर्मचक्र है। उसकी १० स्त्री-पुरुष पूजा कर रहे हैं, जिनमें से दो वर्मचक्रस्तम्भ के समीप घुटना टेके हुए हैं, और शेष खड़े हैं। कुछ के हाथों में पुष्प हैं, और कुछ हाथ जोड़े हुए हैं। सभी की मुखमुद्रा बंदना के भाव को लिए हुए है। इस मूर्ति को लेख में स्पष्टतः भगवान् अर्हन्त ऋषभ की प्रतिमा कहा है।

(२) पार्वनाथ की एक सुन्दर मूर्ति (बी ६२) का सिर और उसपर नागफला मात्र सुरक्षित मिला है। फलों के ऊपर स्वस्तिक, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पूर्णघट और मीन-युगल, इन मंगल-द्रव्यों के चिन्ह बने हुये हैं। सिर पर घुंघराले बाल हैं। कान कुछ लम्बे, आंखों की भौंहें ऊर्णा से जुड़ी हुई व कपोल भरे हुए हैं।

(३) पाषाण-स्तंभ (बी ६८) ३ फुट ३ इंच ऊंचा है, और उसके चारों ओर चार नग्न जिन-मूर्तियाँ हैं। शीवत्स सभी के वसस्थल पर है, और तीन मूर्तियों के साथ भामण्डल भी है, व उनमें से एक के सिर की जटाएं कंधों पर बिखरी हुई हैं। चतुर्थ मूर्ति के सिर पर सप्तफली नाग की छाया है। इनमें से अंतिम दो स्पष्टतः आदिनाथ और पार्वनाथ की मूर्तियाँ हैं।

(४) इतिहास की दृष्टि से एक स्तम्भ का पीठ उल्लेखनीय है। इसके ऊपर का भाग जिसमें चारों ओर जिनप्रतिमायें रही हैं, टूट गया है; किन्तु उनके चरणों के चिन्ह बचे हुए हैं। इस पीठ के एक भाग पर धर्मचक्र खुदा हुआ है, जिसकी दो पुरुष व दो स्त्रियाँ पूजा कर रहे हैं; तथा दो बालक हाथों में पुष्पमालाएं लिए खड़े हैं। इस पाषाण पर लेख भी खुदा है, जिसके अनुसार यह अभिसार-निवासी भटिन्दाम का आर्य ऋषिदास के उपदेश से किया हुआ दान है। डा० अन्नवाल का मत है कि यह उक्त धार्मिक पुरुष उसी अभिसार प्रदेश का निवासी रहा होगा जिसका यूनानी लेखकों ने भी उल्लेख किया है, और जो वर्तमान पेशावर विभाग के पश्चिमोत्तर का हजारा जिला सिद्ध होता है। उसने मथुरा में आकर जैनधर्म स्वीकार किया होगा। किन्तु इससे अधिक उचित यह प्रतीत होता है कि हजारा निवासी वह व्यक्ति पहले से जैनधर्मावलम्बी रहा होगा और मथुरा के स्तूपों और मंदिरों की तीर्थयात्रा के लिए आया होगा, तभी उसने वह सर्वतोभर प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई। प्रथम शती में पश्चिमोत्तर प्रदेश में जैनधर्म का अस्तित्व असम्भव नहीं है।

(५) एक और ध्यान देने योग्य प्रतिमा (२५०२) है, तीर्थंकर नेमिनाथ की। इसके दाहिनी ओर चार भुजाओं व सप्त फलों युक्त नगराज की प्रतिमा है, जिसके ऊपर के बाएं हाथ में हल का चिन्ह होने से वह ब्रह्मराज की मानी गई है। बांयी ओर

चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति है, जिनके ऊपर के दाहिने हाथ में गदा व बाएं हाथ में चक्र है। तीर्थंकर की मूर्ति के ऊपर वेतस-पत्रों का खुदाव है। समवायंग सूत्र के अनुसार वेतस नेमिनाथ का बोधिवृक्ष है। हिन्दू पुराणानुसार बलराम शेषनाग के अवतार माने गये हैं। इस प्रकार की, ऐसे ही बलराम और वासुदेव की प्रतिमाओं से अंकित, और भी अनेक मूर्तियां पाई गई हैं, (जैन एन्टी० भाग २, पृष्ठ ६१)। ऐसी ही एक और प्रतिमा (२४८८) है, जिसमें तीर्थंकर के दाहिनी ओर फणायुक्त नाग हाथ जोड़े खड़ा है। यह भी बलराम उपासक सहित नेमिनाथ की मूर्ति मानी गई है। नेमिनाथ की मूर्ति के साथ वासुदेव और बलभद्र के सम्बद्ध होने का उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र में किया है। नेमिनाथ की स्तुति करते हुए वे कहते हैं :—

द्युतिमद्-रथांग-रविबिम्बकिरण-जटिलांशुमंडलः ।

नील-जलजदलराशि-वपुःसहबन्धुभिर्गुरुकेतुरीश्वरः ॥

हलभूच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयो जनेश्वरो ।

धर्मविनय-रसिको सुतरां चरणारविन्द-गुगलं प्रणमतुः ॥ १२६ ॥

अर्थात् चक्रधारी गरुडकेतु (वासुदेव) और हलधर, ये दोनों भ्राता प्रसन्नचित्त होकर विनय से आपकी वन्दना करते हैं।

गुप्तकालीन जैन मूर्तियां—

कुषाणकाल के पश्चात् अब हम गुप्तकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं की ओर ध्यान दें। यह युग ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ होता है। इस युग की ३७ प्रतिमाओं का परिचय उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची में कराया गया है। उस पर से इस युग की निम्न विशेषतायें ज्ञात होती हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के सामान्य लक्षण तो वे ही पाये जाते हैं जो कुषाणकाल में विकसित हो चुके थे, किन्तु उनके परिकरों में अब कुछ वैशिष्ट्य दिखाई देता है। प्रतिमाओं का उष्णीष कुछ अधिक सौन्दर्य व घुघरालेपन को लिये हुए पाया जाता है। प्रभावल में विशेष सजावट दिखाई देती है (बी १, बी ६, आदि)। धर्मचक्र व उसके उपासकों का चित्रण पूर्ववत् होते हुए कहीं कहीं उसके पार्श्वों में मृग भी उत्कीर्ण दिखाई देते हैं। बौद्ध मूर्तियों में इस प्रकार मृगों का चित्रण बुद्ध भगवान् के सारनाथ के मृगदावमे प्रथम बार धर्मोपदेश का प्रतीक माना गया है। सम्भव है यहां भी उसी अलंकरण शैली ने स्थान पा लिया हो। आगे चलकर हम मृग को शन्तिनाथ भगवान् का विशेष चिन्ह स्वीकृत पाते हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा (बी ७५) के सिंहासन पर एक पार्श्व में अपनी बैली सहित जनपति कुबेर और दूसरे

पार्श्व में अपनी बाईं अङ्गुली पर बालक को बैठाये हुए भगवन् (अम्बिका) की प्रतिमा दिखाई देती है। इनके ऊपर दोनों ओर चार-चार कमलासीन प्रतिमाएं दिखाई गई हैं, जो सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक, शनि, और राहु, इन आठ ग्रहों की प्रतीक मानी गई हैं। इस अलंकरण के आधार पर यह प्रतिमा गुप्त-युग से मध्य-युग के संधि-काल की मानी गई है, क्योंकि यह प्रतिमाशैली उस काल में अधिक विकसित हुई थी (बी ६५, ६६)। नवग्रह और अष्ट-प्रतिहार्य युक्त एक जैन-प्रतिमा मध्यप्रदेश में जबलपुर के समीप सलीमानाबाद से भी एक वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई थी, जो वहाँ की जनता द्वारा खैरामाई के नाम से पूजी जाती है (देखो-खंडहरो का वैभव, पृ-१८०)। इसी प्रकार की संधिकालीन वह एक प्रतिमा (१३८८) है जिसके सिंहासन पर पार्श्वस्थ सिंहों के बीच मीन-युगल दिखाया गया है जिनके मुख खुले हुए हैं, और उनसे सूत्र लटक रहा है। आगे चलकर मीन श्ररनाथ तीर्थंकर का चिन्ह पाया जाता है। आदिनाथ की प्रतिमा अभी तक उन्ही कन्धों पर बिखरे हुए केशों सहित दिखाई देती है। उसका वृषभ, तथा अन्य तीर्थंकरों के अलग-अलग चिन्ह यहाँ तक अधिक प्रचार में आये नहीं पाये जाते; तथापि उनका उपयोग प्रारम्भ हुआ प्रमाणित होता है। इस संबंध में राजगिर के बैभार पर्वत की नेमिनाथ की वह मूर्ति ध्यान देने योग्य है जिसके सिंहासन के मध्य में धर्मवक्त्र की पीठ पर धारण किये हुए एक पुरुष और उसके दोनों पार्श्वों में शंखों की आकृतियाँ पाई जाती हैं। इस मूर्ति पर के खंडित लेख में चन्द्रगुप्त का नाम पाया जाता है, जो लिपि के आधार पर गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त-द्वितीय का वाची अनुमान किया जाता है। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के काल में गुप्त सं० १०६ की बनी हुई विदिशा के समीप की उदयगिरि की गुफा में उत्कीर्ण वह पार्श्वनाथ की मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिए ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यतः मूर्ति खंडित हो चुकी है, तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयंकर दांतों से बड़ा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिये तत्पर दिखाई देता है। उत्तरप्रदेश के क्वाऊं नामक स्थान से प्राप्त गुप्त सं० १४१ के लेख सहित वह स्तम्भ भी यहाँ उल्लेखनीय है जिसमें पार्श्वनाथ की तथा अन्य चार तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इसी काल की अनेक जैन प्रतिमायें ग्वालियर के पास के किले, बेसनगर, बूढ़ी खेरी व देवगढ़ आदि अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं। देवगढ़ की कुछ मूर्तियों का वहाँ के मंदिरों के साथ उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ की मूर्तियों में गुप्त व गुप्तोत्तर कालीन जैन मूर्तिकला के अध्ययन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। दो-चार मूर्तियों की बनावट की ओर ध्यान देने से वहाँ की शैलियों की विविधता स्पष्ट की जा सकती है। वहाँ के १२ वें मंदिर

के मंडप में आसनस्थ जिनप्रतिमा को देखिये, जिसका मस्तक विज्ञान, अधर स्फूल व खूब सटे हुए तथा मुकुटिकां कुछ अधिक ऊपर को उठी हुई दिखाई देती हैं। वहाँ पद्म व एकधारा का भाव खूब पुष्ट है; किन्तु जादृष्य एवं परिकरात्मक साज-सज्जा का अभाव है। उसी मंदिर के गर्भगृह में ज्ञानिनाथ की विशाल खड्गनासन प्रतिमा की ओर ध्यान दीजिये, जो अपने कलात्मक गुणों के कारण विशेष गौरवशाली है। अश्व-चक्र की सजावट तथा पादवेष्ट द्वारपालों का लावण्य व भावभंगिमा गुप्तकाल की कला के अनुकूल हैं; फिरभी परिकरों के साथ मूर्ति का तादात्म्य नहीं हो पाया। दर्शन के ध्यान का केन्द्र प्रधान मूर्ति ही है, जो अपने गाम्भीर्य व विरक्तिभाव युक्त कठोर मुद्रा द्वारा दर्शक के मन में भयमिश्रित पूज्यभाव उत्पन्न करती है। उक्त दोनों मूर्तियों से सर्वथा भिन्न शैली की वह पद्मनासन प्रतिमा है जो १५ वें मंदिर के गर्भगृह में विराजमान है। इस मूर्ति में लावण्य, प्रसाद, अनुकम्पा आदि सद्गुण उतने ही सुस्पष्ट हैं, जितने ध्यान और विरक्ति के भाव। ज्ञान, ज्ञान और लोक-कल्याण की भावना इस मूर्ति के अंग-अंग से फूट फूट कर निकल रही है। परिकरों की सजावट भी अनुकूल ही है। प्रभावस खूब अलंकृत है। दोनों पादों के द्वारपाल, ऊपर छत्र-त्रय व गज-लक्ष्मी आदि की आकृतियाँ भी सुंदर और आकर्षक हैं। ये गुण २१ वें मंदिर के दक्षिण-कक्ष के हेमकुल में स्थित प्रतिमा में और भी अधिक विकसित दिखाई देते हैं। यहाँ चारों ओर की आकृतियाँ व अलंकरण इतने समृद्ध हुए हैं कि दर्शक को उनका आकर्षण मुख्य प्रतिमा से कम नहीं रहता। इस कारण मुख्य प्रतिमा समस्त दृश्य का एक अंगमात्र बन गई है। यह अलंकरण की समृद्धि अध्यक्षा की विशेषता है।

तीर्थंकर मूर्तियों के चिन्ह—

प्रतिमाओं पर पृथक्-पृथक् चिन्हों का प्रदर्शन मध्य युग में (८वीं शती ई० से) धीरे-धीरे प्रचार में आया पाया जाता है। इस युग की उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची में जिन ३३ तीर्थंकर प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें आदिनाथ की मूर्ति (बी २१ व बी ७६) पर वृषभ का चिन्ह, नेमिनाथ की प्रतिमा (बी २२, सं० ११०४; बी ७७) पर शंख का, तथा शांतिनाथ की मूर्ति (१५०४) पर मूला का चिन्ह पाया जाता है। शेष मूर्तियों पर ऐसे विधेय चिन्हों का अंकन नहीं है। एक मूर्ति (ए. ६०) पर लंगोटी का चिन्ह दिखाया गया है। कुछ के चूबकों के स्थान पर चक्राकृति बनी है। कुछ के हस्त-तलों पर चतुर्दस पुष्प पाया जाता है। मूर्तियों पर तीक्ष्ण छत्रों का अंकन भी देखा जाता है। कुछ मूर्तियों पर कुबेर व मोर में कलक अंकित माला (बी ६२)

तथा नवग्रह (बी ६६) भी बने हैं। तीर्थंकर त्रैलोक्याय की मूर्ति के पाश्वर्कों में बलदेव की एक हाथ में व्याला लिये हुए, तथा अपने शंख चक्रादि लक्ष्णों सहित बाणदेव की चतुर्भुज मूर्तियां भी हैं (२७३८)। यक्ष-यक्षिणी आदि आसन देवताओं का आसनों पर अंकन भी प्रचुरता से पाया जाता है। आदिनाथ की एक वधासन मूर्ति के साथ शेष २३ तीर्थंकरों की भी पद्मखनस्थ प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इससे पूर्व कुषाण व गुप्त कालों में प्रायः चार तीर्थंकरों वाली सर्वतोभद्र मूर्तियां पाई गई हैं। प्रभावल व सिंहासन की अलंकरण विशेष अधिक पाया जाता है। एक आदिनाथ की मूर्ति (बी २१) के सिंहासन की किनारी पर से पुष्पमालाएं लटकती हुई व धर्मचक्र को स्पर्श करती हुई दिखाई गई हैं। कुछ मूर्तियां काले व श्वेत संगमरमर की बनी हुई भी पाई गई हैं। कुछ मूर्तियों के ऊपर देवों द्वारा दुर्भो बजाने की आकृति भी अंकित है। ये ही संक्षेपतः इस काल की मूर्तियों की विशेषताएं हैं। इस काल में तीर्थंकरों के जो विशेष चिह्न निर्धारित हुए, व जो यक्ष-यक्षिणी प्रत्येक तीर्थंकर के अनुचर ठहराये गये, व जिन चैत्यवृक्षों का उनके केवलज्ञान से संबंध स्थापित किया गया, उनकी तालिका (त्रि० प्र० ४, ६०४-०५; ६१६-१८; १३४-४० के अनुसार) निम्न प्रकार है।

क्रमसंख्या	तीर्थंकर नाम	चिह्न	यक्ष	यक्षिणी
१	ऋषभनाथ	बैल	न्यग्रोध	गोवदन चक्रेश्वरी
२	अजितनाथ	गज	सप्तपर्ण	महायक्ष रोहिणी
३	संभवनाथ	अश्व	शाल	त्रिमुख प्रज्ञप्ति
४	अमिनंदनाथ	बंदर	सरल	यक्षेश्वर वज्रशृंगला
५	सुमतिनाथ	चक्रवा	प्रियंगु	तुम्बुरव वज्राकुशा
६	पद्मप्रभु	कमल	प्रियंगु	मातंग अप्रति चक्रेश्वरी
७	सुपादर्वनाथ	नंदावर्त	शिरीष	विजय पुरुषदत्ता
८	चन्द्रप्रभु	अर्द्धचन्द्र	नागवृक्ष	अजित मनोवेगा
९	पुष्पदन्त	मकर	अक्ष (बहेड़ा)	ब्रह्मा काली
१०	शीतलनाथ	स्वस्तिक	धूलि(मालिवृक्ष)	ब्रह्मेश्वर ज्वालामालिनी
११	श्रेयांसनाथ	गंडा	पलाश	कुमार महाकाली
१२	बाणपूज्य	भैंसा	तेंदू	वर्णमुख गौरी
१३	विमलनाथ	शूकर	पाटल	पाताल गांधारी
१४	अमंतनाथ	सेही	गोपल	किन्नर वैरोटी
१५	धर्मनाथ	वज्र	वज्रपर्ण	किंपुरुष सोलसा

१६	शान्तिनाथ	हरिण	नंदी	गरुड	अनंतमती
१७	कुंथुनाथ	छाग	तिलक	गंधर्व	मानसी
१८	अरहनाथ	तगरकुसुम(मत्स्य) आम्र		कुवेर	महामानसी
१९	मल्लिनाथ	कलश	कंकेली (अशोक)	वरुण	जया
२०	मुर्निसुव्रतनाथ	कूर्म	चम्पक	भृकुटि	विजया
२१	नमिनाथ	उत्पल	बकुल	गोमेघ	अपराजिता
२२	नेमिनाथ	शंख	मेषशृंग	पार्श्व	बहुरूपिणी
२३	पार्श्वनाथ	सर्प	धव	मातंग	कुष्मांडी
२४	महावीर	सिंह	शाल	गुह्यक	पद्मा सिद्धायिनी

संमवायागसूत्र में भी प्रायः यही चैत्यवृक्षों की नामावली पाई जाती है। भेद केवल इतना है कि वहां चौथे स्थान पर 'प्रियक', छठे स्थान पर छत्ताह, नौवें पर मांली, १० वें पर पिलंखु, ११, १२, १३, पर तिदुग, पाटल और जम्बू, व १९ वें पर अशोक, २२ वें पर वेडस नाम अंकित हैं।

विशालता की दृष्टि से मध्यप्रदेश में बड़वानी नगर के समीप चूलगिरि नामक पर्वश्रेणी के तलभाग में उत्कीर्ण ८४ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा है जो बावनगजा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके एक ओर यक्ष और दूसरी ओर यक्षिणी भी उत्कीर्ण हैं। चूलगिरि के शिखर पर दो मन्दिरों में तीन-चार मूर्तियों पर संवत् १३८० का उल्लेख है जिससे इस तीर्थक्षेत्र की प्रतिष्ठा कम से कम १४ वीं शती से सिद्ध है। देश के प्रायः समस्त भागों के दिगम्बर जैन मंदिरों में ऐसी जिन-प्रतिमाएं विराजमान पाई जाती हैं, जिनमें उनके शाह जीवराज पापड़ीवाल द्वारा सं० १५४८ (१४९० ई०) में प्रतिष्ठित कराए जाने का, तथा भट्टारक जिनचन्द्र या भानुचन्द्र का स्थान मुडासा का, व राजा या रावल शिर्वांसिंह का उल्लेख मिलता है। मुडासा पश्चिम राजस्थान में ईडर से पांच-छह मील दूर एक गांव है। एक किंवदंती प्रचलित है कि सेठ जीवराज पापड़ीवाल ने एक लाख मूर्तियां प्रतिष्ठित कराकर उनका सर्वत्र पूजानिमित्त वितरण कराया था।

धातु की मूर्तियां—

यहां तक जिन मूर्तियों का परिचय कराया गया वे पाषाण निमित्त हैं। धातु-निर्मित प्रतिमाएं भी अतिप्राचीन काल से प्रचार में पाई जाती हैं। ब्रोनज (ताम्र व शीशा मिश्रित धातु) की बनी हुई एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा बम्बई के प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय में है। दुर्भाग्य से इसका पादपीठ नष्ट हो गया है, और यह भी पता

नहीं कि यह कहां से प्राप्त हुई थी। प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है, और उसका दाहिना हाथ व नागफण खंडित है, किन्तु नाग के शरीर के मोड़ पृष्ठ-भाग में पैरों से लगाकर ऊपर तक स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसकी आकृति पूर्वोक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन मूर्ति से तथा हड़प्पा के लाल-पाषाण की सिर-हीन मूर्ति से बहुत साम्य रखती है। विद्वानों का मत है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन होनी चाहिये, और वह ई० पू० १०० वर्ष से इस ओर की तो हो ही नहीं सकती।

इसी प्रकार की दूसरी धातु-प्रतिमा आदिनाथ तीर्थंकर की है, जो बिहार में आरा के चौसा नामक स्थान से प्राप्त हुई है, और पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। यह भी खड्गासन मुद्रा में है, और रूप-रेखा में उपर्युक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति से साम्य रखती है। तथापि अंगों की आकृति, केश-विन्यास एवं प्रभाव की शोभा के आधार पर यह गुप्त-कालीन अनुमान की जाती है। इसी के साथ प्राप्त हुई अन्य प्रतिमाएं पटना संग्रहालय में हैं, जो अपनी बनावट की शैली द्वारा मौर्य व गुप्त काल के बीच की शृंखला को प्रकट करती है।

धातु की सबस्त्र जिन-प्रतिमा राजपूताने में सिरौही जनपद के अन्तर्गत बसन्तगढ़ नामक स्थान से मिली है। यह ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर सं० ७४४ (ई० ६८७) का लेख है। इसमें धोती का पहनावा दिखाया गया है। उसकी धोती की सिकुड़न बाएं पैर पर विशेष रूप से दिखाई गयी है। इससे संभवतः कुछ पूर्व की वे पांच धातु प्रतिमाएं हैं जो बलभी से प्राप्त हुई हैं, और ग्रिन्स-आफ-वेल्स-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये प्रतिमाएं भी सबस्त्र हैं, किन्तु इनमें धोती का प्रदर्शन वैसे उग्र रूप से नहीं पाया जाता, जैसा बसन्तगढ़ की प्रतिमा में। इस प्रकार की धोती का प्रदर्शन पाषाण मूर्तियों में भी किया गया पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण रोहताक (पंजाब) में पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है। ग्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय की आहरडी (खानदेश) से प्राप्त हुई आदिनाथ की प्रतिमा १० वीं शती की धातुमय मूर्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार की धातु-प्रतिमाओं में वे मूर्तियां भी उल्लेखनीय हैं जो जीवन्त स्वामी की कही जाती हैं। आषट्पञ्चूर्ण, निशीथचूर्ण व बसुदेवहिंडी में उल्लेख मिलता है कि महावीर तीर्थंकर के कुमारकाल में जब वे अपने राज-प्रासाद में ही धर्म-ध्यान किया करते थे, तभी उनकी एक चन्दन की प्रतिमा निर्माण कराई गई थी, जो बीतिभय पट्टन (सिन्धु-सीवीर) के नरेश उबयन के हाथ पड़ी। वहां से उज्जैन के राजा प्रद्योत उसकी अन्य काष्ठ-वटित प्रतिकृति (प्रतिमा) को उसके स्थान पर छोड़-

कर मूल प्रतिमा को अपने राज्य में ले आये, और उसे बिहिजा में प्रतिष्ठित करा दिया, जहाँ वह दीर्घकाल तक पूजी जाती रही। इस साहित्यिक कथानक को हाव ही में अकोटा (बड़ौदा जनपद) से प्राप्त दो जीवन्तस्वामी की ब्रौन्ज-धातु निर्मित प्रतिमाओं से ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त हुआ है। इनमें से एक पर लेख है, जिसमें उसे निवन्त-सामि-प्रतिमा कहा है, और यह उल्लेख है कि उसे चन्द्रकुलकी नागेश्वरी आविका ने दान दिया था। लिपि पर से यह छठी शती के मध्यभाग की अनुमान की गई है। ये मूर्तियाँ कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा में हैं, किन्तु शरीर पर अलंकरण खूब राजकुमारोचित है। मस्तक पर ऊँचा मुकुट है, जिसके नीचे केशकलाप दोनों कंधों के नीचे झूल रहे हैं। गले में हारादि आभरण, कानों में कुंडल, दोनों बाहुओं पर चौड़े भुजबंध व हाथों में कड़े और कटिबंध आदि आभूषण हैं। मुह पर स्मित व प्रसाद भाव झलक रहा है। इनकी भावाभिव्यक्ति व अलंकरण में गुप्तकालीन व तदुत्तर शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

लगभग १४वीं शती से पीतल की जिनमूर्तियों का भी प्रचार हुआ पाया जाता जाता है। कहीं कहीं तो पीतल की बड़ी विशाल भारी ठोस मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। आबू के पित्तलहर मंदिर में विराजमान आदिनाथ की पीतल की मूर्ति लेखानुसार १०८ मं की है, और वह वि० सं० १५२५ में प्रतिष्ठित की गई थी। मूर्ति अपने परिकर सहित ८ फुट ऊँची पद्मासन है, और वह बेहसाबा (उत्तर गुजरात) के सूत्रचार मंडन के पुत्र देवा द्वारा निर्माण की गई थी।

बाहुबलि की मूर्तियाँ—

ब्रौन्ज की प्रतिमाओं में विशेष उल्लेखनीय है बाहुबलि की वह प्रतिमा जो अपनी कुछ वर्ष पूर्व ही बम्बई के प्रिंस आफ वेस्ट संग्रहालय में आई है। बाहुबलि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र व भरत चक्रवर्ती के भ्राता थे, और उन्हें तक्षशिला का राज्य दिया गया था। पिता के तपस्या धारण कर लेने के पश्चात् भरत चक्रवर्ती हुए, और उन्होंने बाहुबलि को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश करना चाहा। इस पर दोनों भाइयों में झुझ हुआ। जिस समय बुद्ध के बीच विजयम्भी संशयावस्था में पड़ी हुई थी, उसी समय बाहुबलि को इस सांसारिक मोह और आपत्ति से वैराग्य हो गया, और उन्होंने अपने लिए केवल एक पैर भर पृथ्वी रखकर शेष जगत्सत् राज्य-वैभव भूमि व परिवर्तन का परित्याग कर दिया। उन्होंने पोस्तनपुर में निश्चल खड़े होकर ऐसी घोर तपस्या की कि उनके पैरों के समीप बल्मीक बढ़ गये व शरीर के अंग-प्रत्यंगों से

महासर्प व लताएं लिपट गईं। बाहुबलि की इस घोर तपस्या का वर्णन जिनसेन कृत महापुराण (३६, १०४-१८५) में किया गया है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण में संक्षेपतः कहा है—

संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः ।

वर्षं प्रतिमया तत्सौ मेरुवन्निष्प्रकम्पकः ॥

बल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगैः ।

श्यामादीनां च बल्मीभिः वेष्टितः प्राप केवलम् ॥ (प० पु० ४, ७६-७७)

इस वर्णन में जो वमीठों व लता के शरीर में लिपटने का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सम्मुख बाहुबलि की इन लक्षणाओं से युक्त कोई मूर्तिमान् प्रतिमा थी। काल की दृष्टि के उस समय बाबामी की गुफा की बाहुबलि मूर्ति बन चुकी सिद्ध होती है। रविषेणाचार्य उससे परिचित रहे हों तो आश्चर्य नहीं। बाबामी की यह मूर्ति लगभग सातवीं शती में निर्मित साढ़े सात फुट ऊंची है। दूसरी प्रतिमा ऐलोरा के छोटे कैलाश नामक जैन-शिलामंदिर की इन्द्रसभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण-काल लगभग ८ वीं शती माना जाता है। तीसरी मूर्ति देवगढ़ के शान्तिनाथ मंदिर (८६२ ई०) में है, जिसकी उपर्युक्त मूर्तियों से विशेषता यह है कि इसमें वामी, कुक्कुट सर्प, व लताओं के अतिरिक्त मूर्ति पर रेगते हुए बिच्छू, छिपकली आदि जीव-जन्तु भी अंकित किये गये हैं; और इन उपसर्गकारी जीवों का निवारण करते हुए एक देव-युगल भी दिखया गया है। किन्तु इन सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के अन्तर्गत अबरणबेल गोला के विन्ध्य-गिरि पर बिराजमान वह मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा गंगनरेश राजमल्ल के महामंत्री चामुडराय ने १०-११ वीं शती में कराई थी। यह मूर्ति ५६ फुट ६ इंच ऊंची है और उस पर्वत पर दूर से ही दिखाई देती है। उसके अंगों का संतुलन, मुख का शांत और प्रसन्न भाव, बल्मीक व माधवी लता के लपेटन इतनी सुन्दरता को लिए हुए हैं कि जिनकी तुलना अन्यत्र कही नहीं पाई जाती। इसी मूर्ति के अनुकरण पर कारकल में सन् १४३२ ई० में ४१ फुट ६ इंच ऊंची, तथा बेनूर में १६०४ ई० में ३५ फुट ऊंची अन्य दो विशाल पाषाण मूर्तियां प्रतिष्ठित हुईं। धीरे-धीरे इस प्रकार की बाहुबलि की मूर्ति का उत्तर भारत में भी प्रचार हुआ है। इधर कुछ दिनों से बाहुबलि की मूर्तियां अनेक जैन मंदिरों में प्रतिष्ठित हुई हैं।

किन्तु जो ब्रौन्ज-धातु निर्मित मूर्ति अब प्रकाश में आई है। वह उपर्युक्त समस्त प्रतिमाओं से प्राचीन अनुमान की जाती है। उसका निर्माणकाल सम्भवतः सातवीं

शरीर व उसके भी कुछ वर्ष पूर्व प्रतीत होता है। यह प्रतिमा एक गोलाकार पीठ पर खड़ी है, और उसकी ऊँचाई २० इंच है। माधवी-लता पत्तों सहित पैरों और बाहुओं से लिपटी हुई है। सिर के बाल जैसे कंधों से पीछे की ओर लौटाये हुए दिखाई देते हैं; तथा उनकी जटाएं पीठ व कंधों पर बिखरी हैं। भौहें ऊपर की खड़ी-हुई व उथली बनाई गई हैं। कान नीचे को उतरे व छिदे हुए हैं। नाक वैनी व झुकी हुई है। कपोल व दाढ़ी खूब मांसल व भरे हुए हैं। मुखाकृति लम्बी व गोल है। वस्त्रवल चौड़ाई को लिए हुए चिकना है व चूचूक चिन्ह मात्र दिखाये गये हैं। नितम्ब-भाग गुलाई लिए हुए है। पैर सीधे, और घुटने भले प्रकार दिखाये गये हैं। बाहुएं विशाल कंधों से नीचे की ओर शरीर आकृति के वलन का अनुकरण कर रही हैं। हस्ततल जंघाओं से गुट्टों के द्वारा जुड़े हुए हैं जिससे बाहुओं को सहारा मिले। इस प्रतिमा का आकृति-निर्माण अतिसुन्दर हुआ है। मुख पर ध्यान व आध्यात्मिकता का तेज भले प्रकार झलकाया गया है। इस आकृति-निर्माण में श्री उमाकांत शाह ने इसकी तुलना-बादामी गुफा में उपलब्ध बाहुबलि की प्रतिमा से तथा ऐहोल की मूर्तियों से की है, जिनका निर्माण-काल ६ वीं ७ वीं शती है।

चक्रेश्वरी पद्मावती आदि यक्षियों की मूर्तियां—

जैन मूर्तिकला में तीर्थंकरों के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओं को रूप प्रदान किया गया है, उनमें यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाएं भी ध्यान देने योग्य हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के अनुषंगी एक यक्ष और एक यक्षिणी माने गये हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम चक्रेश्वरी है। इस देवी की एक ढाई फुट ऊंची पाषाण मूर्ति मञ्जुरा संग्रहालय में विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड पर आधारित आसन पर स्थित है। इसका सिर व भुजः टूट-फूट गई हैं, तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल कमलाकार शुभ्रलंकृत विद्यमान है। भुजाएं दश रही हैं, और हाथ में एक चक्र रहा है। मूर्ति के दोनों पाश्वर्कों में एक-एक द्वारपालिका है, जिनमें दायीं ओर वाली एक चमर, तथा बायीं ओर वाली एक पुष्पमाला लिये हुए हैं। ये दोनों प्रतिमाएं भी कुछ खंडित हैं। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन-प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर बंदनमालाएं लिये हुए उड़ती हुई मूर्तियां बनी हैं। यह मूर्ति भी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है, और कनिष्क साहब ने इसे ब्राह्मण-परम्परा की ब्रह्मभुजी देवी समझा था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में ही कटनी के समीप बिलहरी ग्राम के लक्ष्मणसागर के तट पर एक मंदिर में चक्रेश्वरी की मूर्ति खैरामाई के नाम से पूजी-जा

रही है, किन्तु मूर्ति के मस्त्रक पर जो आदिनाथ की प्रतिमा है, वह उसे स्पष्टतः जैन धरम्परा की घोषित कर रही है। चक्रेश्वरी की मूर्तियां देवगढ़ के मंदिरों में भी पाई गई हैं। ज्वरलबेलगोला (मंसूर) के चन्द्रगिरि पर्वत पर शासन-बस्ति नामक आदिनाथ के मंदिर के द्वार पर आजू-बाजू गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी की सुन्दर प्रतिमाएं हैं। यह मंदिर लेखानुसार शक १०४६ (१११७ ई०) से पूर्व बन चुका था। वहां के अन्यान्य मंदिरों में नाना तीर्थकरों के यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएं विद्यमान हैं (देखिए जे० शि० सं० भाग एक, प्रस्तावना)। इनमें अक्कन बस्ति नामक पार्श्वनाथ मंदिर की साहेबीन फुट ऊंची चरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षी की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इस मंदिर का निर्माणकाल वहां के लेखानुसार शक ११०३ (११८१ ई०) है। कस्तले बस्ति में भी यह मूर्ति है। पद्मावती की इससे पूर्व व पश्चात्-कालीन मूर्तियां जैनमंदिरों में बहुतायत से पाई जाती हैं। इनमें लंडगिरि (उड़ीसा) की एक गुफा मूर्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। नालंदा व देवगढ़ की मूर्तियां ७ वी व ८ वी शती की हैं। मध्यकाल से लगाकर इस देवी की पूजा विशेष रूप से लोक प्रचलित हुई पाई जाती है।

अम्बिका देवी की मूर्ति—

तीर्थकरों के यक्ष-यक्षिणियों में सबसे अधिक प्रचार व प्रसिद्धि नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की पाई जाती है। इस देवी की सब से प्राचीन व विख्यात मूर्ति गिरनार (ऊर्जयन्त) पर्वत की अम्बादेवी नामक टोंक पर है, जिसका उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्सव्यम्भूस्तोत्र (पद्य १२७) में खचरयोषित (विद्याधरी) नाम से किया है (पृ० ३३६)। जिनसेन ने भी अपने हरिवंश-पुराण (शक ७०५) में इस देवी का स्मरण इस प्रकार किया है—

प्रहीतचक्राप्रतिचक्रवेवता तथोर्जयन्तालय-सिंहबाहिनी ।

शिवाय यस्मिन्निह सन्निवीयते क्व तत्र बिघ्नाः प्रभवन्ति शासने ॥

(ह० पु० प्रशस्ति)

इस देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण-प्रतिमा १ फुट ६ इंच ऊंची मथुरा संग्रहालय में है। अम्बिका एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराजमान है। बायां पैर ऊपर उठाया हुआ व दाहिना पृथ्वी पर है। बाहिने हाथ में फलों का गुच्छा है, व बायां हाथ बायीं जंघा पर बैठे हुए बालक को सम्हाले है। बालक वक्षस्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालंकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनों स्कंधों से पीछे की ओर ढाली हुई ओढ़नी है। सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके

पीछे शोभनीक प्रभावल भी है। गले में दो लड़ियों वाला हार, हाथों में चूड़ियाँ, कटि में मेखला व पैरों में नूपुर आभूषण हैं। बालक नग्न है, किन्तु गले में हार, बाहुओं में भुजबंध, कलाई में कड़े तथा कमर में करघनी पहने हुए है। अम्बिका की बाजू से एक दूसरा बालक खड़ा है, जिसका दाहिना हाथ अम्बिका के दाहिने घुटने पर है। इस खड़े हुए बालक के दूसरी ओर गरुड की एक छोटी सी मूर्ति है, जिसकेबाएं हाथ में मोदक-पात्र है, जिसे उनकी सूंड स्पर्श कर रही है। उसके ठीक दूसरे पार्श्व में एक अन्य आसीन मूर्ति है जिसके दाहिने हाथ में एक पात्र और बाएं में मोहरों की थैली है, और इसलिए धनद-कुबेर की मूर्ति प्रतीत होती है। कुबेर और गरुड की मूर्तियों के अपने-अपने कुछ लम्बाकार प्रभावल भी बने हैं। इन सबके दोनों पार्श्वों में ज्वरधारी मूर्तियां हैं। आसन से नीचे की पट्टी में आठ नर्तकियां हैं। ऊपर की ओर पुष्प-मंड-पिका बनी है, जिसके मध्य भाग में पद्मासन व ध्यानस्थ जिनमूर्ति है। इसके दोनों ओर दो चतुर्भुजी मूर्तियां कमलों पर त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी हैं। दाहिनी ओर की मूर्ति के हाथों में हल व मूसल होने से वह स्पष्टतः बलराम की, तथा बायी ओर की चतुर्भुज मूर्ति के बाएं हाथों में चक्र व शंख तथा दाहिने हाथों में पद्म व गदा होने से वह वासुदेव की मूर्ति है। दोनों के गलों में वैजयन्ती मालाएं पड़ी हुई हैं। बलभद्र और वासुदेव सहित नेमिनाथ तीर्थंकर की स्वतंत्र मूर्तियां मथुरा व लखनऊ के संग्रहालयों में विद्यमान हैं। प्रस्तुत अम्बिका की मूर्ति में हमें जैन व वैदिक परम्परा के अनेक देवी-देवताओं का सुन्दर समीकरण मिलता है, जिसका वर्णनात्मक पक्ष हम जैन पुराणों में पाते हैं।

पुण्याश्रव-कथाकोष की यक्षी की कथा के अनुसार गिरिनार की अग्निला नाम की धर्मवती ब्राह्मण-महिला अपने पति की कोप-भाजन बनकर अपने प्रियंकर और शुभंकर नामक दो अल्प-वयस्क पुत्रों को लेकर गिरिनार पर्वत पर एक मुनिराज की शरण में चली गई। वहां बालकों के क्षुधाग्रस्त होने पर उसके धर्म के प्रभाव से वहां एक आम्रवृक्ष अकाल में ही फूल उठा। उसकी लुम्बिकाओं (गुच्छों) द्वारा उसने उन बालकों की क्षुधा को शान्त किया। उधर उसके पति सोमशर्मा को अपनी भूल का पता चला तो वह उसे मनाने आया। अग्निला समझी कि वह उसे मारने आया है। अतएव वह तत्कालीन तीर्थंकर नेमिनाथ का ध्यान करती हुई पर्वत के शिखर से कूद पड़ी, और शुभ ध्यान से भरकर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका हुई। उसका पति यथा समय भरकर सिंह के रूप में उसका वाहन हुआ। इस प्रकार अम्बिका के दो पुत्र, आम्रवृक्ष और आम्रफलों की लम्बिका और सिंहवाहन, ये उस देवी की मूर्ति के लक्षण

बने। इसी कथानक का सार आशावर कृत प्रतिष्ठासार (१३ वीं शती) में अम्बिका के बन्दनात्मक निम्न श्लोक में मिलता है:—

सर्वैक्यपुण-प्रियंकरसुतप्रीत्यै करे बिभ्रतीं ।

विद्याभ्रस्तबकं शुभंकर-करहिलष्टान्यहस्तांगुलिम् ॥

सिंहभर्तृ चरे स्थितां हरितभामाभ्रद्रुमच्छायगाम् ।

ब्रंदाहं वशकामुकोच्छ्रयजिनं देवोमिहाम्बां यजे ॥

अम्बिका की ऐसी मूर्तियां उदयगिरि-खंडगिरि की नवमुनि-गुफा तथा ठंक की गुफाओं में भी पाई जाती हैं। इनमें इस मूर्ति के दो ही हाथ पाये जाते हैं, जैसा कि ऊपर वर्णित मथुरा की गुप्तकालीन प्रतिमा में भी है। किन्तु दक्षिण में जिनकांची के एक जैन मठ की दीवाल पर चित्रित अम्बिका चतुर्भुज है। उसके दो हाथों में पाश और शंकुश हैं, तथा अन्य दो हाथ अभय और वरद मुद्रा में हैं। वह आभ्रवृक्ष के नीचे पद्मासन विराजमान है, और पास में बालक भी हैं। मैसूर राज्य के अंगडि नामक स्थान के जैनमंदिर में अम्बिका की द्विभुज-मूर्ति खड़ी हुई बहुत ही सुन्दर है। उसकी त्रिभंग शरीराकृति कलात्मक और लालित्यपूर्ण है। देवगढ़ के मंदिरों में तथा आबू के विमल-वसही में भी अम्बिका की मूर्ति दर्शनीय है। मथुरा संग्रहालय में हाल ही आई हुई (३३८२) पूर्व-मध्यकालीन मूर्ति में देवी दो स्तंभों के बीच ललितासन बैठी है। दायां पैर कमल पर है। देवी अपनी गोद के शिशु को अत्यंत वात्सल्य से दोनों हाथों से पकड़े हुए है। केशपाश व कंठहार तथा कुंडलों की आकृतियां बड़ी सुन्दर हैं। बाएं किनारे सिंह बैठा है।

सरस्वती की मूर्ति—

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति (जे २४) लखनऊ के संग्रहालय में एक फुट साढ़े नौ इंच ऊंची है। देवी चौकोर आसन पर विराजमान है। सिर खंडित है। बायें हाथ में सूत्र से बंधी हुई पुस्तक है। दाहिना हाथ खंडित है, किन्तु अभय मुद्रा में रहा प्रतीत होता है। वस्त्र साड़ी जैसा है, जिसका अंचल कंधों को भी आच्छादित किये है। दोनों हाथों की कलाईयों पर एक-एक चूड़ी है, तथा दाहिने हाथ में चूड़ी से ऊपर जपमाला भी लटक रही है। देवी के दोनों ओर दो उपासक खड़े हैं, जिनके केश सुन्दरता से संवारे गये हैं। दाहिनी ओर के उपासक के हाथ में कलश है, तथा बाईं ओर का उपासक हाथ जोड़े खड़ा है। दाहिनी ओर का उपासक कोट पहने हुए है, जो शक जाति के द्यूनिनक जैसा दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक

लेख भी है, जिसके अनुसार "सब जीवों को हित व सुखकारी यह सरस्वती की प्रतिष्ठा सिंहपुत्र-शोभ नामक लुहार कासक (शिल्पी) ने दान किया, और उसे एक जैन मंदिर की रंगशाला में स्थापित की"। यह मूर्तिदान कोटिक-गण वाचकाचार्य आर्यदेव को संवत् ५४ में किया था। लिपि आदि पर से यह वर्ष शक संवत् का प्रतीत होता है। अतः इसका काल $७८ + ५४ = १३२$ ई०, कुषाण राजा हुविष्क के समय में पड़ता है। लेख में जो अन्य नाम आये हैं, वे सभी उसी कंकाली टीले से प्राप्त सम्वत् ५२ की जैन प्रतिमा के लेख में भी उल्लिखित हैं। जैन परम्परा में सरस्वती की पूजा कितनी प्राचीन है, यह इस मूर्ति और उसके लेख से प्रमाणित होता है। सरस्वती की इतनी प्राचीन प्रतिष्ठा अन्यत्र कही प्राप्त नहीं हुई। इस देवी की हिन्दू मूर्तियां गुप्तकाल से पूर्व की नहीं पायी जातीं, अर्थात् वे सब इससे दो तीन शती पश्चात् की हैं। सरस्वती की मूर्ति अनेक स्थानों के जैन मंदिरों में प्रतिष्ठित पाई जाती है, किन्तु अधिकांश ज्ञात प्रतिमाएं मध्यकाल की निर्मितियां हैं। उदाहरणार्थ, वेवगढ़ के १९वें मंदिर के बाहिरी बरामदे में सरस्वती की खड़ी हुई चतुर्भुज मूर्ति है, जिसका काल वि० सं० ११२६ के लगभग सिद्ध होता है। राजपूताने में सिरोजी जनपद के अजारी नामक स्थान के महावीर जैन मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्ति के आसन पर वि० सं० १२६९ खुदा हुआ है। यह मूर्ति कहीं द्विभुज, कहीं चतुर्भुज, कहीं मयूरवाहिनी और कहीं हंसवाहिनी पाई जाती है। एक हाथ में पुस्तक अवश्य रहती है। अन्य हाथ व हाथों में कमल, अक्षमाला, और वीणा, अथवा इनमें से कोई एक या दो पाये जाते हैं; अथवा दूसरा हाथ अभय मुद्रा में दिखाई देता है। जैन प्रतिष्ठा-ग्रंथों में इस देवी के ये सभी लक्षण भिन्न-भिन्न रूप से पाये जाते हैं। उसकी जटाओं और चन्द्रकला का भी उल्लेख मिलता है। श्वला टीका के कर्त्ता वीरसेनाचार्य ने इस देवी की श्रुत-देवता के रूप में बन्दना की है, जिसके द्वादशांग वाणी रूप बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन रूप तिलक है, और उत्तम चारित्र्य रूप आभूषण है। आकोटा से प्राप्त सरस्वती की धातु-प्रतिमा (११वीं शती से पूर्व की, बड़ीदा संग्रहालय में) द्विभुज खड़ी हुई है। मुख-मुद्रा बड़ी प्रसन्न है। मुकुट का प्रभाव भी है। ऐसी ही एक प्रतिमा बख्तगढ़ से भी प्राप्त हुई है। देवियों की पूजा की परम्परा बड़ी प्राचीन है; यद्यपि उनके नामों, स्वरूपों तथा स्थापना व पूजा के प्रकारों में निरंतर परिवर्तन होता रहा है। अणवती सूत्र (११, ११, ४२६) में उल्लेख है कि राजकुमार महाबल के विवाह के समय उसे प्रचुर वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त श्री, ह्री, वृत्ति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, नन्दा और वज्रा की आठ-आठ प्रतिमाएँ भी उपहार रूप दी गई थीं। इससे अनुमानतः विष्णु के पश्चात् प्रत्येक सम्पन्न कुटुम्ब में ये प्रतिमाएँ

कुलदेवता के रूप में प्रविष्टित की जाती थीं ।

अच्युता या अच्छप्ता देवी की मूर्ति—

अच्युता देवी की एक मूर्ति बदनावर (मालवा) से प्राप्त हुई है। देवी घोड़े पर आरुढ़ है। उसके चार हाथ हैं। दोनों दाहिने हाथ टूट गये हैं। ऊपर के बाएं हाथ में एक ढाल दिखाई देती है, और नीचे का हाथ घोड़े की रास सम्हाले हुए है। दाहिना पैर रकाब में है और बायां उस पैर की जंघा पर रखा हुआ है। इस प्रकार मूर्ति का मुख सामने व घोड़े का उसके बायीं ओर है। देवी के गले और कानों में अलंकार है। मूर्ति के ऊपर मंडप का आकार है, जिस पर तीन जिन-प्रतिमाएं बनी हैं। चारों कोनों पर भी छोटी-छोटी जैन आकृतियां हैं। यह पाषाण-खंड ३ फुट ६ इंच ऊंचा है। इस पर एक लेख भी है, जिसके अनुसार अच्युता देवी की प्रतिमा को सम्बत् १२२६ (ई० ११७२) में कुछ कुटुम्बों के व्यक्तियों ने वर्द्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय में प्रस्थापित की थी। इस लेख पर से सिद्ध है कि आधुनिक बदनावर प्राचीन वर्द्धमानपुर का अपभ्रंश रूप है। मैं अपने एक लेख में बतला चुका हूं, तथा ऊपर मंदिरों के संबंध में भी उल्लेख किया जा चुका है, कि सम्भवतः यही वह वर्द्धमानपुर का शान्तिनाथ मंदिर है जहां शक सं० ७०५ (ई० ७८३) में आचार्य जिनसेन ने हरिवंश-पुराण की रचना पूर्ण की थी।

नैगमेश (नैमेश) की मूर्ति—

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त भग्नावशेषों में एक तोरण-खंड पर नैमेश देव की प्रतिमा बनी है और उसके नीचे भगव नैमैसो ऐसा लिखा है। इस नैमेश देव की मथुरा-संग्रहालय में अनेक मूर्तियां हैं। कुषाण कालीन एक मूर्ति (ई० १) एक फुट साढ़े तीन इंच ऊंची है। मुष्ठाकृति बकरे के सदृश है, व बाएं हाथ से दो शिशुओं को धारण किये है, जो उसकी जंघा पर लटक रहे हैं। उसके कंधों पर भी सम्भवतः बालक रहे हैं, जो खंडित हो गये हैं, केवल उनके पैर लटक रहे हैं। एक अन्य छोटी सी मूर्ति (नं० ६०६) साढ़े चार इंच की है, जिसमें कंधों पर बालक बैठे हुए दिखायी देते हैं। यह भी कुषाण कालीन है। तीसरी मूर्ति साढ़े आठ इंच ऊंची है और उसमें दोनों कंधों पर एक-एक बालक बैठा हुआ है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है, और बाएं में मोहरों की बेसी जैसी कोई वस्तु है। कंधों पर बालक बैठाए हुए नैगमेश की और दो मूर्तियां (नं० ११५१, २४८२) हैं। एक मूर्ति का केवल सिर मात्र सुरक्षित है (नं० ६००१)।

एक अन्य मूर्ति (नं० २५४७) एक फुट पांच इंच ऊंची है, जिसमें प्रत्येक कंधे पर दो-दो बालक बैठे दिखाई देते हैं, तथा दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है।

कुछ मूर्तियां अजामुख देवी की हैं। एक मूर्ति (ई २) एक फुट चार इंच ऊंची है, जिसमें देवी के स्तन स्पष्ट हैं। उसके बाएं हाथ में एक तर्किया है, जिस पर एक बालक अपने दोनों हाथ वक्षस्थल पर रखे हुए लटका है। देवी का दाहिना हाथ खंडित है; किन्तु अनुमानतः वह कंधे की ओर उठ रहा है। इसी प्रकार की दूसरी मूर्ति (ई ३) में स्तनों पर हार लटक रहा है। तीसरी मूर्ति (नं० ७६६) साढ़े आठ इंच ऊंची है। देवी अजामुख है, किन्तु वह किसी बालक को धारण नहीं किये है। उसके दाहिने हाथ में कमल और बाएं हाथ में प्याला है। एक अन्य मूर्ति (सं० १२१०) दश इंच ऊंची है, जिसमें देवी अपनी बायीं जंघा पर बालक को बैठाये है, और बाएं हाथ से उसे पकड़े है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। सिर पर साढ़े पांच इंच व्यास का प्रभाव भी है। स्तनों पर सुस्पष्ट हार भी है। एक अन्य छोटी सी मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह केवल पांच इंच ऊंची है, किन्तु उसमें अजामुख देवी की चार भुजाएं हैं, और वह एक पर्वत पर ललितासन विराजमान है। उसकी बायीं जंघा पर बालक बैठा है, जो प्याले को हाथों में लिए हुए दूध पी रहा है। देवी के हाथों में त्रिशूल, प्याला व पाश हैं। उसके दाहिने पैर के नीचे उसके वाहन की आकृति कुछ अस्पष्ट है, जो सम्भवतः बैल या भैंसा होगा।

कुछ मूर्तियां ऐसी भी हैं जिनमें यह मातृदेवी अजामुख नहीं, किन्तु स्त्री-मुख बनाई गई है। ऐसी एक मूर्ति (ई ४) १ फुट १ इंच ऊंची है जिसमें देवी एक शिशु को अपनी गोद में सुलाये हुए हैं। देवी का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है। मूर्ति कुषाण-कालीन है। इसी प्रकार की बालक को सुलाये हुए एक दूसरी मूर्ति भी है। बालकों सहित एक अन्य उल्लेखनीय मूर्ति (नं० २७८) १ फुट साढ़े सात इंच ऊंची व ६ इंच चौड़ी है, जिसमें एक पुरुष व स्त्री पास-पास एक वृक्ष के नीचे ललितासन में बैठे हैं। वृक्ष के ऊपरी भाग में छोटी सी ध्यानस्थ जिन-मूर्ति बनी हुई है, और वृक्ष की पींड (तना) पर गिरगिट चढ़ता हुआ दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक दूसरी आकृति है, जिसमें बायां पैर ऊपर उठाया हुआ है, और उसके दोनों ओर ६ बालक खेल रहे हैं। इसी प्रकार की एक मूर्ति चंबेरी (म० प्र०) में भी पाई गई है, तथा एक अन्य मूर्ति प्रयाग नगरपालिका के संग्रहालय में भी है।

उपर्युक्त समस्त मूर्तियां मूलतः एक जैन आख्यान से संबंधित हैं, और अपने विकासक्रम को प्रदर्शित कर रही हैं। कल्प-सूत्र के अनुसार इन्द्र की आज्ञा से उनके

हरिनैगमेश नामक अनुचर देव ने महावीर को गर्भरूप में देवानंदा की कुक्षि से निकाल कर त्रिशला रानी की कुक्षि में स्थापित किया था । इस प्रकार हरिनैगमेशी का संबंध बाल-रक्षा से स्थापित हुआ जान पड़ता है । इस हरिनैगमेश की मुखाकृति प्राचीन चित्रों व प्रतिमाओं में बकरे जैसी पाई जाती है । नेमिनाथ-चरित में कथानक है कि सत्यभामा की प्रद्युम्न सदृश पुत्र को प्राप्त करने की अभिलाषा को पूरा करने के लिए कृष्ण ने नैगमेश देव की आराधना की, और उसने प्रकट होकर उन्हें एक हार दिया जिसके पहनने से सत्यभामा की मनोकामना पूरी हुई । इस आस्थान से नैगमेश देव का संतानोत्पत्ति के साथ विशेष संबंध स्थापित होता है । उक्त देव व देवी की प्रायः समस्त मूर्तियां हार पहने हुए हैं, जो सम्भवतः इस कथानक के हार का प्रतीक है । डा० वासु-देवशरणाजी का अनुमान है कि उपलभ्य मूर्तियों पर से ऐसा प्रतीत होता है कि संतान-पालन में देव की अपेक्षा देवी की उपासना अधिक औचित्य रखती है; अतएव देव के स्थान पर देवी की कल्पना प्रारंभ हुई । तत्पश्चात् अजामुख का परित्याग करके सुन्दर स्त्री-मुख का रूप इस देव-देवी को दिया गया, और फिर देव-देवी दोनों ही एक साथ बालकों सहित दिखलाए जाने लगे । (जैन एनटी० १६३७ प्र० ३७ आदि) संभव है शिशु के पालन-पोषण में बकरी के दूध के महत्व के कारण इस अजामुख देवता की प्रतिष्ठा हुई हो ?

कुछ मूर्तियों में, उदाहरणार्थ बेवगढ़ के मंदिरों में व चन्द्रपुर (भांसी) से प्राप्त मूर्तियों में, एक वृक्ष के नीचे पास-पास बैठे हुए पुरुष और स्त्री दिखाई देते हैं, और वे दोनों ही एक बालक को लिए हुए हैं । पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व संचालक श्री दयाराम साहनी का मत है कि यह दृश्य भोगभूमि के युगल का है ।

जैन चित्रकला

चित्रकला के प्राचीन उल्लेख—

भारतवर्ष में चित्रकला का भी बड़ा प्राचीन इतिहास है । इस कला के साहित्य में बहुत प्राचीन उल्लेख पाये जाते हैं, तथापि इस कला के सुन्दरतम उदाहरण हमें अजन्ता की गुप्त-कालीन बौद्ध गुफाओं में मिलते हैं । यहां यह कला जिस विकसित रूप में प्राप्त होती है, वह स्वयं बतला रही है कि उससे पूर्व भी भारतीय कलाकारों ने अनेक वैसे भित्तिचित्र दीर्घकाल तक बनाए होंगे, तभी उनको इस कला का वह कौशल और अभ्यास प्राप्त हो सका जिसका प्रदर्शन हम उन गुफाओं में पाते हैं । किन्तु चित्र-

कला की आश्चर्यभूत सामग्री भी उसकी प्रकृति अनुसार ही बड़ी ललित और कोमल होती है। भित्ति का लेप और उसपर कलाकार के हाथों की स्याही की रेखाएं तथा रंगों का विन्यास काल की तथा घूप, वर्षा, पवन, आदि प्राकृतिक शक्तियों की करालता को उतना नहीं सह सकती जितना वास्तु व मूर्तिकला की पाषाणमयी कृतियां। इस कारण गुप्त काल से पूर्व के चित्रकलात्मक उदाहरण या तो नष्ट हो गये या बचे तो ऐसी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में जिससे उनके मौलिक स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो गया है।

प्राचीनतम जैन साहित्य में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। छठे जैन श्रुतांग नाथाधम्म-कहाओ में धारणी देवी के शयानागार का सुन्दर वर्णन है जिसका छत लताओं, पुष्पवल्लियों तथा उत्तम जाति के चित्रों से अलंकृत था (ना० क० १६)। इसी श्रुतांग में मल्लदिग्ध राजकुमार द्वारा अपने प्रमदवन में चित्रसभा बनवाने का वर्णन है। उसने चित्रकारों की श्रेणी को बुलवाया और उनसे कहा कि मेरे लिए एक चित्र-सभा बनाओ और उसे हाव, भाव, विलास, विभ्रमों से सुसज्जित करो। चित्रकार-श्रेणी ने इस बात को स्वीकार कर लिया और अपने-अपने घर जाकर तूलिकाएं और वर्ण (रंग) लाकर वे चित्र-रचना में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने भित्तियों का विभाजन किया, भूमि को लेपादि से सजाया और फिर उक्त प्रकार के चित्र बनाने लगे। उनमें से एक चित्रकार को ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि किसी भी द्विपद व चतुष्पद प्राणी का एक अंग मात्र देखकर उसकी पूरी रूपाकृति निर्माण कर सकता था। उसने राजकुमारी मल्ल के चरणगुण्ट को पदों की ओट से देखकर उसकी यथावत् सर्वांगाकृति चित्रित कर दी (ना० क० ८, ७८)। इसी श्रुतांग में अन्यत्र (१३, ६६) मणिकार श्रेष्ठि नंद द्वारा राजगृह के उद्यान में एक चित्रसभा बनवाने का उल्लेख है, जिसमें सैकड़ों स्तम्भ थे, व नाना प्रकार के काष्ठकर्म (लकड़ी की कारीगरी), पुस्तकर्म (चूने सिमेंट की कारीगरी), चित्रकर्म (रंगों की कारीगरी) लेप्यकर्म (मिट्टी की आकृतियां) तथा नाता द्रव्यों को गूथकर, वेष्टितकर, भरकर व जोड़कर बनाई हुई विविध आकृतियां निर्माण कराई गई थीं। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य (२, ५, २६२) में एक मणिका का कथानक है, जो ६४ कलाओं में प्रवीण थी। उसने अपनी चित्रसभा में नाना प्रकार के, नाना जातियों व व्यवसायों के पुरुषों के चित्र लिखाये थे। जो कोई उसके पास आता उसे वह अपनी उस चित्र-सभा के चित्र दिखलाती, और उसकी प्रतिक्रियाओं पर से उसकी रुचि व स्वभाव को जानकर उसके साथ तदनुसार व्यवहार करती थी। आबन्धक टीका के एक पद्य में चित्रकार का उदाहरण देकर बतलाया है कि किसी भी व्यवसाय का अभ्यास ही, उसमें

पूर्व प्रवीणता प्राप्त कराता है। [चूर्णिकार ने इस बात को समझाते हुए कहा है कि निरंतर अभ्यास द्वारा चित्रकार रूपों के समुचित प्रमाण को बिना नापे-तौले ही साध लेता है। एक चित्रकार के हस्त-कौशल का उदाहरण देते हुए आवश्यक टीका में यह भी कहा है कि एक शिल्पी ने मयूर का पंख ऐसे कौशल से चित्रित किया था कि राजा उसे यथार्थ वस्तु समझकर हाथों में लेने का प्रयत्न करने लगा। भाव० चूर्णिकार ने कहा है कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने में भाषा और विभाषा का वही स्थान है जो चित्रकला में। चित्रकार जब किसी रूप का संतुलित माप निश्चय कर लेता है, तब वह भाषा; और प्रत्येक ग्रंथोपांग का प्रमाण निश्चित कर लेता है तब विभाषा, एवं जब नेत्रादि अंग चित्रित कर लेता है तब वह वार्ता की स्थिति पर पहुँचता है। इस प्रकार जैन साहित्यिक उल्लेखों से प्रमाणित है कि जैन परम्परा में चित्रकला का प्रचार अति प्राचीन काल में हो चुका था और यह कला सुविकसित तथा सुव्यवस्थित हो चुकी थी।

भित्ति-चित्र—

जैन चित्रकला के सबसे प्राचीन उदाहरण हमें तामिल प्रदेश के तंजौर के समीप सित्तन्नवासल की उस गुफा में मिलते हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। किसी समय इस गुफा में समस्त मित्तियाँ व छत चित्रों से अलंकृत थे, और गुफा का वह अलंकरण महेन्द्रवर्मा प्रथम के राज्य काल (ई० ६२५) में कराया गया था। शैव धर्म स्वीकार करने से पूर्व यह राजा जैनधर्मावलम्बी था। वह चित्रकला का इतना प्रेमी था कि उसने बक्षिण-चित्र नामक शास्त्र का संकलन कराया था। गुफा के अधिकांश चित्र तो नष्ट हो चुके हैं, किन्तु कुछ अब भी इतने सुव्यवस्थित हैं कि जिनसे उनका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इनमें आकाश में मेघों के बीच नृत्य करती हुई अप्सराओं की तथा राजा-रानी की आकृतियाँ स्पष्ट और सुन्दर हैं। छत पर के दो चित्र कमल-सरोवर के हैं। सरोवर के बीच एक युगल की आकृतियाँ हैं, जिनमें स्त्री अपने दाहिने हाथ से कमलपुष्प तोड़ रही है, और पुरुष उससे सटकर बाएँ हाथ में कमल-नाल को कंधे पर लिए खड़ा है। युगल का यह चित्रण बड़ा ही सुन्दर है। ऐसा भी अनुमान किया गया है कि ये चित्र तत्कालीन नरेश महेन्द्रवर्मा और उनकी रानी के ही हैं। एक और हाथी अनेक कमलनालों को अपनी सूड़ में लपेट कर उखाड़ रहा है, कहीं गाय कमलनाल चर रही है, हंस-युगल क्रीड़ा कर रहे हैं, पक्षी कमल मुकुलों पर बैठे हुए हैं, व मत्स्य पानी में बल-फिर रहे हैं। दूसरा चित्र भी इसी का क्रमानुगामी है। उसमें एक मनुष्य तोड़े हुए कमलों से भरी हुई टोकरी लिये हुए है, तथा हाथी और बैल क्रीड़ा कर रहे हैं।

हाथियों का रंग भूरा व बैलों का रंग मटियाला है । विद्वानों का अनुमान है कि ये चित्र तीर्थंकर के समयसरण की खातिका-भूमि के हैं, जिनमें भव्य-जन पूजा-निमित्त कमल तोड़ते हैं ।

इसी चित्र का अनुकरण एल्लोरा के कैलाशनाथ मंदिर के एक चित्र में भी पाया जाता है । यद्यपि यह मंदिर शैव है, तथापि इसमें उक्त चित्र के अतिरिक्त एक ऐसा भी चित्र है जिसमें एक दिगम्बर मुनि को पालकी में बैठाकर यात्रा निकाली जा रही है । पालकी को चार मनुष्य पीछे की ओर व आगे एक मनुष्य धारण किये हैं । पालकी पर छत्र भी लगा हुआ है । आगे-आगे पांच योद्धा भालों और ढालों से सुसज्जित चल रहे हैं । इन योद्धाओं की मुखाकृति, केशविन्यास, भौहें, आंखों व मूछों की बनावट तथा कर्ण-कुण्डल बड़ी सजीवताको लिए हुए है । बायीं ओर इनके स्वागत के लिये आती हुई सात स्त्रियां, और उनके आगे उसी प्रकार से सुसज्जित सात योद्धा दिखाई देते हैं । योद्धाओं के पीछे ऊपर की ओर छत्र भी लगा हुआ है । स्त्रियां सिरों पर कलश आदि मंगल द्रव्य धारण किये हुए हैं । उनकी साड़ी की पहनावट दक्षिणी ढंग की संक्षिप्त है, तथा उत्तरीय दाहिनी बाजू से बांये कंधे पर डाला हुआ है । उसके पीछे बंदनवार बने हुए दिखाई देते हैं । इस प्रकार यह दृश्य भट्टारक सम्प्रदाय के जैनमुनि के राजद्वार पर स्वागत का प्रतीक होता है । डा० मोतीचन्दजी का अनुमान है कि एक हिन्दू मंदिर में इस जैन दृश्य का अस्तित्व १२ वीं शती में मंदिर के जैनियों द्वारा बलात् स्वाधीन किये जाने की सम्भावना को सूचित करता है । किन्तु समस्त जैनधर्म के इतिहास को देखते हुए यह बात असम्भव सी प्रतीत है । यह चित्र सम्भवतः चित्र निर्मापक की धार्मिक उदारता अथवा उसपर किसी जैन मुनि के विशेष प्रभाव का प्रतीक है । एल्लोरा के इन्द्रसभा नामक शैलमंदिर (८ वीं से १० वीं शती ई०) में भी रंगीन भित्तिचित्रों के चिन्ह विद्यमान हैं, किन्तु वे इतने छिन्न-भिन्न हैं, और धुंधले हो गये हैं कि उनका विशेष वृत्तान्त पाना असम्भव है ।

१०-११ वीं शती में जैनियों ने अपने मंदिरों में चित्रनिर्माण द्वारा दक्षिण प्रदेश में चित्रकला को खूब पुष्ट किया । उदाहरणार्थ, तिरु मल्लाई के जैनमंदिर में अब भी चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान हैं जिनमें देवता व किंपुरुष आकाश में मेघों के बीच उड़ते हुए दिखाई देते हैं । देव पंक्तिबद्ध होकर समोसरण की ओर जा रहे हैं । गंधर्व व अप्सराएं भी बने हैं । एक देव फूलों के बीच खड़ा हुआ है । श्वेत वस्त्र धारण किये अप्सराएं पंक्तिबद्ध स्थित हैं । एक चित्र में दो मुनि परस्पर सम्मुख बैठे दिखाई देते हैं । कहीं दिगंबर मुनि आहार देने वाली महिला को धर्मोपदेश दे रहे

हैं। एक देवता चतुर्भुज व त्रिनेत्र दिखाई देता है, जो सम्भवतः इन्द्र है। ये सब चित्र काली भित्ति पर नाना रंगों से बनाए गये हैं। रंगों की चटक अजन्ता के चित्रों के समान है। देवों, आर्यों व मुनियों के चित्रों में नाक व ठुड्डी का अंकन कोणात्मक तथा दूसरी आंख मुखाकृति के बाहर को निकली हुई सी बनाई गई है। आगे की चित्रकला इस शैली से बहुत प्रभावित पायी जाती है।

अवणबेलगोला के जैनमठ में अनेक सुन्दर भित्ति-चित्र विद्यमान है। एक में पार्श्वनाथ समोसरण में विराजमान दिखाई देते हैं। नेमिनाथ की दिव्य-ध्वनि का चित्रण भी सुन्दरता से किया गया है। एक वृक्ष और छह पुरुषों द्वारा जैनधर्म की छह लेश्याओं को समझाया गया है, जिनके अनुसार वृक्ष के फलों को खाने के लिए कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति सारे वृक्ष को काट डालता है, नीललेश्या वाला व्यक्ति उसकी बड़ी-बड़ी शाखाओं को, कपोतलेश्या वाला उसकी टहनियों को, पीतलेश्या वाला उसके कच्चे-पके फलों को और पद्मलेश्या वाला केवल पके फलों को तोड़ता है। किन्तु शुक्ललेश्या वाला व्यक्ति वृक्ष को लेगमात्र भी हानि नहीं पहुंचाता हुआ पककर गिरे हुए फलों को चुनकर खाता है। मठ के चित्रों में ऐसे अन्य भी धार्मिक उपदेशों के दृष्टान्त पाये जाते हैं। यहां एक ऐसा चित्र भी है, जिसमें मैसूर नरेश कृष्णराज ओडयर (तृतीय) का दशहरा दरबार प्रदर्शित किया गया है।

ताड़पत्रीय चित्र—

जैन मंदिरों में भित्ति-चित्रों की कला का विकास ११ वीं शती तक विशेष रूप से पाया जाता है। तत्पश्चात् चित्रकला का आधार ताड़पत्र बना। इस काल से लेकर १४-१५ वीं शती तक के हस्तलिखित ताड़पत्र ग्रंथ जैन शास्त्र-भंडारों में सहस्रों की संख्या में पाये जाते हैं। चित्र बहुधा लेख के ऊपर, नीचे व दायें-बाएं हाशियों पर, और कहीं पत्र के मध्य में भी बने हुए हैं। ये चित्र बहुधा शोभा के लिए, अथवा धार्मिक रुचि बढ़ाने के लिए अंकित किये गये हैं। ऐसे चित्र बहुत ही कम हैं जिनका विषय ग्रंथ से संबंध रखता हो।

सबसे प्राचीन चित्रित ताड़पत्र ग्रंथ दक्षिण में मैसूर राज्यान्तर्गत मूडविद्री तथा उत्तर में पाटन (गुजरात) के जैन भंडारों में मिले हैं। मूडविद्री में षट्संज्ञागम की ताड़पत्रीय प्रतिष्ठा, उसके ग्रंथ व चित्र दोनों दृष्टियों से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। दिगम्बर जैन परम्परानुसार सुरक्षित साहित्य में यही रचना सबसे प्राचीन है। इसका मूल द्वितीय शती, तथा टीका ६ वीं शती में रचित सिद्ध होती है। मूडविद्री के इस ग्रंथ

की तीन प्रतियों में सबसे पीछे की प्रति का लेखन काल १११३ ई० के लगभग है। इसमें पाँच ताड़पत्र सचित्र हैं। इनमें से दो ताड़पत्र तो पूरे चित्रों से भरे हैं, दो के मध्यभाग में लेख है, और दोनों तरफ कुछ चित्र, तथा एक में पत्र तीन भागों में विभाजित है, और तीनों भागों में लेख है; किन्तु दोनों छोरों पर एक-एक चक्राकृति बनी है। चक्र की परिधि में भीतर की ओर अनेक कोणाकृतियाँ और मध्यभाग में उसी प्रकार का दूसरा छोटा सा चक्र है। इन दोनों के बलय में कुछ अंतराल से छह चौकोर आकृतियाँ बनी हैं। जिन दो पत्रों के मध्य में लेख और आजू-बाजू चित्र है, उनमें से एक पत्र में पहले बेलबूटेदार किनारी और फिर दो-दो विविध प्रकार की सुन्दर गोला-कृतियाँ हैं। दूसरे पत्र में दाईं ओर खड्गासन नग्न मूर्तियाँ हैं, जिनके सम्मुख दो स्त्रियाँ नृत्य जैसी भाव-मुद्रा में खड़ी हैं। इनका केशों का जूड़ा चक्राकार व पुष्पमाला युक्त है, तथा उत्तरीय दाएं कंधे के नीचे से बाएँ के ऊपर फैला हुआ है। पत्र के बायीं ओर पद्मासन जिनमूर्ति प्रभावल-युक्त है। सिंहासन पर कुछ पशुओं की आकृतियाँ बनी हैं। मूर्ति के दोनों ओर दो मनुष्य-आकृतियाँ हैं, और उनके पार्श्व में स्वतंत्र रूप से खड़ी हुई, और दूसरी कमलासीन हंसयुक्त देवी की मूर्तियाँ हैं। जो दो पत्र पूर्णतः चित्रों से अलंकृत हैं, उनमें से एक के मध्य में पद्मासन जिनमूर्ति है, जिसके दोनों ओर एक-एक देव खड़े हैं। इस चित्र के दोनों ओर समान रूप से दो-दो पद्मासन जिनमूर्तियाँ हैं, जिनके सिरके पीछे प्रभावल, उसके दोनों ओर चमर, और ऊपर की ओर दो चक्रों की आकृतियाँ हैं। तत्पश्चात् दोनों ओर एक-एक चतुर्भुजी देवी की भद्रासन मूर्ति है, जिनके दाहिने हाथ में अंकुश और बाएँ हाथ में कमल है। अन्य दो हाथ वरद और अभय मुद्रा में हैं। दोनों छोरों के चित्रों में गुरु अपने सम्मुख हाथ जोड़े बैठे श्रावकों को धर्मोपदेश दे रहे हैं। उनके बीच में स्थापनाचार्य रखा है। दूसरे पत्र के मध्यभाग में पद्मासन जिनमूर्ति है, और उसके दोनों ओर सात-सात साधु नाना प्रकार के आसनों व हस्त-मुद्राओं सहित बैठे हुए हैं। इन ताड़पत्रों की सभी आकृतियाँ बड़ी सजीव और कला-पूर्ण हैं। विशेष बात यह है कि इन चित्रों में कहीं भी परली आख मुखरेखा से बाहर की ओर निकली हुई दिखाई नहीं देती। नासिका व ठुड़ी की आकृति भी कोणाकार नहीं है, जैसे कि हम आगे विकसित हुई पश्चिमी जैनशैली में पाते हैं।

उक्त चित्रों के समकालीन पश्चिम की चित्रकला के उदाहरण निम्नीय-चूर्ण की पाटन के संघवी-माड़ा के भंडार में सुरक्षित ताड़पत्रीय प्रति में मिलते हैं। यह प्रति उसकी प्रशस्ति अनुसार भुगुण्ड (भडौच) में सोलंकी नरेश जयसिंह (ई० १०६४ से ११४३) के राज्यकाल में लिखी गई थी। इसमें अलंकरण-आत्मक चक्राकार

आकृतियां बहुत हैं, और वे प्रायः उसी शैली की हैं जैसी ऊपर बर्णित षट्संज्ञागम की । हां, एक चक्र के भीतर हस्तिवाहक का, तथा अन्यत्र पुष्पमालाएं लिए हुए दो अप्सराओं के चित्र विशेष हैं । इनमें भी षट्संज्ञागम के चित्रों के समान पहली आंख की आकृति मुख-रेखा के बाहर नहीं निकली । ११२७ ई० में लिखित खम्भात के शान्तिनाथ जैनमंदिर में स्थित नगीनदास भंडार की ज्ञाताधर्मसूत्र की ताड़पत्रीय प्रति के पद्मासन महावीर तीर्थंकर आस पास चोरी बाहकों सहित, तथा सरस्वती देवी का त्रिभंग चित्र उल्लेखनीय है । देवी चतुर्भुज है । ऊपर के दोनों हाथों में कमलपुष्प तथा निचले हाथों में अक्षमाला व पुस्तक है । समीप में हंस भी है । देवी के मुख की प्रसन्नता व अंगों का हाव-भाव और विलास सुन्दरता से अंकित किया गया है ।

बड़ोदा जनपद के अन्तर्गत छारणी के जैन-ग्रंथ-भंडार की शोधनिर्गुप्ति की ताड़पत्रीय प्रति (ई० ११६१) के चित्र विशेष महत्व के हैं । क्योंकि इनमें १६ विद्यादेवियों तथा अन्य देवियों और यक्षों के सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं । विद्यादेवियों के नाम हैं:- रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंगला, वज्राकुषी, चक्रेश्वरी, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोदया, अच्छुप्ता, मानसी, और महामानसी । अन्य देव-देवी हैं :- कापदीयक्ष, सरस्वती, अम्बिका, महालक्ष्मी, ब्रह्मशान्ति । सभी देवियां चतुर्भुज व भद्रासन है । हाथों में वरद व अभय मुद्रा के अतिरिक्त शक्ति, अकुक्ष, धनुष, धारण, शृंगला, शंख, असि, डाल, पुष्प, फल व पुस्तक आदि चिन्ह हैं । मस्तक के नीचे प्रभावल, सिर पर मुकुट, कान में कर्णफूल व गले में हार भी विद्यमान है । अम्बिका के दो ही हाथ हैं । दाहिने हाथ में बालक, और बाएं हाथ में आम्रफलों के गुच्छे सहित डाली । इन सब आकृतियों में परसी आंख निकली हुई है, तथा नाक व ठुड़ी की कोणाकृति स्पष्ट दिखाई देती है । शोभांकन समस्त रूढ़ि-भात्मक है । इस जैनग्रंथ में इन चित्रों का अस्तित्व यह बतलाता है कि इस काल की कुछ जैन उपासना-विधियों में अनेक वैष्णव व शैवी देवी-देवताओं को भी स्वीकार कर लिया गया था ।

सन् १२८८ में लिखित सुबाहु-कथादि कथा-संग्रह की ताड़पत्र प्रति में २३ चित्र हैं, जिनमें से अनेक अपनी विशेषता रखते हैं । एक में भगवान् नेमिनाथ की वरयात्रा का सुन्दर चित्रण है । कन्या राज्ञीमती विवाह-मंडप में बैठी हुई है, जिसके द्वार पर खड़ा हुआ मनुष्य हस्ति-आरूढ़ नेमीनाथ का हाथ जोड़कर स्वागत कर रहा है । नीचे की ओर मृगाकृतियां बनी हैं । दो चित्र बलदेव मुनि के हैं । एक में मृगादि पशु बलदेव मुनि का उपदेश श्रवण कर रहे हैं, और दूसरे में वे एक वृक्ष के नीचे मृग सहित खड़े हुए रथवाही से आहार ग्रहण कर रहे हैं । इस ग्रंथ के चित्रों में डा० मोतीचन्द के

मतानुसार पशु व वृक्षों का चित्रण ताड़पत्र में प्रथम बार अवतरित हुआ है, तथा इन चित्रों में पश्चिमी भारत की चित्र-शैली स्थिरता को प्राप्त हो गई है। कोणाकार रेखांकन व नासिका और ठुड़ी का चित्रण तथा परली आंख की भाकृति मुख रेखा से बाहर निकली हुई यहां रूढिवद्ध हुई दिखायी देती है।

इस चित्रशैली के नामकरण के संबंध में मतभेद है। नार्मन ब्राउन ने इसे श्वेताम्बर जैन शैली कहा है; क्योंकि उनके मतानुसार इसका प्रयोग श्वे० जैन ग्रन्थों में ही हुआ है, तथा परली आंख को निकली हुई अंकित करने का कारण सम्भवतः उस सम्प्रदाय में प्रचलित तीर्थंकर मूर्तियों में कृत्रिम आंख लगाना है। डा० कुमार स्वामी ने इसे जैनकला, तथा श्री एन० सी० मेहता ने गुजराती शैली कहा है। श्री रायकृष्णदास का मत है कि इस शैली में हमें भारतीय चित्रकला का ह्रास दिखाई देता है। अतः उसे इस काल में विकसित हुई भाषा के अनुसार अपभ्रंश शैली कहना उचित होगा। किन्तु इन सबसे शताब्दियों पूर्व तिब्बतीय इतिहासज्ञ तारानाथ (१६ वीं शती ई०) ने पश्चिम भारतीय शैली का उल्लेख किया है, और डा० मोतीचन्द ने इसी नाम का औचित्य स्वीकार किया है, क्योंकि उपलब्ध प्रमाणों पर से इस शैली का उद्गम और विकास पश्चिम भारत में ही, विशेषतः गुजरात-राजपूताना प्रदेश में, हुआ सिद्ध होता है। तारानाथ के मतानुसार पश्चिमी कला-शैली मारू (मारवाड़) के शृंगधर नामक कुशल चित्रकार ने प्रारम्भ की थी, और वह हर्षवर्धन (६१० से ६५० ई०) के समय में हुआ था। यह शैली क्रमशः नेपाल और काश्मीर तक पहुंच गई। इस शैली के उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि यदि इसकी उत्पत्ति नहीं तो विशेष पुष्टि अवश्य ही जैन परम्परा के भीतर हुई, और इसीलिए उसका जैनशैली नाम अनुचित नहीं। पीछे इस शैली को अन्य पश्चिम प्रदेश के बाहर के लोगों ने तथा जैनतर सम्प्रदायों ने भी अपनाया तो इससे उसकी उत्पत्ति व पुष्टि पर आधारित 'पश्चिमी' व 'जैन' कला कहने में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। इस आधार पर श्री साराभाई नवाव ने जो इस शैली के लिये पश्चिमी जैनकला नाम सुझाया है वह भी सार्थक है।

ऊपर जिन ताड़पत्रीय चित्रों का परिचय कराया गया है, उसके सामान्य लक्षण ये हैं:—विषय की दृष्टि से वे तीर्थंकरों, देव-देवियों, मुनियों व धर्मरक्षकों की आकृतियों तक ही प्रायः सीमित हैं। संयोजन व पृष्ठभूमि की समस्याएं चित्रकार के सम्मुख नहीं उठी। उक्त आकृतियों की मुद्राएं भी बहुत कुछ सीमित और रूढ़िगत हैं आकृति-अंकन रेखात्मक है, जिससे उनमें त्रिगुणात्मक गहराई नहीं आ सकी। रंगों

का प्रयोग भी परिमित है। प्रायः भूमि लाल पकी हुई ईंटों के रंगकी, और आकृतियों में पीले, सिद्धर जैसे लाल, नीले और सफेद तथा क्वचित् हरे रंग का उपयोग हुआ है। किन्तु सन् १३५० और १४५० ई० के बीच में एक शती के जो ताड़पत्रीय चित्रों के उदाहरण मिले हैं, उनमें शास्त्रीय व सौंदर्य की दृष्टि से कुछ वैशिष्ट्य देखा जाता है। आकृति-अंकन अधिक सूक्ष्मतर व कौशल से हुआ है। आकृतियों में विषय की दृष्टि से तीर्थंकरों के जीवन की घटनाएं भी अधिक चित्रित हुई हैं, और उनमें विवरणात्मकता लाने का प्रयत्न दिखाई देता है, तथा रंगलेप में वैचित्र्य और विशेष चटकीलापन आया है। इसीकाल में सुवर्णरंग का प्रयोग प्रथमवार दृष्टिगोचर होता है। यह सब मुसलमानों के साथ आई हुई ईरानी चित्रकला का प्रभाव माना जाता है, जिसके बल से आगे चलकर अकबर के काल (१६ वीं शती) में वह भारतीय ईरानी चित्रशैली विकसित हुई, जो मुगल-शैली के नाम से सुप्रसिद्ध हुई पाई जाती है, इस शैली की प्रतिनिधि रचनाएं अधिकांश कल्पसूत्र की प्रतियों में पाई जाती हैं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण ईडर के 'आनंद जो मंगलजी पेढी' के ज्ञानभंडार की वह प्रति है जिसमें ३४ चित्र हैं, जो महावीर के और कुछ पार्श्वनाथ व नेमिनाथ तीर्थंकरों की जीवन-घटनाओं से संबद्ध हैं। इसमें सुवर्ण रंग का प्रथम प्रयोग हुआ है। आगे चलकर तो ऐसी भी रचनाएं मिलती हैं जिनमें न केवल चित्रों में ही सुवर्ण रंग का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु समस्त ग्रंथ-लेख ही सुवर्ण की स्याही से किया गया है; अथवा समस्त भूमि ही सुवर्ण-निलप्त की गई है, और उसपर चांदी की स्याही से लेखन किया गया है। कल्पसूत्र की आठ ताड़पत्र तथा बीस कागज की प्रतियों पर से लिए हुए ३७४ चित्रों सहित कल्पसूत्र का प्रकाशन भी हो चुका है। (पवित्रकल्पसूत्र, अहमदाबाद, १९५२)। प्रोफेसर नार्मन ब्राउन ने अपने 'बी स्टोरी आफ कालक' (वाशिंगटन, १९३३) नामक ग्रंथ में ३६ चित्रों का परिचय कराया है; तथा सारामाई नवाब ने अपने कालक कथा-संग्रह (अहमदाबाद, १९५८) में ६ ताड़पत्र और ६ कागज की प्रतियों परसे ८८ चित्र प्रस्तुत किये हैं। डा० मोतीचन्द ने अपने 'जैन मिनिश्चर पेंटिंग्स फ्रॉम बॅस्टर्न इंडिया' (अहमदाबाद, १९४६) में २६२ चित्र प्रस्तुत किए हैं, और उनके आधार से जैन चित्रकला का अति महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

कागज पर चित्र—

कागज का आधिष्कार चीन देश में १०५ ई० में हुआ माना जाता है। १०वीं

११ वीं शती में उसका निर्माण अरब देशों में होने लगा, और वहां से भारत में आया। मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के जैन भंडार से ध्वन्यालोक-लोचन की उस प्रति का अंतिम पत्र मिला है जो जिनचन्द्रमूरि के लिये लिखी गई थी, तथा जिसका लेखन-काल, जिनविजय जी के कहे अनुसार, सन् ११६० के लगभग है। कारंजा जैन भण्डार से उपासकाचार (रत्नकरंड आवकाचार) की प्रभाचन्द्र कृत टीका सहित कागज की प्रति का लेखनकाल वि० सं० १४१५ (ई० सन् १३५८) है। किन्तु कागज की सबसे प्राचीन चित्रित प्रति ई० १४२७ में लिखित वह कल्पसूत्र है जो लंदन की इंडिया आफिस लायब्रेरी में सुरक्षित है। इसमें ३१ चित्र हैं और उसी के साथ जुड़ी हुई कालकाचार्य-कथा में अन्य १३। इस ग्रन्थ के समस्त ११३ पत्र चादी की स्याही से काली व लाल पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। कुछ पृष्ठ लाल या सादी भूमि पर सुवर्ण की स्याही से लिखित भी हैं। प्रति के हासियों पर शोभा के लिए हाथियों व हंसों की पंक्तियां, फूल-पत्तियां अथवा कमल आदि बने हुए हैं। लक्ष्मणगरी कृत सुपासगाह-चरियं की एक सचित्र प्रति पाटन के श्री हेमचन्द्राचार्य जैन-ज्ञानभंडार में सम्वत् १४७६ (ई० १४२२) में पं० भावचन्द्र के शिष्य हीरानंद मुनि द्वारा लिखित है। इसमें कुल ३७ चित्र हैं जिनमें से ६ पूरे पत्रों में व शेष पत्रों के अर्द्ध व तृतीय भाग में हासियों में बने हैं। इनमें सुपासर्व तीर्थंकर के अतिरिक्त सरस्वती, मातृस्वप्न, विवाह, समवसरण, देशना आदि के चित्र बड़े सुन्दर हैं। इसके पश्चात्कालीन कल्पसूत्र की अनेक सचित्र प्रतियां नाना जैन भण्डारों में पाई गई हैं, जिनमें विशेष उल्लेखनीय बड़ौदा के नरसिंहजी ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है। यह प्रति यवनपुर (जौनपुर, उ० प्र०) में हुसैनशाह के राज्य में वि० सं० १५२२ में हर्षिणी आदिका के आदेश से लिखी गई थी। इसमें ८६ पृष्ठ हैं, और समस्त लेखन सुवर्ण-स्याही से हुआ है। इसमें आठ चित्र हैं, जिनमें ऋषभदेव का राज्याभिषेक, भरत-बाहुबलि युद्ध, महावीर की माता के स्वप्न, कोशा का नृत्य आदि चित्रित हैं। इन चित्रों में लाल भूमि पर पीले, हरे, नीले आदि रंगों के अतिरिक्त सुवर्ण का भी प्रचुर प्रयोग है। आकृतियों में पश्चिमी शैली के पूर्वोक्त लक्षण सुस्पष्ट हैं। स्त्रियों की मुख-कृति विशेष परिष्कृत पाई जाती है, और उनके ओष्ठ लाक्तारस से रंजित दिखाए गए हैं। अन्य विशेष उल्लेखनीय कल्पसूत्र की ग्रहमदाबाद के देवसेन पाड़ा की प्रति है, जो भड़ौच के समीप गंधारबंदर के निवासी साणा और जूठा श्रेष्ठियों के वंशजों द्वारा लिखाई गई थी। यह भी सुवर्ण स्याही से लिखी गई है। कला की दृष्टि से इसके कोई २५-२६ चित्र इस प्रकार के ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माने जायें हैं, क्योंकि इनमें भरत नाट्य शास्त्र में वर्णित नाना नृत्य-मुद्राओं का अंकन पाया जाता है। एक चित्र में महावीर द्वारा

चंडकौशिक नाग के वशीकरण की घटना दिखाई गई है। इसकी किनारियों का चित्रण भी बहुत सुन्दर हुआ है, और वह ईरानी-कला से प्रभावित माना जाता है। उसमें अकबरकालीन मुगलशैली का आभास मिलता है।

कागज की उपर्युक्त सचित्र प्रतियां श्वेताम्बर-परम्परा की हैं, जो प्रकाश में आ चुकी हैं, और विशेषज्ञों द्वारा उनके चित्रों का अध्ययन भी किया जा चुका है। दुर्भाग्यतः दिगम्बर जैन भण्डारों की इस दृष्टि से अभी तक खोज शोध होनी शेष है। अनेक शास्त्र-भण्डारों में सचित्र प्रतियों का पता चला है। उदाहरणार्थ—दिल्ली के एक शास्त्र-भण्डार में पुष्पदंत कृत अपभ्रंश महापुराण की एक प्रति है, जिसमें सैकड़ों चित्र तीर्थंकरों के जीवन की घटनाओं को प्रदर्शित करने वाले विद्यमान हैं। नागौर के शास्त्र-भण्डार में एक यशोधर-चरित्र की प्रति है, जिसके चित्रों की उसके दर्शकों ने बड़ी प्रशंसा की है। नागपुर के शास्त्र-भण्डार से सुगंधदशमी कथा की प्रति मिली है जिसमें उस कथा को उदाहृत करने वाले ७० से अधिक चित्र हैं। बम्बई के ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन में भक्तामर स्तोत्र की सचित्र प्रति है जिसमें लगभग ४० चित्र हैं, जिनमें आदिनाथ का चतुर्मुख कमलासन प्रतिबिम्ब भी है। इसके एक ओर दिग० साधु व दूसरी ओर कोई मुकुट-धारी नरेश उपासक के रूप में खड़े हैं। नेमीचन्द्र कृत त्रिलोकसागर की सचित्र प्रतियां मिलती हैं, जिनमें नेमीचन्द्र व उनके शिष्य महामंत्री चामुण्डरायके चित्र पाये जाते हैं। इन सब चित्रों के कलात्मक अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। उससे जैन चित्रकला पर प्रकाश पड़ने की और भी अधिक आशा की जा सकती है।

कागज का आधार मिलने पर चित्रकला की रीति में कुछ विकास और परिवर्तन हुआ। ताड़पत्र में विस्तार की दृष्टि से चित्रकार के हाथ बंधे हुए थे। उसे दो-ढाई इंच से अधिक चौड़ा क्षेत्र ही नहीं मिल पाता था। कागज में यह कठिनाई जाती रही, और चित्रण के लिए यथेष्ट लम्बान-चौड़ान मिलने लगा, जिससे हचि अनुसार चित्रों के बड़े-छोटे आकार निर्माण व सम्पुंजन में बड़ी सुविधा उत्पन्न हो गई। रंगों के चूनाव में भी विस्तार हुआ। ताड़पत्र पर रंगों को जमाना एक कठिन कार्य था। कागज रंग को सरलता से पकड़ लेता है। इसके अतिरिक्त सोने-चांदी के रंगों का भी उपयोग प्रारंभ हुआ। इसके पूर्व सुवर्ण के रंग का भी उपयोग बहुत ही अल्प मात्रा में तूलिका को थोड़ा सा डुबाकर केवल आभूषणों के अंकन के लिए किया जाता था। सम्भवतः उस समय सुवर्ण की मंहगाई भी इसका एक कारण था। किन्तु इस काल में सुवर्ण कुछ अधिक सुलभ प्रतीत होता है। अथवा चित्रकला की ओर धनिक रुचियों का ध्यान आकर्षित हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप न केवल चित्रण में, किन्तु

ग्रंथ लेखन में भी सुवर्ण व चांदी की स्याहियों का प्रचुरता से प्रयोग होने लगा। सुवर्ण की चमक से चित्रकार यहां तक प्रभावित हुए पाये जाते हैं कि बहुधा समस्त चित्रभूमि सुवर्ण-लिप्त कर दी जाने लगी, एवं जैन मुनियों के वस्त्र भी सुवर्ण-रंजित प्रदर्शित किये जाने लगे। जितना अधिक सुवर्ण का उपयोग, उतना अधिक सौन्दर्य; इस भावना को कलाभिरुचि की एक विकृति ही कहना चाहिए। तथापि इसमें संदेह नहीं कि नाना रंगों के बीच सुवर्ण के समुचित उपयोग से कागज पर की चित्रकारी में एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है।

काष्ठ चित्र—

जैन शास्त्रभण्डारों में काष्ठ के ऊपर भी चित्रकारी के कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं। ये काष्ठ आदितः ताड़पत्रों की प्रतियों की रक्षा के लिए उनके ऊपर-नीचे रखे जाते थे। ऐसा एक सचित्र काष्ठ चित्रपट मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से प्राप्त हुआ है। यह २७ इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा है। रंग ऐसे पक्के हैं कि वे पानी से धुलते नहीं। पट के मध्य में जैन मंदिर की आकृति है, जिसमें एक जिनमूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर परिचारक खड़े हैं। दाहिनी ओर कोष्ठक में दो उपासक अजलि-मुद्रा में खड़े हैं; दो व्यक्ति डिंडिम बजाने में मस्त हैं, और दो नर्तकियां नृत्य कर रही हैं। ऊपर की ओर आकाश में एक किन्नरी उड़ रही है। बाएं प्रकोष्ठ में तीन उपासक हाथ जोड़े हैं, और एक किन्नर आकाश में उड़ रहा है। इस मध्यवर्ती चित्र के दोनों ओर व्याख्यान-सभा हो रही है। एक में आचार्य जिनदत्त सूरि विराजमान हैं, और उनका नाम भी लिखा है। उनके सम्मुख पं० जिनरक्षित बैठे हुए हैं। अन्य उपासक-उपासिकाएं भी हैं। मुनि के सम्मुख स्थापनाचार्य रखा हुआ है और उसपर महावीर का नाम भी लिखा है। दाहिनी ओर की व्याख्यान-सभा में आचार्य जिनदत्त, गुणचन्द्राचार्य से विचार-विमर्श कर रहे हैं। इन दोनों के बीच में भी स्थापनाचार्य बना हुआ है। मुनि जिनविजय जी का अनुमान है कि यह चित्रपट जिनदत्त सूरि के जीवन-काल का ही हो तो आश्चर्य नहीं। उनका जन्म वि० सं० ११३२, और स्वर्ग-वास वि० सं० १२११ में हुआ सिद्ध है। सम्भव है उपर्युक्त चित्रण उनके मारवाड़ अन्तर्गत विक्रमपुर के मंदिर में बीक्षाग्रहरण के काल का ही हो। मुनि जिनविजय जी द्वारा जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से एक और सचित्र काष्ठ-पट का पता चला है, जो ३० इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा है। इसमें बादिदेव सूरि और आचार्य कुमुदचन्द्र के बीच हुए क्षास्त्रार्थ सम्बन्धी नाना घटनाओंका चित्रण किया गया है। श्री साराभाई नवाब

के संग्रह में एक १२ वीं शती का काष्ठ-पट ३० इंच लम्बा तथा पीने तीन इंच चौड़ा है, जिसमें भरत और बाहुबलि के युद्ध का विवरण चित्रित है। इसमें हाथी, हंस, सिंह, कमलपुष्प आदि के चित्र बहुत सुन्दर बने हैं। वि० सं० १४५६ में लिखित सूत्रकृतांग-वृत्तिकी ताड़पत्रीय प्रति का काष्ठ-पट साढ़े चौतीस इंच लम्बा और तीन इंच चौड़ा महावीर की घटनाओं से चित्रित पाया गया है। इसी प्रकार सं० १४२५ में लिखित धर्मोपदेशमाला का काष्ठ-पट सवा पैंतीस इंच लम्बा और सवा तीन इंच चौड़ा है, और उसपर पार्श्वनाथ की जीवन-घटनाएं चित्रित हैं। ये सभी काष्ठ-चित्र सामान्यतः उसी पश्चिमी शैली के हैं, जिसका ऊपर परिचय दिया जा चुका है।

वस्त्र पर चित्रकारी—

वस्त्र पर चित्र बनाने की कला भारत वर्ष में बड़ी प्राचीन है। पालि ग्रंथों व जैन आगमों में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। महावीर का शिष्य, और पश्चात् विरोधी-मरंवल्लि गोशाल का पिता, व दीक्षित होने से पूर्व स्वयं गोशाल, चित्रपट दिखाकर जीविका चलाया करते थे। किन्तु वस्त्र बहुत नश्वर द्रव्य है, और इसलिए स्वभावतः इसके बहुत प्राचीन उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी १४ वीं शती के आगे के अनेक सचित्र जैन वस्त्र-पट पाये जाते हैं। एक चिन्तामणि नामक वस्त्र-पट साढ़े उन्नीस इंच लम्बा तथा साढ़े सत्तरह इंच चौड़ा वि० सं० १४११ (ई० १३५४) का बना बीकानेर निवासी श्री अग्ररचन्द्र नाहटा के संग्रह में है। इसमें पद्मासन पार्श्वनाथ, उनके यक्ष-यक्षिणी धरणेन्द्र-पद्मावती तथा चोरी-बाहकों का चित्रण है। ऊपर की ओर पार्श्व-यक्ष और वैरोट्या-देवी तथा दो गंधर्व भी बने हुए हैं। नीचे तरुणप्रभाचार्य और उनके दो शिष्यो के चित्र हैं। ऐसा ही एक मंत्र-पट श्री साराभाई नवाब के संग्रह में है, जिसमें महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी कमलासन पर विराजमान है, और उनके दोनों ओर मुनि स्थित हैं। मण्डल के बाहर अश्वारूढ़ काली तथा भैरव एवं धरणेन्द्र और पद्मावती के भी चित्र हैं। यह चित्रपट भावदेव सूरि के लिए वि० सं० १४१२ में बनाया गया था। एक जैन वस्त्र-पट डा० कुमारस्वामी के संग्रह में भी है, जो उनके मतानुसार १६ वीं शती का, किन्तु डा० मोतीचन्द्र जी के मतानुसार १५ वीं शती के प्रारंभ का है। पट के वामपार्श्व में पार्श्वनाथ के समवसरण की रचना है। इसके आजू-बाजू यक्ष-यक्षिणियों के अतिरिक्त ओंकार की पांच आकृतियां, चन्द्रकला की आकृति पर आसीन सम्भवतः पांच सिद्ध, तथा सुधर्मास्वामी और नवग्रहों के चित्र हैं। पट के मध्य में पार्श्वनाथ की प्रतिमा ध्वजायुक्त व शिखरवद्ध मंदिर में विराजमान

चित्रित की गई है। अनुमान किया गया है कि यह मंदिर शत्रुंजय का है, और वे पांच सिद्धमूर्तियां पांच पाण्डवों की हैं, जिन्होंने शत्रुंजय से मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसे और भी अनेक वस्त्रपट प्राप्त हुए हैं। इनका उपयोग सम्भवतः उपासना व ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए किया जाता था। किन्तु कला की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है।



उपसंहार

उपर्युक्त चार व्याख्यानों में जैनधर्म के इतिहास, साहित्य, तत्त्वज्ञान और कला का जो संक्षेप परिचय दिया गया है उससे उसकी मौलिक प्रेरणाओं और साधनाओं द्वारा भारतीय संस्कृति की परिपुष्टि का स्वरूप समझा जा सकता है। इस धर्म की आधार-भूमि उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीनतम वैदिक परम्परा, क्योंकि ऋग्वेद में ही केशी जैसे बातारशना मुनियों की उन साधनाओं का उल्लेख है जो उन्हें वैदिक ऋषियों से पृथक् तथा श्रमण मुनियों से अभिन्न-प्रमाणित करती हैं। केशी और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का एकत्व भी हिन्दू और जैन पुराणों से सिद्ध होता है।

कोशल से प्रारम्भ होकर यह श्रमण धर्म पूर्व की ओर विदेह और मगध, तथा पश्चिम की ओर तक्षशिला व सौराष्ट्र तक फैला; एवं अन्तिम तीर्थंकर महावीर द्वारा ईस्वी पूर्व छठी शती में अपना सुव्यवस्थित स्वरूप पाकर उनके अनुयायियों द्वारा अखिल देश व्यापी बना। उसने समय-समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न राजवंशों एवं बहुजन समाज को प्रभावित किया, तथा अपने आन्तरिक गुणों के फल-स्वरूप वह अविच्छिन्न धारावाही रूप से आज तक देश में अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुए है।

जिन आन्तरिक गुणों के बल पर जैनधर्म गत तीन-चार हजार वर्षों से इस देश के जन-जीवन में व्याप्त है वे हैं उसकी आध्यात्मिक भूमिका, नैतिक विन्यास एवं व्यवहारिक उपयोगिता और सन्तुलन। यहां प्रकृति के जड़ और चेतन तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार कर चेतन को जड़ से ऊपर उठाने और परमात्मत्व प्राप्त कराने की कला का प्रतिपादन किया गया है। विश्व के अनादि-अनन्त प्रवाह में जड़-चेतन रूप द्रव्यों के नाना रूपों और गुणों के विकास के लिये यहाँ किसी एक ईश्वर की इच्छा व अधीनता को स्वीकार नहीं किया गया; जीव और अजीव तत्त्वों के परिणामी नित्यत्व गुण के द्वारा ही समस्त विकार और विकास के मर्म को समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है। सत्ता स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, और ऐसी सत्ता रखने वाले समस्त द्रव्य गुण-पर्याय-युक्त हैं। इन्हीं मौलिक सिद्धान्तों में जैन-दर्शन-सम्मत पदार्थों के नित्यानित्यत्व स्वरूप का मर्म अन्तर्निहित है। इस जानकारी के अभाव में प्राणी भ्रान्त हुए भटकते और बन्धन में पड़े रहते हैं। इस तथ्य की ओर सच्ची दृष्टि और उसका सच्चा ज्ञान एवं तदनुसार आचरण हो जाने पर ही कोई पूर्ण स्वातंत्र्य व

बन्धन-मुक्ति रूप मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। यही, जैन दर्शनानुसार, जीवन का सर्वोच्च ध्येय और लक्ष्य है।

व्यावहारिक दृष्टि से विरोध में सामञ्जस्य, कलह में शान्ति व जीव मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न होना ही सच्चा दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य है जिसकी आनुषंगिक साधनायें हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप नियम तथा क्षमा, मृदुता आदि गुण। नाना प्रकार के व्रतों और उपवासों, भावनाओं और तपस्याओं, ध्यानों और योगों का उद्देश्य यही विश्वजनीन आत्मवृत्ति प्राप्त करना है। समत्व का बोध और अभ्यास कराना ही अनेकान्त व स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तों का साध्य है।

जीवन में इस वृत्ति को स्थापित करने के लिये तीर्थंकरों और आचार्यों ने जो उपदेश दिया वह सहस्रों जैन ग्रंथों में ग्रथित है। ये ग्रंथ नाना प्रदेशों और भिन्न-भिन्न युगों की विविध भाषाओं में लिखे गये। अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रंश प्राकृतों एवं संस्कृत में जैन धर्म का विपुल साहित्य उपलब्ध है जो अपने भाषा, विषय, शैली व सजावट के गुणों द्वारा अपनी विशेषता रखता है। आधुनिक लोक-भाषाओं व उनकी साहित्यिक विधाओं के विकास को समर्थन के लिये तो यह साहित्य अद्वितीय महत्त्वपूर्ण है।

साहित्य के प्रतिरिक्त गुफाओं, स्तूपों, मन्दिरों और मूर्तियों तथा चित्रों आदि सलित कला की निर्मितियों द्वारा भी जैन धर्म ने, न केवल लोक का आध्यात्मिक व नैतिक स्तर उठाने का प्रयत्न किया है, किन्तु समस्त देश के भिन्न-भिन्न भागों को सौन्दर्य से सजाया है। इनके दर्शन से हृदय विशुद्ध और आनन्द-विभोर हो जाता है।

जैन धर्म की इन विविध और विपुल उपलब्धियों को जाने-समझे बिना भारतीय संस्कृति का ज्ञान परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म ने वर्ग-जाति रूप समाज-विभाजन को कभी महत्त्व नहीं दिया। यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। राज के ईर्ष्या और संघर्ष के विष से दग्ध संसार को जीवमात्र के कल्याण और उत्कर्ष की भावनाओं से ओत-प्रोत इस उपदेशामृत की बड़ी आवश्यकता है।

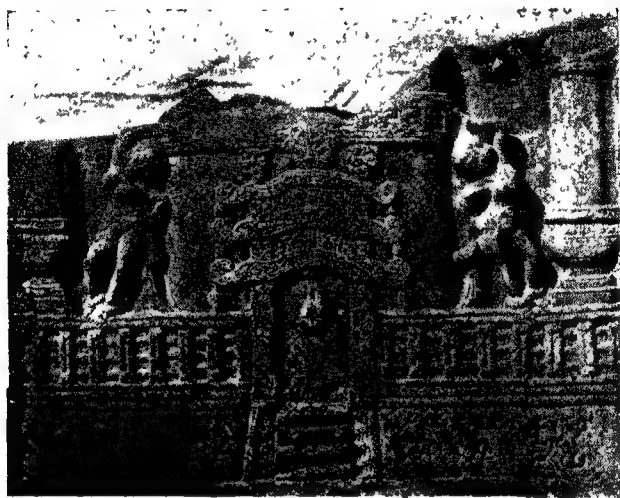
“अक्षर-पयस्य-हीरणं मत्ता-हीरणं च जं मए भत्तिणं ।

तं समउ रणणदेवय मज्झ वि दुषस्सवस्सयं विन्तु ॥”

“अक्षर-मात्र-पद-स्वरहीनं व्यंजन-संघि-विवर्जित-रेकम् ।

साधुभिरत्र मय क्षमितव्यं को न बिभुह्यति शास्त्र-समुद्रे ॥”

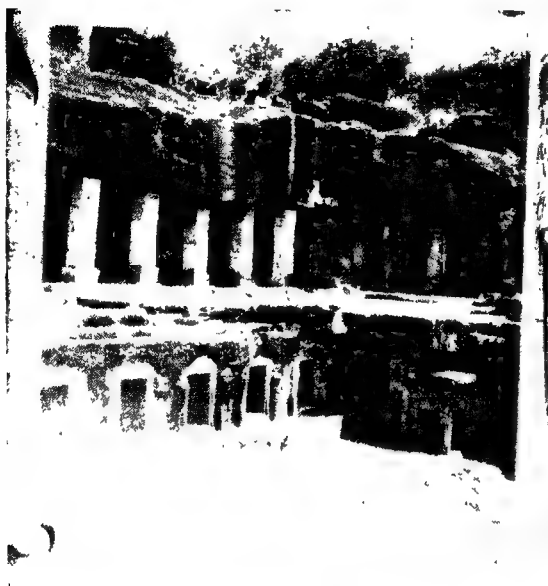




१. शिवयशा का स्तूपवाला आयागपट, मथुरा (पृ० ३०४)



२ मथुरा का जिनमूर्ति युक्त आयागपट (पृ० ३०५)



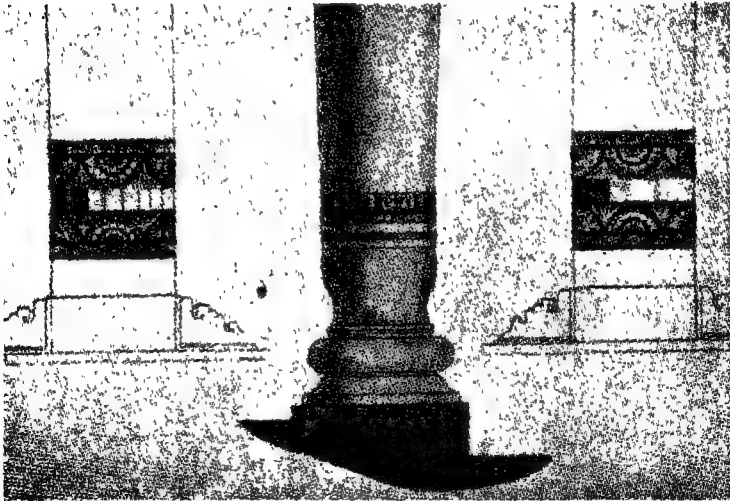
३. दुमंजली रानी गुम्फा (पृ० ३०८)



४. उदयगिरि रानीगुम्फा के तोरण द्वार पर त्रिरत्न व अशोक वक्ष
(पृष्ठ ३०८ नं. ३४३)



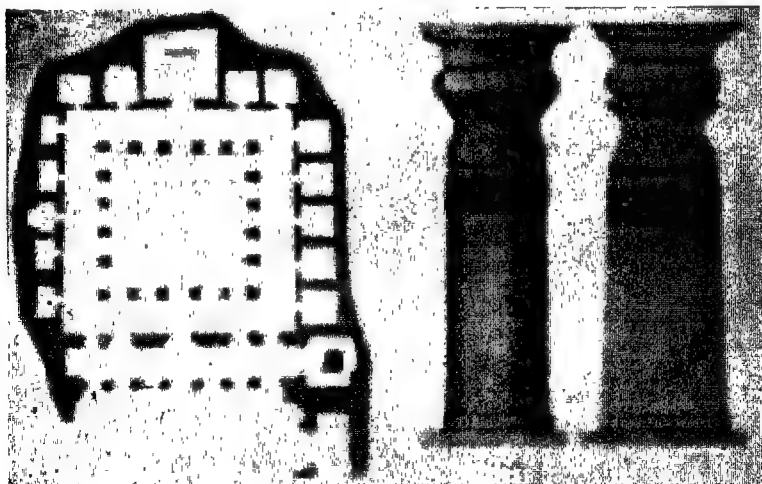
५. रानी गुफा का भित्ति चित्र (पृ० ३०८)



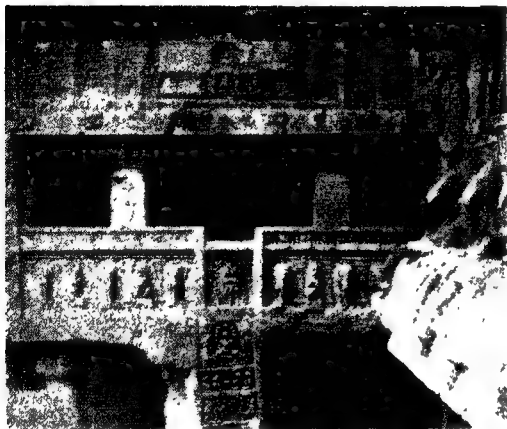
६. तेरापुर की प्रधान गुफा के स्तम्भों की चित्रकारी (पृ० ३११)



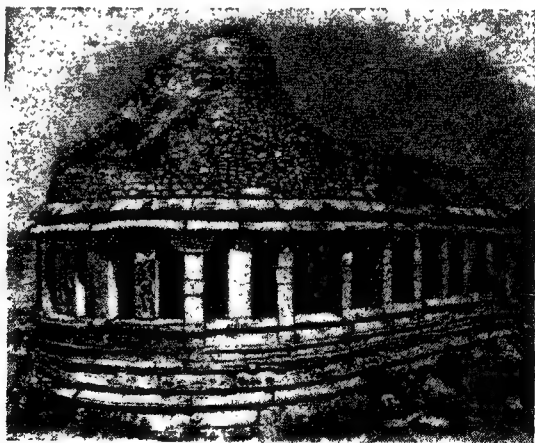
७. तेरापुर की प्रधान गुफा के भित्ति चित्र (पृ० ३११ व ३६३)



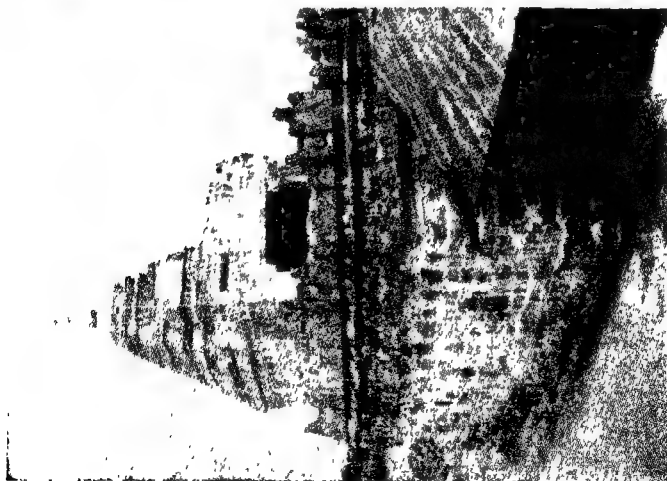
८. तेरापुर की तीसरी गुफा का विन्यास व स्तम्भ (पृ० ३११)



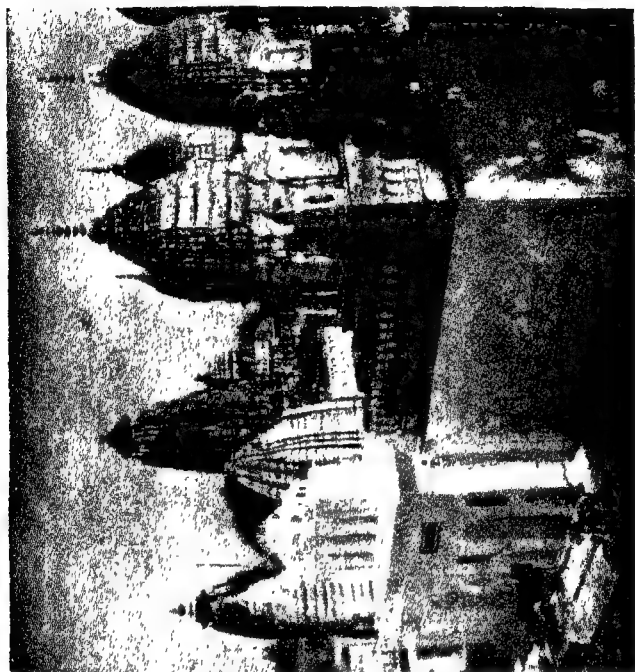
६. एलोरा की इन्द्रसभा का ऊपरी मजिल (पृ० ३१४)



१०. ऐहोल का मेहुटी जैन मंदिर (पृ० ३२२)



११. लकुंडी का जैन मंदिर (पृ० ३२३)



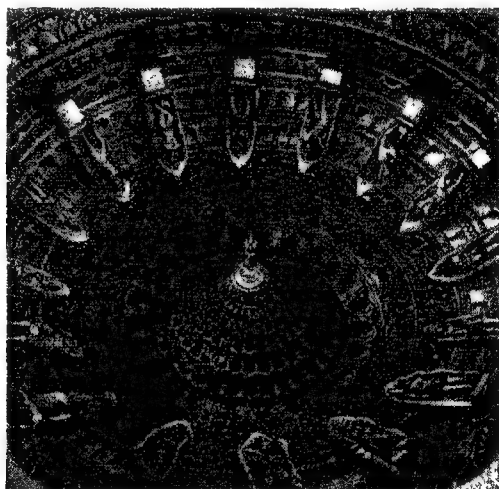
१२. खजुराहो के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३२८)



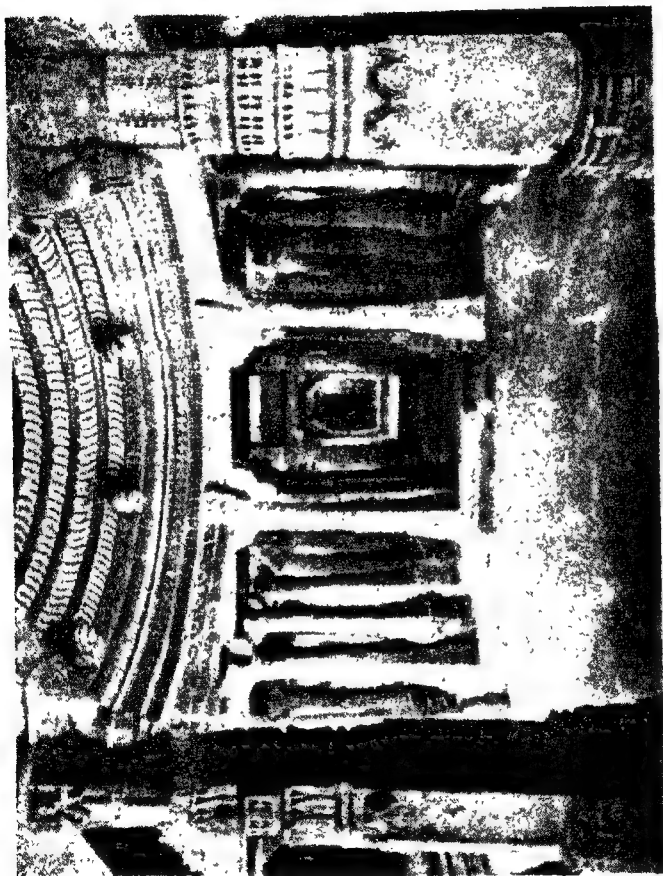
१३. खजराहो के पार्श्वनाथ मंदिर के भित्ति चित्र (पृ० ३२८)



१४. सोनागिरि के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३३०)



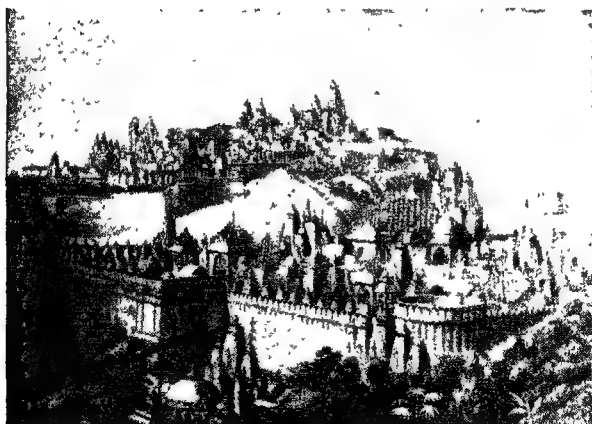
१५. आबू जैन मंदिर के छत की कारीगरी (पृ० ३३५)



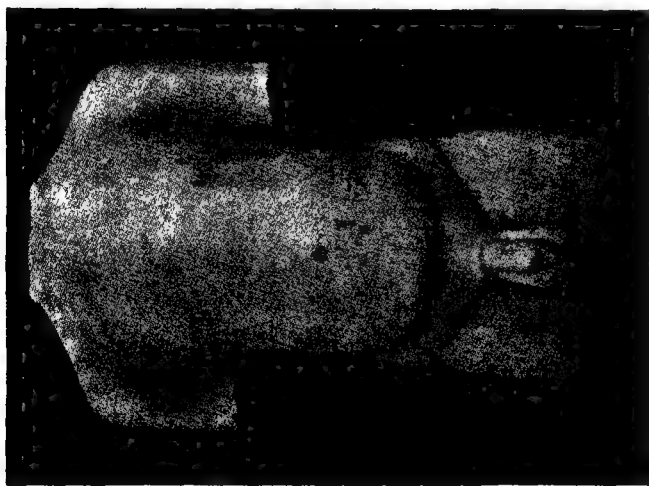
१६. राजकपुर का जैन मंदिर (पृ० २२७)



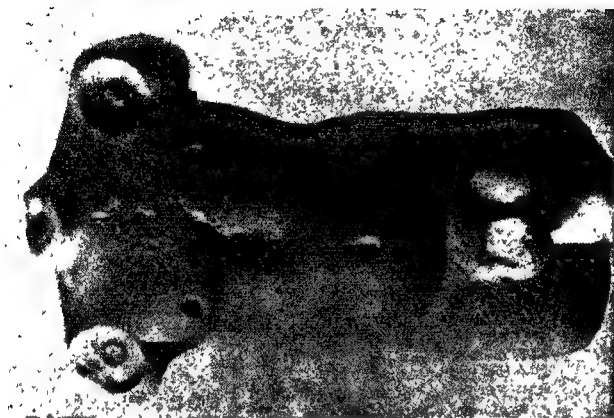
१७. चित्तौड़ का जैन कीर्तिस्तम्भ (पृ० ३३८)



१८. शत्रंजय के जैन मंदिरो का माण्डिक दृश्य (पृ० ३३९)



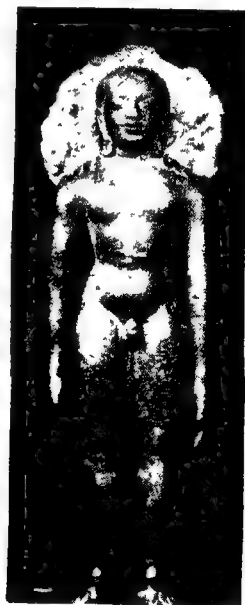
१६. लोहानीपुर की मस्तकहीन जिन मूर्ति (पृ० ३४२)



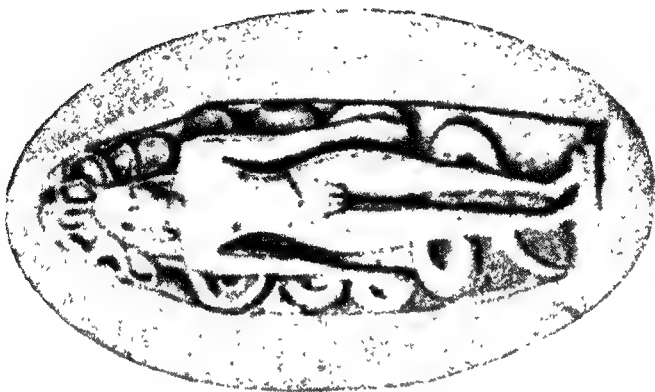
२०. सिधघाटी की मस्तकहीन मूर्ति (पृ० ३४२)



२१, सिधघाटी की त्रिशूंगयुक्त ध्यानस्थ मूर्ति
(पृ० ३४२)



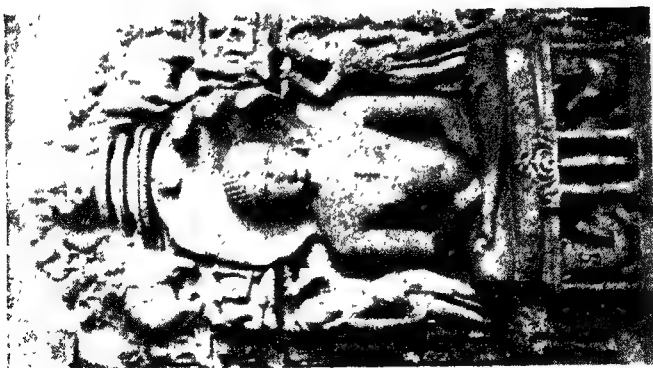
२२. ऋषभ की खड्गासन धातु प्रतिमा,
चौसा. बिहार (पृ० ३५१)



२४. तेरापुर गुफा के खड्गासन पार्श्वनाथ (पृ० ३१२)



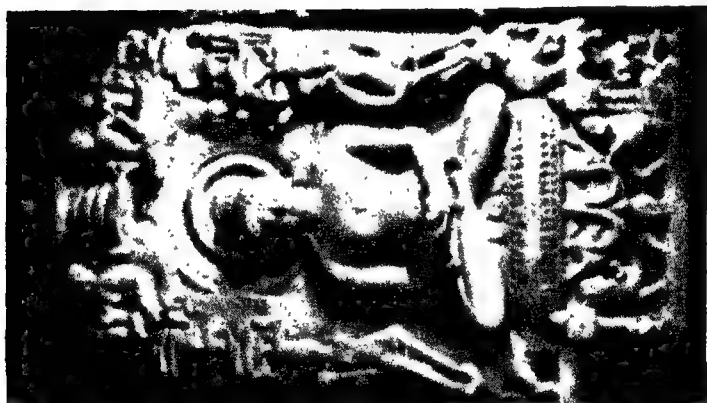
२३. तेरापुर गुफा के पद्मासन पार्श्वनाथ (पृ० ३१२)



२५. पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति, उदयगिरि,
त्रिविशा (पृ० ३११ व ३४७)



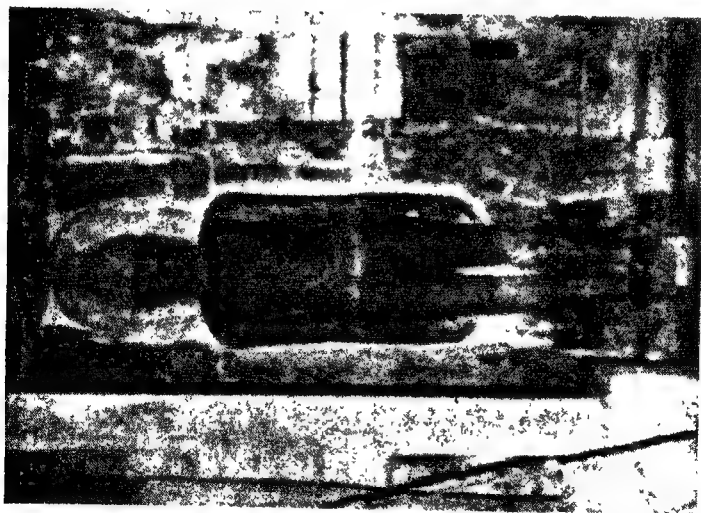
२६. देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा
, (पृ० ३२७ व ३४७)



२८. देवगढ़ की पद्मेसन जिन प्रतिमा
(पृ० ३२७ व ३४७)



२७ देवगढ़ की पद्मेसन जिन प्रतिमा
(पृ० ३२७ व ३४७)



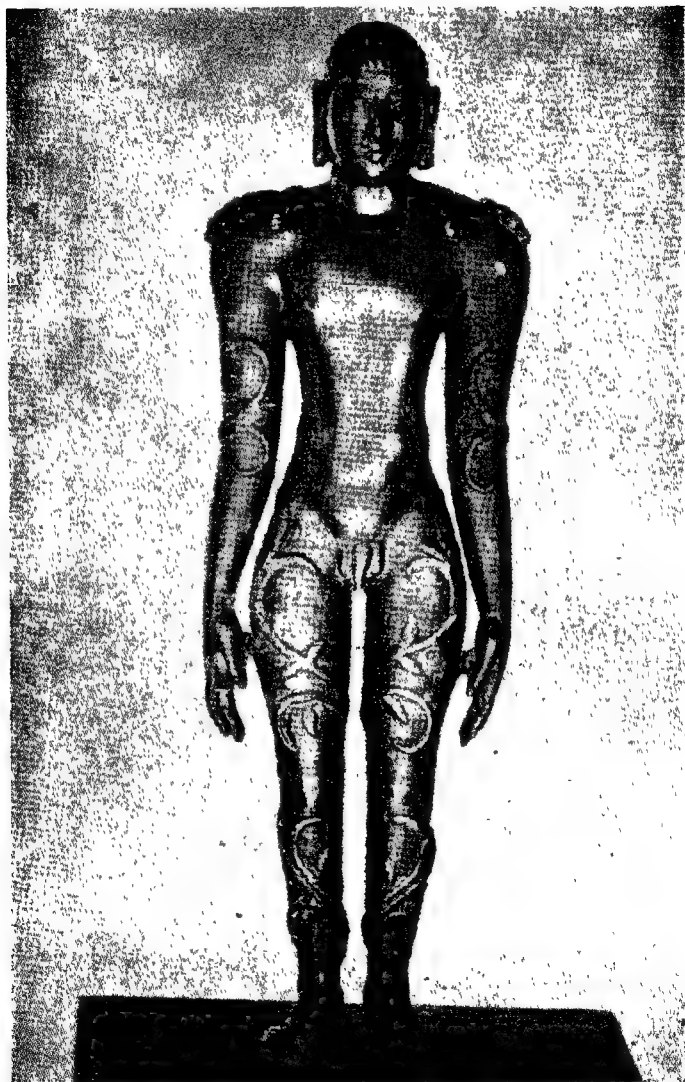
२९. देवगढ़ की खड्गनाथ जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)



३०. जीवन्त स्वामी की धातु प्रतिमा, ग्रकोट (पृ० ३५२)



३१ .श्रवण बेल्गोला के गोममटेश्वर बाहुबलि (पृ० ३५३)



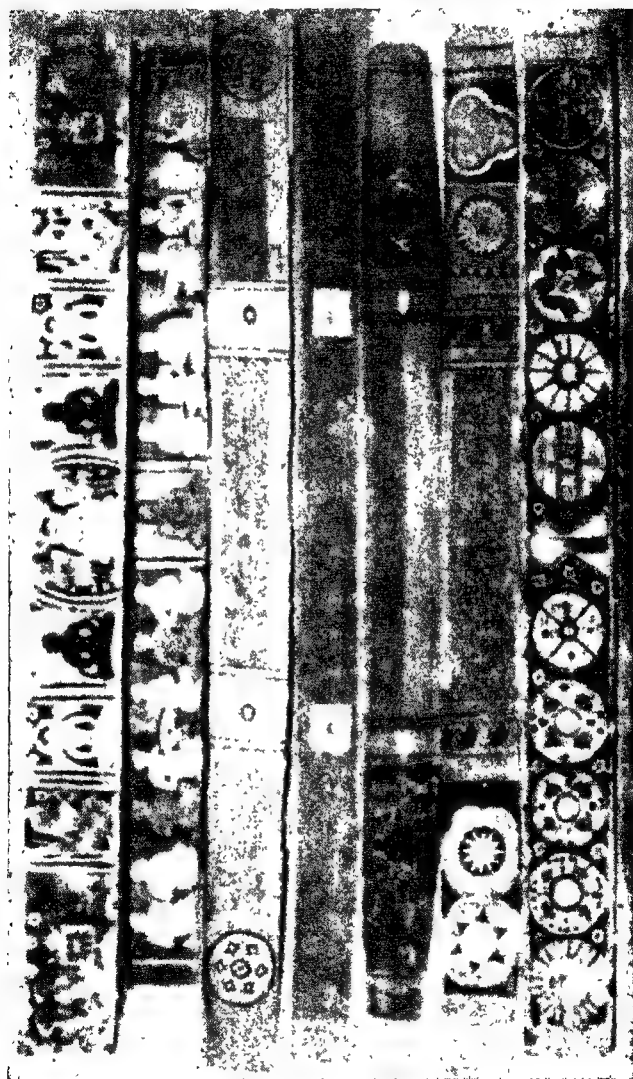
३२. बाहुबलि की धातु प्रतिमा (पृ० ३५३)



३४ चन्द्रपुर, भाँमी, की युगल प्रतिमा (पृ० ३६१)



३३. देवगढ़ जैन मंदिर की युगल प्रतिमा (पृ० ३६१)



३५. मुड़विही के सिद्धांत ग्रन्थों के ताड़पत्रीय चिह्न (पृ० ३६५)



३६. सुपासगाह चरिय का कागद चित्र (पृ० ३७०)

ग्रन्थ-सूची

सूचना :- व्याख्यानों में प्रायः आचारभूत ग्रंथों का कुछ संकेत यथास्थान कर दिया गया है । विशेष परिचय व अध्ययन के लिये निम्न ग्रंथ उपयोगी होंगे :-

व्याख्यान १

जैन इतिहास

- 1 History and Culture of the Indian People, Vol. I—V (Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay).
- 2 Mysore and Coorg from the Inscriptions, by B. Rice (London, 1909).
- 3 Studies in South Indian Jainism, by M.S.R. Iyyangar & B Seshgiri Rao (Madras, 1922).
- 4 Rashtrakutas and their Times — A.S. Altekar (Poona, 1934).
- 5 Mediaval Jainism, by B.A. Saleore (Bombay, 1938).
- 6 Jainism and Karnataka Culture, by S.R. Sharma (Dharwar, 1940).
- 7 Traditional Chronology of the Jainas, by S. Shah (Stuttgart, 1935).
8. Jainism in North India, by C.J. Shah (London, 1932).
- 9 Life in Ancient India as depicted in the Jaina Canons, by J.C. Jain (Bombay, 1947).
- 10 Jainism, the oldest living religion, by Jyotiprasad Jain (Banaras, 1951).
- 11 Jainism in South India, by P.B. Desai (Sholapur, 1957).
- 12 Yasastilaka and Indian Culture, by K. K. Handiqui (Sholapur, 1949).
- 13 Jainism in Gujrat, by C.B. Seth (Bombay, 1953).
- 14 Jaina System of Education, by B.C. Dasgupta (Calcutta, 1942).
- 15 Jain Community — A Social Survey, by V. A. Sangave (Bombay, 1959).
- 16 History of Jaina Monachism, by S.B. Deo (Poona, 1956).
- 17 Repertoire di Epigraphie Jaina, by A. Guerinot (Paris, 1908)

- १८ क्षमण भगवान् महावीर-कल्याणविजय (जालोर, १९४१)
- १९ वीर निर्वाण संवत् और जैनकाल गणना-कल्याण विजय, (नागरी प्रचारिणी पत्रिका १०-४ काशी, १९३०)
- २० जैन लेख संग्रह (भा. १-३) पू. चं नाहर (कलकत्ता, १९१८-२९)
- २१ पट्टावली समुच्चय-दर्शनविजय (बीरमगाम, गुजरात, १९३३)
- २२ जैन शिलालेख संग्रह, भाग १-३ (मा. दि. जै. ग्रन्थमाला, बम्बई)
- २३ भट्टारक सम्प्रदाय-वि. जौहरापुरकर (शोलापुर, १९५८)
- २४ जैन सिद्धान्त भास्कर (पत्रिका) भा. १-२२, सिद्धान्त भवन, आरा
- २५ अनेकान्त (पत्रिका) भा. १-१२ (वीर मेवामन्दिर, दिल्ली)

व्याख्यान २

जैन साहित्य

- 26 Outline of the Religious Literature of India, by J.N. Farquhar (Oxford, 1920).
- 27 A History of Indian Literature, Vol. II (Jaina Lit.), by M. Winternitz (Calcutta, 1933).
- 28 History of the Jaina Canonical Literature, by H.R. Kapadia (Bombay, 1941).
- 29 Die Lehre Der Jainas, by W. Schubring, (Berlin, 1935).
- 30 Die Jaina Handschriften, by W. Schubring (Leifozing, 1944).
- 31 Essai De Bibliography Jaina, by A Guerinet (Paris, 1906).
- 32 Jaina Bibliography: Chhotelal Jain (Calcutta, 1945).
- 33 Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in C.P. & Berar (Nagpur, 1926).
- 34 Prakrit Languages and their Contribution to Indian Culture, by S.K. Katre (Bombay, 1945).
- 35 Die Kosmographische der Inder, by H. Kierfel (Leipzig, 1920).
- ३६ जैन ग्रंथावलि - (जै. श्वे. काफरेस, बम्बई, १९०८)
- ३७ जिन रत्न कोश- ह. दा वेलणकर (पूना, १९४४)
- ३८ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ-सूची, भा. १-४,
कस्तूरचन्द्र कासलीवाल (जयपुर)
- ✓ ३९ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (गुज.) - मो द देसाई (बम्बई, १९३३)
- ४० प्राकृत साहित्य का इतिहास-जगदीशचन्द्र जैन (चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६१)
- ४१ प्राकृत और उसका साहित्य-हरदेव बाहरी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)
- ४२ अपभ्रंश साहित्य-हरिवंश कोछड़ (दिल्ली, १९५६)
- ✓ ४३ जैन ग्रंथ और ग्रंथकार-फतेहचन्द वेलानी (जै. सं. मं. भा. उल, बनारस, १९५०)
- ४४ जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह-जु. कि. मुस्तार और परमानन्द शास्त्री, (दिल्ली, १९५४)
- ४५ पुरातन जैन वाक्य सूची (प्रस्तावना) - जु. कि. मुस्तार (सहारनपुर १९५०)
- ✓ ४६ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश-जु. कि. मुस्तार (कलकत्ता, १९५६)
- ✓ ४७ जैन साहित्य और इतिहास-नाथूराम प्रेमी (बम्बई, १९५६)
- ✓ ४८ प्रकाशित जैन साहित्य - जैन मित्र मंडल, बर्मपुरा, दिल्ली १९५८

ग्रंथमालायें जिनमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं

- १ आगमोदय समिति, सूरत व बम्बई
- २ जीवराज जैन ग्रंथमाला (जैन संस्कृति संरक्षक संप, शोलापुर)
- ३ जैन आत्मानंद सभा, भावनगर
- ४ जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
- ५ देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई व मूगन
- ६ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई
- ७ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
- ८ यशोविजय जैन ग्रंथमाला, बनारस व भावनगर
- ९ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई)
- १० मिथी जैन ग्रंथमाला (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

अर्धमागधी जैनागम

पृ. ५५ से ७५ तक जिन ४५ आगम ग्रंथोंका परिचय दिया गया है उनका मूलपाठ टीकाओं सहित दो तीन बार कलकत्ता, बम्बई व अहमदाबाद से सन् १८७५ और उसके पश्चात् प्रकाशित हो चुका है। ये प्रकाशन आलोचनात्मक रीति से नहीं हुए। इनमें का अन्तिम संस्करण आगमोदय समिति, द्वारा प्रकाशित है। किन्तु यह भी अब दुर्लभ हो गया है। स्थानकवासी सम्प्रदाय में मान्य ३२ सूत्रों का पहले अमोलक ऋषि द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित हैदराबाद से (१९१८) व हाल ही मूलमात्र प्रकाशन सूत्रागम प्रकाशन समिति द्वारा किया गया है (गुडगाव, पंजाब, १९५१) विशेष सावधानी से भूमिकादि सहित प्रकाशित कुछ ग्रंथ निम्न प्रकार हैं :—

४९ आचाराङ्ग—ह. याकोबी (पा. टै. सो. लंदन, १८८२)

उन्ही का अंग्रेजी अनुवाद (सै. बु. ई. २२) प्रथम श्रुतस्कंध (शब्दकोष व पाठ-भेदो सहित) —वा. शुभ्रिग, लीपजिग १९१०, अहमदाबाद, सं. १९८०)

५० सूत्रकृताङ्ग (निर्युक्ति सहित) —प. ल. वैद्य (पूना, १९२८) शीलाङ्कृत टीका व हिन्दी अनुवादादिसहित भा. १-३ —जवाहिरलाल महाराज (राजकोट वि. सं. १९९३-९५)

५१ भगवती, शतक १-२० हिन्दी विषयानुवाद, शब्दकोश आदि. मदनकुमार महता (कलकत्ता वि. सं. २०११)

- ५२ ज्ञातृधर्मकथा (णायाधम्मकहाओ) पाठान्तरसहित पूर्ण तथा अध्ययन ४
और ८ एवं ९ और १६ का अंग्रेजी अनुवाद — एन. व्ही. वैद्य (पूना, १९४०)
- ५३ उपासक दशा—अंग्रेजी अनुवाद. भूमिका व टिप्पण आदि सहित—हार्नवे (कलकत्ता
१८८५—८८) भूमिका, वर्णकादिविस्तार व अंग्रेजी टिप्पणी सहित—
ए. ल. वैद्य (पूना, १९३०)
- ५४ अन्तकृदशा } अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, टिप्पण व शब्दकोश सहित—एम. सी.
५५ अनुत्तरोपपातिक } मोदी (अहमदाबाद १९३२) व अंग्रेजी भूमिका, स्कंदक
कथानक व शब्दकोश सहित — ए. ल. वैद्य (पूना १९३२)
- ५६ विपाक सूत्र—अंग्रेजी भूमिका, वर्णकादि विस्तार व शब्दकोश सहित—ए. ल. वैद्य
(पूना, १९३३) व अनुवाद व टिप्पण सहित — चौकसी और मोदी
(अहमदाबाद, १९३५)
- ५७ औपपातिक सूत्र — मूलपाठ व पाठान्तर — एन. जी. सुरु (पूना, १९३६)
- ५८ रायपसेणिय —अंग्रेजी अनुवाद व टिप्पणी सहित भाग १-२ —एन. व्ही. वैद्य
(अहमदाबाद, १९३८) व हीरालाल बी. गांधी (सूरत, १९३८)
- ५९ निरयावलियाओ (अन्तिम ५ उपांग) अंग्रेजी भूमिका व शब्दकोश सहित—
पी. एल. वैद्य (पूना, १९३२)
- ६० जीतकल्प सूत्र —भाष्यसहित—पुण्यविजय (अहमदाबाद, वि. सं. १९९४), व्याख्या
व चूर्ण सहित — जिनविजय (अहमदाबाद, वि. सं. १९८३)
- ६१ कल्प-व्यवहार-निशीथसूत्र पाठान्तर सहित—वाल्टर शुब्रिग (लाइपजिग व अह-
मदाबाद)
- ६२ निशीथ — एक अध्ययन — दलसुख मालवणिया (आगरा, १९५६)
- ६३ स्टूडिएन इन महानिशीथ — हेम एण्ड शुब्रिग, हेमवर्ग, १९५१
- ६४ उत्तराध्ययन — अंग्रेजी प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित—जार्ज बार्पेटियर (उपसाला,
१९१४)
- ६५ दशवैकालिक — अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद, व टिप्पण सहित — ल्यूमन और वाल्टर
शुब्रिग (अहमदाबाद १९३२)
- ६६ नन्दीसूत्र — हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना, शब्दकोश आदि सहित — हस्तिमल्लमुनि
(मूथा, सतारा. १९४२)

शौरसेनी जैनागम-ग्रन्थानुयोग

- ६७ षट्खंडागम (धवला टीका स.) भाग १-१६ भूमिका. हिन्दी अनुवाद, अनुक्रमणिका दि सहित - डॉ. हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९-१९५९)
- ६८ महाबंध - भाग १-७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४७-१९५८)
- ६९ कसाय पाहुड (जय धवला टीका स.) (जैन संघ मथुरा, १९४४ आदि)
- ७० कसाय पाहुड - सूत्र और चूर्ण अनुवादादि सहित (वीरशासन संघ, कलकत्ता, १९५५)
- ७१ गोम्मटसार - जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड - अंग्रेजी अनुवाद सहित - जे. एल. जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स. आगरा ग्रं. ५, ६, ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचंद्र शास्त्रमाला. बम्बई, १९२७-२८)
- ७२ पञ्चसंग्रह (प्राकृत) - संस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति, हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (ज्ञानपीठ, काशी, १९६०)
- ७३ पञ्चसंग्रह (अमितगति मं.) (मा. ग्रं. बम्बई, १९२७)
- ७४ पञ्चसंग्रह (चन्द्राणि) स्वोपज्ञवृत्ति स. (आगमोदय समिति, बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७८)
- ७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) - मलयगिरि और यशोवि. टीकाओं सहित (जैनधर्म प्रसा. सभा, भावनगर)
- ७६ कर्मविपाक (कर्मग्रंथ १) - पं. सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा, १९३९)
- ७७ कर्मस्तव (कर्मग्रंथ २) - हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)
- ७८ बंधस्वामित्व (कर्मग्रंथ ३) हि. अ. सहित (आगरा, १९२७)
- ७९ षडशीति (कर्मग्रंथ ४) पं. सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा, १९२२)
- ८० शतक (कर्मग्रंथ ५) पं. कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)
- ८१ सप्ततिका प्रकरण (क. ग्रंथ ६) पं. फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)
- ८२ प्रवचनसार (कुंदकुंद) - अमृतचन्द्र व जयसेनकृत संस्कृत टीका, हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ. उपाध्ये कृत अंग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचंद्र शा. मा. बम्बई, १९३५)

- ८३ समयसार (कुंदकुंद) — प्रो. चक्रवर्ती कृत अंग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद सहित (ज्ञानपीठ, काशी, १९५०) अमृतचन्द्र व जयसेन कृत संस्कृत टीका व जयचन्द्र कृत हिन्दी टीका सहित (अहिंसा मन्दिर, दिल्ली, १९५६) ज. जैनीकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित (अजिताश्रम, लखनऊ, १९३०)
- ८४ पञ्चास्तिकाय (कुंदकुंद) — प्रो. चक्रवर्ती कृत अंग्रेजी भूमिका व अनुवाद सहित (आरा, १९२०) अमृतचन्द्र व जयसेन कृत सं. टीका तथा मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु. सहित (रायचन्द्र जै. शा. मा. बम्बई, १९०४)
- ८५ नियमसार (कुंदकुंद) — उग्रसेन कृत अंग्रेजी अनु. सहित (अजिताश्रम, लखनऊ, १९३१) पद्मप्रभ कृत संस्कृत टीका व ब्रह्म. शी. प्र. कृत हिन्दी व्याख्या स. (बम्बई, १९१६)
- ८६ अष्टपाहुड (कुंदकुंद) जयचन्द्रकृत हिन्दी वचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्र. मा. बम्बई, १९२३)
- ८७ षट्प्राभृतादि संग्रह (कुंदकुंद) श्रुतसागर कृत संस्कृत टीका व लिंग और शील प्रामृत, रयणसार व द्वादशानुप्रेक्षा संस्कृत छाया मात्र स. (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई वि. सं. १९७७)
- ८८ कुन्दकुन्दप्राभृत संग्रह पं. कैलाशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स. (जीवराज जैन ग्रं. शोलापुर, १९६०)

द्रव्यानुयोग संस्कृत

- ८९ तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) — जु जैनीकृत अंग्रेजी अनुवाद स. (आरा, १९२०) भाष्य व हि. अनु. स. (रा. जै. शा. बम्बई, १९३२) पूज्यपादकृत सर्वार्थ सिद्धि टीका स. (शोलापुर, १९३६) सर्वार्थसिद्धि टीका पं. फूलचन्द्र कृत भूमिका व अनुवाद स. (ज्ञानपीठ, काशी, १९५५) अकलंक कृत तत्त्वार्थ वातिक टीका व हिन्दी सारांश स. भा. १-२ (ज्ञानपीठ, काशी, १९४६ व १९५७). विद्यानन्दि कृत ग्लोकवातिक स. (नाथारंग जै. ग्रं. बम्बई १९१८) श्रुतसागर कृत तत्त्वार्थवृत्ति स. (ज्ञानपीठ, काशी, १९४६) पं. सुखलाल कृत हिन्दी भूमिका व व्याख्या स. (भारत जैन महामंडल, वर्धा, १९५२) पं. फूलचन्द्र कृत हिन्दी भूमिका व व्याख्या स. (ग. वर्णा ग्रं. काशी, बी. नि. २४७६)
- ९० पुरुषार्थसिद्धयुपाय (अमृतचन्द्र) अजित प्रसाद कृत अंग्रेजी अनुवादादि स. (अजिताश्रम, लखनऊ, १९३३) हिन्दी अनु. स. (रायचन्द्र जै. शा. बम्बई, १९०४)

जैन न्याय

- ६१ सन्मतिसूत्र (सिद्धसेन) — अभयदेव टीका स. भा. १-५ (गुजरात विद्यापीठ. अहमदाबाद, १९२१ ३१) अंग्रेजी अनु. व भूमिका स. (जै. श्वे. ऐज्यू. बोर्ड. बम्बई. १९३८)
- ६२ नयचक्रसंग्रह (देवसेन) सं. छाया स. (मा. दि. जै. ग्रं. १६. बम्बई, १९२०) नयचक्र—हिन्दी अनु. स. (शोलापुर. १९४६)
- ६३ आलाप पद्धति (देवसेन) — (सनातन जैन ग्रं. बम्बई, १९२०. व मा. दि. जैन. ग्रं. बम्बई, १९२०)
- ६४ अग्निमीमासा (समन्तभद्र) — जयचन्द्र कृत हिन्दी ग्रंथ स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. मां. ४ बम्बई, अकलंक कृत अष्टशती व वसुनन्दि टीका (सन. जै. बनारस, १९१४) विद्यानन्दि कृत अष्टसहस्री टीका (अकलोज, शोलापुर १९१५)
- ६५ युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र) (मूल मा. दि. जै. ग्रं. १६ बम्बई) जु. मुस्तार कृत हिन्दी व्याख्या स. (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा १९५१)
- ६६ अन्ययोग व्यवच्छेद (हेमचन्द्र) मल्लिषेण कृत स्याद्वाद मञ्जरी टीका जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स. (रायचन्द्र जै. शा. बम्बई, १९३५)
- ६७ न्यायावतार (सिद्धसेन) — सतीशचन्द्र वि. भू. कृत अंग्रेजी अनुवाद व चन्द्रप्रमसूरि कृत विवृति के अवतरणों स. (कलकत्ता १९०९) सिद्धर्षिकृत टीका व देवभद्र कृत टिप्पण ब प. ल. वैद्य कृत अंग्रेजी प्रस्तावना स. (श्वे. जैनसभा बम्बई १९२८)
- ६८ विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्र) — हेमचन्द्र टीका स. (य. जै. ग्रं. बनारस, नि. स. २४२७-४१) गुज. अनु. स (आगमोदय स. बम्बई, १९२४-२७)
- ६९ अकलंक ग्रंथत्रय (लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह) महेन्द्र कु. कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स. (सिधी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद—कलकत्ता, १९३६)
- १०० न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) भा. १-२ महेन्द्र कु. कृत प्रस्तावना स. (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, १९३८, १९४१)
- १०१ न्यायविनिश्चय विवरण (वादिराज) भा. १-२ महेन्द्र कु. कृत प्रस्तावना स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४६, १९५४)

- १०२ सिद्धिविनिश्चय टीका (अनन्तवीर्य भा. १-२ डा. महेन्द्र कु. कृत अंग्रेजी व हिन्दी प्रस्तावना स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी. १९५९)
- १०३ आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द) स्वोपज्ञ टीका व पं. दरबारीलाल कोठिया कृत हिन्दी प्रस्तावना व अनुवाद स. (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा १९४९) आप्त परीक्षा और पत्र परीक्षा (जैन धर्म प्रचारिणी सभा. बनारस, १९१३)
- १०४ लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (अनन्तकीर्ति) (भा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, वि.सं. १९७२)
- १०५ परीक्षामुख (माणिक्यनन्द) अनन्त वीर्यकृत प्रमेयरत्नमाला टीका व टिप्पणों सहित (बनारस १९२८) हिन्दी अनुवाद स. (झांसी, नि. सं. २४६५) शरच्चन्द्र घोषाल कृत अंग्रेजी प्रस्तावना व अनुवाद स. (अजिताश्रम, लखनउ, १९४०) अनन्तवीर्य कृत टीका स. सतीशचन्द्र वि. भू. द्वारा सम्पादित (बिब इंडीका कलकत्ता, १९०९)
- १०६ प्रमेयकमल मार्तण्ड (प्रभाचन्द्र) — पं. महेन्द्र कु. भूमिका स. (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१)
- १०७ न्यायदीपिका (धर्मभूषण) — पं. दरबारीलाल कोठिया कृत टिप्पण, हिन्दी प्रस्तावना अनुवाद स. (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १९४५)
- १०८ सप्तभङ्गितरङ्गिणी (विमलदास) — पं. ठाकुरप्रसाद कृत हिन्दी अनुवाद स. (रायचन्द्र शा. बम्बई, १९१६)
- १०९ अनेकान्तजयपताका (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका सहित (य. जै. ग्रं. भावनगर, नि. सं. २४३६ आदि)
- ११० अनेकान्तवाद प्रवेश (हरिभद्र) — हेमचन्द्र सभा, पाटन, १९१९)
- १११ अष्टक प्रकरण (हरिभद्र) जिनेश्वर कृत सं. टीका सहित (मनसुख भा., अहमदाबाद वि. सं. १९६८)
- ११२ विंशतिविशिका (हरिभद्र) — संस्कृत छाया व अंग्रेजी टिप्पणों स. (के. व्ही. अर्भ्यकर, अहमदाबाद, १९३२)
- ११३ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (वादिदेव) स्वोपज्ञ टीका स. (मोतीचंद लाडजी, पूना, नि. सं. २५५३-५७) रत्नाकरावतारिका व अन्य टीकाओं स. (य. जै. ग्रं. बनारस, नि. सं. २४३१-३७)
- ११४ प्रमाणमीमांसा (हेमचंद्र) पं. सुखलाल की प्रस्तावना एवं भाषा टिप्पणों स. (सिंधी ग्रं., बम्बई. अहमदाबाद—कलकत्ता १९३९)

- ११५ जैनतर्कभाषा (यशोविजय) तात्पर्य संग्रह वृत्ति स. (सिंधी ग्रं. १९३८)
 ११६ ज्ञानबिन्दु (यशोविजय) - पं. सुखलाल कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स. (सिंधी ग्रं. १९४२)

करणानुयोग

- ११७ लोकविभाग (सिंहसूरि) - भाषानुवाद स. (जीवराज ग्रं. शोलापुर, १९६२)
 ११८ तिलोपपण्णत्ति (यतिवृषभ) भा. १-२ प्रस्ता. व हिन्दी अनु. स. (जीवराज ग्रं. शोलापुर, १९४३, १९५२)
 ११९ त्रिलोकसार (नेमिचन्द्र) माधवचन्द्रकृत टीका स. (भा. ग्रं. बम्बई, नि. सं. २४४४)
 १२० जम्बूद्वीपपण्णत्ति (पद्मनन्दि) - प्रस्ता. हिन्दी अनु. स. (जीवराज ग्रं. शोलापुर, १९५८)
 १२१ लघुक्षेत्रसमास (रत्नशेखर) - सचित्र, गुज. व्याख्या स. (मुक्तिकमल जैन मोहन माला, बड़ौदा, १९३४)
 १२२ बृहत्क्षेत्र समास (जिनभद्र) मलयगिरि टीका स. (जैनधर्म प्र. स. भावनगर, सं. १९७७)
 १२३ बृहत्संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरि) सचित्र गुज. व्याख्या स. (मुक्तिकमल जैन मो. बड़ौदा १९३६)
 १२४ विचारसार (प्रसुम्नसूरि) - आगमोदय स. मूरत, १९२३)
 १२५ ज्योतिष्करण्डक - सटीक (रतलाम, १९२८)

चरणानुयोग

- १२६ मूलाचार (वहकेर) भा. १-२ वसुनन्दि टीका स. (भा. ग्रं. बम्बई, वि. सं. १९७७, १९८०) मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु. स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. बम्बई, १९१६)
 १२७ भगवती आराधना (शिवार्थ) - सदासुखकी भाषावचनिका स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. बम्बई, वि. सं. १९८६) मूलाराधना - अपराजित और आशाधर की सं. टीकाओं व हिन्दी अनु. स. (शोलापुर, १९३५)
 १२८ अनंगार धर्माभूत (आशाधर) स्वोपज्ञ टीका स. (भा. ग्रं. बम्बई, १९१६)
 १२९ पञ्चवस्तुक (हरिभद्र) - स्वोपज्ञ टीका स. (देवचन्द्र लालभाई ग्रं. बम्बई, १९३२)
 १३० सम्यक्वसप्तात्ति (हरिभद्र) - संपत्तिलक टीका स. (दे. ला. ग्रं. बम्बई, १९१३)
 १३१ जीवानुशासन (देवसूरि) - (हेमचन्द्र - ग्रंथा. पाटन, १९२८)

- १३२ प्रवचन सारोद्धार (नेमिचन्द्र) - सिद्धसेन टीका स. (ही. हं. जामनगर, १९१४, दे. ला. ग्रं. बम्बई, १९२२)
- १३३ द्वादशकुलक (जिनवल्लभ) -जिनपाल टीका स. (जिनदत्त सूरि प्रा. पु. बम्बई, १९३४)
- १३४ प्रशमरति (उमास्वाति) सटीक (जैन घ. प्र. स. भावनगर, सं. १९६६) सटीक हिन्दी अनु. स. (रा. जै. शा. बम्बई, १९५०)
- १३५ चारित्रसार (चामुण्डाराय) - (मा. दि. जै. ग्रं., बम्बई, नि. सं. २४४३)
- १३६ आचारसार (वीरनन्दि) - (मा. दि. जै. ग्रं. बम्बई, सं. १९७४)
- १३७ सिन्दूरप्रकर (सोमप्रभ या सोमदेव)-हर्षकीर्ति टीका स. (अहमदाबाद, १९२४)
- १३८ श्रावकप्रज्ञप्ति (हरिभद्र)-सटीक गुज. अनु. स. (जैन ज्ञान प्रसारक मंडल, बम्बई, १९०५)
- १३९ पञ्चाक्षकसूत्र (हरिभद्र)-अभयदेव टीका स (जै. घ. प्र. स. भावनगर, १९१२)
- १४० धर्मरत्न (शान्तिसूरि) स्वोपज्ञ टीका स (जै. आ. स. भावनगर, सं. १९७०) देवेन्द्र टीका स. (जै. घ. प्रसारक, पालीताना, १९०५-६)
- १४१ वसुनन्दि श्रावकाचार - प्रस्तावना व हिन्दी अनु स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२)
- १४२ सावयधम्मदोहा - डा. ही. ला जैन कृत प्रस्तावना हिन्दी अन. आदि स. (कारंजा जैन ग्रं. १९३२)
- १४३ रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र)-प्रभाचन्द्र टीका व जु. मुस्तार कृत प्रस्तावना स. (मा. दि. जै. ग्रं., बम्बई, वि. १९८२) समीचीन धर्मशास्त्र नाम से हिन्दी व्याख्या स. (वीर सेवा मं. दिल्ली, १९५५) चम्पतराय कृत ग्रं. अनु. स. (बिजनौर, १९३१)
- १४४ यशस्तिलकम् (सोमदेव) भा. १-२ पंचम आश्विन के मध्य तक श्रुतसागर टीका स. (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१६)
- १४५ श्रावकाचार (आम्रितगति) - (भाग्यचंद्र कृत वचनिका स. (अनन्तकीर्ति ग्रं. बम्बई, वि. १९७६)
- १४६ सागरधर्मामृत (आशाधर) -स्वोपज्ञ टीका स. (मा. ग्रं. बम्बई, वि. १९७२)
- १४७ श्रावकाचार (गुणभूषण) भा. १-२ हिन्दी अनु. स. (दि. जै. पु. सूरत, १९२५)
- १४८ लाटीसंहिता (राजमल्ल) - मा. ग्रं. वि. १९८४)

ध्यान-योग

- १४९ कातिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार) - शुभचन्द्र टीका पं. कैलाशचन्द्र कृत हि. अनु.
डॉ. उपाध्ये कृत ग्रं. प्रस्तावनादि स. (रायचंद्र शा., अगास, १९६०)
- १५० योगबिन्दु (हरिभद्र) - सटीक (जैन ध. प्र. स. भावनगर, १९११)
- १५१ योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका स. (दे. ला. बम्बई, १९१३)
- १५२ योगविशिका (हरिभद्र) पातञ्जल योगसूत्र सटीक व पं. सुखलाल की भूमिका स.
(आ. ग्रं. भावनगर, १९२२)
- १५३ षोडशक (हरिभद्र यशोभद्र व यशोविजय टीकाओं स. (दे. ला. बम्बई, १९११)
- १५४ परमात्म प्रकाश (योगीन्द्र) ब्रह्मदेव कृत सं. टीका व दौलतराम कृत हिन्दी टीका.
डॉ. उपाध्ये कृत ग्रं. प्रस्तावना व पं. जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनु. स.
(रायचन्द्र शा., अगास, १९६०)
- १५५ पाहुड दोहा (रामसिंह) - डॉ० ही. ला. जैनकृत भूमिका, हि. अनु. आदि स.
(कारंजा जैन सीरीज, १९३३)
- १५६ इष्टोपदेश (पूज्यपाद) आशाधर टीका, धन्यकुमार कृत हि. अनु. व चम्पतराय कृत
ग्रं. अनु. और टिप्पणी स. (रायचन्द्र शा., बम्बई, १९५४)
- १५७ समाधितंत्र (पूज्यपाद) प्रभाचन्द्र टीका, परमानन्द कृत हि. अनु. व. जु. मुस्तार
कृत प्रस्तावना स. (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९३६)
- १५८ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (यशोविजय) - सटीक (जैन ध. प्र. स. भावनगर, सं. १९६६)
- १५९ आत्मानुशासन (गुणभद्र) - प्रभाचन्द्र टीका, अंग्रेजी हिन्दी प्रस्ता., हिन्दी अनु.
स. (जीवराज जैन ग्रं. सोलापुर, १९६१) जु. जैनी कृत अंग्रेजी अनु. स.
(अजिताश्रम, लखनऊ, १९२८) वंशीधर कृत हिन्दी टीका (जैन ग्रं.
र. का. बम्बई, १९१६)
- १६० सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति) - निर्णयसागर बम्बई, १९०६) हि. अनु. स.
(हरि. दे. कलकत्ता, १९१७)
- १६१ योगसार (अमितगति) - (सनातन जैन ग्रं. कलकत्ता, १९१८)
- १६२ ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) - हि. अनु. स. (रायचन्द्र शा., बम्बई, १९०७)
- १६३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स. (जैन ध. प्र. स. भावनगर, १९२६)
- १६४ अध्यात्म रहस्य (आशाधर) हिन्दी व्याख्या जु. मुस्तार कृत (वीरसेवा मन्दिर,
दिल्ली, १९५७)

स्तोत्र

- १६५ जिन सहस्रनाम—आशाधर, जिनसेन, सकलकीर्ति, हेमचन्द्र कृत स्तोत्रों का पाठ-
मात्र व आशाधर कृत स्वोपज्ञवृत्ति, पं. हीरालाल कृत अनुवाद व
श्रुतसागर टीका स. (भारतीय ज्ञा. काशी, १९५४)
- १६६ जैनस्तोत्र संग्रह, भा. १—२ (यशो. जै. ग्रं. बनारस, नि. सं. २४३६)
- १६७ जैन नित्यपाठ संग्रह—जिनसहस्रनाम, भक्तामर, कल्याण मन्दिर, एकीभाव,
विषाणहार आदि स्तोत्रों म. (निर्णय सा. बम्बई, १९२५)
- १६८ उपसर्गहर स्तोत्र (भद्रबाहु) पार्ष्वदेव, जिनप्रभ, सिद्धिचन्द्र, हर्षकीर्ति टीकाओं स.
(दे. ला. बम्बई नं. ८०-८१ १९३२,) पूर्णचन्द्र टीका स (शारदा
ग्रं. मा. भावनगर, १९२१, जैन स्तोत्र संग्रह के अन्तर्गत)
- १६९ ऋषभपञ्चाशिका (धनपाल) — सं. व गुज. टीका म. (जै. ध. प्र. स भावनगर,
कापडिया द्वारा सम्पा. दे. भा. बम्बई)
- १७० अजित-शान्तिस्तव (नन्दिषेण) गोविन्द और जिनप्रभ टीकाओं स. (दे. ला. बम्बई)
- १७१ जयतिह्वयण स्तोत्र (अभयदेव) मुनिसुन्दर टीका स. (फूलकुवर बाई, रतलाम,
अहमदाबाद, १८९०)
- १७२ ऋषिमण्डल स्तोत्र (धर्मघोष) — अवचूरि स. (जिनस्तोत्र सं. १ पृ. २७३. सा. भा.
नवाव, अहमदाबाद, १९३२)
- १७३ समवसरण स्तोत्र (धर्मघोष) जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९१७)
- १७४ स्वयंभूस्तोत्र (समन्तभद्र) जु. मुस्तार कृत प्रस्तावना व अनु. स. (वीरसेवा
मन्दिर, सरसावा, १९५१)
- १७५ स्तुतिविद्या (समन्तभद्र) — वसुनन्दि टीका, जु. मुस्तार कृत प्रस्तावना व पं.
पन्नालाल कृत अनु. स. (बी. से. सं. सरसावा, १९५०)
- १७६ सिद्धप्रिय स्तोत्र (देवनन्दि) निर्णय सागर, बम्बई १९२६ (काव्यमाला ७ पृ. ३०)
- १७७ भक्तामरस्तोत्र (मानतुङ्ग) — गुणाकर, मेघविजय व कनककुशल टीकाओं स.
(दे. ला. बम्बई, १९३२)
- १७८ भयहरस्तवन (मानतुङ्ग) अवचूरि स. (दे. ला. बम्बई, १९३२)
- १७९ कल्याणमन्दिर स्तोत्र (कुमुदचन्द्र) कनककुशल व मणिक्यचन्द्र टीकाओं स. (दे. ला.
बम्बई, १९३२) चन्द्रकीर्ति टीका, बनारसीदास व गिरिधर शर्मा के
पद्यानुवाद व पं. पन्नालाल गद्यानु. स. (सम्मतिकूटीर, चन्दावाड़ी, बम्बई,
१९५६)

- १८० विषापहार स्तोत्र (धनञ्जय) - चन्द्रकीर्ति टीका, नाथूराम प्रेमी कृत पद्यानुवाद व पं. पन्नालाल कृत गद्यानुवाद स. (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी, बम्बई, १९५६)
- १८१ एकीभावस्तोत्र (वादिराज्य) - चन्द्रकीर्ति टीका व परमानन्द शास्त्री कृत अनु. स. (वीरसेवा मं., सरसावा, १९४०)
- १८२ जिनचतुर्विंशतिका (भूपाल) - आशाधर टीका, भूधरदास व धन्यकुमार कृत पद्यानु व. पं. पन्नालाल कृत गद्यानु स. (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी, बम्बई, १९५८)
- १८३ सरस्वतीस्तोत्र (बप्पमट्टि) आगमो. स. बम्बई, १९२६, चतुर्विंशिका पृ. २९४)
- १८४ वीतराग स्तोत्र (हेमचन्द्र) - प्रभानन्द और सोमोदय गणि टीकाप्रो स. (दे. ला. बम्बई, १९११)
- १८५ यमकमय चतुर्विंशति जिनस्तुति (जिनप्रभ) - भीमसी माणक, बम्बई, प्रकरण रत्नाकर-४
- १८६ जिनस्तोत्ररत्नकोश (मुनिसुन्दर) - यशो. बनारस, १९०६
- १८७ साधारण जिनस्तवन (कुमारपाल) - बम्बई, १९३६ (सोमतिलक) आगमो. बम्बई, १९२९
- १८८ नेमिभक्तामर स्तोत्र (भावरत्न) - आगमो. बम्बई, १९२६
- १८९ सरस्वती भक्तामरस्तोत्र (धर्मसिंह) आगमो. बम्बई, १९२७

प्रथमानुयोग प्राकृत

- १९० पडमचरिय (विमलसूरि) - मूलमात्र याकोबी सम्पा. (जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९१४)
- १९१ चउपन्नमहापुरिसचरिय (शीलाङ्क) - प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६१)
- १९२ पासनाहचरिय, (गुणचन्द्र) अहमदाबाद, १९४५, गुज. अनु. आत्मा. भावनगर, सं. २००५
- १९३ सुपासनाहचरिय (लक्ष्मण गणि) - पं. हरगो. सेठ सम्पा. (जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला. बनारस, १९१९)
- १९४ महावीर चरिय (गुणचन्द्र). दे. ला. बम्बई, १९२९, गुज. अनु. आत्मा. सं. १९९४)
- १९५ महावीरचरित (नेमिचन्द्र-देवेन्द्रगणि) जैन आत्मा. भावनगर, सं. १९७३
- १९६ तरङ्गलोला - (नेमिविज्ञान ग्रं. (सं. २०००) गुज. अनु. (पलीताना, सं. १९८९)

- १६७ धूर्ताख्यान (हरिभद्र) डॉ. उपाध्ये कृत ग्रं. प्रस्तावना स. (भारतीय वि. ग्र. बम्बई, १९४४)
- १६८ धर्मपरीक्षा (अमितगति) हि. अनु. स. (जैन ग्रं. र. बम्बई, १९०१)
- १६९ सूरसुदरीचरित्रं (धनेश्वर) — हरगो. सेठ, बनारस. १९१६
- २०० पाणपंचमीकहा (महेश्वर) ग्र. गोपानीकृत ग्रं. प्रस्ता. स. (सिंधी जै. ग्रं. बम्बई, १९४६)
- २०१ कुमारपालचरित (हेमचन्द्र) डॉ. प. ल. वैद्यकृत ग्रं. प्रस्ता. स. (भंडारकर ओ., पूना, १९३६)
- २०२ महीबालकहा (वीरदेव) — अहमदाबाद. सं. १९६८
- २०३ सुदंशपाचरिय-शकुनिका विहार (देवेन्द्र) — आत्मवल्लभ ग्रं. वलाद, अहमदाबाद, १९३२
- २०४ कृष्णचरित (देवेन्द्र) रतनपुर, १९३८
- २०५ श्रीपालचरित (रत्नशेखर) — दे. ला. बम्बई, १९२३) भा. १—बाडीलाल जीवा भाई चौकमी कृत ग्रं. अनु. भूमिकादि. स. अहमदाबाद, १९३२)
- २०६ कुम्भापुस्तचरियं (जिनमाणिक्य) डॉ. प. ल. वैद्यकी ग्रं. भूमिका स. पूना, १९३०, ग्रन्थंकर सम्पा. अहमदाबाद, १९३२
- २०७ वसुदेवहिंडी (सघदास-धर्मसेन) प्रथम खण्ड जै. आत्मा. सभा. भावनगर, १९३०
- २०८ समगदित्यकथा (हरिभद्र) — याकोबी की ग्रं. प्रस्ता. स. (बिब. इंडिका कलकत्ता, १९२६) भव १, २, ६ म. मोदी के ग्रं. अनु. भूमिका स. (अहमदाबाद-१९३३, ३६) भव २ गोरेकृत ग्रं. भू. अन. स. (पूना, १९५५)
- २०९ कुवलयमाला (उद्योतन) डॉ. उपाध्ये द्वारा पाठान्तर स. (सिंधी ग्रं. बम्बई, १९५६)
- २१० रयणचूडरायचरिय (देवेन्द्र) — पं. मणिविजय ग्रं. अहमदाबाद, १९४६
- २११ कालकाचार्यकथा — प्रो. एन. डब्ल्यू. ब्राउन कृत स्टोरी आफ कालक के अन्तर्गत (वाशिगटन, १९३३) संस्कृत (दे. ला. बम्बई १९१४, कल्पसूत्र के अन्त में) प्रभावकचरित का सं. पाठ (निर्णय सा. बम्बई) पृ. ३६-४६ कथा संग्रह (३० कथाएं) ग्रं. प्रे. शाह, अहमदाबाद, १९४६
- २१२ जिनदत्ताख्यान (सुमति) दो आख्यान (सिंधी. बम्बई, १९५३)
- २१३ रयणसेहरीकहा (जिनहर्ष) जै. आत्मा. बम्बई, सं. १९७४
- २१४ जम्बूचरियं — सिंधी जै. ग्रं. बम्बई, १९६०
- २१५ णरविक्रमचरिय (गुणचन्द्र) — नेमिविज्ञान ग्रं. सं. २००८

- २१६ उपदेशमाला (धर्मदास) रामविजय व सिद्धादि टीकाएं (हीरालाल हंसराज, जामनगर. सं. १९३४) ऋषभदेवजी केशरीमल संस्था, इन्दौर, १९३६)
- २१७ उपदेशपद (हरिभद्र) — मुनिचन्द्र टीका स. जैनधर्म प्र. व., पालीताना, १९०६, भक्तिकमल जै. मो. बड़ौदा, १९२३-२५)
- २१८ धर्मोपदेशमाला विवरण (जयसिंह) — सिन्धी. बम्बई, १९४६
- २१९ शीलोपदेशमाला (जयकीर्ति) तरङ्गिणी टीका स. (हीरालाल हंसराज, जामनगर १९०६)
- २२० आख्यानमणिकोश (देवेन्द्र नेमिचन्द्र) आभ्रदेव कृत टीका स. (प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी)
- २२१ भवभावना (मल-हेमचन्द्र) सोपज वृत्ति स. ऋषभदेव के. जै. श्र. संस्था, रतलाम, सं. १९६२
- २२२ कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ) — गा. ओ. सी. बड़ौदा, १९२०, गुज. अनु. आत्मा-सभा., सं. १९८३, डॉ. आन्सडर्फ कृत अपभ्रंश संकलन जर्मन प्रस्ता. अनु. स. हेमवर्ग, १९२८
- २२३ जयन्तीप्रकरण (मानसुङ्ग) — पन्याम मणि वि. ग्रं. अहमदाबाद, सं. २००६
- २२४ कथारलकोष (गुणचन्द्र) — जैनआत्मा. ग्रं. भावनगर. १९४४
- २२५ विजयचन्द्रचरित (चन्द्रप्रभ) जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९०६, गुज. अनुवाद वही सं. १९६२
- २२६ संवेगरंगशाला (जिनचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १९२४
- २२७ विवेकमंजरी (आषाढ) — बालचन्द्र टीका स. विविध सा. शा. मा. बनारस, सं. १९७५
- २२८ उपदेश रत्नाकर (मुनिसुन्दर) जै. ध. वि. प्र. वर्ग, पालीताना, सं. १९६४, दे. ला. बम्बई, १९२२
- २२९ कथामहोदधि (सोमचन्द्र) कर्पूर प्रकर स. ही. हं. जामनगर, १९१६
- २३० वर्धमानदेशना (शुभवर्धन) जै. ध. प्र. सभा. भावनगर. बालाभाई छगनलाल, अहमदाबाद, सं. १९६०

प्रथमानुयोग अपभ्रंश :

- २३१ पउमचरित (स्वयंभू) भाग १-३ ह. चू. आयाणी कृत प्रस्ता. स. (सिन्धी भा. वि. भ. बम्बई, १९५३, १९६०) देवेन्द्रकुमार कृत हि. अनु. स. १-५६ संधि भा. १-३ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७-५८

- २३२ महापुराण (पुष्पदन्त) भा. १-३ डॉ. प. ल. वैद्य सम्पा. (मा. दि. अं. बम्बई १९३७-४७), परि. ८१-९२ हरिवंशपुराण डॉ. आल्स्टडर्फ कृत जर्मन प्रस्ता. अनु. स. हेमवर्ग, १९३६
- २३३ सनत्कुमार चरित (हरिभद्र) याकोबी सम्पा. मुंचेन, जर्मनी, १९२१
- २३४ पासणाहचरित (पद्मकीर्ति) प्राकृत टैक्स्ट सोसा., मुद्रणाधीन)
- २३५ जसहरचरित (पुष्पदन्त) प. ल. वैद्य सम्पा. (कारंजा सीरीज, १९३१)
- २३६ णायकुमारचरित (पुष्पदन्त) ही. ला जैन सम्पा. (कारंजा सीरीज, १९३२)
- २३७ भविसयत्तकहा (धनपाल) याकाबी सम्पा. जर्मनी १९१८; दलाल व देसाई सम्पा. गा. ओ. सी. बडौदा, १९२३
- २३८ करकंडचरित (वनकामर) ही. ला. जैन सम्पा. (कारंजा सी. १९३४)
- २३९ पउममिरिचरित (धाहिल) मोदी और भायाणी सम्पा. सिंधी भारतीय बि. भ. बम्बई, सं. २००५
- २४० मुगंधदशमीकथा (बालचन्द्र) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (मुद्रणाधीन)

प्रथमानुयोग संस्कृत :

- २४१ पद्मचरित (रविषेण) - मूलमात्र भाग १-३ (मा. दि. जै. अं. बम्बई, सं. १९८५) हि. अनु. स. भा. १-३ (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८-५९)
- २४२ हरिवंशपुराण (जिनसेन) मूलमात्र भा. १-२ (भा. दि. जै. अं. बम्बई, हि. अनु. स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२)
- २४३ पाण्डवपुराण (शुभचन्द्र) हि. अनु. स. (जीवराज जै ग्रंथशालापुर्ग १९५४) घन-दयामदास कृत हि. अनु. स. (जैन सा प्र. कार्या, बम्बई, १९१९, जिनवाणी प्र. का, कलकत्ता, १९३९)
- २४४ पाण्डवचरित्र (देवप्रभ) निर्णयसागर, बम्बई, १९११
- २४५ महापुराण (जिनसेन गुणभद्र) स्याद्वाद ग्रंथमाला, इन्दौर सं. १९७३-७५ हि. अनु. स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, भा. १-३ १९५१-५४)
- २४६ त्रिषष्ठिशलाका पु. च. (हेमचन्द्र) जै. ध प्र. स. भावनगर, १९०६-१३; पूर्व १ का अं. अनु. जानसनकृत, गा. ओ. सी. बडौदा १९३१, पूर्व २१-परिशिष्ट पूर्व याकोबी सम्पा. बिब. इ. कलकत्ता, १८९१ द्वि. सं. १९३२
- २४७ त्रिषष्ठिस्मृति शास्त्र (आशाघर) मराठी अनु. स. मा. दि. जै. अं. बम्बई, १९३७
- २४८ चतुर्विंशति जिनचरित या पद्यानन्द काव्य (अमरचन्द्र) - गा. ओ. सी. बडौदा १९३२

- २४६ बालभारत (अमरचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १८६४, १६२६)
- २४७ पुराणसार संग्रह (दामनन्दि) — हि. अनु. स. (भा. ज्ञा. काशी, भा. १-२, १९५४-५५)
- २४८ चन्द्रप्रभचरित्र (वीरनन्दि) नि. सा. बम्बई, १९१२, १९२६
- २४९ वासुपूज्यचरित्र (वर्धमान) जै. ध. प्र. स. भावनगर, सं. १९६६) हीरालाल हंसराज
जामनगर, १९२८-३०
- २५० धर्मशर्माम्बुदय (हरिचन्द्र) नि. सा. बम्बई, १८८८
- २५१ शान्तिनाथ चरित (अजितप्रभ) जै. ध. प्र. स. भावनगर, सं. १९७३
- २५२ शान्तिनाथ पुराण (सकलकीर्ति) हि. अनु. जिनवाणी प्र. कलकत्ता, १९३६
हुलाचन्द पद्मलाल देवरी, १९२३
- २५३ मल्लिनाथ चरित्र (विनयचन्द्र) यशो. जै. ग्रं. भावनगर, नि. सं. २४३८
- २५४ नेमिनिर्वाण काव्य (वाग्भट) नि. सा. बम्बई, १८६६
- २५५ नेमिदूत काव्य (विक्रम) नि. सा. बम्बई, काव्यमाला नं. २
- २५६ पार्ष्वाम्बुदय (जिनसेन) — योगिराज टीका स. नि. सा. बम्बई. १९०६, इसमें
अश्वि मेघदूत, पाठक कृत ग्रं. अनु. स. पूना, १८९४, १९१६
- २५७ पार्ष्वनाथ चरित्र (वादिराज) — मा. दि. जै. ग्र. बम्बई, १९१६, हि. अ. पं. श्रीलाल
कृत, जयचन्द्र जैन, कलकत्ता, १९२२
- २५८ पार्ष्वनाथ चरित्र (भ. देव) — य. जै. ग्रं. बनारस, १९१२, अं. भावार्थ ब्लूमफील्ड
कृत, बान्टीमोर, १९१६
- २५९ वर्धमान (महाश्री) चरित्र (असग) पं. खूबचन्द्र कृत हि. अनु. स. (मूलचन्द्र
किसनदास कापडिया, सूरत, १९१८; मराठी अनु. स. शोलापुर, १९३१
- २६० यशास्तिशकचम्पू (सोमदेव) श्रुतसागर टीका स., नि. सा. बम्बई, १९०१
- २६१ यशोधर चरित्र (वादिराज) सरस्वती विलास सी. तंजोर, १९१२ हि. अनु. उदय-
लाल कृत, हिन्दी जै. सा. प्रसा. कार्या. बम्बई, १९१४
- २६२ जीवधर चम्पू (हरिचन्द्र) सर. वि. तंजोर १९०५, हि. अनु. स. भारतीय ज्ञानपीठ,
काशी, १९५८
- २६३ गद्यचिन्तामणि (वादीभट्टसिंह) टी. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री सम्पा. नाटेशन कं.,
मद्रास, १९०२
- २६४ सत्रचूडामणि (वादीभट्टसिंह) स. वि. तंजोर, १९०३, हि. अनु. स. जै. ग्रं. र. कार्या.
बम्बई १९१०, सरल प्रज्ञा पुस्तकमाला, मंडावरा, पूर्वार्ध, १९३२, उत्तर-
ार्ध, १९४०

- २६८ बराङ्गचरित्र (जटासिंहनन्दि) डॉ. उपाध्ये द्वारा सम्पा. मा. वि. जै. सं. बम्बई,
१९३८ भाषा पद्य कमलनयन कृत, जैन सा. समिति, जसवन्तनगर, १९३६
- २६९ मृगावती चरित्र (देवप्रभ) - ही. हे. जामनगर, १९०६
- २७० क्षालिभद्रचरित (धर्मकुमार) - य. जै. सं. बनारस, १९१०
- २७१ वसन्तविलास काव्य (बालचन्द्र) गा. ओ. सी. बडोदा, १९१७
- २७२ वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध (राजशेखर) गा. ओ. सी. बडोदा, १९१७
- २७३ वस्तुपाल चरित्र (जिनहर्षगणि) ही. हं. जामनगर, गुज. ग्रन्. जै. ध. प्र. स. भावनगर
सं. १९७४
- २७४ अभयकुमार चरित्र (चन्द्रतिलक) भा. १-२ जै. आ. स. भावनगर, १९१७
- २७५ जगडुचरित्र (सर्वानन्द) बम्बई, १८६६
- २७६ कुमारपालचरित्र (जयसिंहसूरि) ही. हं. जामनगर १९१५, गोडीजी जैन उपाश्रय,
बम्बई, १९२६
- २७७ कुमारपाल चरित्र (चारित्र सुन्दर) जै. आ. स. भावनगर सं. १९७३
- २७८ कुमारपाल प्रबन्ध (जिन मण्डन गणि) जै. आ. स. भावनगर सं. १९७१
- २७९ महीपाल चरित्र (चारित्रसुन्दर) ही. हं. जामनगर, १९०६, १९१७)
- २८० उत्तमकुमार चरित्र (चारुचन्द्र) ही. हं. जामनगर, १९०८
- २८१ हम्मीरकाव्य (नयचन्द्र) - बम्बई १८७६
- २८२ श्रीपालचरित्र (सत्यराज) विजय दानसूरीश्वर ग्रं. मा. सुरत, सं. १९६५
- २८३ श्रीपालचरित्र (ज्ञानविमल) - देवचंदलाल भाई पु. बम्बई, १९१७
- २८४ श्रीपालचरित्र (जयकीर्ति) ही. हं. जामनगर, १९०८
- २८५ श्रीपालचरित्र (लक्ष्मिमुनि) जिनदत्तसूरि भं. पायधूनी, बम्बई, स. १९६१
- २८६ उपमतिभक्तप्रपञ्चकथा (सिद्धर्षि) बिब. इंडी. कलकत्ता, १८६६-१९१४ दे. ला.
बम्बई, १९१८-२० किर्फेल कृत जर्मन अनु. लीपजिग १९२४
- २८७ तिलकमञ्जरी (धनपाल) - निर्णय सागर बम्बई, १९०३
- २८८ तिलकमञ्जरी कथासार (लक्ष्मीधर) हमचन्द्र सभा. पाटन, १९१६
- २८९ अम्बडचरित्र (अमरसुन्दर) ही. हं. जामनगर, १९१० डॉ. क्राउसकृत जर्मन
अनु. लीपजिग १९२२
- २९० रत्नचूडकथानक (ज्ञानसागर) यशो. जै. ग्रं. भावनगर, १९१७ हर्टेलकृत जर्मन
अनु. लीपजिग, १९२२
- २९१ अष्टकुमारकथा - चा. क्राउस कृत जर्मन अनु. लीपजिग, १९२२ संक्षिप्त पद्यानु.
नि. सा. बम्बई, १९१७

- २६२ चम्पकश्रेष्ठिकथानक (जिनकीर्ति) हर्टलकृत ग्रं. व. जर्मन अनु. स. लीपजिग १६२२
- २६३ पालगोपाल कथानक (जिनकीर्ति) हर्टल, लीपजिग १६१७
- २६४ मलयसुन्दरी कथा (माणिक्यसुन्दर) बम्बई, १६१८
- २६५ पापबुद्धिधर्मबुद्धि कथा (कामघटकथा) ही. ह. जामनगर, १६०६
- २६६ शत्रुञ्जयमाहात्म्य (धनेश्वर) ही. हं. जामनगर, १६०८
- २६७ प्रभावकचरित्र (प्रभाचन्द्र) नि. सा. बम्बई, १६०६
- २६८ प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग) मिथी जै. मी. शान्तिनिकेतन, १६३३, टानीकृत
ग्रं. अनु. विव. इ.डी. कलकत्ता, १८६६-१६०१ गुज. अनु. स. रामचन्द्र
दीनानाथ, बम्बई, १८८८
- २६९ प्रबन्धकोश (राजशेखर) मिथी जै. मी. शान्तिनिकेतन, १६३५, ही. हं. जामनगर
१६१३, हेमचन्द्र मभा. पाटन, १६२१
- ३०० बृहत्कथाकोश (हरिपेण) डॉ. उपाध्ये कृत ग्रं. प्रस्ता. स. भारतीय विद्याभवन,
बम्बई, १६४३
- ३०१ धर्मपरीक्षा (अमितगति) - हि. अनु. स. जै. ग्रं. र. बम्बई, १६०८
जै. सि. प्र. कलकत्ता, १६०८
- ३०२ आराधना कथाकोष (नेमिदत्त) (हि. अनु. स.) जै. हीराबाग, बम्बई, १६१५
- ३०३ अन्तरकथासंग्रह (राजशेखर) बम्बई, १६१८ गुज. अनु. जै. ध. प्र. स. भावनगर
स. १६७८ इटेलियन अनु. ७-१४ कथाओं का, वेनेजिया, १८८८
- ३०४ भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति (कथाकोश-शुभशील) दे. ला. बम्बई १६३२ गुज. अनु.
मगनलाल हाथीसिंह, अहमदाबाद, १६०६
- ३०५ दानकल्पद्रुम (जिनकीर्ति) दे. ला. बम्बई १६०६
- ३०६ धर्मकल्पद्रुम (उदयधर्म) दे. ला. बम्बई, सं. १६७३
- ३०७ सम्यक्त्वकौमुदी (जिनहर्ष) जै. आ. स. भावनगर, सं. १६७०
- ३०८ कथारत्नाकर (हेमविजय) ही. हं. जामनगर, १६११ हर्टल कृत जर्मन अनु.
मुनचन, १६२०

संस्कृत नाटक

- ३०९ निर्भयभीमव्यायोग (रामचन्द्र) यशो. जै. ग्रं. नं. १६ भावनगर
- ३१० नलविलास (रामचन्द्र) गा. ओ. सी. बड़ौदा, १६२६
- ३११ कौमुदी नाटक (रामचन्द्र) जै. आ. स. नं. ५६, भावनगर सं. १६७३

- ३१२ विक्रान्त कौरव (हस्तिमल्ल) मा. दि. जै. बम्बई, सं. १९७२
 ३१३ मैथिलीकल्याण मा. दि. जै. बम्बई, १९७३
 ३१४ अञ्जनापवनञ्जय (हस्तिमल्ल) पटवर्धनकृत अं. प्रस्ता. बम्बई, सं. २००६
 ३१५ सुभद्रा (हस्तिमल्ल) पटवर्धनकृत अं. प्रस्ता. स. सं. २००६
 ३१६ प्रबुद्ध रौहिणेय (रामभद्र) जै. आ. स. नं. ५०, भावनगर, १९१७
 ३१७ मोहराज पराजय (यशपाल) दलाल कृत अं. प्रस्ता. स. गा. ओ. बड़ौदा, १९१८
 ३१८ हन्मीरमदमर्दन (जयसिंह) गा. ओ. सी. नं. १०, बड़ौदा, १९२०
 ” (नयचन्द्र) बम्बई, १८७६
 ३१९ मुद्रित कुमुदचन्द्र (यशचन्द्र) यशो. जै. ग्रं. नं. ८ बनारस १९०५
 ३२० धर्मश्रुदय-छाया नाट्य प्रबंध (मेघप्रभ) जै. आ. स. भावनगर १९१८
 ३२१ करुणवज्रायुध (बालचन्द्र) जै. आ. स. भावनगर, १९१६, गुज. अनु. अहमदाबाद
 १८८६

व्याकरण

- ३२२ प्राकृतलक्षण (चण्ड) हार्नेले सम्पा. बिब. इडी. कलकत्ता, १८८३
 ३२३ प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र) प. ल. वैद्य सम्पा. मोतीलाल लाडजी, पूना १९२८
 पिशेल कृत जर्मन अनु. स. हल्ने, १८७७-८० ढुङ्किका टीका स. भावनगर
 सं. १९६०
 ३२४ प्राकृत व्याकरण (त्रिविक्रम) प. ल. वैद्य सम्पा. जैन सं. सं. सं. शोलापुर १९५४
 ३२५ जैनेन्द्र व्याकरण (देवनन्दि) अभयनन्दि टीका स. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५६
 सनातन जै. ग्रं. बनारस, १९१५
 ३२६ जैनेन्द्र प्रक्रिया (गुणनन्दि) सनातन जै. ग्रं. बनारस, १९१४
 ३२७ शब्दानुशासन (शाकटायन) अभयचन्द्र टीका स. जेठाराम मुकुन्दजी बम्बई, १९०७
 ३२८ कातंत्र व्या. सूत्र (सर्ववर्मा) रूपमालावृत्ति स. हीराचन्द्र नेमिचन्द्र बम्बई सं. १९५२
 बिहारीलाल कटनेरा बम्बई, १९२७
 ३२९ शब्दानुशासन (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञलघु वृत्ति स. यशो. जै. ग्रं. बनारस १९०५
 स्वोपज्ञ वृत्ति और न्यास तथा कनकप्रभ न्याससारसमुद्धार स. राजनगर
 विजयनेमिसूरि ग्रं. ३३ व ५०, जैन ग्रं. प्रका. सभा, नि.सं. २४७७, २४८३

छन्द

- ३३० गायालक्षण (नन्दिनाट्य छन्दःसूत्र) वेलणकर सम्पा. भं. ओ. रि. इ. एनल्स १४
 १-२, पृ. १ आदि, पूना १९३३

- ३३१ स्वयंभूछन्दस् (स्वयंभू) १-३ वेलणकर सम्पा. बम्बई, रा. ए. सो. जर्नेल १९३५
४-८ बम्बई, यूनी. जर्नेल, नव. १९३६
- ३३२ कविदर्पण — वेलणकर सम्पा. भं. श्री. रि. ई. जर्नेल. पूना, १९३५
- ३३३ छन्दःकोश (रत्नशेखर) वेलणकर सम्पा. बम्बई, यूनी. ज. १९१२
- ३३४ छन्दोनुशासन (हेमचन्द्र) देवकरन मूलजी, बम्बई, १९१२
- ३३५ रत्नमञ्जूषा (छन्दोविधिति) सभाष्य वेलणकर सम्पा. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१९४६

कोश

- ३३६ पादयलच्छीनाममाला (धनपात्र) भावनगर सं. १९७३
- ३३७ देशीनाममाला (हेमचन्द्र) पिशेल और ब्रूलर सम्पा. बम्बई, सं. सी. १८८०;
मु. बनर्जी सम्पा. कलकत्ता, १९३१
- ३३८ नाममाला व अनेकार्थनिघण्टु (धनञ्जय) अमरकीर्ति भाष्य स. भारतीय ज्ञा. काशी,
१९५०
- ३३९ अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ टीका स. यशो. जै. सं. ४१-४२ भावनगर
नि. सा. २४४१, २४४६ मूलमात्र, जसबन्तलाल गिरधर लाल शाह,
अहमदाबाद, सं. २०१३

व्याख्यान ३

जैन दर्शन

- 340 The Heart of Jainism, by S. Sinclair (Ox. Uni. Press, 1915).
- 341 Outlines of Jainism — J.L. Jaini (Cambridge, 1916).
- 342 Der Jainismus, by H. Glasenapp (Berlin, 1926).
(Gujrati Translation — Bhavnagar, 1940).
- 343 Doctrine of Karma in Jaina Philosophy, by H. Glasenapp
Bombay, 1942).
- 344 Jaina Philosophy of Non-Absolutism, by S. Mookerjee
(Calcutta, 1944).
- 345 Studies in Jaina Philosophy, by N. Tatia (Benaras, 1951).
- 346 Outlines of Jaina Philosophy, by M. L. Mehta (Jaina
Mission Society, Bangalore, 1954).
- 347 Jaina Psychology, by M.L. Mehta (S.J.P. Samiti, Amritsar,
1955).
- 348 Some Problems in Jaina Psychology, by T.G. Kalghatgi
(Karnataka University, Dharwar, 1961).
- 349 Jaina Philosophy and Modern Science, by Nagraj (Kanpur,
1959).

Chapters on Jainism from the following works (350—353).

- 350 History of Indian Philosophy, by Dasgupta.
- 351 Indian Philosophy, by Radhakrishnan.
- 352 Outlines of Indian Philosophy, by M. Hirayanna.
- 353 Encyclopaedia of Religion and Ethics.
- 354 Jaina Monistic Jurisprudence — S.B. Deo (Poona, 1956).
- 355 Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, by
Sukhlalji Singhvi (Calcutta, 1961).

३५६ जैन धर्म - कैलाशचन्द्र शास्त्री (मथुरा, भा. वि. जैन संघ, नि. सं. २४७५)

३५७ जैन दर्शन - महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य (काशी १९५५ २४७५)

३५८ जैन शासन - सुमेरुचन्द्र दिवाकर (काशी १९५०)

३५९ जैन दर्शन - न्याय विजय (पाटन गुजराती १९५२, हिन्दी १९५६)

३६० दर्शन अने चिन्तन (गुज.) सुखलाल (गु. वि. अहमदाबाद १९५७)

३६१ दर्शन और चिन्तन (हिन्दी) सुखलाल (गु. वि. अहमदाबाद, १९५७)

३६२ भारतीय तत्त्वविद्या - सुखलाल (ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६०)

व्याख्यान ४

जैन कला

- 363 Origin and Early History of Caityas, V R. R. Dikshitar (Ind. Hist. Q. XIV, 1938).
- 364 Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura, V. Smith (Allahabad, 1901).
- 365 Mohenjodaro and the Indus Valley Civilization, Vol. I-III, J. Marshall (London, 1931).
- 366 Note 'on Pre-Historic Antiquities, from Mohenjodaro — R.P. Chanda (Modern Review, 1924).
- 367 History of Fine Art in India and Ceylon — V. Smith (Oxford, 1930)
- 368 Indian Architecture — Percy Brown (Bombay).
- 369 Paharpur Copperplate Grant of Gupta Year 159 (Ep Ind. XX p. 61 ff).
- 370 Yakshas — Part I-II — A.K. Coomarswamy (Washington, 1928-31).
- 371 Yaksha Worship in Early Jain Literature — U.P. Shah (J.O. Instt. III, 1953).
- 372 Muni Vairadeva of Sona Bhandar Gave Inscription — U.P. Shah (J. Bihar R S. Patna, 1953).
- 373 Studies in Jaina Art — U.P. Shah (J.C.S. Banaras, 1955).
- 374 History of Indian and Eastern Architecture— J. Fergusson (London, 1910)
- 375 Jaina Temples from Devagadh Fort — H. D. Sankalia (J.I.S.O A. IX, 1941).
- 376 Khandagiri — Udayagiri Caves — T.N. Ramchandran & Chhotelal Jain (Calcutta, 1951).
- 377 The Mancapuri Cave — T. N. Ramchandran (I.H.Q. XXVII, 1951).
- 378 Holy Abu — Jina Vijay (Bhavnagar, 1954).
- 379 A Guide to Rajgir — Kuraishi & Ghose (Delhi, 1939).
- 380 Archaeology in Gwalior State — M.B. Garde (Gwalior, 1934).
- 381 Cave Temples of India — Fergusson & Burgess (London, 1880).

- 382 List of Antiquarian Remains in the Central Provinces & Berar — H. Cousens (Arch. S.I. XIX, 1897).
- 383 Architectural Antiquities of Western India — H. Cousens (London, 1926).
- 384 Somnath and other Mediaeval Temples in Kathiawad — H. Cousens (A.S. of Ind. XLX, 1931).
- 385 Antiquities of Kathiawad and Kachh — J. Burgess (A.S. of Ind. II, 1876).
- 386 Architectural Antiquities of Northern Gujraj — Burgess & Cousens (A.S. of Western India, IX, 1903).
- 387 Indian Sculpture — Stella Kramrisch (Calcutta, 1933).
- 388 Development of Hindu Iconography — J. N. Banerjee (Calcutta, 1941).
- 389 Jaina Iconography — B.C. Bhattacharya (Lahore, 1930).
- 390 Jaina Images of the Mauryan Period — K. P. Jayaswal (J.B.O.R.S. XXIII, 1937).
- 391 Specimens of Jaina Sculpture from Mathura — G. Buhler (Ep. Ind. II, 1894).
- 392 An Early Bronze of Parshwanath in the Prince of Wales Museum — U.P. Shah (Bulletin of P.W.M. Bombay, 1954).
- 393 Age of Differentiation of Svetambara and Digambara Images and a few Early Bronzes from Akota — U.P. Shah (Bulletin P.W.M. Bombay, 1951).
- 394 The Earliest Jain Sculptures in Kathiawad—H.D. Sankalia (J.R.A.S., London, 1938).
- 395 Iconography of the Jaina Goddess Saraswati — U.P. Shah (J.U. of Bombay, X, 1941).
- 396 Iconography of the Jaina Goddess Ambika — U.P. Shah (J.U. of Bombay, 1940).
- 397 A Note on Akota Hoard of Jaina Bronzes — U.P. Shah (Baroda Through Ages, App. IV, p. 97 ff).
- 398 Catalogue of Jaina Paintings and Manuscripts — A. K. Coomarswamy (Boston, 1924).
- 399 Jaina Miniature Paintings from Western India — Motichandra (Ahmedabad, 1949).

- 400 A Descriptive and Illustrated Catalogue of Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra as executed in the Early Western Indian Style — W. N. Brown (Washington, 1934).
- 401 Conqueror's Life in Jaina Paintings — A.K. Coomarswamy (J.I.S. of Or. Art, III, 1935).
- 402 The Story of Kalaka — W.N. Brown (Washington, 1933).
- ४०३ तीर्थराज आबू (गुज.) जिनविजय (भावनगर १९५४)
- ४०४ जैन चित्र कल्पद्रुम — न. साराभाई (अहमदाबाद १९३६)
- ४०५ जैसलमेर चित्रावली — पुण्य विजय (अहमदाबाद, १९५१)

शब्द-सूची

सूचना—यहाँ नामों और पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है ।

अकलिपि २८५	अगडदत्त ७३
अंकाई तंकाई ३१६	अगरचन्द्र नाहटा ३७३
अंग ३३, १६२	अगुम्बे ३२३
अंगद २८८	अगुरुलघु २३०
अंगप्रविष्ट ५४, २४५	अग्गायणी ६६
अंगबाह्य ५४, २४५	अग्निकाय २१८
अंगविज्जा २८६	अग्निकुमारदेव ३०१
अंगुत्तर निकाय ५६	अग्निमित्र १२६
अंगुल्याभरण २८६	अग्निशर्मा १४४
अंजनगिरि २६४, २६५	अग्नीध्र ११
अंजनापवर्तजय १७६	अग्रायणीय ५१
अंजनासुन्दरीकथा १५१	अघटकुमारकथा १७५
अंधकवृष्णि २०, ६३, १४३	अघातिकर्म २३३
अंधकार २२०	अश्वसुदर्शनावरणीय २२७, २४४
अंबड १७५	अचल १०
अंबड चरित्र १७४	अचेतन २१६
अकबर ३५, १४६, १६६, ३०३, ३६६, ३७१	अचेलक १३, २६, २७, १०६, २६६
अकलंक ७७, ८६, ८८ - ६१, ६३, ११३, १६६, १८५, १६६	अचौर्य २४
अकृत्रिम चैत्यालय ३०६	अच्छुप्तादेवी ३३३
अक्षरमुद्रिया २८५	अच्युत ६४
अक्रियावाद ५६, १०३	अक्षिप्तछेदनय ६४
अक्षरमुष्टिका २८६	अजयदेव १८०
अक्षुण्णवेधित्व २६१	अजित १०
	अजितंजय १६७
	अजितप्रभ १६६

अजित-शान्तिस्तव १२७, १६३	अधर्मद्रव्य २२१
अजितसेन (भ.) ३७, १०८	अधिकार १११
अजितसेन गुरु ३८	अधोलोक ६४, ६६
अजितसेन १८८	अध्यात्मरहस्य १२२
अजितसिंह १३५	अध्रुव ११६
अजियसंतिस्थव १२४	अनगारधर्माभूत १२२
अजीवतत्त्व २२०	अनगारभक्ति १००
अजीवक्रिया ५६	अनगार भावना १०५
अज्जं (आर्या) २८४	अननुगामी (अवधिज्ञान) २४६
अज्जवैर ३०८	अनन्त १०
अज्ञान २४२	अनन्तकीर्ति ६०
अज्ञानवाद ५६	अनन्तनाथ १३५
अज्ञानविजय २६८	अनन्तपुर १७४
अज्ञानी १०३	अनन्तवर्मा ३०७
अट्टालिकाएँ २८८	अनन्तवीर्य ६०, ६१
अठारह लिपियाँ २६१	अनन्तानन्त २२२
अणहिलपुर १८०	अनन्तानुबन्धी २२७, २२८
अणुवयरयणपईउ १६४	अनर्थदंडवर्जन १०२
अणुव्रत ८, २५, ४६, १०१, ११३	अनर्थदण्ड २६२, ११०
अतिचार २५८	अनवस्थित २४६
अतिधिपूजा १०२	अनशन २७१
अतिधिसंविभाग ११०, २६२	अनहिलपाटन १४६
अतिशय १०७	अनहिलपुर १४०
अतिशयक्षेत्रकाण्ड ३२०	अनहिलवाड़ा ४२
अथर्ववेद १८	अनात्मवादी २१६
अदत्तादान २५६	अनादि १११, २३८
अदर्शन विजय २६८	अनादेय २३०
अदृष्ट २३७	अनार्य ४
अद्वेष १२०	अनित्य भावना २६६
अधर्म २२०	अनिमित्ती २८६

अनिवृत्तिकरण २७६

अनीक ६४

अनीतपुर १७५

अनुकम्पा २४३

अनुगामी (अवधिज्ञान) २४६

अनुचिन्तन २७२

अनुज्ञा १०७

अनुत्तरोपपातिकदशा ६३

अनुप्रेक्षा २६८, २६९

अनभाग २२५, २३५

अनुमान २४७

अनुयोग ६४

अनुयोगद्वार ७०

अनुयोगद्वारसूत्र १३६

अनुयोगवेदी रणरंगसिंह १०८

अनुरोधपुर ३५

अनेकान्त ६, ८, ९, २४८

अनेकान्तजयपताका ९१

अनेकान्त प्रवेश ६३

अनेकान्तवादप्रवेश ९१

अनेकान्त व्यवस्था ९३

अनेकार्थनाममाला १९९

अनेकशेष व्याकरण १८५

अन्तःक्रियाएँ ५७

अन्तःकृद्दशा ६२

अन्तरात्म ११८

अन्तराय २२६, २३४, २३६

अन्तराय कर्म २३३, २८८

अन्तरकथा संग्रह १७८

अन्तर्मुहूर्त २३४, २३५

अन्तर्लम्बन ११८

अक्षराजवसति ३३२

अक्षविधि २८४, २८८, २८९

अन्यत्व ११६

अन्यत्व भावना २६९

अन्यमुद् १२०

अन्ययोग व्यवच्छेद ८८, ९२, १०३

अपकर्षण २२५

अपभ्रंश ४, १२४, १४०, १५२, १८२,

१८३, १८४, १९१, ३७६

अपभ्रंशपुराण १७१, ३७१

अपराजित ९४, १५४

अपराजित मध ३२

अपराजित सूत्र १०७

अपराजिता २९५, २९६

अपरांत ७४

अपरांत ७४

अपरिग्रह २५

अपरिग्रहाणुवत २६०

अपर्याप्त २३०

अपवर्तन ८१

अपायविचय १२२, २७२

अपुनर्वर्धक १२०

अपूर्वकरण २७६

अप्रतिपाती २४६

अप्रत्यारव्यान २२७, २२८

अप्रशस्त २३०, २३५

अबद्ध ३१

अफगानिस्तान ३०५

अस्य १६८

अभयकुमार १८६
 अभयकुमार चरित १७३
 अभयचन्द्र १५०, १८८, १९०
 अभयनन्दि १८५
 अभयदेव ५९, ७३, ८१, ८७, ९२,
 १०९, ११०, १११, १२४,
 १३४, १३५
 अभयमती १५८, १५९
 अभयरुचि १५८, १५९
 अभव्य २३९
 अभिचन्द्र ९५, १६०
 अभिनन्दन १०
 अभिमानचिह्न १९८
 अमरकीर्ति १६४
 अमरकोष १९५
 अमरचन्द्र १६८, १६९, १७४, १९५
 अमरसुन्दर १७४, १७५
 अमरावती २९९
 अमितगति ८१, ११३, ११४, १२१,
 १३८, १७७
 अमृतचन्द्र सूरि ८४, ८५, ८६, १०८
 अमृतमति १५८, १५९
 अमृताम्बा १५६
 अमृषा २४
 अमैथुन २४
 अमोघवर्ष ३८, ८२, १८७, ३१३
 अमोघवृत्ति ३८, १८७, १८८
 अम्बदेव १४५
 अम्बसेन १५४
 अयशःकीर्ति २३०

अयोग केवली २७७
 अयोग व्यवच्छेद ९२, १२३
 अयोग व्यवच्छेदिका ८८
 अयोध्या २, १६७
 अरजा २९५
 अरति २२७
 अरतिपरीषद् २६७
 अरह १०
 अरिदमन १६२
 अरिष्टनेमि १६५, १६६
 अर्जुन १९४
 अर्जुनराज १७९
 अर्थाविग्रह ९३
 अर्धनाराच २३०
 अर्धमागधी ४, २५, ४२, ७०, ७६,
 १५२, ३७६, (आगम)
 ११४, १४५
 अर्धमागधी प्राकृत १४८
 अर्धसम १९२
 अर्द्धाहार २८८
 अर्बुदाचल ४३
 अर्हत् १०२
 अर्हद्दत्त २९
 अर्हद्दास १७८
 अर्हद्बलि ३२, १०६
 अलङ्कार २९१
 अलङ्घनगर १६०
 अलाबुदीन १७४
 अलाभविजय २६७
 अलोकाकाश ९३, २२१

अल्पास्म २३३
 अवग्रह २४४
 अवचूरी १६२
 अवधिज्ञान २२६, २४४, २४५
 अवधिदर्शन २४४
 अवधिदर्शनावरणीय २२७
 अवन्तिनृप १६५
 अवन्तिसुन्दरी १६८
 अवमौढ्य २७१
 अवरोध २६८
 अवसर्पिणी ६४
 अवस्थित २४६
 अवाय ६३, २४४
 अविनीत (राजा) ३६, ३७
 अविभागी २२२
 अविरत-सम्यक्त्व २७५
 अवैदिक दर्शन २४०
 अव्यक्त ३१, २४८
 अव्याबाध ११५
 अशरण ११६
 अशरणभावना २६६
 अशुचित्व ११६
 अशुचित्व भावना २६६
 अशुद्ध द्रव्याधिकनय २५१
 अशुभ २३०, २३३
 अशोक ३६, ७६, २६४, ३०६
 अशोकवृक्ष ३०१
 अशोका २६५ २६६
 अश्वग्रीव १०
 अश्वघोष ७६

अश्वमित्र ३१
 अश्वशिक्षा २८४
 अश्वसेन २०, १३६
 अश्वारोहण २६१
 अश्ववबोध १४१
 अष्टपाहुड ८४
 अष्टप्रकरण ६१
 अष्टमङ्गल द्रव्य २६३
 अष्टशती ८८
 अष्टसहस्री ८८
 अष्टसहस्री विषम पद तात्पर्य टीका ८८
 अष्टाध्यायी १८५, १८६
 अष्टापद २८४, २८८, ३१८
 अष्टांगयोग ११५
 अष्टान्हिका पूजा ३७
 असंग १५५, १६६
 असंग अनुष्ठान ११८
 असञ्जी २१६
 असत्य २७०
 असद्भूत उपचारनय २५२
 असम्प्राप्तासुपाटिका २३०
 असवाल १५७
 असाता वेदनीय २२६, २३३
 असि ६५
 असिलक्षण २८४
 असुरकुमार २६२
 असुरेन्द्र ६१
 अस्तिकाय धर्म ५७
 अस्तित्वास्तित्प्रवाद ५१

अस्तेयाणुव्रत २५६	आत्मरक्ष ६४
अस्थिर २३०	आत्मवादी २१६
अन्सारम्य ३२०	आत्मानुशासन १२१
अहिंसा ७, ८, २४, ११५, २५४	आदर्श लिपि २८५
अहिच्छत्र २६६, ३०६, ३२०	आदान निक्षेप २६५
अहिंसाणुव्रत २५६	आदिणाहचरियं १३४
आकाश २२०,	आदिनाथ २, १६६
आकाशगत ६५	आदित्याम्बा १५३
आकाशद्रव्य २२१	आदिपुराण ३८, ६६, १५६, १६६,
आकाशवप्र ४३	१८६, २६५
आकिञ्चन्य २६८	आदिपम्प १८६
आक्रोशपरीषह २६७	आदिविधि १६२
आख्यानमणिकोश १५१	आदेय २३०
आख्यानवृत्ति १८८	आनत ६४
आख्यायक २६८	आनन्द १०, ६१, ३०२
आप्रायणी ६४	आनन्दपुर ३०
आप्रायणीय ७४	आनन्दश्रावक ११२
आचारदशा ६७	आनन्दसागर सूरि १११
आचारसार १०६	आनुपूर्वी २३०
आचारांग २५, ५५, ६२, ७१, ७२,	आंध्रदेश १६०
७७, ६८, १०५, १३५, १६८	आप्तपरीक्षा ६०
आचार्यभक्ति १००	आप्तमीमांसा ८८, ८९, ९०, ९२,
आजीवक सम्प्रदाय ६०, ६२, ३०६	११३, १२३, १७६
३०७	आप्तमीमांसासंस्कृति ८८
आज्ञा १२१, १२२, २७२	आबू ४३, ४४, १७२, ३३४
आतप २३०	आभरणविधि २८४, २८८, २८९
आतिमब्धे ३८	आभियोग्य ६४
आतुरप्रत्याख्यान ६६	आभीर १५२
आत्मा ७	आभ्यन्तर २७१
आत्मप्रवाद ५१	आम्र २६४

आम्ल २३०
 आयाग पट्ट ३०३
 अयाग सभा ३०४
 आयु २२६
 आयु कर्म २२६, २३६
 आयुर्वेद २६२
 आरण ६४
 आरण्यक ४६, ५०
 आरम्भत्याग २६४
 आरम्भी २५७
 आरातीय ५४
 आराधक ११५
 आराधना ११५
 आराधनाकथाकोश १०६, १७८
 आराधनोद्धृत १७७
 आर्जव २६८
 आर्त २७२
 आर्यदत्त २६
 आर्यनन्दि ७६, ७८
 आर्यनाहली २६
 आर्यपुर ३१४
 आर्यमंथु ७८, ८२
 आर्यमंगु ३०
 आर्यरक्षित ७०
 आर्यवैर ३०६
 आर्यशमित २६
 आर्यश्याम ६६
 आर्यसिंहगिरि २६
 आर्या २८८
 आलम्बन ११८

आलाप-पद्धति ८७
 आलोचना ६६, १११
 आवश्यक ६७, ७२
 आवश्यक चूर्ण १४५, ३०२
 आवश्यक निर्युक्ति ६६, १०६, २०७,
 ११४, ३०१
 आवश्यक निर्युक्ति वृत्ति ३०३
 आवृत्ति २७२
 आशाधर १०७, ११२, ११४, १२२,
 १२३, १६८, २२७
 आश्रव २२४
 आषाढ-आचार्य ३१
 आषाढसेन ३०६
 आसंग १२०
 आसन १२१, १२२
 आसनगृह २६३
 आसाई नगरी १६१
 आसुर्य श्मशान ३०२
 आस्तिक्य २४३
 आस्रव ११६
 आस्रव-तत्त्व २२३
 आस्रव भावना २६६
 आहार २१८
 आहारक २१६, २३०
 आहुत १६१
 इच्छा ११८
 इच्छायोग १२०
 इंगुलेश्वरबलि ३३
 इन्द्र ६४
 इन्द्रलील २६८

इन्द्रजाल २६१

इन्द्रनन्दि ३८, ७६

इन्द्रभूति २८, ५१, ११२, १४३, १५३

इन्द्रमहोत्सव १४६

इन्द्रराज ३८

इन्द्रवज्रा ६६

इन्द्रसभा ३१४

इन्द्रायुध १६५, ३३२

इन्द्रिय निग्रह २६६

इष्टोपदेश ११६

इसिमंडल १२४

ईडर ४५

ईरानी चित्रकला ३६६

ईर्यापथ समिति १०४, २६५

ईर्यापथिक ५६, २२४

ईशान ६४

ईशान देव ३०१

ईश्वर २३८

ईश्वरेच्छा २३७

ईसत्थ २८४

ईहा ६३, २४४

उग्रतप ५७

उग्रसेन २०

उच्चगोत्र २२६, २३४

उच्चतरिया २८५

उच्चाणागरी (शाखा) २६

उच्चारणाचार्य ८२

उछ्वास २३०

उच्छाहादि १६२

उज्जैनी २६, ३५, १३८, १४०, १४२

१४६, १५१, १५८, १६०,

१७३, १७७

उडुवाडिय २८

उत्कीर्णन २८६

उत्कर्ष २२५

उत्कृष्ट २३४

उत्कृष्ट अनुभाग २३५

उत्तमकुमारगणि १७३

उत्तमकुमार (चरित्र) १७३

उत्तर कलाएँ २६२

उत्तरपुराण ३४, ३८, १५६, १६६,

१६७, १७०, १७२, १७६

उत्तरप्रकृतियाँ २३०

उत्तरप्रतिपत्ति ७८

उत्तरबलिस्सह २८

उत्तरासङ्ग २८६

उत्तराध्ययनसूत्र १६, २१, २६, ५४,

६७, ७१, ७२, ७३, १६५

उत्तराध्ययन टीका १४५, २४५

उत्तरासङ्ग २८६

उत्थक्क १६२

उत्थान १२०

उत्पत्ति-विनाश ६

उत्पाद ६, ६४, २२३

उत्पादपूर्व ५१

उत्सापिणी ६४

उत्सादन २६१

उत्साह १६२

उदकपेठालपुत्र ५६

उदय ८१, २२५, २३७,

उदयगिरि ३५, ३०७, ३०८, ३१०
 उदयधर्म १७८
 उदयनराज १७६
 उदयनवासवदत्ता १७२
 उदयप्रभ १५०, १७४
 उदयवीरगणि १७०
 उदायी २६, ५७
 उदीरणा ८१, २२५
 उदुबिरिज्जिका २८
 उद्गता १६२
 उद्गाथा १६०
 उद्गीति १६०
 उद्दिष्टत्याग २६४
 उद्देहगण २८
 उद्योग ६५
 उद्योगी २५७
 उद्योत २३०
 उद्योतनसूत्रि ४३, १३३, १४५
 उद्धर्तन ८१
 उद्वेग १२०
 उपगीति १६०
 उपघात २३०
 उपचार विनय २७१
 उपजाति ६६, १६२
 उपदेश कंदली १५१
 उपदेशपद १५०
 उपदेशमाला प्रकरण १५०, १५१
 उपदेशरत्नकोष १७६
 उपदेशरत्नाकर १५१
 उपनिषद् ४६, ५०, १५२

उपभोगान्तराय २२८
 उपमान २४७
 उपमितिभवप्रपञ्चकथा १७४, १७६
 उपयोगी कलाएँ २८२
 उपशम २२५, २७६—ना ८१
 उपशम श्रेणी २७६
 उपस्थान २६१
 उपासकदशा ११२
 उपासकप्रतिमाविधि १११
 उपासकाचार ३७०
 उपासकाध्ययन ६१ ६८ १०६, १११,
 १७२
 उपोसथ २२
 उमास्वाति ०मि ६०, १०८, १०९, ११०
 उल्लासियक्कमथय १२४
 उववाह्य ५६
 उवसग्गहरस्तोत्र १२३
 उष्ण २३०, २६६
 उस्मानाबाद ३११
 ऊन ३३१
 ऊर्जयन्त १६०, ३१६
 ऊर्ण ११८
 ऊर्ध्वलोक ६४
 ऋग् ५६
 ऋग्वेद १२, १५, ४६, ३७५
 ऋजुकला २४
 ऋजुमति २४६
 ऋजुसूत्र २४६
 ऋषभ १०, ११, १५, १७, २१,
 २३, ५८, १४१, १५१, १६६,

१७६, ३०१, ३०५, ३१०	ऐहोल ३६, ३१४, ३१६, ३२२, ३२३
ऋषभजिनस्तव १२७	ओड लिपि २८६
ऋषभपञ्चाशिका १२३	ओडेयदेव १७१
ऋषभपुर ३१	ओवाइय उपाग १७५
ऋषभावतार १२	ओसिया ३३३
ऋषिगुप्त २८,	ओदयिक २७३
ऋषिगुप्ति २८	ओदारिक २१६, २३०
ऋषिदत्ता १४६	ओपपातिक ६५, २६०, ३००
ऋषिदत्ताचरित्र १४६	ओपशमिक २७३, २७४
ऋषिपालिका २६	ओपशमिक सम्यकत्व २७४
ऋषिभाषित निर्युक्ति ७२	ओपघ-युक्ति २६१
एकत्व ११६	कंकाली टीला २६, ३४, ३०३, ३०५
एकत्व भावना २६६	ककाली देवी ३०५
एकत्व वितर्क-अवोचार ध्यान २७३	कंचनपुर १४५
एकशेष प्रकरण १८६	कंडरीक २३६
एकादश अंगधारी २७	कच्छपी २८७
एकांगधारी २७	कटक २८८
एकान्त २४२	कटकछेडा २८४, २८६
एकान्त दृष्टि २५३	कटि आभरण २८६
एकीभावस्तोत्र १२६	कटु २३०
एकेन्द्रिय जीव २१८	कठोर २३०
एलाचार्य ७६	कतिगेयाणुवेक्खा २२७
एलाषाढ़ १३७	कथक २८८
एलीफेण्टा ३१३	कथाकोष ४३, १७७, १७८
एलोरा ३१४	कथाकोष प्रकरण १५१
एवम्भूतनय २४६	कथानक-प्रकरणवृत्ति १४६
एषणा २६५	कथामहोदधि १५१
ऐतरेय ब्राह्मण १८	कथारत्नकोष १५१
ऐरावत ६४	कथारत्नाकर १७८
ऐलक २६४	कदंबवंश ३६

कदलीगृह २६३
 कनकनन्दिदेव ४१
 कनकपुर १५६
 कनकप्रभ १६०
 कनकमाला १३६
 कनकामर (मुनि) १६१, ३१२
 कर्तिषम ३१०, ३२६
 कनिष्क ३४, ३०४
 कन्नड ४
 कन्याकुमारी ३२१
 कपाटरूप २७७
 कपिलवस्तु ३००
 कपिशोर्षक २८८
 कपोतपालिया ३२४
 कपोतेश्वर-मन्दिर ३१८
 कमठ ३१५
 कमल १३६
 कमलसेन १४५
 कम्भन छपरा २३
 करकण्ड १६२, ३१२
 करकण्डचरित १६१, ३१२
 करण २२६
 करण चौपार ३०७
 करणानुयोग ७४, ६३, २६२
 करुणावज्जामुध १८०
 कर्ण नरेन्द्र १६१
 कर्णपूर २८८
 कर्णभरण २८६
 कर्नाटक ३, १७६
 कर्नाटक-कवि-चरित १८६

कर्म २२४
 कर्मकाण्ड ७५, ७६
 कर्मप्रकृति ७४, ८१, २२५
 कर्मप्रवाद ५१, ७७, ८०
 कर्मबन्ध २५, २३८
 कर्मभूमि ६, १०, ६५
 कर्मयोग ११८
 कर्मविपाक ८१
 कर्म सिद्धान्त २३८
 कर्मस्तव ८०, ८१
 कर्मस्थिति २२५
 कर्मरग्राम २३
 कर्मश्रयकला २६१
 कर्मस्त्रव २५
 कर्मोन्द्रियाँ २२४
 कर्मोपाधिनिरपेक्ष २५१
 कर्मोपाधिसापेक्ष २५१
 कलचुरि १६१
 कलचुरि नरेश ४३
 कला का ध्येय २८२
 कला के भेद-प्रभेद २८४
 कलात्मक अतिशयोक्ति २८३
 कलियुग १२
 कलिग ३३
 कलिग जिन ३०७
 कलिगराज १४८
 कलिग सम्राट् ३०७
 कल्कि ६७
 कल्कि चतुर्मुख १२६
 कल्प ७२, ६४

कल्पप्रदीप १७७

कल्पवृक्ष ६

कल्पव्यवहार ५४

कल्पसूत्र २८, ३०, ६७, १०६, १३५,

१६८, ३६६, ३७०

कल्पसूत्र स्थविरावली ३००

कल्पाकल्प ५४

कल्पातीदेवविमान ६४

कग्पावतंसिका ६७

कल्पिका ६६

कल्याणनगर ३२

कल्याणमन्दिर स्तोत्र १२५

कल्याणवाद ५१

कविदर्पण १६३

कवि परमेश्वर १६६

कविराज १५३

कविराज मार्ग ३८

कव्वपिसल्ल १५६

कश्यप १६२

कश्यपगोत्रीय ३०६

कषाय २२४, २२५, २३०

कषायपाण्डु (प्राभूत) ७७, ७८, ८१,

८२, ६६

कहार्य (ककुभ) ३५

कहावलि १३४

कांगत्व ४१

कांची ३६

काकनि लक्षण २८४

काकन्दी नगरी ६३

काकुत्स्थ ३७

कागज का आविष्कार ३६६

काठियावाड २

काणभिषु १६६

काणूरगण ३३

कातन्त्र १८८

कातन्त्रवृत्तिकार १८६

कातन्त्र व्याकरण १८८

कातन्त्र सम्भ्रम १८८

कातन्त्रोत्तर १८८

कात्यायन १८५, १८८

कात्यायनी १३७

कादम्बरी २६२

कान्ता १२०

कापालिकाचार्य भैरवानन्द १५८

कापिष्ठ ६४

काम २३६

कामतत्व १२१

कामदेव ६१, १२६, १५६

कामडि २८

कामविधि २६१

कामसूत्र २८६

कायक्लेश २७१

काययोग २२४

कायोत्सर्ग ६८, २०७

कारकल ३

कारणांश ६३

कारंजा ४५

कारंजा जैन मण्डार ३७०

कारुण्य २६१

कार्तिकेय ११७
 कार्तिकेयानुप्रेक्षा ११२
 कर्मण २१६
 कार्ली ३१०
 काल ६६, २२०, २६६
 कालद्रव्य २२२
 कालक सूरि ३०
 कालक कथा संग्रह ३६६
 कालकाचार्य ३०, १४५, १४६
 कालकाचार्य कथा ३५, ३७०
 कालगुफावासी भीमासुर १६०
 कालबैतालगुफा १६०
 कालाक्षर २६१
 कालाक्षर २६१
 कालापक-विशेष-व्याख्यान १८८
 कालिक ३०
 कालिदास ३६, ७६, १७०, १६३, ३१४
 कालोदधिसमुद्र ६३, २६४
 काव्य २८२, २६१
 काव्यरत्नाकर १५६
 काव्यादर्श १५२, १६६, १७०
 काशी ३३, ६०, १६७
 काश्मीर १६०
 काश्यप २३, १६५
 काश्यपीय ग्रहन्त ३०६
 काष्ठचित्र ३७२
 काष्ठासंघ ३२
 कासवायिका २८
 किट्टूरसंघ ३३
 किन्नरी १५६

किरीट २८८
 कित्त्विक ६४
 किष्किन्धमलय १६०
 कीरी २८६
 कीर्तिचन्द्र १४६
 कीर्तिधर १५३
 कीर्तिविजय १७२
 कीलित २३०
 कुक्कुट-लक्षण २८४
 कुजीपुर ३१५
 कुटक १२
 कुटकाचल ११
 कुणिक २६
 कुणिक अज्ञातशत्रु ३३
 कुणिक (विदेहपुत्र) ६०
 कुबेर २६, २६५
 कुबेरदत्त १६८
 कुबेरदत्ता १६८
 कुबेरसेना १६८
 कुब्ज २३०
 कुमभहर ३००, ३२०
 कुमारगुप्त ३५
 कुमारपाल ४४, १२७, १३६, १४०,
 १५१, १६८, १७३, १७८,
 १७९, १८३
 कुमारपाल चरित्र १४०, १७३
 कुमारपालप्रतिबोध १५१
 कुमारसेन (मुनि) ३२
 कुमुदचन्द्र १२६, १८०, ३७२
 कुमुदा २६६

कुम्भापुत्त १४३
 कुम्भापुत्त चरियं १४२
 कुरल (काव्य) ३६
 कुह १५४
 कुरुक्षेत्र १६७
 कुलकर १०, ५८, १२८
 कुलनीति १११
 कुलयोगी १२०
 कुवलयमाला ४३, १२६, १३६
 कुशाग्रपुर १३८
 कुशीनगर ३००
 कुंडकुंडी (ग्राम) ८३
 कुंडकोलिय ६१
 कुंडपुर २२,
 कुण्डल २४, २८८
 कुण्डलपुर २२, ३३१
 कुंयलगिरि ३२०
 कुन्थ १०
 कुन्दकुन्द ७५, ८३, ९६, ९८ १००,
 १०२, १०५, १०६, ११२,
 ११३, ११५, ११६, ११७,
 ११८, १२०, १२२
 कुन्दकुन्दान्वय ०भास्त्राय ३६, १११
 कुन्दकुन्दान्वयी ४३
 कुम्भकर्ण १३१
 कूटस्थ-नित्यता ६, २२३
 कूबरनल १६५
 कूर्चक ३७
 कृति ७४
 कृतिकर्म ५४

कृपासुन्दरी १८०
 कृषि ६५
 कृष्ण ४, १०, १२, २०, १२६,
 २३७, ३३२, (द्वि०) ३८,
 (तृ०) १५५
 कृष्णचरित्र १४२
 कृष्णदासचरित १६६
 कृष्णमिश्र १८०
 कृष्णमुनि १५०
 कृष्णपिगच्छ १७२
 कृष्णपिगच्छीय महेन्द्रसूरी १७३
 कृष्णा नदी ३२१
 केयूर २८८
 केवल २४४, २२७
 केवलज्ञान १११, ११५, २१६, २२६,
 २४६
 केवलदर्शन २४४
 केवलिसमुद्घात १२२
 केवली २७
 केशमर्दन २६१
 केशलोच २६६
 केशव १५६, १७०
 केशवमिश्र ६३
 केशी १४, १५, ३७५
 केशीकुमार २७
 केशी मुनि १७, ६५
 केशी वृषभ १६
 केसुल्ल १५४
 कैकेयी १६७
 कैलाश २, ३१४

कैलाशपर्वत ३०१
 कैवल्य १३
 कोंक १२
 कोंडकुंद ८३
 कोंडकुंडपुर ८३
 कोट २६२
 कोटिकगण २६
 कोटिवर्षिका २८
 कोटिशिला ३२०
 कोठंबाणी २८
 कोडाकोडी २३४, २३५
 कोल्लाग संनिवेश २३, ६२
 कोल्हापुर ४५
 कोल्हुध्रा (ग्राम) २३, ६२
 कोसल ३३
 कोसलीय ५८
 कोशल ३७५
 कोषा १६८
 कौटिलीय २८६
 कौटिलीय अर्थशास्त्र २६६
 कौटिल्य ७०
 कौमार समुच्चय १८८
 कौमुदी १७६
 कौमुदीमहोत्सव १३७
 कौमुदी-मित्रानन्द १७६
 कौरव १६५
 कौशल देश २३, ६०
 कौशाबिक २८
 कौशाम्बी १३७, १५१, २६८, ३०६
 कौशिकी २२

कौसम ३०६
 क्रमदीस्वर १६८
 क्रियाकलाप १००
 क्रियावाद ५६
 क्रियावादी १०३
 क्रियाविशाल ५१
 क्रीडागृह २६३
 क्रीडा नगर २६६
 क्रोध २२७
 क्षणध्वंसता ६
 क्षत्रचूडामणि १७१
 क्षत्रपकाल ३१०
 क्षत्रपराज्यवंश ३१०
 क्षत्रिय कुंड २२
 क्षपणासार ८०
 क्षमा २६८
 क्षमाकल्याण १७१
 क्षमाश्रमण ३०, ४२
 क्षमासूर ५७
 क्षायिक २७३
 क्षायिक भाव २७४
 क्षायिक श्रेणी २७६
 क्षायोपशमिक भाव २७३, २७४
 क्षायोपशमिक सम्यक्त्व २७४
 क्षितिशयन २६६
 क्षीणमोह २७६
 क्षीरस्वामी १८६
 क्षीरोदक ३०१
 क्षीरोदधि ३०१
 क्षीरवर २६४.

क्षुण्णदेव ३०५
 क्षुद्रध्वजा २६३
 क्षुधा २६६
 क्षुल्लक २६४
 क्षेत्रसमाप्त ६७
 क्षेप १२०
 क्षेमंकर ६५
 क्षेमकीर्ति ७३
 क्षेमन्धर ६५
 क्षौद्रवर २६४
 खजराहो ३२८
 खङ्ग २८८
 खण्डगिरि ३०७, ३०८, ३१०
 खंडपाना १३७
 खंभात ४४
 खरतर गच्छ ३३६
 खरतरगच्छपट्टावली ४३
 खरतर वसही ३३६
 खरोष्ठिका २८५
 खर्जूरिका १८६
 खरसाविया २८५
 खलटिक पर्वत ३०७
 खारबेल ३३, ३०७
 खारबेल शिलालेख ३३
 खुदाबंघ ७४
 खेद १२०, २२७
 खोटिगदेव १६५
 गउडवहो १६६
 गच्छाचार ६६, १०७
 गजपंथ ३१६

गजपुर १४५, १६०, १६३
 गजलक्षण २८४
 गजसुकुमार ५७
 गजारोहण २६१
 गणचन्द्र गणि १३५
 गणधर २८
 गणराजा ६०
 गणसुन्दर २६, ३०
 गणसेन १४४
 गणिक २८
 गणित २८४, २८८, २६१
 गणित लिपि २८५
 गणित सार ३८
 गणिपिटक २७, ५८
 गणिविद्या ६६
 गण्डी २८७
 गति २२६
 गदा २८८
 गद्दीमण्डप ३२५
 गद्यचिन्तामणि १७२
 गनीगिति ३२५
 गन्ध २३०
 गन्धकुटी २६५, २६७
 गन्धयुक्ति २८४, २८८, २८६
 गन्धर्व लिपि २८५
 गन्धार बन्दर ३७०
 गरुडतत्व १२१
 गरुडव्यूह २६०
 गर्गाधि ८१
 गर्दभिल्ल ३०, ३५, १४६

गर्भ २२०
 गर्भगृह २६३, ३२३
 गर्भज २२०
 गवाक्ष २६३
 गंग आचार्य ३१
 गंगराज ३७ (सेनापति) ४०
 गंग वंश ३७
 गंगा (नदी) २२, ६४
 गंडक २३
 गंडकी २२, २३
 गंडिकानुयोग ६४
 गांगेय ४३
 गाथा १६०, २८४, २८८
 गाथालक्षण १६०
 गाथा सप्तशती १३६
 गाथिनी १६०
 गान्धर्व २६१
 गार्ग्य १८६
 गाल्हण १८८
 गिरनार ४४
 गिरनार शिलाभिलेख ७६
 गिरिनगर २०, ४२, ५३, १५६, १६०,
 ३१०, ३२६
 गिरिशिखर १६०
 गिरिसेन १४४
 गीत २८४, २८८
 गीता २३७
 गीति १६०
 गीतिका २६०
 गीतिशास्त्र ५७

गुजरात १३६, १६८, १७२, १७३,
 १७४, १८६
 गुजराती ४
 गृह ३२३
 गुणचन्द्र १४५, १५१
 गुणचन्द्राचार्य ३७२
 गुणधर आचार्य ८२
 गुणनगृह (स्वाध्याय शाला) २६३
 गुणनन्दि १८६
 गुणपर्यायात्मक ६
 गुणप्रत्यय २४६
 गुणभद्र ३४, १२१, १५७, १६६, १७०
 १७२, १७६
 गुणभद्राचार्य ३८
 गुणभूषण ११४
 गुणवती १६०
 गुणव्रत १०१, १०२, ११३, १६१
 गुणस्थान २७३
 गुणस्थान क्रमारोह १६४
 गुणाकरमुनि १४६
 गुणाकर सूरि १७८
 गुणाढ्य १६६
 गुणानुराग १३६
 गुप्तकाल ३२१
 गुप्तवंश १२६
 गुप्तसंघ ३२
 गुप्तिर्या २७०
 गुफा चैत्य ३०४
 गुफाबिहार ३०६
 मुम्मत २६८

गुरु २३०
 गुर्जरदेश ४३
 गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज (नाग-
 भट द्वि०) ३३३

गुल्ह १६४
 गुहनन्दि ३४, ३०३, ३२५
 गूढमण्डप ३३५

गुह्यकूट ३४
 गृध्रपिच्छ १८६
 गृहनिर्माण २८२
 गृह्यसूत्र ४६
 गोण (वृषभ लक्षण) २८४

गोत्र २२६
 गोत्रकर्म २२६
 गोत्र योगी १२०
 गोनन्द नगर १५७

गोपाल १६८
 गोपिका गुहा ३०७
 गोपी गुफा ३०७

गोपुर २६२, २६८
 गोपुरद्वार २६५
 गोम्मतसार ७४, ७६, ७६, १०८
 गोम्मटेश्वर ३८, ३२०

गोल्ह १५७
 गोवर्द्धन १५४
 गोविन्द १५५, १७६, १६३
 गोशर्म मुनि ३११
 गोशालक ५६
 गोशीर्षचन्दन ३०१
 गोष्ठाभाहिल ३१

गोसाल मंखलिपुत्र ६२
 गौतम २६, २६, ५१ ५६, ६२,
 १४५, १५४, १५६

गौतमायिका २८

ग्यारसपुर ३२६

ग्रन्थिभेद २४१

ग्रह ६४

ग्रह चरित २८४

शैवेयक ६४, २८८

श्लानि २२७

श्वालियर की जैन गुफाएं ३१७

श्वत्ता १६२

शर्मक्रीडा २८४, २६०

शर्षण-घोलन-न्याय २४१, ११०

शक्ति कर्म २३३

श्रुतवर २६४

श्रोतप ५७

शुद्धपन्नमहापुरिसचरिय १३३, १३४
 १५५

शुद्धपन्न १६२

शुद्धमुह १६३

शक्र २६८

शक्रलक्षण २८४

शक्रवर्ती ६, ११, ५८, १२८

शक्रेश्वर ८२

शक्रदर्शन २४४

शक्रदर्शनावरणीय २२६

शक्रभुजान ६५

शक्रावलिपुरी १४५

शक्र १८१, १८३, १८४, १६०

चण्डकौशिक नाग ३७१

चण्डप्रद्योत २६

चण्डमारी १५६

चतुःशरण ६६

चतुर्नय ६४

चतुर्महापथ ३०२

चतुर्मुख कल्कि ६६, १५४, १५५, १६३

चतुर्मुखी जैनप्रतिमा ३०६

चतुर्मुखी मन्दिर ३२६

चतुर्विध संघ २४

चतुर्विंशति जिनचरित १६८, १६९, १७४

चतुर्विंशतिजिनस्तुति १२७

चतुर्विंशतिस्तव ५४, १२२

चतुष्कवृत्ति १८८

चतुष्पदी १६२

चंदेरी ३३१

चंदेरी ३६०

चन्दनबाला १३७

चंदप्पह चरित १५७

चंदेल वंशीय १६२

चन्द्र ६४

चन्द्रकीर्ति १७०

चन्द्रगिरि ३५, ३८, ३११

चन्द्रगुफा ४२, ३१०, ३२६

चन्द्रगुप्त (सम्राट्) ३५, ३६, १४१,

१६८, १७७, १७८, ३११

चन्द्रगुप्त बस्ति ३११

चन्द्रतिलक १७३

चन्द्रनखा १३३

चन्द्रनन्दि भट्टारक ३६

चन्द्रनागरी २८

चन्द्रनाथमन्दिर ३२५

चन्द्रप्रज्ञप्ति ६६, ६३

चन्द्रप्रभ १०, १३४, १३५, १६६

चन्द्रप्रभ महत्तर १५१

चन्द्रबल २६१

चन्द्रभागा नदी ४३

चन्द्राषि ८१

चन्द्रलक्षण २८४

चन्द्रनेखा १४१

चन्द्रसंघ ३२

चन्द्रसूरि ६७

चन्द्रमन १५७

चन्द्रा १६०

चन्द्राभ ६५

चन्द्रावती नगरी ४३, १३८

चपला १६०

चमर असुरेन्द्र ३०१

चमरेन्द्र ६१, २६४

चम्पकश्रेष्ठिकथानक १७५

चम्पा २६८, ३१६

चम्पानगर १४६, १६२, ३००

चम्पिज्जिया २८

चयन ७४

चरण १३६

चरणानुयोग ७४, ६८

चरणाभरण २८६

चरमपरिवर्त १११

चरमपुद्गलपरावर्तकाल १२०

चरित्र २७, १४६

चरित्रधर्म ५७	चारुदत्त १४२, १६५
चरित्रपाहुड १०१	चार्वक २१६
चरित्रसुन्दर १४०	चार्वकदर्शन ६
चरियापथ २६८	चार्वक मत २३८, २३९
चर्मक्रीडा २८४	चालुक्य काल ३२१, ३२४
चर्मलक्षण २८४	चालुक्य नरेश ३२०
चर्यापद ११९	चालुक्य वंशी १३९, १८९
चर्या परीषद् २६७	चाहमान (चौहान) १७९
चष्टन ३१०	चितक ३०२
चाउज्जाम २७	चितिका ३०१
चांगल्व ४१	चित्रगुण १२०
चाणक्य १६८, १७७	चित्तदोष १२०
चाणक्यी २८६	चित्तवृत्तिनिरोध ११५
चादी की स्याही ३६९	चित्रकला ३६१
चातुर्यामि २१, २२, २७, ५६, ५७	चित्रकूट ४४, ७६, १४७, १४८
चातुर्यामि धर्म ६०	चित्रकूटवन १६५
चापेटियर २५	चित्रगति १३९
चामुण्डराज ३८, ७९, १०८, ३७१	चित्रगृह २९३
चावडा ४२	चित्रमण्डप ३२५
चार २८४, २८९	चित्रयोग २९१
चारणगण २८	चित्रलेखन २९१
चारण मुनि ३०४	चित्रवेग १३९
चारित्रमोहनीय २२७, २३३	चित्रापालक गच्छ १४२
चारित्रपाहुड ११७	चित्राभास २९१
चारित्रभक्ति १००	चिन्तामणि १८७, ३७३
चारित्रसार १०८	चिन्तामणि पार्श्वनाथ मंदिर ४४
चारित्रमुन्दरगणि १७३	चिन्तामणिविषमपद-टीका १८८
चारित्राचार १०९	चिन्तामणि-वृत्ति १८८
चारुकीर्ति पण्डिताचार्य १८६	चिरुड ३३१
चारुचन्द्र १७३	

चुलनी प्रिय ६१
 चुल्लशतक ६१
 चूडामणि २८८
 चूर्णयुक्ति २६०
 चूर्णि ७२, ८२, ६६, १६८
 चूलगिरि ३१६, ३३२
 चूलिका ६४, ६५, १८३
 चूलिकापैशाची १४०, १८३
 चेजरला ३१८
 चेटक २३, १५१, १७२
 चेतन २१६
 चेतन द्रव्य २३६
 चेर १६२
 चेलना ६३
 चैत्य ३००
 चैत्य गुफाएँ ३०६
 चैत्यगृह १०२
 चैत्य प्रासाद २६५, २६६
 चैत्य रचना ३००
 चैत्यवासी ४५
 चैत्यवृक्ष २६२, ३०१
 चैत्यस्तम्भ ३०२
 चैत्यस्तूप ३०१
 चैत्य-स्तूप-निर्माण ३०१
 चोड १६२
 चोरकथा २७५
 चौबारा डेरा ३३१
 चौमुखा ३३४
 चौसठ योगिनी मन्दिर ३२६
 चौहान १८०, ३३६

छक्कम्पोवएस १६४
 छक्काय सुहंकर १०२
 छड्डुनिका १६२
 छत्तानगरी १४६
 छत्र-लक्षण २८४
 छन्द २६१
 छन्द-कोष १६४
 छन्द चूडामणि १६४
 छन्दोनुशासन १६४, १६५
 छन्दोरत्नावली १६५
 छन्दोविचिति १६५
 छप्पन्नजाति १६२
 छरूपवायम् (त्सरप्रवाद) २८४
 छल्लुक ३१
 छाया २२०
 छिन्न १६६, २८७
 छिन्नछेदनय ६४
 छुरी २८८
 छेदपाटी २८७
 छेदसूत्र ७७
 छेदोपस्थापना (सयम) २१
 छोटा कैलास ३१४
 जगन्चन्द्रसूरि ८१, १४१
 जगद् चरित्र १७३
 जगत्कर्तृत्ववाद ५६
 जगत्कीर्ति १२७
 जगन्नाथ सभा ३१४
 जघन्य २३४, २३५
 जटाचार्य १६६
 जटिलक १३

जटिलभूमि १५४
 जथरिया २३
 जनक ५०, १६७
 जनवाद २८४, २८८
 जनसंक्षोभन २६१
 जम्बू २६, २६, १४६
 जम्बूचरित्र १४६
 जम्बूचरित्रं १४६
 जम्बूद्वीप ६३, ६६, २६३
 जम्बूद्वीपपण्णति ६७, ३०१
 जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ६६, ६३
 जम्बूवन ३२०
 जम्बूसामिचरित १४८, १६३
 जम्बूस्वामी १४८
 जम्बूस्वामिचरित ३०३
 जयकीर्ति १५०
 जयचन्द्र १७२ (मुनि) १४७
 (सूरि) १७८
 जयतिहुयण स्तोत्र १२४
 जयदामन् ४२, ३१०
 जयदेव १६५
 जयधवल १५५
 जयधवला (टीका) ८२, १६७
 जयन्त २८, ६४
 जयन्ता २६६
 जयन्ती २६, १५१, १७२, २६५
 जयन्ती प्रकरण १५१
 जयधर १५६
 जयपुर ४५
 जयभट (गुर्जर नरेश) ४२

जयमित्र हल्ल १५८
 जयविजय १७६
 जयशेखर १५०
 जयसिंह (द्वि०) ३६, १७२, १५०,
 १८६
 जयसिंह चालुक्य १८०
 जयसिंह सूरि ६२, १५०, १७२, १७३
 १८०
 जयमेन १०, ८४, १०९, १३६, १६६
 जयादित्य १८६
 जयानन्द १२७, १४६
 जरासन्ध ४, १०, २०
 जलकाय २१८
 जलगत ६५
 जल्पनिर्णय १८६
 जवणालिया २८५
 जसवद १५६
 जसहर चरित १५८, १७१
 जातक १५०
 जाति १६२, २२६
 जान मार्शल ३०५
 जामालि ३०, ५७
 जायसवाल डॉ० २५
 जायसी १४८
 जावालपुर ४३, १४५
 जिज्ञासा १२०, २८१
 जितशत्रु १४६, १६०
 जिनकल्प २७, २०७
 जिनकीर्ति १७२, १७३, १७५, १७८
 जिनचतुर्विंशतिका १२७

जिनचन्द्रसूरि १५१, १६३, १७२,
३७०

जिनदत्त १४६, १६५

जिनदत्तचरित १६३

जिनदत्तसूरि १६८, १७४, ३७२

जिनदत्ताख्यान १४६, १४७

जिनदास १६६, ३०२

जिनदासगण महत्तर ७३

जिननन्दिगणि १०६

जिननाथपुर ३२४

जिनपद्म १२४

जिनपतिसूरि १७२

जिनपाल १७२

जिनपाल कृत वृत्ति १०७

जिनप्रबोध १८८

जिनप्रभसूरि ६२, १२७, १७७, १७६,
१६३, ३०३

जिनप्रवचनरहस्यकोष ८५, १०८

जिनभद्र ७२, १५०

जिनभद्रगणि ८२, ८६, ६७, ११५,
१४३

जिनभवन करणविधि १११

जिनमाणक्य १४२

जिनमुद्रा १०२

जिनरक्षित १५५, ३७२

जिनरक्षितविहाणकहा १६४

जिनरत्न १४३

जिनविजय १४८, ३७०, ३७२

जिनवल्लभ १२४, १२७

जिनवल्लभगणि ८१

जिनवल्लभसूरि ८२, १०७

जिनशतक १२५

जिनशतकालंकार १२५

जिनसहस्रनामस्तोत्र १२३

जिनसागर १६०

जिनसेन ३४, ३८, १०६, १२३,
१४२, १५३, १५४, १५५,
१५७, १६५, १६६, १७०,
१७७, १८६, १८५, ३०३,
३२६, ३३२, ३३३

जिनस्तोत्ररत्नकोश १२७

जिनहर्षगणि १४७, १७२, १७८

जिनेश्वर १८८, (सूरि) ८६,
६२, १३५, १३८, १४३,
१५१, १५८, १७३

जिम्मर ३३६

जीतकल्प ६७, ७२

जीवकचिन्तामणि ३६

जीवकर्म १०६

जीवकांड ७५, ७६

जीवकोष २१६

जीवक्रिया ५६

जीवद्वारा ७४

जीवतत्त्व २१५, २१७

जीवप्रदेशक ३१

जीवप्रबोधिनी ७६

जीवसमास ७७, ८०, ८२

जीवसिद्धि ८८

जीवधरचम्पू १७१

जीवधरचरित १७१

जीवाजीवाभिगम ६६	झूठी गुफा ३१०
जीवानुशासन १०७	ज्ञातुकुल ६२
जीवाभिगम ५६	ज्ञातृधर्मकथा ६०
जुद्धांशजुद्ध २८४	ज्ञातृवंश २३
जूठा सेठ ३७०	ज्ञान २७, १०२
जूनागढ़ ४२, ३०६, ३१०	ज्ञानचन्द्र १५७
जेकोबी २३	ज्ञानविधि १४१
जेसलमेर ४५	ज्ञानपंचमीव्रत १३६
जैन गुफाएँ ३०६	ज्ञानप्रवाद ५१
जैन ग्रन्थावली १४६	ज्ञानबिन्दु ६३
जैन चैत्य ३००	ज्ञानभूषणगणि ८०
जैन ज्ञान भण्डार ३७०	ज्ञानयोग ११८
जैन तर्कभाषा ६३	ज्ञानसागरमूरि १७५
जैन दर्शन ६	ज्ञानसारप्रकरण ६३
जैन दार्शनिक २३८	ज्ञानाचार १०६
जैन मनोवैज्ञानिक २२३	ज्ञानार्णव १२१, १२२
जैन मन्दिर ३१८, ३२०	ज्ञानावरण २३२, २३६
जैनेन्द्र १८६	ज्ञानावरण कर्म २२६
जैनेन्द्रप्रक्रिया १८५, १८६	ज्ञानावरणीय २३४
जैनेन्द्रलघुवृत्ति १८५	ज्ञानेन्द्रियाँ २२४
जैनेन्द्र व्याकरण १८३, १८४, १८५, १८६, १८७	टिप्पनावली ३६
जैसलमेर ३७२	टोडर (सेठ) ३५
ज्याहूद १८	टोडरमल ८०
ज्योतिर्लोक ६४, ६६	ठाणांग ११४
ज्योतिष २६१	ढंक ४२, ३१०
ज्योतिषकरंडक ६८	ढुंढक १८८
ज्योतिषकरंडकप्रकीर्णक ६८	ढुंडिया ४५
ज्योतिष्कदेव २८६	डंडिल १४५
ज्वालामालिनि कल्प ३८	डांसमन्त्र २६६
	णंदी ५६

णरविक्रमचरिय १४६
 णाणपंचमीकहा १३६
 णायकृमारचरित १५८, १५९, १६४
 णायाधम्मकहाओ १४६
 णिज्जरपंचमीकहा १६४
 णिद्धहसत्तमीकहा १६४
 णेमिणाह चरित १५७, १६३
 तंदुलवैचारिक ६६
 तक्षकर्म २६१
 तक्षशिला ३४, ३०५, ३७५
 तगरिल गच्छ ३३
 तण्डुल कुसुम बलिविकार २६१
 तदंतरायशुद्धिलिग १११
 तत्वज्ञानविकासिनी १०७
 तत्व तरंगिणी ६२
 तत्वबोधविधायिनी ८७
 तत्वाचार्य ४३
 तत्वानुशासन ८८
 तत्त्वार्थभाष्य ७७
 तत्त्वार्थराजवार्तिक ७७, ८६, १८५,
 तत्त्वार्थवार्तिक ६१
 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ८६, ९०, १८६
 तत्त्वार्थसार ८५, ८६
 तत्त्वार्थसूत्र २१, ३७, ७७, ८५, ८६
 ११६
 तन्त्र २६१
 तन्त्री २६१
 तप २५, १२०, २६८, २७१
 तपसूर ५७
 तपागच्छ १७३, १६४

तपागच्छपट्टावली १४२
 तपाचार १०६
 तपोविधि १११
 तम ६४
 तरंगलोला १३६
 तरंगवती कथा १३६
 तरुणप्रभाचार्य ३७३
 तरुणीप्रतिकर्म २८४, २८८, २८९
 तर्कभाषा ६३
 ताण्ड्य ब्राह्मण १८
 तात्पर्यवृत्ति १००
 तामिल ३, ४, ४२
 ताम्रमय २८६
 ताम्रलिप्तिका २८
 तारक १०
 तारणपंथ ४६
 तारण स्वामी ४६
 तारनगर ३१६
 तारा ६४, १२०
 ताल आदि वाद्य २६१
 तावस २८
 तिक्त २३०
 तिरुकुरल ३१३
 तिरुपरन्तिकुण्डरम ३२५
 तिरुप्पनमूर ३२५
 तिरुमल्लाह ३२५
 तिरुहुत २३
 तिर्यंग्लोक ६६
 तिर्यंग्गतियोग्य २३०
 तिर्य्यग गति २१६

तिर्यचायु २२६, २३३
 तिलकमंजरी १३६, १७४
 तिलोयपण्णास्ति ७७, ६६, १२८, १२६,
 १३१
 तिष्यगुप्त ३१
 तिसट्ठमहापुरिसगुणालंकार ६८, १५५
 १५८
 तीर्थ १०२
 तीर्थक ३०५
 तीर्थकल्प १७७
 तीर्थवित् २०
 तीर्थहल्लि ४१, ३२३,
 तीर्थकर ५८, १२८, १२६, २३०,
 २७७
 तीर्थकरप्रकृति २३४
 तीर्थकरभक्ति १००
 तीर्थकरमण्डप ३२५
 तुङ्गीगिरि ३१६
 तुम्बुलूर ७५
 तुरुष्की २८६
 तुलसीगणि ४६
 तृप्पशंविजय २६७
 तृषा २६६
 तेजपाल ४४, १७२, १८०, ३१८,
 ३३५
 तेरापंथ ४६
 तेरापुर १६२, ३१२
 तेरासिय २८
 तेजस २१६
 तैत्तरीय संहिता १८

तैलप ३६
 तोमर राजवंश ३१७
 तोमर वीरम १७४
 तोयावली १६०
 तोरण २६२, २६८,
 तोरण द्वार ३०३, ३०८
 तोरमाण ४३
 तोलकप्पियम् ३६
 त्याग २६८
 त्रस २१८, २३०
 त्रायस्त्रिंश ६४
 त्रावणकोर ३१५
 त्रिक नय ६४
 त्रिपादी १८५
 त्रिपिटक १५२
 त्रिपृष्ठ १०
 त्रिभुवन १५४
 त्रिभुवनरति १६०
 त्रिरत्न ३०५, ३०८
 त्रिलोकप्रज्ञाप्ति ११७, २३०, २६२,
 २६३, ३०६
 त्रिलोकसार ६६, ३७१
 त्रिलोचनदास १८८
 त्रिविक्रम १८४
 त्रिवेन्द्रम नगर ३१५
 त्रिषष्टिशलाकापुरुष १६७
 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ६८, १३४,
 १७०
 त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र १६८
 त्रिषष्टादेवी २२

त्रिशङ्ग मुकुट ३०८
 त्रैराशिक ३१
 त्रैलोक्य दीपिका ६७
 त्रैविद्यदेव ७६
 दंतिलाचार्य ३५
 दंसणसत्तरि ११०
 दंसणसुद्धि ११०
 दक्षिणकर्नाटक ११
 दक्षिणप्रतिपत्ति ७८
 दगमट्टिय (उदकमृत्तिका) २८४,
 २८८
 दग्ध २८७
 दड्ड ४२
 दण्डक १६५
 दण्डकनगर २०३
 दण्डयुद्ध २८४, २६०
 दण्डलक्षण २८४
 दण्डी ७७, १५२, १५४
 दत्त १०
 दधिपुर १४६
 दधिमुख २६४, २६५
 दन्तधावनत्याग २६६
 दन्तीपुर १६०, १६२
 दमयन्ती १७६
 दयापाल मुनि १८८
 दयावर्धन १७२
 दर्शन २७, १०२
 दर्शनपाहुड १०१
 दर्शनभद्र मुनि १८०
 दर्शन मोहनीय २२७, २३३

दर्शनसार ३६
 दर्शनाचार १०६
 दर्शनावरण २२६, २३२, २३४, २३६
 दन्वसहावपयास ८७
 दशनिन्हव ६८
 दशकरणीसंग्रह ७७
 दश धर्मशील १०६
 दशपुर ३१
 दश पूर्व ५३
 दशपूर्वी २७
 दशभक्ति ८४
 दशरथ १६७, ३०६, ३०७
 दशरथ जातक १६७
 दशवैकालिक ५४, ६८, ७२, १६१,
 १६८, २४५, २८७
 दशवैकालिक निर्युक्ति ५४
 दशश्रावकचरित्र १५१
 दशानन ५
 दशावतार मन्दिर ३१६
 दशाश्रुतस्कंध ७२
 दाक्षिण्यचिन्ह १४५
 दान १११
 दानकल्पद्रम १७८
 दानविजय १६०
 दानसूर ५७
 दानान्तराय २२८
 दामनन्दि १६६
 दामिलि लिपि २८५
 दारासमुद्र ४०
 दासीखण्डिका २८ -

बिजडा साहु १५५	देलवाडा ४४, ३३४
दिग्भ्रत २६१	देव ३३, १०२, १६६
दिष्टिवाद ६६	देवकल्लोल १४६
दिल्ली १५७	देवकी १६५
दीक्षाविधान १११	देवकुल ३०५, ३३४
दीक्षित ३२६	देवकुलिका ३२६
दीर्घिका २६८	देवगढ़ ३१६, ३२७
दीनार १३०	देवगति २१६
दीपमालिका २६	देवगतियोग्य आनुपूर्वी २३०
दीपिका १६०	देवगिरि ३१४
दीप्रा १२०	देवगुप्त ४३
दी स्टोरी आफ कालक ३६६	देवचन्द्र १०६, १३५
दुःखविषाण ६४	देवच्छन्द २६३
दुर्गन्ध २३०	देवतन्दि (पूज्यपाद) ३७, ८३, ८६, १८४, १८७
दुर्गपदव्याख्या १६०	देवनिमित्त स्तूप ३०३
दुर्गसिंह १८८, १८९	देवप्रभ सूरि १६६, १७२,
दुर्बलिका पुष्पमित्र ३०	देवभद्र ८६, १०७, १३५, १४०, १४१, १५१
दुर्भंग २३०	देवराज १६८
दुर्भाग्यकर २८४	देवराय १५८
दुर्विनीत ३७	देवद्विगणि ३०, ४२, ५५, ५६, ७०, २८७
दुवध १६२	देवलोक ६६
दुषमकालश्रमणसंघ २६, (स्तव) ३०	दवविजय गणि १२३, १६६
दुषमा ६५	देवसंघ ३२
दुषमा-दुषमा ६५	देवसूरि ६७, १०७, १३४, १६५, १४५, १६६, १८०
दुषमासुषमा ६५	देवसेन ११२, १६३
दुःस्वर २३०	देवसेन पांडा ३७०
दुस्समकाल ११६	
दुःसायु ५७	
दृष्टिवाद ५१, ५४, ५८, ६४, ७४, ८०, २२७, २८७	

देवागमवृत्ति ८८
 देवागमस्तोत्र १८६
 देवागमालंक्रुति ८८
 देवायु २२६, २३४
 देवी १३६
 देवेन्द्र १७४, १८६
 देवेन्द्रकीर्ति १०५, १२६
 देवेन्द्रगणि (नेमिचन्द्र) ७३
 देवेन्द्रगणि १३५, १४५, १५१
 देवेन्द्र सूरि ८१, १४१, १४२, १४६,
 १७२, १७५
 देवेन्द्रस्तव ६६
 देशघाती २३६
 देशविरत १२०, २७५
 देशव्रत १०२, २६१
 देशावकाशिक १०२, ११७
 देशावधि २४६
 देशीगण ३३, ३६
 देशी-नाम-माला १६६, १६७
 देशीप्रकाश १६८
 देशीशब्दसंग्रह १६६
 देशीसार १६८
 दैव स्मशान ३०२
 दोषक ६६
 दोसाऊरिया २८५
 दोस्तरिका ३३३
 दोहकसूत्र ११३
 दोहा १६२
 दोहाकोश ११६
 द्यूत २८४, २८८

द्यूताश्रय २६१
 द्रमिलगण ३३
 द्रविड ४२
 द्रव्य ६
 द्रव्य निक्षेप २५३
 द्रव्यालिङ्गी १०३
 द्रव्यलोक ६३
 द्रव्यश्रमण १०३
 द्रव्यश्रुत ५१
 द्रव्यसंग्रह ८०
 द्रव्यहिंसा २५६
 द्रव्यानुयोग ७४
 द्रव्याधिक नय २५१
 द्राविड संघ ३२, ३१३
 द्राविडी २८६, ३१८, ३२१
 द्रुतविलंबित १६५
 द्रोण १५५, १६५
 द्रोणगिरि ३२०
 द्रोणाचार्य ७३
 द्रौपदी ६१
 द्वायाश्रयकाव्य १३६, १७३, १८६
 द्वात्रिंशिका १२१, १२३
 द्वादशकुलक १०७
 द्वादशांग आगम २५, १४६
 द्वादशानुप्रेक्षा १०५
 द्वादशारनयचक्र ६१
 द्वारका २०
 द्वारपाल २६६
 द्वारावती ६३
 द्विक्रिया ३१

द्विजवदनचपेटा ६२	२६८
द्विपदी १६२	धर्मकल्पद्रुम १७८
द्विपृष्ठ १०	धर्मकीर्ति १७८
द्विसन्धान काव्य १६६	धर्मकुमार १७२
द्वीपसमुद्र ६६	धर्मघोष १२४, १२७
द्वीपसागर प्रज्ञप्ति ६३	धर्मचक्र ३०५
द्वीपायन १०३	धर्मदासगणि १५०
धक्कड़ १६१	धर्मद्रव्य ६४, २२०
धनचन्द्र १६०	धर्मध्यान २७२
धनञ्जय १२६, १५३, १६६	धर्मनन्दन १५०
धनदत्त १३६	धर्मनाथ १६६
धनपाल १२३, १४१, १४२, १५६, १६३, १७४, १६५, १६८	धर्मपरीक्षा १३८, १७७
धनप्रभ सूरि १७३	धर्मप्रभ १४६
धनश्रुति ३०४	धर्मबिन्दु टीका ११०
धनरत्न १७३	धर्मभावना २६६
धनश्री १४१, १६१	धर्मभूषण ६१
धनुर्वेद २८४	धर्मरत्नप्रकरण १११
धनेश्वरसूरि ८२, १३८, १४३, १७६,	धर्मरत्नाकर १०६
धन्वकुमार चरित १६४	धर्मवर्द्धन १२४
धन्य १७२	धर्मशाम्भुदय १६६
धन्य (भद्रापुत्र) ६३	धर्मशेखर १२४
धन्यशालिचरित्र १७२	धर्मसंग्रह ११०
धन्यसुन्दरी कथा १४६	धर्मसंग्रहणी ६२
धम्मपद १५०	धर्मसिंह १२७
धम्मपरिक्षा १६४	धर्मसेन ५३
धरणेन्द्र १४८, २६६, ३७३,	धर्मसेनगणि १४३
धरसेन ५३, ७४, ८२	धर्मादित्य ३०
धरसेनाचार्य ४१, ४२, ३१०,	धर्मानुप्रेक्षा ११७
धर्म १०, ११६, २२०, २३६,	धर्माभ्युदय १८०, १७४
	धर्माभूत १२२

धर्मोपदेश २७२
 धर्मोपदेशमाला ३७३
 धर्मोपदेशमाला विवरण १५०
 धर्मोपदेश शतक १६६
 धवल (टीका) ३४, ७५, ६६, ६६,
 १५४, १६६, ३०३, ३१०
 घाड़ीबाहन १६२
 धातकीखंड द्वीप ६३, २६४
 धातुपाक २८४
 धात्री १४१
 धात्रीसुत १४१
 धारणा ६३, २४४
 धारवाड ३२३
 धारानगरी १५६, १६५
 धारानरेश १६५
 धारानाथ ३६, १५६
 धाराशिव ३१२
 धारिणी देवी ६०, ६३
 धारणीपुत्र ६३
 धाहिल १६२
 धूम ६४
 धूर्ताख्यान ७२, १३७, १७७, १६४
 धूलिशाल २६५
 ध्यान १०६, ११५, १२१, २७२
 ध्यानशतक ११५
 ध्यानसार १२२
 ध्रुवक १६२
 ध्रुवसेन ३०
 ध्रौव्य ६
 ध्रौव्य २२३

ध्वन्यालोक लोचन ३७०
 नक्षत्र ६४
 नगर निवेश २८४
 नगर मान २८४
 नगर विन्यास २६८
 नग्नता २६६
 नग्न वृत्ति २६५
 नट्टलसाहू १५७
 नडी (लिपि) २८६
 नन्द १३६, १६०, १७८
 नन्द काल ३०७
 नन्दन १०, १४६
 नन्दन वन २६८
 नन्द राजा ३३, ३०७
 नन्दवती २६४
 नन्द सम्राट् ३०७
 नन्दा ६३, २६४, २६६
 नन्दि ३२, ३३
 नन्दिगण (संघ) ३३
 नन्दिताड्य १६०
 नन्दिनीप्रिय ६१
 नन्दिमित्र १५४
 नन्दिषेण १२४, १६३
 नन्दीसूत्र ५६, ६४, ७०, १७८
 नन्दीघोषा २६४, २६६
 नन्दीतट (ग्राम) ३२
 नन्दीमती २६६
 नन्दीश्वर द्वीप २६४
 नन्दीश्वर पर्वत २६५
 नन्दीश्वर भक्ति १००

नन्दीवरभवन १२७
 नन्दोत्तरा २६४, २६६
 नपुंसक वेद २२७ (दी) २२०
 नमि १०, १६, २१, ४५०
 नमिनाथ १६
 नमिलूर संघ ३३
 नय २४६
 नयकणिका ६२
 नयचन्द्र सूरि १७२
 नयधर १६१
 नयनन्दि १११, १६३, १६४
 नयप्रदीप ६३
 नयरहस्य ६३
 नयोपदेश ६३
 नरकगति २१६
 नरकगति योग्य श्रानुपूर्वी २३०
 नरकायु २२६, २३३
 नरदेव कथा १४६
 नर-नारी-लक्षण २६१
 नरवाहन ३०, १२६
 नरवाहनदत्त १३८, १४६, १६२,
 (कथा) १३६
 नरसिंह (प्रथम) ४० (तृतीय) ४०
 नरसिंह १४०, १४६
 नरसिंहजी ज्ञानभण्डार ३७०
 नरसिंह भाई पटेल १३६
 नरसेन १५८, १६४
 नरेन्द्रप्रभ १७२
 नरेश्वर-वृत्ति (राजनीति) २६१
 नल १७६

नल कूबर १६६
 नल विलास १७६
 नवग्रह ३७३
 नवचौकी ३३७
 नव नन्द २६
 नव-निधि २६६
 नव मुनि ३०८
 नाइल २८
 नाइल कुलवंशी १३०
 नाइल गच्छ १४६
 नाग ५, २६३
 नागकुमार १५६, १६०
 नागचन्द्र १२६, १८६
 नागपुर ३७१
 नागपुरीय १६४
 नागभूत २८
 नागर ३१८, ३२१
 नागरी २८६
 नागश्री ६१
 नागहस्ति ७८, ८२ (गुरु) १३६
 नागार्जुन ३१० (सूरि) ५५
 नागार्जुन पहाड़ियाँ ३०६
 नागेन्द्र गच्छीय १७४
 नागौर ३७१
 नाचना-कुठारा ३१८
 नाटक शास्त्र २६१
 नाट्यदर्पण १७६
 नाट्य बाला २६६
 नात २२
 नाथ १८

नावगृह २६३
 नाथ २२
 नानशिल्प २६१
 नाभिराज ११, ६५
 नाम २२६
 नाम कर्म २२६
 नाम निक्षेप २५३
 नाममाला १६६
 नाय २२
 नायाधम्मकहा १४५
 नारक लोक ६६
 नारद १२६
 नाराच २३०
 नारायण ४, १०
 नार्मन ब्राउन ३६६
 नालन्दा २२, ५६
 नालन्दीय ५६
 नालिका क्रीडा २८४
 नासिक ३१०
 नाहड ३०
 निकाचना २२५
 निक्षेपाचार्य ७८
 निगोद २१८
 निर्गठ नातपुत्र ३०५
 निषण्ट २६१
 निद्रा २२६
 निद्रा-निद्रा २२६
 निधत्ति २२५
 निन्हइया २८५
 नियति वाद ५६, २२६,

नियमसार ८४, ६६, ६६
 निरयावलियाप्पो ६७
 निराकार स्थापना २५३
 निराभासा २८५
 निर्ग्रन्थ २६, ३७
 निर्ग्रन्थ नातपुत्र २२
 निर्ग्रन्थ साधु १७
 निर्जरा ११६, २५३ (भावना) २७०
 निर्भय-मीम-व्यायोग १७६
 निर्माण २३०
 निर्युक्ति ७२, १६८
 निर्युद्ध २८४
 निर्वाण २५
 निर्वाण काण्ड ३१६, ३३१
 निर्वाणभक्ति १००
 निर्वाण लीलावती १४३
 निवड कुण्डली ३२०
 निशीथ ६७, ७२, १०७
 निशीथ चूर्ण १४५
 निशुम्भ १०
 निश्चयकाल २२२
 निश्चयात्मक ध्यानावस्था ११६
 निषद्या परीषह २६७
 निषध ६४
 निषिद्धिका ५४
 निह्लव ५७ (साल) ३०
 नीचगोत्र २२६, २३४
 नील ६४, २३०
 नीलकंठी ३६
 नीलगिरि ३०८

नीलांजना ११	न्यग्रोध गुफा ३०७
नूपुर २८८	न्यग्रोधपरिमण्डल २३०
नृत्य २८४, २८८	न्याय-कुमुद-चन्द्र ८६, ६२
नृत्यशाला २६५	न्याय-खण्ड-साद्य ६३
नेमि १०, ११७, १६६, १६५	न्याय दीपिका ६१
नेमिचन्द्र (टीकाकार) १२४	न्याय विनिश्चय ८६
नेमिचन्द्र (देवेन्द्र) ७३, १३५, १४५	न्याय सारदीपिका ६२
नेमिचन्द्र (प्रक्रियावतार कर्ता) १८५	न्यायालोक ६३
नेमिचन्द्र (वसुनन्दि के गुरु) १११	न्यायावतार ८८, ८६
नेमिचन्द्र (वीरभद्र के शिष्य) १३६	न्यास (व्या.) १८५, १८८
नेमिचन्द्र (सि. च.) ७४, ७६, ६६,	पञ्चमचरित १५३, १६२
१०८ ३७१	पञ्चमचरिय ३०, १३३, १३४, १५६,
नेमिचन्द्र सूरि १०७	१६४, १६५
नेमिचन्द्र सूरि (पाडिच्छयगच्छ) १४६	पञ्चमसिरिचरित १६२
नेमिजिनस्तव १२४	पण्डी राजा ६५
नेमिदत्त १७४, १७८	पङ्क नरक ६४
नेमिदत्त काव्य १६६	पञ्चिमब्राह्मण ३३
नेमिनाथ २, २०, २१, १३५, १५६,	पञ्चकल्प ६७, ७२
१६५	पञ्चकूटवास्ति ३२३
नेमिनाथ चरित्र १६६, १७६	पञ्चतन्त्र १५०, १७६
नेमिनिर्वाण काव्य १६६	पञ्चतीर्थिक पाषाण प्रतिमा ३३६
नेमि भक्तामरस्तोत्र १२७	पञ्चत्य पाहुड़ ७७
नेमीश्वर १४२	पञ्चपरमेष्ठि भक्ति १००
नैगम २४६	पञ्चमहाव्रत २७, ५६
नैषधीयचरित १६६	पञ्चवत्सुग १०७
नैसर्ग निधि २६६	पञ्चवस्तु प्रक्रिया १८५, १८७
नो २२८	पञ्चव्रत २४, २७
नोद्वन्द्वय २२४	पञ्चशती प्रबोध सम्बन्ध १७८
नोकषाय २२७, २२८	पञ्चसंग्रह ८०, ८१
नौलखा मन्दिर ३३३	पञ्चसंसारभूतम् १६३

पंचसिक्खिय २७
 पंचस्तूप संघ ३२, ३४, ७६, ३०३,
 ३२५, ३२६
 पंचाचार १०५
 पंचाध्यायी १८५
 पंचाशक ११०
 पंचाशक टीका १०६
 पंचासग १११
 पंचास्तिकाय ८४
 पंचांगी आगम ७२
 पञ्जुणचरित १६३
 पटना २४
 पटह २६१
 पट्टकल-ग्राम ३२२, ३२३
 पट्टशालाएँ २६३
 पट्टावली की अवचूरी २६
 पणवणा ५६
 पण्डिततिलक १४०
 पण्डवाहणक शास्त्रा २६
 पतंजलि ११५, १८१, १८५, १८६,
 पत्रछेद्य २८४, २८६, २६१
 पत्रपरीक्षा ६०
 पथ्या छन्द १६०
 पदस्थ १२१, १२२
 पदानुसारित्व ३०६
 पदानुसारी ३०६
 पद्धडिया १६१ (बंध) १५४
 पद्य १०, २६, १६६, २६६
 पद्यकीर्ति १५७
 पद्यचन्द्र १८०

पद्यचरित १५३, १५४
 पद्यानन्दि ६७, १७०
 पद्यनाम १७१
 पद्यपुराण १५, १५६, १६८
 पद्यप्रभ १०, १३४
 पद्यप्रभमलधारी देव १००
 पद्यश्री १६२
 पद्यसुन्दरी १४६, १६६, १७०
 पद्या २६
 पद्यानन्द काव्य १६६, १७४
 पद्यावत १४८
 पद्यावती रानी १४८, १६२
 पद्मिनी १५३
 पतसोगे बलि ३३
 पंथभेद ४४
 पभोसा ३०६
 परषात २३०
 परमभक्ति ६६
 परमभावग्राहक २५१
 परमाणु २२०
 परमात्म ११८, २३८
 परमात्मपद ७
 परमात्म प्रकाश ११८
 परमावधि २४६
 परमारवंशी ४३
 परलोकसिद्धि ६२
 परा योगदृष्टि १२०
 परिकम्म ६६
 परिकर्म ६४, ७७,
 परिग्रह त्याग २६४

परिष २६८	पाण्डुकशिला २६३, २६४
परिधान २८६	पाण्डुकामय ३५
परिनिर्वाण-महिमा ३०१	पाण्ड्य १६२
परिपाकाश ६३	पाण्ड्यदेश १६०
परशिष्टपर्व ५४, १६८, १७६	पाण्ड्यधराजा १७६
परीक्षामुख ६०	पाण्ड्य राष्ट्र ६५
परीषह २६६, २७७	पाणिनीय १८७
पर्याप्त २३०	पातंजल महाभाष्य १५२
पर्याप्त १०६	पातंजलयोग ७०, १२०
पर्याय २२३	पातंजलयोग शास्त्र ११६
पर्यायार्थिक नय २५१	पातशापन कला २६२
पवित्रकल्पसूत्र ३६६	पात्रकेसरि १६६
पवैया ४३	पादलिप्त (सूरि) ६८, १०७, १३६, १६८, ३१०
पसेंडी राजा ६५	पानविधि २८४, २८८, २८९
पहाडपुर (बंगाल) ३४, ३०२, ३२५ ३२६	पाप २३३
पहाराइया-लिपि २८५	पापबुद्धि धर्मबुद्धि कथा १७६
पाइयलच्छीनाममाला १५६, १६५, १६८	पारसी २८६
पाञ्चालदेश २६६	पारिणामिक भाव २७४
पाटलिक (ग्राम) ६५	पारियात्र ६७
पाटलिपुत्र २६, ५४, ५५, ३००	पारिषद ६४
पाटलिपुत्र वाचना २८७	पार्वतीमंदिर ३१६
पाटोदी जैन मंदिर ११३	पार्श्व ५८, ११७, १६२, १६६, १७६, ३१०, (चरित) ११३, १३५
पाठोद्बल १६८	१७०, १८६, १८७, १८८
पाठिच्छय गच्छ १४६	पार्श्वजिनस्तवन १२४
पाण्डव ३४, १६५, ३७४	पार्श्वनाथ २, १०, २०, २२, ५६, ६५, १७०, २६६, ३०६, (तीर्थ-
पाण्डव चरित्र १६६, १७२	कर) ३०३, ३११, ३१५, ३१५
पाण्डव पुराण १६६	
पाण्डु (वन) २६४, २६६	

पार्श्वनाथ गोमट १२६
 पार्श्वनाथ चरित ८७
 पार्श्व परम्परा २७
 पार्श्वपर्वत ३३, (मंदिर) ३२३
 पार्श्वपुराण १७०
 पार्श्वर्षि ८१
 पार्श्वसम्प्रदाय २६
 पार्श्वपत्य २१, ६०
 पार्श्वम्युदय १७०
 पालक राजा २६, १२६
 पालगोपाल कथा १७५
 पालि ३
 पालि व्याकरण १८८
 पाल्यकीर्ति १८७
 पावा २४, ३३, ३१६, (गिरि) ३१६,
 ३३१
 पाशक २६०
 पाषण्ड मत १०३
 पासणाह चरित १५७
 पाहुडदोहा ११८
 पिंगल १५४, १६०, १६४, (निधि)
 २६६
 पिंडनिर्मुक्ति ६८
 पिंडविधि १११
 पिंडशुद्धि १०५
 पिंडस्थ ध्यान १२१, १२२
 पित्तलहर ३३४, ३३६
 पिशाच ५
 पिहित्वाच १६०
 पुडुकोट्टाड ३१३

पुण्डरीक ५४, २६७
 पुण्ड्रवर्धन ३४, १६०
 पुण्णासवकहाकोसो १६४
 पुण्य २३३
 पुण्याश्रव कथा कोष १७८
 पुद्गल ६, २२०
 पुद्गल द्वय २२०
 पुद्गल स्कन्ध २२०
 पुनिस सेनापति ४०
 पुष्पाटक गच्छ १७७
 पुष्पाट देश १७७
 पुष्पाट संघ १७७
 पुरंदरविहाणकहा १६४
 पुरमंतरंजिका ३१
 पुराण २६६
 पुराणसार सग्रह १६६
 पुरुष २२७
 पुरुषपुण्डरीक १०
 पुरुषलक्षण २८४
 पुरुषसिंह १०
 पुरुषार्थ २३६
 पुरुषार्थता २४०
 पुरुषार्थसिद्धयुपाय ८५, १०८
 पुरुषोत्तम १०
 पुलकेशी ३६, ३१४, ३२०
 पुष्करगण १५७
 पुष्करगत २८४, २८८
 पुष्करणी २६३
 पुष्करवरद्वीप ६४, २६४
 पुष्कल (स्थान) ३२

पुष्पचूला ६७
 पुष्पछेद्य २६१
 पुष्पदंत ३२, १५३, १५५, १५८,
 १६१, १६२, १७१
 पुष्पदंतकवि ३८, ३९, २६०, ३७१
 पुष्पदंततीर्थकर १०
 पुष्पदंताचार्य ४२, ५३, ७४
 पुष्पसेन १७१
 पुष्पशकटिका २६१
 पुष्पिका ६७
 पुष्पमित्र ३०, १२६
 पुस्तकगच्छ ३३
 पुस्तकव्यापार १६२
 पूजा १२०
 पूजाविधि १११
 पूज्यपाद ३२, ३६, ५४, ७७, ११३,
 ११६, १२३, १२५, १८४, १६६
 पूर्णभद्र १७२, ३००
 पूर्वं ५१, (गत) ६४, १३०
 पूर्वान्त ७४
 पृच्छना २७२
 पृथक्त्व २७३
 पृथक्त्व-वितर्क-बीचार-ध्यान २७३
 पृथ्वीकाय २१८
 पृथ्वीचन्द्रसूरि १८८
 पृथ्वी देवी १५६
 पृथ्वीसुन्दर १६७
 पैशाची १२४, १४०, १८२, १८३
 पोखलच्चं २८४, २८८
 पोद्दिल १४६

पोदनपुर ३२०
 पोष (कवि) ३८
 पोमिल २८
 पोम्बुर्चा ४१
 पोण्ड्रवर्द्धनिका २८
 प्रकाश २२०
 प्रकीर्णक ६८, ६४
 प्रकृति २२५
 प्रकृति बंध ८१
 प्रकृति समुत्कीर्तन ८०
 प्रक्रिया संग्रह १८८
 प्रचला २२६
 प्रचला-प्रचला २२६
 प्रज्ञापना ६६
 प्रज्ञाविजय २३७
 प्रज्ञाश्रमण ३०६
 प्रतर २७७
 प्रतिक्रमण २१, २६, ५४, ६६, १०७,
 २६६
 प्रतिचार कला २८४, २८६
 प्रतिच्छेद २२२
 प्रतिनारायण ४
 प्रतिपत्ति १२०
 प्रतिपद टीका १८८
 प्रतिपाती २४६
 प्रतिभा १०२
 प्रतिवासुदेव १२८
 प्रतिष्मूह २८४, २८६
 प्रतिष्मृति ६५
 प्रतिष्ठान १४६

प्रतिष्ठाविधि १११	प्रभावती ३०८
प्रतिस्थापन २६५	प्रभक्तविरत २७५
प्रत्यक्ष २४७	प्रमाणपरीक्षा ६०
प्रत्याख्यान ५१, ५६, ६६, १०७, २२७, २२८, २६६	प्रमाणनयतत्वालोकार्णकार ६२
प्रत्याख्यानविधि १११	प्रमाण मीमांसा ६२
प्रत्याहार १२२	प्रमाण संग्रह ६०, ६३
प्रत्येक २१८	प्रमाण संग्रह अलंकार ६०
प्रत्येकबुद्ध ३०, १६२	प्रमाण संग्रह भाष्य ६०
प्रत्येक शरीर २३०	प्रमालक्षण ८६
प्रथमानुयोग ६५, ७४, १२७, १३४	प्रमेयकमलमार्तण्ड ६१
प्रदक्षिणामण्डप ३३५	प्रमेयरत्नमाला ६१
प्रदेश २२५	प्रमोद भावना २६१
प्रदेशबन्ध २२५	प्रयाग ३०६
प्रद्युम्नचरित्र १४६	प्रवचनसार ८४, ६८
प्रद्युम्नसूरि ६७, ७२, १७६	प्रवचनसारोद्धार १०७
प्रद्योत १५१	प्रवरगिरि गुफा ३०७
प्रपा ३०४	प्रवृज्या १०२
प्रबन्धकोष १७६	प्रवृज्याहीन १०४
प्रबन्ध चिन्तामणि १६६, १७५, १७६	प्रवृत्तचक्रयोगी १२०
प्रबुद्ध रौहिणेय १७६	प्रवृत्ति ११८, १२०
प्रबोध चन्द्रोदय १८०	प्रषाम २४३
प्रभङ्गुरा २६७	प्रशमरतिप्रकरण १०८
प्रभव २६	प्रशस्त कर्म २३०, ३२५
प्रभा योगदृष्टि १२०	प्रश्न व्याकरण ६३
प्रभाचन्द्र ४०, ८०, ८५, ८६, ६१, १००, १०६, ११३, १२४, १३६, १६६, १७६, १७७, १७८, १८५, १८८, ३७०	प्रश्नोत्तर रत्नमालिका ३८
प्रभावकचरित्र १३६, १७६	प्रश्नोपनिषद् १६
	प्रसेनजित् ६५
	प्रहरण २६१
	प्रह्लाद १०
	प्रहारहरण २६१

ग्रहेलिका २८४, २८८	बक १७६
प्राकार २६३	बहुवान ३३२
प्राकृत ४, ७१	बडली ३३२
प्राकृत पिगल १६४	बत्थालीय २६
प्राकृत प्रकाश १८१, १८४	बनारस २
प्राकृत मूलाचार १०६	बनारसीदास ८५
प्राकृत लक्षण १८१, १८२, १८३, १८४, १६०	बनिया (ग्राम) ६२
प्राकृत व्याकरण ११६, १८४	बप्पदेव ७५
प्राकृतिक गुफाएँ ३०६	बप्पभट्टि सूरि ३०, १२७, १७६, ३०३
प्राणत स्वर्ग ६४	बप्प शाक्य २१
प्राणायाम १२१, १२२	बम्हलीय कुल २६
प्राणावाय ५१	बराबर पहाड़ी ३०६
प्रातिहार्य २६६	बर्जेस ३१२
प्रायश्चित्त १११, ११४, २७१	बर्थलीय कुल २८
प्रालम्ब २८८	बर्मा ४
प्रियंगुमंजरी १३६	बलदेव ४, ५८, १२८, १२६, १६५
प्रियव्रत ११	बलनन्दी ६७
प्रीति अनुष्ठान ११८	बलमित्र ३०
प्रोषण १०२	बलराम १६५
प्रोषधोपवास ११०, २६२, २६३	बला (योग) १२०
प्रोष्ठल ५७	बलाकपिच्छ १८६
बंकापुर ३७	बलि १०, ३०१
बंग ३३	बल्लाल नरेश ३३२
बंघ २२०	बसाङ्ग २३
बंघतत्त्व २२५	बहिया की गुफा ३०७
बंघन ८१, २३०	बहिरात्म ११८
बंघस्वामित्व ८१	बहुरत ३१, ५७
बंघश्चामित्वविचय ७४	बहुल ३०
बंघुवत् १६१	बाण १३७, १४५

बादर २१६, २३०
 बादरायण २३७
 बादानी ३६, ३१३
 बाबर बादशाह १५७
 बाबा प्यारा मठ ४, ३०६
 बारस ग्रणवेक्खा ८३, ८५, ११६
 बार्हस्पत्य दर्शन २१६
 बालचन्द्र देव ८५, १६४, १७२, १८०
 बालबोध १८८
 बालभारत १६६, १७४
 बालुका ६४
 बाहुबली ३, ११, ८०, १०३, १०८,
 १५१, १७६, ३०५, ३१३,
 ३७३
 बाहुबलीचरित्र १६३
 बाहुबली मन्दिर ३२३
 बाहुमुनि १०३
 बाहुमुद्र २८४
 बिंब १०२
 बिहारशरीफ २४
 बीजादि विशिका १११
 नीथि २६३
 बील्हा १५७
 बुद्ध ३, १३, २१६, ३०२
 बुद्धघोष १५०
 बुद्धचरित १३५
 बुद्धबोधित ३०
 बुलन्दीबाग ३००, ३२०
 बुल्हर ३०४
 बृहत्कथा १४४, १६६

बृहत् कथाकोष १७७, ३०२
 बृहत् कल्प १४५
 बृहत् कल्पभाष्य १०७
 बृहत् क्षेत्रसमास ६७
 बृहत् प्रत्याख्यान १०५,
 बृहद् वृत्ति १८६
 बृहद् वृत्ति-अवचूरि १६०
 बृहद् वृत्तिदीपिका १६०
 बृहत् संग्रहणी ६७
 बृहत्सर्वज्ञसिद्धि ६०
 बृहत्त्वयम्भूस्तोत्र १२४
 बृहन्नयचक्र ८७
 बृहन् न्यास १८६
 बृहस्पतिमित्र ३०७
 बेतवा नदी ३१०
 बैक (देश) १२
 बैन्जामिन रोलेण्ड ३२६
 बोटिक निह्वन ३१
 बोडिक संघ १०६
 बोध गुण १२०
 बोध गया ३१६
 बोधपाहुड १०२
 बोधि ११६
 बोधि दुर्लभ २७०
 बोप्प ४०
 बोलिदि (पोलिदि-ग्राम्ध) लिपि २८५
 बौद्ध १२०, २२०
 बौद्ध दर्शन २१६
 बौद्धाचार्य २१६
 ब्रह्म (स्वर्ग) ६४, (तत्त्व) २१८

ब्रह्मसूत्र ३८	भद्रा ६३, १३६
ब्रह्मचर्य २६८	भद्रान्वयी आचार्य ३११
ब्रह्मचर्याणुवत २५६	भद्रापुत्र धन्य ६३
ब्रह्मदत्त १०, ७३	भद्रासन ४२, ३१०
ब्रह्मदीपिका २६	भद्रेश्वर १३४
ब्रह्मावर्त १५	भय (नोकषाय) २२७
ब्रह्मोत्तर ६४	भयहर स्तोत्र १२५
ब्राह्मण १७, ४६, १५२	भरत १०, ११, ५७, ६४, १५१, १५४, १५६, १७६, १७६, १६२, १६५, ३०१, ३७३
ब्राह्मणकाल ५०	भरत-ऐरावत वर्ष ६७
ब्राह्मी ११	भरत नाट्य शास्त्र ३७०
ब्राह्मी लिपि ५८, २८५	भरतादिकथा १७८
भक्तपरिज्ञा ६६	भरतेश्वर ४०
भक्तामर स्तोत्र १२५, १२६, ३७१	भरहुत ३०२, ३०८
भक्ति ११८	भरहुत स्तूप ३०४
भक्ति लाभ १७३	भर्तृहरि १७८, १८६
भगवती आराधना १०६, १७७	भवन (देवों के) २६२
भगवतीदास १६४	भवनवासी देव २६२
भगवती सूत्र २१, ६६, १५१, १७२	भवनवासी लोक ६६
भगवद्गीता २३८, २४१	भवप्रत्यय २४६
भट्टारक ४५	भवभावना १५१
भट्टिकाव्य १४०	भवभूति १३७
भट्टीच ३७०	भविष्यदत्त १३१, १३६
भद्र १०	भविसयत्तकहा १६१
भद्रगुप्त ३०, १७२	भव्यसेन १०३
भद्रबाहु २८, २६, ३५, ५३, ७०, ८३, १०७, १२३, १५४, १७७, १७८, ३११	भागवत पुराण ११, १५, २६१
भद्र बाहु गुफा ३११	भाजा ३१०
भद्रयशीय २८	भाद्रपद १७७
भद्रसंघ ३२	भानुमित्र ३०

भामह १५४
 भामिनि ३२६, ३३५
 भारत ७०
 भारतीय दर्शन २३६
 भारवि ३६, १७०, ३१४
 भारद्वाज २६६
 भालपट्ट २८८
 भावचन्द्र ३७०
 भावदेव १४६, १७०, ३७३
 भावनाएँ, २५८
 भावनासार संग्रह १०८
 भावनिक्षेप २५३
 भावपाद्म १०३, १०६
 भावरत्न १२७
 भावलिङ्गी १०३
 भावविन्द १०४
 भावश्रमण १०३, १११
 भावश्रुत ५१
 भावसंग्रह ११२, ११३
 भावसेन त्रैविद्य १८८
 भावहिता २५६
 भावार्थ दीपिका १०७
 भाषा रहस्य प्रकरण ८२
 भाषा समिति २६५
 भाष्य ७२, १४५, १६८, १८५
 भास १८२
 भिक्षा १११
 भिक्षाचार ५६
 भिक्ष (लेखन) २८७
 भिक्षग्रन्थि १२०

भिक्षमाल ४३
 भिक्षक संघ ३२
 भीतरगांव ३१६
 भीम ४३, १७६
 भीमदेव ३३४
 भीमसेन १७६
 भुजबल (सान्तर) ४१
 भुवनचन्द्र गुप्त १४१
 भुवन सुन्दरी १४६
 भूत ५
 भूतबलि ३२, ४२, ५३, ७४
 भूत लिपि २८५, २८६
 भूपाल १२७, १६१
 भूमरा ३१६
 भूमिकाएँ ३२४
 भूषण-विधि २६१
 भृगुकच्छ १४१
 भृत्यान्ध्र १२६
 भेद (स्वर्णों का) २२०
 भेदविकल्प निरपेक्ष २५१
 भैरवानन्द १५६
 भैरोनाथ ३४
 भोगभूमि ६, ६५
 भोगवद्वा २८५
 भोगान्तराय २२८
 भोगोपभोग परिमाण (व्रत) १०२,
 ११०, २६२
 भोज ४३, १५७, १७८, १८६, १८६
 भौतिक वाद ६५
 आता १४१

भ्रान्ति १२०	मदन सुन्दरी १४२, १७४
मंखलिगोशाल ५६, ६०, ३०६, ३७३	मदनावली १६२
मंगरस १७८, १८८	मदनोत्सव १६३
मंगलदेव १६१	मदुरा ३२
मंडितटगच्छ ३३	मधु (प्रतिवासुदेव) १०
मकरकेतु १३८	मधुपिंग १०३
मकर तोरण २६६	मधुर २३०
मगध २, २३, ३३, १५६, ३७५	मधुसिक्ख २८४, २८८, २८९
मगधसेना १३६	मध्यप्रदेश ४६, ५०
मववा १०	मध्यम २३४
मङ्ग २६८	मध्यमा (शास्त्रा) २६
मङ्गलापुर ३२०	मध्यमिका ३३२
मञ्चपुरी ३०८	मध्यलोक ६३
मणिपाक २८४	मनक १६८
मणिप्रकाशिका १८८	मनः पर्यय (ज्ञान) २४४, २४६
मणि-प्रवाल शैली ७६	मनियार मठ ३०८
मणिभद्र यति १४७	मनु १०
मणिमेलक ३६	मनुष्य गति २१६
मणियार मठ ३१८	(योग्य) २३०
मणियुक्ति २६१	मनुष्य लोक ६४, ६६
मणिलक्षण २८४	मनुष्यायु २२६, २३४
मण्डप २६३, २६५, ३२३	मनुस्मृति १८, २४१, २४३
मतिज्ञान २२६, २४४	मनोयोग २२४
मतिसागर १८८	मनोरमा चरियं १४६
मत्तवारण २६३	मनोहरी १५६
मत्स्य युगल ३०५	मन्त्र २६१
मथुरा २६, ३०, ३२, ३४, १६०,	मन्त्रगत २८४
२८७, २६६, ३०२, ३०३,	मन्त्रपट ३७३
३०५	मन्दप्रबोधिनी ७६
मथुरा का स्तूप ३०३	मन्दर जिन भवन ६७

मन्दर मेरु २६३
 मन्दिर निर्माण शैलियां ३१८
 मन्दोदरी १६७
 मन्द्र ३५
 मयण पराजय १६४
 मयूर १६३
 मयूर संघ ३३
 मरण समाधि ६६
 मरियाने ४०
 मरीचि १६७
 मरुदेव ६५
 मरुदेवी ५७
 मकरा ३६, ८३
 मर्म बोधित्व २६१
 मलघारी ७३, (देव) १००
 मलपरीषद् विजय २६७
 मलय कीर्ति १५७
 मलयगिरि ७३, ८१, ६२, १६०
 (टीका) १७८
 मलयप्रभ सूरि १५१
 मल्ल १८
 मल्लकी ६०
 मल्लवादी ८७, ६१, १०७
 मल्लि १०, ६१, ११७
 मल्लिनाथ १३५
 मल्लिनाथ चरित्र १६६
 मल्लिभूषण ८०, १७८
 मल्लिषेण ८८ (सूरि) ६२
 मसि ६५
 मसूरिकापुर ८१

महामूदगजनी ४३
 महउम्मगाजातक १७५
 महाकल्प ५४
 महाकाल २६६
 महाकूट २६२
 महागिरि ३०, ७०
 महागोप ६२
 महाचन्द्र १८५
 महाजनक जातक १६
 महाजिनेन्द्र देवता ३७
 महातम (नरक) ६४
 महादेव १८८
 महाधर्मकधिक ६२
 महाध्वजा २६३
 महानन्दा २६७
 महानिर्यापक ६२
 महानिशीथ ६७
 महापरिनिब्बानमुक्त ३०२
 महापुडरीक ५४
 महापुराण ६८, १५३, १५६, १६६,
 ३०३
 महापुराण चरित १६६
 महाप्रत्याख्यान ६६
 महाबलमलयसुन्दरीकथा १७६
 महाबन्ध ७४
 महाबोधि मन्दिर ३१६
 महाब्राह्मण ६२
 महाभारत १६, १३१, १४४, १५२,
 १६६, १७६, १७६
 महाभाष्य १८१

महा मङ्गल द्रव्य २६२	महीमेरू १२४
महायान २६१	महीबालकहा १४०, १७३
महाराष्ट्री ४, ७६, १२४, १३०, १४६, १५२, ३७६	महेन्द्र ३६
महावंश ३५	महेन्द्रप्रभ १८८
महावाचक ७८	महेन्द्रवर्मन् ३१३
महाविदेह क्षेत्र २६३	महेश्वर १४६
महाविहार ३२६	महेश्वरसूरि १३६
महावीर २, ४, २१, २२, ३०, ३१, ३३, ५८, ५९, ११७, १४२, १५०-१५२, १५४, १६८, १७२, १७५, ३०६, ३०९, ३१०, ३१३, ३३४	महोसध १७५
महावीर चरित १५८, १७२,	माइल्ल ३०
महावीर चरित्यं १३५, १४५, १४६	माएसर १६१
महावीरस्तव १२४	मागधिका १८२, २८४, २८८
महावीराचार्य ३८	मागधी १४०, १८३
महावृत्ति १८५	माघ १६२, १६६, १७०,
महाव्याल १६०	माघनन्दी ६७
महाव्रत ८, २५, १०७, २६५	माणक (निधि) २६६
महाशतक ६१	माणव गण २८
महाश्रमणसंघ ३७	माणिक्यचन्द्र १६६, १७०
महाशिलाकंटकसंग्राम ६०	माणिक्यनंदि ६०
महाशुक्र ६४	माणिक्यसागर ६२
महासार्थवाह ६२	माणिक्यसुन्दर १७३, १७५
महासेन १५४	माणिक्यसूरि १७१
महाहिमवान् ६४	माण्डव्य १६२
महीचन्द्र १५७	मातृकापद ५८
महीपाल १४१, १७३	मात्रा १६२
महीपालचरित्र १४०, १७३	माथुरसंघ ३२, १५७
	माथुरी वाचना ५५, २८७
	माधवचन्द्र त्रैविद्या ८०
	माधवसेन १५७
	माधवीय धातुवृत्ति १८८
	माध्यमिका २६

माध्यस्थभाव २६१
 मान कषाय २२७
 मानतुंगाचार्य १२५, १५१, १७६
 मानदेवसूरि ११०
 मानभूम ३३
 मानविजय १७६
 मान्यखेट ३६, १५५, १५६, १६५
 मानस्तम्भ २६२, २६५, २६६
 मानुषक्षेत्र ६६
 मानुषोत्तर ६४
 मामल्ल पुर ३२२
 माया ६, २२७
 मायागत ६५
 मारवाड़ पल्ली ३३३
 मारसिंह ३७, ३८
 मारिदत्त १५८, १५९
 मारुतदेव १५३
 मार्दव २६८
 मालतीमाधव १३७
 मालवनरेन्द्र १६५
 मालवा ४४, १५७
 मालविनी २८६
 मालिनी ६६
 माहल्ल घवल ८७
 माहेन्द्र.६४
 माहेश्वरी लिपि २८५
 मित्रनन्दि १०६
 मित्रा १२०
 मित्रानन्द १७६
 मिथिला १६७, २६८

मिथ्यात्व २२७, २७४,
 मिथ्यात्वक्रिया ५६
 मिथ्यात्वी २४१
 मिथ्यादृष्टि ७, २१६
 मिहिरकुल ४३
 मीनयुगल ४२, ३१०
 मीमांसा १२०
 मुकुट २८८
 मुक्ताक्रीडा २६०
 मुक्तागिरि ३३०
 मुगल शैली ३६६, ३७१
 मुग्धादेवी १५६
 मुजफ्फरपुर २३
 मुद्गल १६
 मुद्राराक्षस १८०
 मुद्रिका-युगल २८८
 मुद्रित-कुमुदचन्द्र १८०
 मुनिचन्द्र ८२, ११०, १४०, १५०
 मुनिदीक्षा १०७
 मुनिधर्म २६५
 मुनिभद्र १३५
 मुनिशेखर सूरि १६०
 मुनिसुन्दर १२७, १५१, १८०
 मुनिसुव्रत १०, १३५, १४१, ३०२
 मुरलीधर बनर्जी १६८
 मुरुण्ड वंश १२६
 मुष्टि २८७
 मुष्टियुद्ध २८४, २६८
 मुष्टि व्याकरण १६०
 मुसुंठि २६८

मूढविद्नी ४५, ३२५
 मूर्तिनिर्माण २८२
 मूलगुण १०५, २६६
 मूलदेव १३७
 मूलदेवी २८६
 मूल प्रथमानुयोग ६४
 मूलराज ४२
 मूल वसतिका ४२
 मूलसंघ ३२, ३३
 मूलाचार २१, ७७, ६६, १०५, १०६,
 ११६
 मूलाराधनादर्पण १०७
 मृगांकलेखा-चरित्र १६४
 मृगावती १५१, १७२ (चरित्र) १७२
 मृच्छकटिक १६५, १६८
 मृदु (स्पर्शभेद) २३०
 मेखला २८८
 मेघकुमार ६०, ६१
 मेघ कुमार देव ३०१
 मेघचन्द्र १०६, १८६
 मेघदूत १७०
 मेघप्रभाचार्य १८०
 मेघुटी ३१४
 मेघुटी मन्दिर ३१६, ३२२,
 मेघेश्वर १७६
 मेढगिरि ३२०
 मेंढालक्षण २८४
 मेदज्ज (मेतार्य) १७७
 मेरक १०
 मेरु २६३

मेरुतुंग १६६, १७३, १७५, १८८
 मेरुपर्वत ६४
 मेहेसर चरित्र १६४
 मेगस्थनीज ३००
 मैत्री २६१
 मैथिली कल्याण १७६
 मोक्ष ६६, २१६, २३६, २४०, २७३
 मोक्षपाहुड ११५, ११८, १२०
 मोक्षाकर ६३
 मोक्षेश्वर १८८
 मोहम्मद गौरी ३३४
 मोहन २६१
 मोहनीय कर्म २२६, २२७, २३६
 मोहराजपराजय १७६
 मोहराज-विजय १६४
 मौर्यकाल २८७
 मौर्यकालीन ३२०
 मौर्यकालीन रजतसिक्का ३२०
 मौर्यवंश २६
 यक्ष ५, १०७, २६३,
 यक्ष लिपि २८६
 यक्षवर्मा १८७
 यक्षिणी १०७
 यजुः ५६
 यज्ञदत्त ४३
 यति १८, १६२
 यतिघर्म १११
 यति दिनकृत्य १०७
 यतिवृषभाचार्य ८२, १२८, २६२
 यथाप्रवृत्तकरण २७५

यम ११५, ११८
 यमकस्तुति १२७
 यवनपुर ३७०
 यवनी २८६
 यशःकीर्ति १५४, १५५, १५७,
 १५८, १६४, १७८, २३०
 यशःपाल १७६
 यशस्चन्द्र १८०
 यशस्तिलक चम्पू ३८, ११३, १५८,
 १७१, ३०३
 यशस्वी ६५
 यशोदेव १३४
 यशोधर १५८, २८६, २९१
 यशोधर काव्य ३६
 यशोधर चरित्र १७१, ३७१
 यशोबधुर १५८
 यशोभद्र २८, २९
 यशोर्ह १५८
 यशोविजय ८१, ८२, ८८, ९२, ११०,
 १११, १२१
 यष्टियुद्ध २८४, २९०
 याकोबी २१, २५
 याचना परीषद् २६७
 यात्राविधि १११
 यादव २०, १५४, १६५
 यापनीय संघ ३२, ३७, १०६, १५३
 मास्क १८६
 युक्त्यनुशासन ६, ८८, ९०, ९२
 युद्ध २८४
 युद्धसूर ५७

येवला तालुका ३१६
 योगदृष्टि १२०
 योगदृष्टि समुच्चय ६२, ११८, १२०
 योगपाठ्य ११६
 योग प्रदीप १२२
 योगबिन्दु ६२, ११८, १२०
 योगभक्ति १००
 योगभेद १२०
 योगविधान १११
 योगविधान विशिष्टा १११
 योगविशति ११८
 योगविशिका ६२
 योगशतक ६२, ११६ (प्राकृत)
 ११८
 योगशास्त्र १२२
 योगसार ११८, १२१
 योगसूत्र ११५
 योगाधिकारी १२०
 योगिनीपुर १५५, १५७
 योगीन्द्र ११२, ११३
 योगोद्दीपन १२२
 यौघेय १५८
 रक्त (वर्णभेद) २३०
 रंगभूमि २६६
 रघुविलास १७६
 रजोजल्लिक श्रमण १३
 रङ्गा १६३, १६२
 रणरंगसिंह १०८
 रतनपुर १४७
 रतनसेन १४८

रति २२७	रयणासुर ८४, १०५
रतिकर पर्वत २६५	रयणसेहरीकहा १४७
रतिवेगा १६२	रयधू १५८, १६३, १६४
रतिसुन्दरी १४७	रत्नु १६१
रत्न ६४	रविकीर्ति ३६, ३१४, ३२०
रत्नकरंड ११४	रविगुप्त चन्द्रप्रभा विजय काव्य २८५
रत्नकरंडशास्त्र १६४	रविन्नतकहा १६४
रत्नकरंडश्रावकाचार ११३	रविषेण १५४, १६४, १६६
रत्नचन्द्र १६२	रविषेणाचार्य १५३
रत्नचूड़ १४५, १७५	रस २३०
रत्नचूड़कथा १७५	रसनिर्यूनता ५७
रत्नतीरण २६६	रसपरित्याग २७१
रत्नदण्ड २६६	रहनेमिज्जं १६५
रत्नप्रभ १५०	रहस्यगत २८४
रत्नप्रभसूरि ६२, १३५	राक्षस ५, १३१
रत्नमञ्जूषा १६५	राक्षसलिपि २८६
रत्नलेखा १६२	रात्रमल्ल ३८, ८६
रत्नशेखर १४८, १७३, १६४	राजकथा २७५
रत्नशेखर सूरि ६७, १८०, १७३	राजगिरि ३३, ३०८
रत्नाकर १२७	राजगृह २४, १४३, १४६, २६८, २६६
रत्नावती १४७, १४८	राजघर देवड़ा ३३६
रत्नावली १६३, १६६	राजपुर १५८
रथ २६	राजप्रासाद १७७
रथमुसलसंग्राम ६०	राजमल्ल ३५, ११४, ३०३
रत्न (कवि) ३६	राजवातिक ११३
रमणीया २६५	राजविजयसूरि १६६
रम्यक क्षेत्र ६४	राजशेखर १७२, १७६, १७७, १७८
रम्यकवन १६०	राजावलीकथा १०६
रम्या २६५	राजा शिव ३१२
रयणचूड़रायचरियं १४५	राजीमती १६५, १६६

राजु ६४	रुक्म २३०
गॉडल्फ हार्नले १८१	रूप २८४
रानी गुम्फा (हाथी गुम्फा) ३०८	रूपगत ६५, २८८
राम ४, १०, १२, १६७	रूपमाला १८८
रामकथा १६४, १७६	रूपमालावृत्ति १८८
रामचन्द्र मुमुक्षु १७८	रूपसिद्धि १८८
रामचन्द्र सूरि १७६	रूपस्य ध्यान १२१, १२२
रामनद की गुफा ३६	रूपातीत ध्यान १२१, १२२
रामभद्र १७६	रूप्यमय २८६
रामविजय १५०	रेविमय्य ३२४
रामसिंह मुनि ११८	रेवती ५७, ३०
रामसेन मुनि ३२	रेवातट ३१६
रामानुजाचार्य ४०	रेशिन्दागिरि ३२०
रामायण ७०, १२६, १३१, १४४, १५२, १५६, १७६, १६३	रैवतुक गिरि १४१
रायपसेणिज्ज (० पसेणियं) ५६, ६५	रोग विजय २६७
रायमल्ल १६६	रोहक १७५
रायमल्लाम्युदय १६६	रोहगुप्त २८
रावण ४, ५, १०	रोहण २८
राष्ट्रकूट ३८, १५५, १६५	रोहिणी १६५
राहा (कवित्री) १६३	रोहिणीमृगांक १७६
राहुचरित २८४	रोहू १३०
राहुल १६१	रौद्र २७२
राहुलक १६८	रौहिणेय १६८
रिठुणेमि चरित १५४	लंका ४
रक्मि ६४	लंख २६८
रक्मिणी १६०	लकुण्डी ३२३
रगू १२०	लक्ष्मण ४, १६३
रुद्र १२६	लक्ष्मण गणि १३४, ३७०
रुद्रसिंह (प्र०) ४२, ३१०	लक्ष्मीचन्द्र मुनि ८०, १६०
	लक्ष्मीमति ४०, १६०

लक्ष्मीसागर १७८	लाङ्ग ५५
लक्ष्मेश्वर ३६	लान्तव ६४
लक्ष्मदेव १५७	लाभान्तराय २८८
लघीयस्त्रय ८६, ६३,	लायमन (प्रो०) १३६
लघीयस्त्रयालङ्कार ८६	लाला दीक्षित १६८
लघु (स्पर्शभेद) २३०	लास्य नृत्य २६८
लघुकौमुदी १८८	लिङ्गपाट्ट १०४
लघुभेदसमास ६७	लिच्छवि १८, ६०
लघु गोम्मतसारसिद्धान्त ८०	लूण वसही ३३४, ३३६
लघु जैनेन्द्र १८५	लेख २८४
लघु नयचक्र ८७	लोक ११६, २७७
लघु न्यास १६०	लोकपाल ६४
लघु पट्टावली १८०	लोकपूरण समुद्घात २७७
लघु वृत्ति १८६	लोकविन्दुसार ५१
लघुवृत्ति-प्रवचन १६०	लोकभावना २७०
लघुवृत्तिदुष्टिका १६०	लोकविभाग ६५, ६६, १००
लघु समन्तभद्र ८८	लोकाकाश ६३, २२१, २६२
लघु सर्वज्ञसिद्धि ६०	लोकानुप्रेक्षा ११७
लङ्कुश्राड २२	लोगाङ्गणी ६६
लतागृह २६३	लोभ २२७
लतायुद्ध २६०	लोमस ऋषि गुफा ३०७
लब्धि ७४	लोयविणिच्छय ६६
लब्धिसार ८०	लोहानीपुर ३२०
ललित कलाएं २८२	लोहार्य १०६
ललितविस्तर १३५, २६१	लौकाशाह ४५
लवकुश १६७	वंशीधर १८५
लवणशोभिका ३०४	वक्रगच्छ ३३
लवणसमुद्र ६३, ६६, २६२, २६४	वचन ११८
लाटी लिपि २८६	वज्जी ६०
लाटीसंहिता ११४	वज्र २६

वज्रद्वार २६६
 वज्रनन्दि ३२, ३६
 वज्रनाराच २३०
 वज्रभूमि ५५
 वज्रवृषभनाराच २३०
 वज्रसेन २८, २९, १४२
 वज्रस्वामी ३०, १०७
 वज्रायुध १८०
 वज्री शाखा २९
 वट गुफा आवली ३२६
 वटगोहाली ३४, ३२६
 वटववर ४३
 वटुकेर स्वामी ७७, १०५, १०६
 वडवानी नगर ३३२
 वड्डमाण कञ्जु १५८
 वड्डमाण कहा १५८
 वत्सगोत्री १७९
 वत्सराज १६५, १७८, ३३२
 वदनाबर ३३३
 वध परीषद् २३७
 वन खण्ड २६६
 वनराज ४२, १६०
 वनवासी ४५
 वनस्पतिकाय २१८
 वन्दन १०७
 वन्दनविधि १११
 वन्दना ५४, २६६
 वरसचि १७७, १८१, १८३, १८४
 वरांग चरित १५५
 वर्गणा ७४

वर्ण २३०
 वर्द्धमान १०, १४९, १५०, १६९,
 १७२, १८८, २४६, ३०४,
 (०चरित्र) १७०
 वर्द्धमानदेव ३९
 वर्द्धमानदेशना १५१
 वर्द्धमानपुर १७७, ३३२, ३३३
 वर्द्धमानपुराण १७०
 वर्द्धमानसूरि १३४, १६९, १७४
 वर्मला २०
 वर्षावास २२
 वलभी नगर ४२
 वल्लभी वाचना ५५, ५९, ६५, ६९
 वशिष्ठ शोध २३ (०मुनि) १०३
 वशीकरण २९१
 वसंततिलका ६६, १६५
 वसंत विलास १७२
 वसंतसेना १४२, १६५
 वसुदेव २०, १४२, १४४, १६५
 वसुदेवहिंडी १४२, १४३, १४५
 वसुनन्दि ८८, १०६, १११, ११२
 १२५
 वसुनन्दि श्रावकाचार ११४
 वसुमित्र १२९
 वस्तुपाल १७२, १७४, १८०, ३३५
 वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध १७२
 वस्त्र चित्रकारी ३७३
 वस्त्रविधि २८४, २८८, २८९
 वस्त्रशाटिका ३०१

बागमट १६६, १६५
 बाग्ययोग २२४
 बाबना २७१
 बाणिज्य २६
 बाणिज्य ग्राम २३, ६१, ६२
 बाणीवल्लभ १७०
 बातरशाना मुनि ११, १२, १३, १४,
 १७, ३७५
 बात्सल्य भाव २३४
 बात्स्यायन २८६
 बादमाला ६३
 बादिचन्द्र १८७
 बादिदेवसूरि ६०, ६२, ३७२
 बादिपर्वतवज्र १८८
 बादिभूषण १७८
 बादिराजसूरि ८७, ८६, ११३, १२६,
 १७०, १७१, १८६, १८८
 बादीभर्षिह १६६, १७१
 बाद्य २८४, २८८
 बापिका २६६
 बामन १८६, २३०
 बायडगच्छीय १६८
 बायुकाय २१८
 वाराणसी १६७, २६६, ३००, ३२०
 वारा नगर ६७
 वारिषेणाचार्य ३७
 वारुणीवर द्वीप-समुद्र २६४
 वाल्मीकि १३०
 वासवदत्ता ३०८
 वासवसेन १७१

वासिष्ठिका २८
 वासुकुंड २३, २४
 वासु गणिका ३०४
 वासुदेव ३४, ५८, १२८
 वासुपूज्य १०, ११७, १३५, १६६
 वास्तुकला २६२
 वास्तुनिवेश २८४, २६२
 वास्तुमान २८४, २६२
 विकषा २७५
 विक्रम ६७, १६६
 विक्रमपुर ३७२
 विक्रमादित्य ३०, ३६, १४६
 विक्रान्तकौरव १७६
 विंगाथा १६०
 विचय १२१
 विचारसार प्रकरण ६७
 विजय १०, ६४, १३०
 विजयकीर्ति ३७, १७१
 विजय कुमार १४१
 विजय गुरु ६७
 विजय चन्द्र १४१, १५१
 विजयदया सूरि १४८
 विजय नगर राज्य ३२४
 विजयपाल १६१
 विजय बंश १२६
 विजय शाखा १७६
 विजयसिंह ४०, १३४, १४६
 विजयसेनसूरि १७४
 विजया २६५, २६६
 विजयादित्य ३६

विजयाई ६
 विजयोदया १०७
 विज्जदाढ (विज्जदुप्प) १७७
 विज्जा १६३
 वितर्क २७३
 विदिशा नगर ३१० ३२६
 विदुर १६६
 विदेह २, २२, २३, ३३, ६४, ३७५
 विदेह पुत्र २२, ६०
 विदेह सुकुमार २२
 विद्याकर १६०
 विद्यागत २८४
 विद्याधर ५, १३१
 विद्याधर कुल १३६
 विद्याधर गोपाल २६
 विद्याधरी २६
 विद्याधरी (शाखा) २६, ३५
 विद्यानन्द १४१
 विद्यानन्दसूरि १८८
 विद्यानन्द महोदय ६०
 विद्यानन्द व्याकरण १७३
 विद्यानन्दि (गुरु) ८०
 विद्यानन्दि ८६, ८८, ६०, ६२, १०५,
 ११३, १८५, १८६
 विद्यानुवाद ५१
 विद्यावाणिज्य ६५
 विद्यासाधन २६१
 विनय २४२
 विनय तप २७१
 विनय चन्द्र १४६, १६४, १६६, १७०

विनयपाल १६०
 विनयविजय ६२
 विनयविजय उपाध्याय १२३
 विनयादित्य ३६
 विन्ध्य (पर्वत) ३२, ३७, ७६, ६४,
 ३०७, ३२१
 विपरीत २४२
 विपाक १२१
 विपाक विषय २७२
 विपाकसूत्र ६४
 विपुलमति २४६
 विपुला गाथा १६०
 विपुलाचल २४
 विमल १० १३०, १३३, १३४,
 १३६, १६४, १६५, १६७
 विमलचन्द्र पण्डित ३६
 विमलदास ६१
 विमलनाथ १६६
 विमलवसही ३३४
 विमल वाहन ६५
 विमल शाह ४३, ३३४
 विरजा बापिका २६५
 विरक्ति परायणता २४०
 विरहाङ्क १६०
 विवरण टीका (म्याय वि० की) ८६
 विविक्तशय्यासन २७१
 विविध तीर्थ कल्प ३०३
 विवेक २८१
 विवेक मंजरी १५१
 विशतिविधिका १११, ११८

विशाल (मनि) ३६	वीरदेवगणि १४०, १७३
विशालाचार्य २७, ५३, १७७	वीरधवल १७२, १७४, १८०, ३३५
विशाल (राजा) २३	वीरनन्दि ६७, १००, १०६, १६६
विशालनेत्रा १५६	(०मुनि) १००
विशुद्धि २३५	वीरभद्र १३६ (०आचार्य) ४३
विश्व झोपड़ी गुफा ३०६	वीर बल्लाल ४०, ३३२
विश्वतत्त्व प्रकाश १८८	वीर बराह १६५, ३३२
विशेषक छेद्य कला २६१	वीरशैव ४१
विशेषणवती ८२, १४३	वीर संघ ३२
विशेषावश्यक भाष्य ८६	वीर (सान्तर) ४१, ३२२
विषापहारव्रतोच्चापन १२६	वीरसूरि १८०
विषापहार स्तोत्र १२६	वीरसेन ३४, ७६, ६६, १६६, १६६,
विष्णु २७, १५४	३२६
विष्णुवर्द्धन ४०	वीरसेनाचार्य ४१, ५६, ७४, ७५, ८२,
विसम वृत्त १६२	३०३, ३१०
विसर्ग भाव २६६	वीर्यप्रवाद ६४
विसेस निसीह चूर्णि १३६	वीर्याचार १०६
विस्तार टीका १८८	वीर्यानुवाद ५१
विहायोगति २३०	वीर्यान्तराय २२८
वीचार २७३	वीरलदेव १७३
वीतकलंक ११३	वीसवीसीओ (विशतिविशिका) १११
वीतराग २१६	वृत्तक्रीडा २८४
वीतरागस्तोत्र १२७	वृत्ति (जैनेन्द्र) १८५
वीतशोका २६५	वृत्तिपरिसङ्ख्यान २७१
वीथि २६५	वृत्तिविवरणपञ्जिका १८८
वीथीपथ २६७	वृत्तिविवरण पञ्जिका-दुर्गपद प्रबोध
वीर १३६, १६६	१८८
वीरगणि १२४	वृत्तिसूत्र ८२
वीरचन्द्र (मुनि) ३२, ८०, १०७	वृषभाचार्य ६६
वीरचरित्र १५५	वर्णिदक्षा ६७

वेणतिया २८५
 वेताल १६३
 वेताल शान्ति सरि ७३
 वेद १५२
 वेदधिका गुफा ३०७
 वेदना खण्ड ५३, ७४, ३०६
 वेदनीय २२६
 वेदनीय कर्म २२६, २३४, २३६
 वेदांकुश ६२
 वेलकर १६१, १६४
 वेसर (धित्य शैली) ३२१
 वेसवाडिया शाखा २८
 वेसालीय २३, ५८
 वैक्रियिक २१६, २३०
 वैकुण्ठपुरी ३०८
 वैजयन्त ६४
 वैजयन्ता वापिका २६६
 वैजयन्ती वापिका २६५
 वैताडघ पर्वत १३८
 वैतालीय १६३
 वैदिक ऋषि १७
 वैदिक साहित्य ५०
 वैनयिक ५४, १०३
 वैपावृत्य तप २७१
 वैरजस ३०६
 वैरकुमारकथानक ३४
 वैरदेव मुनि ३०६
 वैरोट्या देवी ३७३
 वैशाली २३, ६०, ६२, ३०२
 वैषिक कला २६१

वैष्णव धर्म ४०
 व्यंजनावग्रह ६३, २४४
 व्यन्तर लोक ६६
 व्यय ६, २२३
 व्यवहार ६७, ७२, २४६
 व्यवहार काल २२२
 व्याकरण २६१
 व्याख्यानाचार्य ७८
 व्याख्याप्रज्ञप्ति ५६, ७४, ३०१
 व्यापारांश ६३
 व्याल १६१
 व्युपरतक्रियानिर्वात २७३
 व्युत लेखन २८६
 व्यूह कला २८४, २८६
 व्यूह-विरचन २६१
 व्रत १६, २६३
 व्रतोद्यापन १२७
 व्रात्य १८
 शंकराचार्य २३७
 शक ३०, ६७
 शकटव्यूह २६०
 शकटाल १७७
 शक राजा १२६
 शकुनस्त २८५
 शकुनिका विहार १४१
 शकुन्तला ३०८
 शंख (भावि तीर्थ) ५७, (निधि)
 २६६ (वाङ्मय). २६१
 शतक कर्मग्रंथ ८०, ८१
 शतधनी २६८

शतपथ ब्राह्मण ३०२
 शतभिषा (नक्षत्र) ५८
 शतानीक १५१
 शतार स्वर्ग ६४
 शत्रुजय ४४, १३८, ३१६, ३७४
 शत्रुजयमाहात्म्य १७६
 शब्द (पुद्गल) २२०, (प्रमाण)
 २४७, (नय) २४६
 शब्दभूषण व्याकरण १६०
 शब्दवेषित्व २६१
 शब्दसिद्धिवृत्ति १८८
 शब्दानुशासन १३६, १८३, १८७,
 १८६, १६०, १६१
 शब्दाभोजभास्कर १८५
 शब्दार्णव १८६
 शब्दार्णव चन्द्रिका १८६, १८७
 शब्दार्णव प्रक्रिया १८६
 शयनविधि २८४, २८८, २८६
 शयनोपचारिक २६२
 शय्या परीषद् २६७
 शरीर कर्म २३०
 शरीर संस्थान २३०
 शर्करा नरक ६४
 शलाका पुरुष ४, १०
 शश १३७
 शाकटायन १८७, १८६
 शाकटायन व्याकरण ३८
 शाकम्बरी १८०
 शाक्यभिक्षु ५६
 शाण्डिल्य २८, ३०

शांतलदेवी ४०
 शान्ति १०, १६६
 शान्तिचन्द्र ७३
 शान्तिचन्द्र गणि १२७
 शान्तिनाथ १३५, १६६
 शान्तिनाथ मन्दिर ३२४, ३३३
 शान्तिनाथस्तवन १२४
 शान्तिपर्व २०
 शान्तिपुराण ३८
 शान्तिभक्ति १००
 शान्तिवर्मा ३७
 शान्तिसूरि ७३, ८६, १११, १७६
 शान्तिसेन २६
 शाम्ब १६८
 शार्दूलविक्रीडित ६६, १६५
 शालिभद्र १७२, १८६
 शालिभद्रचरित १७२
 शास्त्रयोग १२०
 शास्त्रवातसिमुच्चय ६२
 शाही राजा ३५
 शिक्षा विधिका १११
 शिक्षाव्रत १०१, १०२, ११३
 शिक्षाव्रत ११७
 शिखरी ६४
 शिराभरण २८६
 शिलापट ३०४
 शिलाहार १८६
 शिल्प ६५
 शिवकुमार १०३
 शिवकोटि १०६, १६६

शिवगुप्त १०६
 शिवचन्द्र ४३
 शिव तत्त्व १२१
 शिवभूति आचार्य १६६
 शिवभूति मुनि १०३
 शिव मन्दिर ३१६
 शिवमहापुराण १२
 शिवमार ३७
 शिवमुग्धेश वर्मा ३७
 शिवयशा ३०४
 शिव राजा ३१२
 शिवशर्म ८१
 शिवा १६५
 शिवार्य १०६
 शिविका ३०१
 शिवनदेव १६
 शिशुपाल वध काव्य १६२, १६६
 शिष्यहिता (टीका) ७३, १११
 शीत २३०, २६६
 शीतल १०
 शीलगुणप्रस्तार १०६
 शीलगुप्त मुनि १६२
 शीलपाहुड १०४
 शीलवती १४१, १५१, १६०
 शीलांक आचार्य ७३, १३१, १३४,
 १६८
 शीलांगविधि प्रकरण १११,
 शीलादित्य १७६
 शीलोपदेशमाला १५०
 शुक्र ६४

शुक्ल २३०
 शुक्लध्यान १२२, २७३
 शुक्लकालीन लेख ३०६
 शुद्धव्याधिकनय २५१
 शुद्धपर्यायाधिकनय २५२
 शुद्धयष्टक १०६
 शुद्धावस्था २३३
 शुभ कर्म २३०, २३३
 शुभचन्द्र ८५, ६१, ११७, १२१, १२२,
 १६६, १७२, १७८, १८४,
 ३०८
 शुभंकर ८७
 शुभवर्धनगणि १५१
 शुभशीलगणि १७३, १७८
 शुभ्रभूमि ५५
 शृंगार वैराग्य तरंगिणी १०६
 शेरशाह सुलतान १४८
 शैलनन्दी भोगभूमि ६७
 शैलस्तम्भ ३५
 शौच २६८
 शौरसेनी प्राकृत ४, ७२, ७६, १२४,
 १५२, १८२, १८३, ३७६
 शोरीपुर २०, १६५
 श्यामकुंड ७५
 श्यामाक्ष ३५
 श्यामार्य ३०
 श्रमण १७
 श्रवण चित्तगुण १२०
 श्रवणवेलगोला ३, ३५, ३७, ३८,
 ७६, १०८, १०९, १८६,

- ३११, ३२६
 आद्धिदिनकृत्य १४२
 आमण्य १३, ६६
 आवकधर्म १११
 आवकपद ११३
 आवकप्रज्ञप्ति १०२, ११७
 आवकप्रतिक्रमणसूत्र ११२
 आवकप्रतिमा १११
 आवकाचार ८५, ११३, ११४
 आवस्तिका शास्त्रा २८
 आवस्ती ३०, ५७, २६८, २६९
 आवस्तीपुर २७
 श्रीकलश ३२
 श्रीगुप्त २८, ३०
 श्रीचन्द्र (कवि) ४३
 श्रीचन्द्र १३४, १३५, १६३, १६४
 श्रीचन्द्र सूरि १३५, १७२
 श्रीतिलकसूरि १७२
 श्रीदत्त १६६, १८६
 श्रीदत्ता १३६
 श्रीदेवी २६३
 श्रीधर १५७, १५६, १६०, १६१,
 १६३
 श्रीनन्दि ६७, १११
 श्रीपाल १४२, १६६, १७४
 श्रीपाल चरित १६४
 श्रीपाल चरित्र १४२, १७४, १६४
 श्रीपाल त्रैविद्यदेव ४०
 श्रीपुर नगर १४१
 श्रीपुरुष ३७
 श्रीभूषण १६६, १७०
 श्रीमण्डप २६७
 श्रीमृगेश ३७
 श्रीवल्लभ १६५, ३३२
 श्रीविजय शिवमृगेश वर्मा ३७
 श्रीव्रत ३०
 श्रीहर्ष १७४, १७७
 श्रुत २४४
 श्रुतकीर्ति ३७, १३८, १५५, १६४,
 १८५-१८७
 श्रुतकेवली २७
 श्रुतज्ञान २२६, २४५
 श्रुतदेवी २६३
 श्रुतधर्म ५७
 श्रुतपंचमी ७४ ०कथा १५६ ०व्रत
 १६१
 श्रुतसागर १०५, ११२, १२७
 श्रुताङ्ग २४५
 श्रुतावतार ८२ ०कथा ७६
 श्रुतिधर १६०
 श्रेणिक ३३, ५७, ६०, ११२, १४५,
 १५८, १६८, १८६, ०तापस
 २६
 श्रेयांस १०, १३५
 श्रौतसूत्र ४६
 श्लोक २८४, २८८
 श्लोकवार्तिक ६०, ११३, १८५
 श्वासोच्छ्वास २१८
 श्वेतपट ३७
 श्वेतविका ३१

द्वेताम्बर ४२
 षडशीति ८१
 षडावश्यक ६६, १०५, १०६, १०६
 षट्कर्म ८१
 षट्खंड चक्रवर्ती ६४
 षट्खंडागम ४१, ४२, ५३, ७४, ७६,
 ६६, ६६, ३०६, ३२६
 षट्दर्शन समुच्चय ६२
 षट्पाहुड टीका ११२
 षट्प्राभृत १०५
 षोडशक ६२, १२०
 संकल्पी २५७
 संक्रमण ८१, २२५
 संक्रान्ति २८७
 संक्षेप २३५
 संक्षिप्तसार १६८
 संक्षेपप्रत्याख्यान १०५
 संगन १६६
 संग्राहनी ६६
 संगीत २८२
 संगोयणी ६६
 संग्रह २४६
 संग्रहणी ६७
 संघदासगणि ७२, १४३
 संघभेद २७
 संघाटिक १३
 संघात २२०, २३०
 संज्वलन कषाय २२७, २२८, २७५
 संज्ञी २१६
 संतकम्पपाहुड ७७

संतरोत्तर २७
 संति (सति) ६७
 संभव १०
 संभूतिविजय २८, २६
 संयत २७५
 संयतासंयत २७५
 संयम २५, २६८
 संलेखनाविधि ३७
 संवर ११६, २५३
 संवरभावना २६६
 संवाहन २६१
 संवेग २४३
 संवेग रंगशाला १५१
 संशय २४२
 संशयवदनविदारण ६१
 संसार भावना ११६, २६६
 संस्कृत १२४
 संस्तर २७
 संस्तारक ६६
 संस्थान १२१, २२०
 संस्थानविचय २७२
 संहनन २३०
 सकलकीर्ति १२३, १६५, १६६, १७०,
 १७२, १७३
 सकलचन्द्र ६७
 सकलविधिविधानकहा १६४
 सगर चक्रवर्ती १०
 सञ्चित-त्याग २६४
 सञ्चइपुत्त १०४
 सञ्जय ५७

सजीव २८४	सप्तभंगीनयप्रदीप ६३
सजीव आश्रय २६२	सप्तभौमप्रासाद-प्रमाण २६१
सज्जन (प्राग्वट वंशी) ४३	सप्त स्वर ५७
सज्जाय १२१	सभामण्डप ३३५
सणकुमारचरित १६३	सभास २८४
सत्कर्मप्राप्त ५३	सम्यता २८२
सत्कार पुरस्कार विजय २६७	समचतुरस्र २३०
सत्तरी ८०	समतट ३४
सत्ता ६, ८१	समताभाव २६६
सत्तामात्रग्राही २५१	समताल २८४, २८८
सत्य २६८, २७०	समन्तभद्राचार्य ६, ३६, ७५, ८७,
सत्यप्रवाद ५१	६२, १०६, ११३, १२२,
सत्यशासनपरीक्षा ६०	१२३, १२५, १६६, १७६,
सत्याश्रय ३६	१८३, १८६, १८८
सत्त्व २२५	समभिरूढ २४६
सदाचार १२०	समष्टादित्य १४४, (कथा) १३६
सद्दालपुत्र ६१, ६२	समुच्छेद ३१
सद्धर्म १११	समुद्घात-क्रिया २७७
सनत्कुमार १०, ५७, ६४, १५५,	समुद्र विजय २०, १४३, १४४, १६५
१६३	समयसार ८४, १०६
सनत्कुमार चरित १५७, १६३, १७२	समयसारकलश ८५
सन्मति ६५	समयसार टीका ८५
सन्मतिप्रकरण ८७	समयसार नाटक ८५
सपादलक्ष ४४	समयसुन्दर १४६
सपादसप्ताध्यायी १८५	समरभिर्यंका १४५
सप्तच्छद २६४	समरसिंह १७६
सप्तति ८१	समराइन्वकहा ११०
सप्ततिका ८१	समरादित्य कथा १४४, १४५
सप्तफणीनाग ३१५	समवसरण २६५
सप्तभंगितरंगिणी ६१	समवसरणस्तोत्र १२४

समवायांग ५७, ६४, ६५, १२८,
१३१, १३३, २८६, २९१

समाधिभरण ११४, २६३

समाधिशतक ११६, १२०

समाधिशिला ३१३

समोसरण ३००

सम्पुष्ट फलक २८७

सम्प्रति ३६

सम्मङ्गणाह चरित १५८

सम्मङ्सुत्त ७७, ८७

सम्मत्तसत्तरि ११०

सम्मूर्च्छन २२०

सम्मेदशिखर २, २१, २६५, ३१६

सम्यक् चारित्र २५३

सम्यक्त्व २२७, २७४

सम्यक्त्व कौमुदी १७८

सम्यक्त्वक्रिया ५६

सम्यक्त्वसप्तति १०७

सम्यक्त्वोत्पत्ति ११०

सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका ८०

सम्यग्दर्शन २४१

सम्यग्दर्शन विबुद्धि २३४

सम्यग्दृष्टि ७, २६३

सम्यग्मिथ्यात्व २२७

सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान २७५

सम्नाट् चन्द्रगुप्त ३११

सयोग केवली २७७

सरकाप ३०५

सरस्वती १४६

सरस्वतीनिलय १५६

सरस्वतीभक्ताभरस्तोत्र १२७

सरस्वतीस्तोत्र १२७

सरोजभास्कर ८५

सर्वगुप्त गणि १०६

सर्वघाती २३६

सर्वज्ञसिद्धि ६१

सर्वज्ञस्तोत्र १२७

सर्वतोभद्र मन्दिर ३२६

सर्वतोभद्रा २६५

सर्वदेवगणि १३५

सर्वदेवसूरि १७२

सर्वनन्दि ६५, ६६, १००

सर्ववर्मा १८८

सर्वविरत १२०

सर्वोदयतीर्थ ६

सर्वांगसुन्दरी १५१

सर्वानन्द १५० (सूरि०) १७३

सर्वार्थसिद्धि ८६, ६४, ११३, १८५

सर्वार्थ सिद्धि टीका ३७, ५४, ८३

सर्वाविधि २४६

सल्लेखना ३७, १०२, १०७, ११२,

११३, ११७, २६२

सब्बंबुद्ध १०४

ससिलेहा १६४

सहस्रकीर्ति ४३

सहस्रस्तम्भलयन ३१३

सहस्रार ६४

सांकलिया ३१०

सांख्य १२०

सांची २६६, ३०२ ३०८

सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष ८६, २४५,

२४७

साकार स्थापना २५३

सागर २३४

सागरोपम २३५

सागार धर्माभूत ११४

सागारधर्माभूतटीका ११२

साणा (सेठ) ३७०

सातवाहन १४६, १७८, १६८

साता वेदनीय २२६, २३३

सादडी ३३३

सादि २३८

साधारण १५७, २१८

साधारणजिनस्तोत्र १२७

साधारण शरीर २३०

साधुधर्म १११

साधुप्रतिमा १११

सान्तर नरेश ४१

सान्तरवंशीराजा ३२२

सान्तिगाहचरित १५७

साभासा २८५

साम ५६

सामर्थ्ययोग १२०

सामवेद १८

सामाचार १०५, १०६

सामाचारी १११

सासानिक ६४

सामान्यग्रहण २४३

सामान्यलोक ६६

सामायिक ५४, ६८, १०२, ११०,

२६२, २६३

सामायिक धर्म २१, २२

साम्परायिक ५६, २२५

सायणभाष्य १३

सारतरदेशी १६८

सारनाथ ३०२

सारसंग्रह ७७

साराभाई नवाब ३७२, ३७३

सारोद्धार १७४

सार्धद्विपाद-चतुराध्यायी १८५

सार्धशतक ८२

सार्धकपादी १८५

सालिहीप्रिय ६१

सावयधम्मदोहा ११२

सावयधम्मविधि ११०

सावयपण्णत्ति १०६

साश्रुपात २६२

सासादन २७५

सिंघाटक २६६

सिंघ घाटी की मुद्रा ३०८

सिंघु ६४

सिंह ३३, १६३

सिंहकवि १७२

सिंहसूरिगणि ६१

सिंहदत्तसूरि १७८

सिंहनन्दि ३७, १८६

सिंहनिषङ्गा-आयतन ३०१

सिंहभूम ३३

सिंहल ३६, १४८

सिंहल द्वीप १४१, १६२

सिंहवर्मा ३६, ६५	सिद्धिविनिश्चय ६०
सिंहसूरि ६५, १००	सिरिवाल चरित १६४
सिंहसेनसूरि १४०	सितम्पडिकारम् ३६
सितप्रवासल ३१३	सीता ५, १६७
सिन्दूरप्रकर १०६	सीमंघर ६५
सिद्धक्षेत्र ३१६	सुकंठ १६०
सिद्धगुणस्तोत्र १२७	सुकुमालचरित १६३
सिद्धपाल १५७	सुकुमालिया ६१
सिद्धप्रियस्तोत्र १२५	सुकोसलचरित १६४
सिद्धभक्ति १००	सुखनासी ३२३
सिद्धयोगी १२०	सुखबोधनीटीका १५०
सिद्धरबस्ति ३२	सुखबोधा ७३
सिद्धराज (चालुक्यनरेश) ४४	सुखविपाक ६४
सिद्धराज १८६	सुगन्ध २३०
सिद्धराजजयसिंह १६३	सुगन्धदशमीकथा ६१, ३७१
सिद्धलोक ६६	सुगन्धदहमीकथा १६४
सिद्धवरकूट ३१६, ३३२	सुग्रीव ५
सिद्धभक्ति १११	सुत्त ७२
सिद्धाषि गणि ८६	सुदंसणचरित १६३
सिद्धाषि १५०, १७४, १७६	सदंसणाचरियं १४१
सिद्धसुख १११	सुदत्त १५८
सिद्धसेन गणि ८६	सुदत्तमुनि १५६
सिद्धसेन ८७, ८८, ८९, ९१, १२३, १२६, १६६, १८६, (सूरि) १०७, १४०	सुदर्शन १०, १४१
सिद्धसेनीयटीका २१	सुदर्शन मेरू ६७
सिद्धहैमशब्दानुशासन १८६	सुदर्शना १४१
सिद्धान्तकौमुदी १८८	सुदामा ३०६
सिद्धार्थ २२	सुद्धसहाव १६३
सिद्धि ११८	सुद्धसील १६३
	सुधर्म २६, २८, २९, १५३, १५४
	सुधर्म स्वामी ३७३

सुषमाचार्य ५८	सुवर्णमय २८६
सुन्दरी ११	सुवर्णयक्ति २६०
सुपादर्व १०, ५७, (०नाथ) ३४	सुवर्णरंग ३६६
सुपादर्वनाथ तीर्थकर ३०३	सुश्रूषा १२०
सुपासणाह चरिय १३४, ३७०	सुषमा ६५
सुपिया गुफा ३०७	सुषमा-दुषमा ६५
सुप्रतिबुद्धा २६६, २६७,	सुषमासुषमा ६५
सुप्रभ १०	सुषुप्ति ११५
सुप्रभा १६५	सुसुमारपुर ३०१
सुबन्धु १३७, १४५	सुस्थित २६
सुबाला १६७	सुस्वर २३०
सुभग २३०	सुहस्ति (आचार्य) २८, ३०, ३६
सुभद्रा १७६	सूक्त ७१, ७२
सुभाषितरत्नसन्दोह १२१	सूक्ष्म २१६, २३०
सुभौम १०	सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती २७३
सुमति १० (गणि) १४६	सूक्ष्मता २२०
सुमतिदेव ८७	सूक्ष्मशरीर २१६
सुमतिनाथचरित्र १३४	सूक्ष्मसाम्पराय २७६
सुमतिवाचक १३५	सूक्ष्मार्थविचारसार ८२
सुमतिसूरि १४६	सूत्र ६४, २८८
सुरसुन्दरी १३८	सूत्रकृतांग ५६, ७२
सुरसुन्दरीचरिय १३८, १४३	सूत्रकृतांग वृत्ति ३७३
सुरादेव ६१	सूत्रक्रीडा २८४
सुरंगोपभेद २६२	सूत्रपाहुड १०१
सुलतान ४३	सूत्राचार्य ७८
सुलतान महमूद बेगड़ा ३३६	सूर १५४
सुलसा ५७	सूरप्रभ १७३
सुलोचनाचरित्र १५४, १६३	सूराई (सूरादेवी) १६२
सुवर्णगिरि ३१६, (सोनागिरि) ३३०	सूराचार्य १६६
सुवर्णपाक २८४	सूरीश्वर १४८

सूर्यणक्ता १३३
 सूर्य ६४
 सूर्यचरित २८४
 सूर्यदेवसूरि १४६
 सूर्यप्रज्ञप्ति ६६, ७२, ६३, ६८
 सूर्याभिदेव ६५
 सृग्धरा ६६
 सेतुबन्ध ७७
 सेनगण ३२, ३३, ३४, ३०३
 सेवाविधि २६१
 सैतव १६२, १६५
 सैन्धवी २८६
 सोणिय १५७
 सोनभण्डार ३०८
 सोपान २६५
 सोपान पथ ३२३
 सोमकीर्ति २७२
 सोमचन्द्र १५१ (गणि) १७३
 सोमतिलक १२७, १५०
 सोमतिलकसूरि ६७
 सोमदेव ३८, ११३, १५८, ३०३,
 (सूरि०) १७१, १७८
 सोमदेवमुनि १८६
 सोमनाथ ४३
 सोमपुर महाविहार ३२६
 सोमप्रभ १०६, १२७, १३४, १५१
 सोममंडल गणि १७३
 सोमविमल १७३
 सोमसिंह देव ४४
 सोमसुन्दरगणि १७५

सोमसुन्दरसूरि ७३
 सोमेश्वर ३६, १००
 सौधर्म ६४
 सौन्दर्य २६१
 सौभाग्यकर २८४
 सौरमंडल १६५, ३३२
 सौराष्ट्र १५६, १७६, ३७५
 सौराष्ट्रिका २८
 सौवर्तिका २८
 स्कन्दगुप्त ३५
 स्कन्दिल ३०, ५५
 स्कन्दिल आचार्य ६७, २८७
 स्कन्धक १६०
 स्कन्धावारनिवेश २८४
 स्कन्धावारमान २८४
 स्टैला कैमरिश ३१७
 स्तम्भन २६१
 स्तर १२०
 स्तवविधि १११
 स्तुति २६६
 स्तुतिविद्या १२५
 स्तूप २६५, २६७, ३००, ३०२
 स्तूप पट्टिकाएँ ३०३
 स्तूपिका ३२२, ३२४
 स्त्यानगृद्धि २२६
 स्त्री २२७
 स्त्री कथा २७५
 स्त्री परीषद् २६७
 स्त्री लक्षण २८४
 स्त्री वेदी २२०

स्थलगत ६५
 स्थविरकल्प २७, १०७
 स्थविरावली २८, १०६
 स्थविरावली चरित्र १६८
 स्थान ११८
 स्थानांग ५६, ६४
 स्थापत्यकला ४३
 स्थापनाचार्य ३७२
 स्थावर २१८, २३०
 स्थितास्थित विधि १११
 स्थिति २२५
 स्थितिबन्ध २३४
 स्थितिभोजन २६६
 स्थिर २३०
 स्थिरता ११८
 स्थिरा योगदृष्टि १२०
 स्थूलता २२०
 स्थूलभद्र (आचार्य) २८, २६, ५४
 ७०, १६८
 स्नान त्याग २६६
 स्निग्ध स्पर्श २३०
 स्पर्श २३०
 स्मिन् ३०४
 स्याद्वाद ६, २४८
 स्याद्वादमंजरी ८८
 स्याद्वादमाला ६२
 स्याद्वादरत्नाकर ६०, ६२
 स्याद्वादरत्नाकरावतारिका ६२
 स्याम देश ४
 स्यूत लेखन २८६

स्वच्छन्दवादी २२६
 स्वजाति-असद्भूत-उपनय २५२
 स्वयंबुद्ध ३०
 स्वयंभव १६५
 स्वयंभू १०, २६, १५३, १५४, १५५,
 १६२, १६२, १६३
 स्वयंभू छन्दस् १६२, १६५
 स्वयंभू मनु ११
 स्वयंभूरमण समुद्र ६४
 स्वरगत २८४, २८८
 स्वरोदय २९१
 स्वर्गलोक ६६
 स्वस्तिक ४२, ३१०
 स्वाति ३०, २३०
 स्वाध्याय तप २७२
 स्वामिकीर्तिकेय १७७
 स्वामिकुमार ११७
 स्वोपज्ञ विवरण १८६
 हंसरत्नसूरि १७४
 हंसलिपि २८६
 हजारा ३०५
 हजारीबाग ३३
 हनुमान ५
 हम्मीर १७४, १८०
 हम्मीरकाव्य १७४
 हम्मीर मद मर्दन १८०
 हयलक्षण २८४
 हरि ६४
 हरिगुप्त (आचार्य) ४३
 हरिचन्द्र यति १८६

हरित २३०
 हरिभद्र (आचार्य) ४३, ११८
 हरिभद्रसूरि ७२, ७३, ८२, ८६, ९१,
 १०२, १०७, १०८, १०९,
 ११०, १२१, १३५, १३७,
 १३९, १४४, १४५, १५०,
 १५७, १६३, १६४, १७६,
 १७७, १८०, ३०१, ३०३

हरिभद्रसूरि चन्द्रगच्छीय १७२
 हरिभद्रोय टीका २८७
 हरियाणा १५७
 हरिवंश १५४, १६३
 हरिवंश चरित १६२
 हरिवंश चरित्र १६५
 हरिवंश पुराण १५, ६८, १०६, १४२-
 १५५, १५७, १६५, १६६,
 १७७, ३३२,

हरिवर्मा ३७
 हरिषेण १०, ३४, १३८, १६४, १७७,
 ३०२

हरिश्चन्द्र १६६, १७२
 हर्षदेव (परमार) ३६, १५६, १६३,
 १६५

हर्षिणी आश्रिका ३७०

हलेबीड ३२४, ३२५

हल्लि ३२५

हवेनत्सांग ३२६

हस्तनापुर १३६

हस्तलाघव २६१

हस्तिमल्ल १७६

हस्तिशाला ३३४

हस्तिशिक्षा २८४

हाथीगुम्फा ३०७

हार २८८

हारि आचार्य ३०

हार्यमालाकारी २८

हास १३६, १६३

हास्य २२७

हितोपदेश १५०

हिन्दी ४

हिमालय २, ६, २२, ६४

हिरण्यपाक २८४

हिरण्यपुर १४१

हिरण्ययुक्ति २६०

हिता २५६

हीयमान अवधिज्ञान २४६

हीरानन्द मनि ३७०

हीरविजयसूरि १७६

हुएनत्सांग ३३, ३१६, ३२६

हुएनत्सांग ३०५

हुण्ड २३०

हुँवच ३२२

हुँन्त्सांग ३१६

हुमड १५७

हुल्ल (सेनापति) ४०

हुविष्क ३४

हुसीना ३०५

हुसैनबाह ३७०

हुदयानन्दा २६७

हेमचन्द्र (आचार्य) ४४, ५४, ७३,

८८, ९२, ११६, १२२, १२३	हेमविजय १७०, १७८
१२७, १३४, १३६, १४०,	हेमबिमल १४२
१५१, १६७, १६८, १७०,	हेमवत ६४
१७२, १७३, १७६, १७७,	हरण्यवत ६४
१७८, १८०, १८३, १८४,	हैमव्याकरण १८४
१८६, १९०, १९३, १९४,	होयसलकाल ३२५
१९५, १९६, १९८, ३७०	होयसल वंश ३३२
हमचन्द्र (मलवारी) ८२, ६७, १३५,	होयसलेश्वर मन्दिर ३२५
१६६	होलागिरि ३२०
हेमचन्द्र साधु १४२	होलिवर्म १५८
हेमतिलकसूरि १४२, १६४	

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	५	सर्वापदां	सर्वापदाम्
१२	६	नाभः	नाभेः
१३	२०	मुनियो	मुनयो
१४	२७	प्रघब्राज	प्रवब्राज
१४	२६	ग्रहगृहीत	ग्रहगृहीत
१४	३०	इवादृश्यत	इवादृश्यत
१६	८	एक	एव
२४	१२	जानाली	जामालि
२८	२०	कोडंबाणो	कोडंबाणी
२९	७	विद्याधर	विद्याधर
३६	७	विशाल	विशाल
३६	१८	सिलप्पडिकारं	सिलप्पडिकारं
३८	२२	कृष्ण द्वितीय	कृष्ण तृतीय
३८	२५	कोश	पोश
४३	१७	ऋषभदेव	ऋषभदेव
६७	२६	आवश्यक	आवश्यक
७७	२३	षट्खंडागम	षट्खंडागम
७९	१६	राक्षमल्ल	राक्षमल्ल
७९	१८	बहुबलि	बाहुबलि
८४	२७	पंचास्तकाय	पंचास्तिकाय
९७	४	जम्बूद्वीपवपण्णत्ति	जम्बूद्वीपवपण्णत्ति
९९	२६	पर-प्रकाशकत्व	पर-प्रकाशकत्व
९९	२७	प्रकारण	प्रकरण
१००	२३	(चारित्र्य भक्ति से पूर्व) जोड़िये	श्रुतभक्ति (गा० ११)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०७	८	पंचवत्सुग	पंचवत्सुग
१०८	२१	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
१११	१	पंसासग	पंचासग
१२०	४	समाविशतक	समाविशतक
१२१	६	२७ संस्कृत पद्यों	२७० संस्कृत पद्यों
१२२	८	प्रणायाम	प्राणायाम
१२२	२१	योगीद्दीपन	योगोद्दीपन
१२६	२६	मन्त्राक्रान्ता	मन्दाक्रान्ता
१२७	१३-१५	'भक्तिभाव' के पश्चात्	१५वीं पंक्ति का संबंधी आदि पाठ (४) से पूर्व तक का लीजिये, और फिर (१) आदि
१३१	१३	अणिक	श्रेणिक
१३५	११	संवत् १२२३	संवत् १२३३
१३६	२०	नैमिचन्द्र	नेमिचन्द्र
१३७	१७	गथाएं	गाथाएं
१४७	१८ आदि	रत्नावली	रत्नावती
१४९	१९	स्थाविर	स्थविर
१५३	२३	यापिनीय	यापनीय
१५८	१५	पुष्यदन्त	पुष्पदन्त
१६४	१०	रत्नकरंड	रत्नकरंड-
१६६	४	महापुराण-चरित	महापुरुषचरित
१६६	२८	वाग्भट्ट	वाग्भट
१८२	२६	र और स	र और श
१८५	७	विषयक्रम	विषयक्रम
१८५	२५	प्रमाचन्द्र	प्रसाचन्द्र
१८५	२८	महाचन्द्र	महीचन्द्र
१९०	२६	उन्दावा	उद्गावा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	२८	उद्दीति	उद्दीप्ति
१६५	१५	वाग्मट्ट	वाग्मट
१६५	१५	काव्यानुशासन	काव्यानुशासन
१६७	१२	भष्णामाणा	भण्णमाणा
२२२	२१	अचप्रल	अचलप्र
२२८	२	द्वेष	द्वेष
२३८	२	क्रूरता	क्रूरता
२४७	७	कुश्रु	कुश्रुति
२८२	४	मानवीय	मानवीय
३२१	२५	निदिष्ट	निर्देश
३४४	१०	सक्त कर्मणः	सक्तस्य कर्मणः
३४४	१७	-सगिसर्गिणाम्	-सर्गिणाम्
३७१	१६	त्रिलोकसागर	त्रिलोकसार

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के

प्रकाशन

१. कला के प्राण बुद्ध लेखक श्री जगदीशचन्द्र; मूल्य ७.५०
२. कीचक वध श्री खाडिलकर-कृत मराठी नाटक कीचक वध का हिन्दी अनुवाद । अनुवादक डा० भवानी प्रसाद तिवारी; मूल्य १.४०
३. अंगारों की सदियां लेखक श्री गौरीशंकर लहरी; राष्ट्र जीवन के प्रधान प्राणवान क्षणों से संबंधित कविताओं का संग्रह; मूल्य ०.५०
४. धरती के जलजले लेखक श्री कृ० शि० मेहता; वर्तमान समस्याओं को लेकर लिखे गए चार एकांकी नाटकों का संग्रह; मूल्य १.००
५. भारतीय सहकारिता आन्दोलन लेखक श्री ओमप्रकाश शर्मा; सहकारिता जैसे महत्वपूर्ण विषय पर लिखित एक विवेचनात्मक ग्रंथ; मूल्य १.३५
६. बुन्देलखंडी लोकगीत लेखक स्वर्गीय शिवसहाय चतुर्वेदी, विशद रूप से विवेचित बुन्देलखंडी लोकगीतों का संग्रह; मूल्य २.००
७. भारत में आर्य और अनार्य डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा नागपुर में परिषद् के तत्वावधान में सन् १९५७ में दिए गए चार व्याख्यानों का संग्रह; मूल्य १.३०
८. नाट्य कला मीमांसा डा० गोविन्ददास द्वारा उज्जैन में परिषद् के तत्वावधान में सन् १९६० में दिए गए चार व्याख्यानों का संग्रह; मूल्य ३.५०

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० 002:2 ॥

लेखक जीन दीयालाल

शीर्षक भारतीय सांस्कृतिक जीवन का परिचय

खण्ड ३६६५ क्रम संख्या